डॉक्टर त्रिलोकी नारायण दीक्षित

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

प्रकाशक
हिन्दुस्तानी एकेडेमी,
इलाहाबाद

प्रथमावृत्ति १९६१
मूल्य १०)

मुद्रक
सरयू प्रसाद पाण्डेय
नागरी प्रेस
दारागंज, इलाहाबाद

स्वर्गीय रावराजा

डॉ० शुकदेव बिहारी मिश्र

की

पुण्य-स्मृति में

प्रकाशकीय

हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में उत्तर भारत की सन्त परम्परा से जो योगदान मिला है, उससे सभी लोग भली-भाँति परिचित हैं। कबीर, दादू तथा दरिया साहब आदि सन्तों ने अपनी अटपटी-वाणी द्वारा ब्रह्मानन्द की जो अभिव्यक्ति की है, वह अपूर्व अथ च अप्रतिम है। 'चरनदास' का नाम भी हिन्दी के सन्त-साहित्य में महत्त्व का स्थान रखता है। सन्तों की जीवित परम्परा में चरनदास का 'चरनदासी सम्प्रदाय' ब्रह्मोपासना के क्षेत्र में आज भी आकर्षण का केन्द्र है। इस ग्रन्थ में डाक्टर त्रिलोकी नारायण दीक्षित ने 'चरनदास' के जीवन, सम्प्रदाय, दर्शन एवं कृतित्व का सांगोपांग अध्ययन प्रस्तुत किया है। डाक्टर दीक्षित को इस ग्रन्थ पर लखनऊ विश्वविद्यालय ने डी० लिट्० की उपाधि देकर सम्मानित किया है।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी को इस ग्रन्थ का प्रकाशन करने में हर्ष है। आशा है, सन्त साहित्य में रुचि रखने वाले विद्वानों, साधारण पाठकों एवं विद्यार्थियों के लिए यह ग्रन्थ हर प्रकार से उपयोगी सिद्ध होगा।

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
इलाहाबाद

विद्या भास्कर
मन्त्री तथा कोषाध्यक्ष

प्रमाण सिद्धान्त विरुद्धमत्र यत्किंचिदुक्तम् मतिमान्द्यदोषात् ।
मात्सर्यमुत्सार्य तदार्यचित्ताः प्रसादमाध्याय विशोधयन्तु ॥

जड़ चेतन गुन दोषमय विस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

गोस्वामी तुलसीदास

प्राक्कथन

संत चरनदास का व्यक्तित्व तीन दृष्टिकोणों से महत्त्वपूर्ण है :—

(क) आध्यात्मिक साधक,

(ख) धर्म तथा समाज सुधारक तथा

(ग) कवि

प्रस्तुत-ग्रन्थ में इन तीनों दृष्टियों से उदारचेता मनस्वी महाकवि का परिचयात्मक विवरण तथा आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। संत चरनदास का व्यक्तित्व हिन्दी के संत कवियों में विशेष महत्त्वपूर्ण है। उनकी काव्य-कला, योग-साधना तथा स्वरोदय-विज्ञान की त्रिवेणी किसी भी पाठक के मन को आकर्षित कर लेती है। हठयोग का जितना गंभीर ज्ञान इस कवि को था, उतना व्यापक ज्ञान संत सुन्दरदास के अतिरिक्त सम्भवतः अन्य किसी कवि को नहीं था। कवि के सन्देश अनुभूति, साम्य भावना तथा ज्ञान से ओत-प्रोत होने के कारण आज भी उत्तरी भारत तथा राजस्थान के कोने-कोने में प्रतिध्वनित हो रहे हैं। उनके द्वारा संस्थापित संप्रदाय आज भी समाज की विषमताओं को दूर करने में समर्थ हैं। सबसे महान् कार्य जो हमारे कवि ने किया था, वह साम्य भावना की स्थापना तथा स्वस्थ्य समाज के निर्माण का प्रयत्न। इस दृष्टि से संतों के साहित्य तथा संदेशों की आज भी आवश्यकता प्रतीत हो रही है। संतों का साहित्य तथा अमर सन्देशों का अध्ययन आज इस भौतिकता से अभिशप्त युग में विशेष महत्त्व रखता है।

संत-साहित्य का अध्ययन प्रस्तुत करते हुए 'संत चरनदास' मेरी पंचम रचना है। इससे पूर्व तीन रचनाएँ, 'सन्त दर्शन', 'सुन्दरदर्शन', तथा 'परिचयीसाहित्य' साहित्य प्रेमियों के समक्ष आ चुकी है।

लेखक डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा जी के प्रति कृतज्ञ है कि उन्होंने प्रस्तुत-ग्रन्थ 'चरन दास' को हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित कराने का प्रबन्ध कर दिया। उन्हीं की कृपा से यह ग्रन्थ पाठकों तक पहुँच रहा है। सन्त चरनदास के ग्रन्थों की पाण्डुलिपि प्राप्त करने में लेखक को अपनी छात्रा श्रीमती उर्मिला भार्गव एम॰ ए॰, महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेशदत्त मिश्र, एम॰ ए॰, एल-एल॰ बी॰, से बड़ी सहायता मिली। लेखक के शिष्य श्री ब्रजेन्द्र सेंगर, एम॰ ए॰ ने नामानुक्रमणिका प्रस्तुत करने में परिश्रम किया। लेखक इन सभी के प्रति कृतज्ञ है।

मौरावां, उन्नाव
२६ जून, १९६१

त्रिलोकी नारायण दीक्षित

विषय-सूची

उपक्रम

भारतवर्ष का अधिकांश साहित्य धार्मिकता के आधार पर विरचित हुआ है। मानव जीवन की जितनी भी आधारभूत वा प्रमुख प्रवृत्तियाँ होती हैं, उनके मध्य धार्मिकता की भावना प्रमुख एवं श्रेष्ठ है। धर्म चिरकाल से मानवीय जीवन का मुख्य अंग रहा है। जिस प्रकार शरीर की रक्षा के हेतु अन्न-जल आवश्यक तत्व रहे हैं, उसी प्रकार आत्मा, चित्त एवं मन की शान्ति के लिए धर्म भी अनिवार्य तत्व रहा है। धर्म शब्द का अर्थ ही है 'धारण करना' या 'पालन करना'। इस शब्द की व्युत्पत्ति 'धृ' धातु से हुई है। वैशेषिक शास्त्र के रचयिता कणाद मुनि का कथन है कि जिसके माध्यम से लोक-परलोक में सुख सम्प्राप्त हो, वही धर्म है—"यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः"। धर्म सत्कर्म एवं परोपकार का स्रोत अथवा आधारशिला है। धर्म नित्य एवं शाश्वत है तथा सांसारिक दुःख-सुख अनित्य। अतः भगवान मनु का आदेश है कि लौकिक सुखों के हेतु धर्म का परित्याग करना अपेक्षित नहीं है। धर्म से निकट सम्बन्ध रखने वाला जीव नित्य है। उसके समस्त हेतु अनित्य हैं :—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् ।
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः ॥
धर्मो नित्यः सुख-दुःखं त्वनित्यं ।
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्ये ॥—मनुस्मृति

मनु जी के अनुसार धर्म के दश लक्षण होते हैं :—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

उपर्युक्त धर्म के दश लक्षण ही धर्म के आवश्यक तत्व हैं। शरीर से प्राण-शक्ति के विलग हो जाने पर समस्त वैभव तथा ऐश्वर्य यहीं शेष रह जाते हैं, केवल अर्जित पुण्य तथा सुकृत या धर्म ही साथ देता है :—

मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥

धर्म मानव की बहुमूल्य थाती है। उसको विनष्ट करने के लिए उद्योगशील मानव स्वतः नष्ट हो जाता है। मनु जी के शब्दों में :—

धर्म एवं हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।
तस्माद्धर्मो न हन्तव्यो मानो धर्मो हतोऽवधीत् ॥

गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि "स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो-भयावहः ।" अतः मानव के लिए यह अपेक्षित है कि वह सदैव धर्म में रत रहे :—

न धर्मकालः पुरुषस्य निश्चितो ।
न चापि मृत्युः पुरुष-प्रतीक्षते ॥
सदा ही धर्मस्य क्रियैव शोभना ।
सदाऽमरा मृत्युमुखेऽभिवर्तते ॥

वास्तव में धर्म ही मानव का जीवन है :—

नामुत्र हि सहायार्थं पिता माता च तिष्ठतः ।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलः ॥
एकः प्रजायते जन्तुरेक एव प्रलीयते ।
एकोऽनुभुंक्ते सुकृतमेक एव च दुष्कृतम् ॥
मृतं शरीरमुत्सृज्य काष्ठलोष्टसमं क्षितौ ।
विमुखा बान्धवा यान्ति धर्मस्तमनुगच्छति ॥
तस्माद्धर्म सहायार्थं नित्यं संचिनुयाच्छनैः ।
धर्मेण हि सहायेन तमस्तरति दुस्तरम् ॥ :—मनुस्मृति

इस प्रकार समाज, संस्कृति, नीति और व्यक्ति सभी धर्म के अंग हैं । धर्म इन समस्त का प्रेरक है । आधुनिक संस्कृति तथा वर्तमान समाज के विकसित होने से बहुत पूर्व धर्म की स्थिति सुनिश्चित हो चुकी थी और वह अपने कल्याणकारी अस्तित्व के माध्यम से मानव समाज को सद्-असद् कल्याण एवं चिरन्तन सत्य की ओर उन्मुख करता रहा है । इसी धर्म ने समाज को स्वस्थ तथा उन्नत अवस्था की ओर प्रेरित किया । धर्म पूर्ण श्रद्धा के आधार पर ही तिष्ठित है । धर्म सामाजिक जीवन को सुसंस्कृत तथा अनुशासन-सम्पन्न बना देता है । धर्म कर्तव्य क्षेत्र की ओर प्रोत्साहित करता है ।

धर्म की साधना के लिये अनेक साधन तथा मार्ग हैं । धर्म सत्याचरण से भी सिद्ध होता है और इन्द्रिय संयम से भी । धर्म साधन के समस्त मार्गों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथा मर्यादित साधन है भक्ति । भक्ति, धर्म साधना का अमोघ अस्त्र तथा साधन है । भक्ति के विकास पर प्रकाश डालते हुये आचार्य शुक्ल जी ने लिखा है—"शब्दावलम्बी शासनपक्ष दर्शी शुष्क धार्मिक के लिए धर्म राजा है जिसके सामने वह प्रजा की तरह बड़े अदब-कायदे के साथ नियम और विधि के पूरे पालन के

साथ डरता जाता है, बुद्धि पक्षदर्शी के लिए धर्मगुरु या आचार्य है जिसके सामने वह विनीत शिष्य के रूप में शंका-समाधान करता पाया जाता है; पर भक्ति धार्मिक के लिए धर्म प्यार से पुकारने वाला पिता है। उसके सामने वह भोले-भाले छोटे बच्चे की तरह जाता है, कभी उसके ऊपर लोटता है, कभी सिर पर चढ़ता है—वह धर्म को प्यार करता है, धर्म उसे अच्छा लगता है। उसका आनन्द लोक भी शुष्क मार्मिकों के स्वर्ग के ऊपर है। वह प्रिय या उपास्य का सामीप्य है।"

वैदिक युग से बहुत पूर्व द्राविड़ सभ्यता काल में भी भक्ति के द्वारा धर्म-साधना की प्रथा या प्रचलन का उल्लेख सम्प्राप्त होता है। द्राविड़ सभ्यता में शक्ति उपासना का विधान विद्यमान था। उस युग की पूजा विधान की प्रेरणा बौद्धिक या हार्दिक नहीं थी, वरन् वह बाह्य या भय-प्रेरित थी। वैदिक युग की उपासना भी बहुत कुछ भयजनित ही थी। भय से असंतुष्ट, आतंक से प्रपीड़ित, कल्याण का प्रार्थी तत्कालीन मानव-समाज अनिष्ट निवारणार्थ अज्ञान महाशक्ति के प्राप्ति विनम्र या प्रार्थी बन में रहता था। उस युग का मानव प्राकृतिक शक्तियों का प्ररोष देखकर प्रकंपित हो उठता था, और अपनी समस्त श्रद्धा के उस महती शक्ति के अर्णों में समर्पित करके स्वयं तथा पर कल्याण की कामना करता था। उस युग की उपासना में चार मनोवैज्ञानिक तत्व समन्वित थे—भय, श्रद्धा, लाभ तथा कृतज्ञता की भावना। यह भक्ति द्रव्य यज्ञ के रूप में प्रचलित थी। इस भक्ति में उपादानों का प्रचुर प्रचलन था। इस प्रकार की भक्ति में तत्कालीन समाज अपने कल्याण की सिद्धि के दर्शन करता था। मूलतः यह बाह्य साधना थी। क्रमशः इस साधना या भक्ति में हृदय-पक्ष का भी संयोग हुआ। इस समस्त साधनों में बाह्य शिष्टाचार, तथा प्रदर्शन के साथ ही साथ प्रेम भावना का भी संचार होने लगा। प्रदर्शन के स्थान पर हृदय पक्ष का भी संचार हुआ। शनैः शनैः वैदिक युग के प्राणी के हृदय में भावुकता का भी संचार होने लगा। 'उषा-स्तुति' में उस युग के भक्ति साधना में अनुरक्त प्राणियों की भावुकता, मननशीलता तथा श्रद्धालु होने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। ऋग्वेद में भगवान की पुरुष रूप में प्रतिष्ठा मिलती है। पुरुष-सूक्त इसका सुदृढ़ प्रमाण है। भारतीय धर्मों में सर्वाधिक प्राचीन तथा व्यापक हिन्दू-धर्म की ऐतिहासिक परम्पपराओं का श्री गणेश वैदिक-काल से माना जाता है। वैदिक-काल का स्थूल वर्गीकरण तीन प्रकार से सम्भावित है :—(क) कर्म प्रधान वैदिक काल, (ख) ज्ञान-प्रधान उपनिषद् काल तथा (ग) भक्ति-प्रधान पौराणिक काल।

वेद साहित्य के भी चार प्रमुख अंग हैं :—(१) संहिता, (२) ब्राह्मण, (३) आरण्यक (४) उपनिषद्।

हिन्दुओं की भक्तिभावना का प्रारम्भिक रूप या विकाससूत्र वैदिक-साहित्य में उपलब्ध होता है। वेदों में भक्ति-भावना के प्रारम्भिक किन्तु परिपक्व बीज उपलब्ध होते हैं। अतः अब हम यहाँ पर किंचित् विस्तार के साथ वेदों तथा उसके प्रमुख चार अंगों में प्राप्त भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। वेद यज्ञ-प्रधान होते हुये भी भक्ति भावना से सम्बन्धित हैं। सर्वप्रथम हम संहिता में व्यक्त भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

संहिता-साहित्य में भक्ति भावना का स्वरूप—संहिता-साहित्य में प्रमुख रूप से कर्मों की विविधता वर्णित है। कर्मों की विविधता के साथ अनेकानेक स्तुतियों में तत्कालीन साधकों की भक्तिभावना के दर्शन होते हैं। उपर्युक्त प्रार्थनाओं एवं स्तुतियों में अनुरागात्मिका भावना भी उपलब्ध होती है। संहिता-साहित्य में अग्नि, सूर्य, इंद्र, वरुण तथा वायु जैसे प्रत्यक्ष देवताओं की वन्दना की गई है। इन प्रार्थनाओं में भक्त के सम्बन्ध भावना तथा भक्ति की भावना के प्रत्यक्ष रूप से दर्शन होते हैं। इन ग्रंथों में अभिव्यक्त वन्दनाओं में परमात्मा के स्तुत्य तथा गरिमा से पूर्ण महत्व की ओर संकेत किया गया है। अग्नि, सूर्य, इंद्र, वरुण तथा वायु के स्वरूप में स्तुति लेखक वा प्रार्थी को परब्रह्म का महत्त्व दृष्टिगत हुआ। उदाहरणार्थ, ऋग्वेद में अग्नि की स्तुति से संबन्धित निम्नलिखित शब्द ध्यान देने योग्य है। इस उदाहरण में कहा गया है कि हे अग्ने! हे परमात्मन! तू इंद्र अथवा अनन्त ऐश्वर्यों से सम्पन्न है। अतः तू सज्जनों के हेतु वृषभ है। तू विष्णु है, दिगुग व्यापक है अतः तू अग्रगण्य है। तू वंदनीय तथा नमस्कार्य है। हे ब्रह्म (यावेद के पति) तू ब्रह्म है तथा राय है। हे विधायक सर्वाधार तू पुरन्धि है :—

> त्वमग्नि इंद्रो वृषभः सतामसि त्वं विष्णुरूरूगायो नभस्यः।
> त्वं ब्रह्मारयिविर् ब्रह्मणस्पते त्वं विधर्तः सचरो पुरंध्या॥

प्रस्तुत उदाहरण में अग्नि की अनन्त शक्ति तथा ब्रह्मस्वरूप होने का भाव व्यक्त हुआ है। साथ ही इस उदाहरण में भक्त के हृदय की श्रद्धा एवं तन्मयता के दर्शन होते हैं। संहिता में अभिव्यक्त प्रार्थनाओं में अनन्त शक्ति ब्रह्म की भक्त-वत्सलता का भी उल्लेख मिलता है। निम्नलिखित उदाहरण में यथा गाय ग्राम की ओर शीघ्रता से जाती है, यथा शूर अपने बैठने के हेतु अग्रसर होते हैं, यथा स्नेह-पूरित मनवाली, बहुत दुग्ध देने वाली गाय बछड़े के पास शीघ्रता से गमन करती है, यथा पति अपनी सुन्दर पत्नी के पास मिलन के लिये गमन करता है, उसी प्रकार अखिल विश्व द्वारा वरण करने योग्य अतिशय चिरन्तन आनन्ददायक सविता भगवान् हम शरणागतों के समीप आता है:—

ऊं गाव इव ग्रामं यूयुधिरिवाश्वान् वाश्रेव वत्सं सुमना दुहाना।
पतिरिव जायां अभिनों नयंतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः ॥

उपुर्यक्त उभय उदाहरणों के मनन से सुस्पष्ट हो जाता है कि संहिता-साहित्य में भक्ति-भावना तथा भगवान की भक्त-वत्सलता के साथ ही साथ महान् शक्ति सर्वात्मा के स्वरूप वर्णन करने की चेष्टा भी की गई है:—

"एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्तत्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहः"

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण एक सत्य तत्व को अनेक रूपों में वर्णन करते हैं। वे उसे कभी अग्नि, कभी यम कभी मातीश्वर कहते हैं।

संहिता-साहित्य में भक्ति भावना सेर्वाधिक करू-सूत्रों में उपलब्ध होती है। वैदिक साहित्य में अर्चित-वंदित देवताओं में करुण का स्थान इस प्रकार से मूर्धन्य है। ऐसा दिव्य शक्ति से सम्पन्न करुण दिव्यचक्षु है, धृतव्रत है, सुकृत तथा समृष्ट है और सर्वज्ञ है। वह अंतरिक्ष में उड्डीयमान् पक्षियों का मार्ग उसी प्रकार जानता है यथा वह समुद्र में संतरित नौकाओं का मार्ग जानता है। इन समस्त स्तुतियों में श्रोता को देया तथा करुणादि गुणों का आग्रह मानता है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति भावना—संहिता साहित्य में भक्ति भावना का पर्यालोचन कर लेने के अनन्तर अब हम ब्राह्मण ग्रन्थों में भक्ति भावना का स्वरूप अंकित करने की चेष्टा करेंगे। सर्व प्रथम ब्राह्मण शब्द ही स्वतः विचारणीय है। ब्राह्मण शब्द की व्युत्पति 'ब्रह्मणों यरिति ब्राह्मण' है। जिसका तात्पर्य है जो वेदो से ब्रह्म से सम्बन्धित है, वह ब्राह्मण है। वेदों की प्रत्येक ऋचा, मंत्र प्रार्थना, जो देवताओं के चरणों में सादर समर्पित है, वह ब्राह्मण है। ब्राह्मण काल में यज्ञ अनुष्ठान में जटिलता का समावेश हो गया था और यज्ञ ही धर्म का एक सुदृढ़ स्वरूप बन गया था। यज्ञ तथा कर्मकाण्ड की प्रधानता होने पर भी उस समय भक्ति भावना का अभाव नहीं था। उस काल में श्रद्धा के साथ ही साथ हृदय की रागात्मिक भावना का विकास भी स्वाभाविक रूप से होता गया। इस समय तक विष्णु समस्त प्रकार की भक्ति के केन्द्र-बिन्दु बन चुके थे। इन ग्रन्थों में विष्णु को 'सोम' का प्रतिनिधि माना गया है। सोम में पोषक तत्व होते हैं और उसी प्रकार विष्णु में भी अनन्त पोषक भावना विद्यमान थी। ब्राह्मण ग्रन्थों में रूद्र को अग्नि का प्रतिनिधि माना गया है :—

अग्निर्वैयु देवः। तस्येतानि नामानि शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते। भव इति यथा बाहीकाः। पशूनां पती रूद्रो तान्यस्य अशान्तरन्येवेतराणि नामानि। अग्निरित्येव शान्ततम्—शतपथ १।७।३।८

आरण्यक में भक्तिभावना—आरण्यक तथा उपनिषद् ग्रन्थों की गणना ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तर्गत ही होती है। विषय की दृष्टि से ब्राह्मणों के अनन्तर ही आरण्यक की परिगणना होती है। आरण्यक का वर्ण्य-विषय धार्मिक एवं दार्शनिक है जब कि इसका सम्बन्ध वन से विशेष रूपेण है। अरण्य में धृत व्याख्यानों को आरण्यक कहा गया और उनकी परिगणना उत्कृष्ट कोटि के आध्यात्मिक साहित्य में हुई। वानप्रस्थ प्राप्त व्यक्ति इनका विशेष अध्ययन करते थे। इनका वर्ण्य-विषय है याज्ञिक क्रियायें तथा वानप्रस्थ प्राप्त व्यक्तियों के कर्तव्य। इनमें बहिर्यज्ञ की अपेक्षा अन्तर्यज्ञ पर अधिक बल दिया गया है। इस काल में योग विशेष प्रकार था। अतः आरण्यकों में भी आन्तरिक साधना पर बल दिया गया है। फलतः साधक, भक्ति की ओर स्वतः आकर्षित हुए। अन्तर्यज्ञ भी भक्ति की ही पृष्ठभूमि है। आन्तरिक विरोध के अनन्तर ही मानव बहिरंग वृत्तियों का विरोध कर सकता है। अतः इस युग में भक्ति का विकास बड़े स्वाभाविक रूप में हुआ। आरण्यक में जिस भक्ति का प्रतिपादन हुआ है, वह स्वाभाविक है तथा उसके पाठकों के अनुरूप एवं अनुकूल है।

उपनिषद्-साहित्य में भक्तिभावना—संहिता साहित्य, ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा आरण्यक-साहित्य में भक्ति भावना का अध्ययन कर लेने के अनन्तर अब हम उपनिषद् साहित्य में उपलब्ध भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे। उपनिषद्-युग ज्ञान के प्रकाश से आलोकित युग था। यदि इसे हम भारतीय दर्शन तथा आध्यात्मिक साधना का स्वर्णयुग कहें तो अत्युक्ति नहीं है। यह ज्ञान-प्रधान काल था। उपनिषद् ज्ञान के प्रतीक तथा आधार हैं। इनमें ज्ञान, कर्म तथा भक्ति की अद्भुत सम्बन्धित चर्चा है। उपनिषद् साहित्य में बड़े विस्मय तथा गांभीर्य्य के साथ उपासना के महत्व, उपास्य के स्वरूप तथा उपासक के लक्षणों के उल्लेख मिलते हैं। कठोपनिषद् में उपास्य के स्वरूप का वर्णन निम्नलिखित रूप में है—आत्मा अणु से भी अणु तथा महान् से भी महान् है। यह आत्मा प्राणी की हृदय-गुहा में स्थान करती है। उसके दर्शन मात्र से भी साधक में सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है तथा शोक से उत्तीर्ण हो जाता है:—

> अणोरणीयन् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
> तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥
>
> —कठोपनिषद् १।२।२०

केनोपनिषद् में उल्लेख मिलता है कि भजनीय होने के कारण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिए:—

> तद्वनमित्युपासितव्यम्—केनोपनिषद् ४।६

कठोपनिषद् में एक स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यह आत्मा उत्कृष्ट शास्त्रीय व्याख्यान के द्वारा उपलब्ध नहीं किया जाता, मेधा के द्वारा नहीं प्राप्त होता और बहु पाण्डित्य के द्वारा भी नहीं प्राप्त होता है। यह जिसको वरण करता है उसी को सम्प्राप्त होता है। उसी के समक्ष यह आत्मा का स्वरूप व्यक्त करता है। इस उल्लेख में प्राप्त तत्व के प्रति भक्ति भावना की चर्चा की गई है :—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् ॥

—कठोपनिषद् १।२।२३

इसी प्रकार मुंडक उपनिषद् में ब्रह्म के प्रति सख्यभाव की उपासना का प्रतिपादन हुआ है। यह उल्लेख प्रतीक के माध्यम से हुआ है। कहा गया है कि एक ही वृक्ष पर दो पक्षी सखा के समान एक ही हैं। उनमें से एक पक्षी स्वादुफल का आहार करता है और दूसरा फल देखता रहता है, आहार नहीं करता है :—

सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षे परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्लं स्वाद्वत्य नरननन्यो अभिचाकशीति ॥

—मुण्डकोपनिषद् ३।१।१

उपनिषद् से ब्रह्म की शक्ति तथा स्वरूप का विस्तार मानव के अतिरिक्त अन्न, प्राण, मन, ज्ञान, आनन आदि अन्तर्वाह्य रूपों में परिव्याप्त माना गया। इससे यह स्पष्ट हो गया कि उपनिषद् काल में उपासना का स्वरूप भी विस्तृत होता गया। ब्रह्म के अन्तर्यामी तथा सर्वव्यापी रूप भी पूर्णतः या सर्वतः स्वीकृत किये गए।

उपनिषद्काल में विष्णु की उपासना और भक्ति साकार ब्रह्म के रूप में हुई। इस युग में पालक एवं रक्षक के रूप में विष्णु की उपासना की गई। इसी काल में बुद्धि, योग एवं भावयोग का समन्वय हुआ। ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले विरक्त साधक, रहस्य के प्रति जिज्ञासा प्रशांत करने के हेतु निष्काम कर्मयोग में अनुरक्त हुए। विष्णु के सगुण रूप की उपासना तथा भ्रमण के साथ-साथ भक्ति मार्ग परिष्कृत होते गये। इस समय निष्काम कर्म पर विशेष बल दिया गया। कर्म तथा उपासना, भक्ति के स्थायी रूप के स्तंभ के रूप में ग्रहीत हुए। इसी समय में अहिंसा भावना, संतवाद की प्रवृति, और लोकरञ्जनकारी तथा शैतल्य प्रदायिनी भूतियों ने उस युग की जनता के हृदय में भक्ति के ऐसे कल्पतरु को विकसित किया जो आज भी सजीव तथा पल्लवित है।

सूत्र-ग्रन्थ-साहित्य में भक्ति—सूत्र-ग्रन्थों में ब्रह्म साधना तथा इन दुरूह

विषयों का समाहार तथा व्यापक एवं गम्भीर विवेचन सूत्रात्मक पद्धति से सम्पन्न हुआ। कर्म-काण्ड विषयक सूत्र तीन प्रकार के थे—(क) श्रौत-सूत्र, (ख) गृह्य-सूत्र, (ग) धर्म-सूत्र।

कर्मकांड सम्बन्धी इन सूत्रों में विधि-विधानों का विवरण प्रस्तुत किया गया है। इन्हीं सूत्रों में वैधी-भक्ति का स्वरूप उपलब्ध होता है। गृह्यसूत्रों में चरम विराट की उपासना के तत्व सम्प्राप्त होते हैं। गृह्य-सूत्रों में पंच महायज्ञों का भी विवरण प्राप्त होता है। इन सूत्र-ग्रन्थों को हम सरलता से भक्ति का पृष्ठभूमि निर्माता साहित्य कह सकते हैं।

वेदांग तथा उपवेदों में भक्ति—वेदांग के ६ अंग मान्य हुए हैं—(क) शिक्षा, (ख) कल्प, (ग) व्याकरण, (घ) निरुक्त, (ङ) छन्द एवं ज्योतिष। इन षट अंगों के कल्प विशेष ध्यान देने योग्य हैं। कल्प में श्रौत, गृह्य, राजनीति एवं सामाजिक कार्यों की विधियों का उल्लेख मिलता है। शेष पंचांगों में वैदिक साहित्य के कला-पक्ष तथा अन्य अनेक विषयों की व्याख्या की गई है। वेदों के अन्तर्गत उपवेदों का भी वर्णन कहा गया है—"उपगतः वेदम् इति उपवेदः।" ऋग्वेद के अन्तर्गत आयुर्वेद, यजुर्वेद के अन्तर्गत धनुर्वेद, सामवेद के अन्तर्गत गान्धर्व वेद का भक्ति से निकट सम्बन्ध है। स्थापत्य उपवेद के माध्यम से ब्रह्म सम्बन्धी प्रतीकों का निर्माण हुआ और गान्धर्ववेद ने कीर्तन तथा भक्ति सम्बन्धी गीतों के निर्माण में सहायता प्रदान की। भगवान ने गीता में कहा भी है।

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न च।
मद्भक्ता यम् गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।

अब हम वेदोपांगों में भक्ति के स्वरूप पर विचार करेंगे।

वेदोपांग में भक्ति का स्वरूप—वेदोंपांग भक्ति का स्रोत तथा सूत्र है। वेदोपांग ही षड् दर्शन के नाम से प्रसिद्ध है। षड् दर्शन हैं:—(क) सांख्य, (ख) वैशेषिक, (ग) पूर्व मीमांसा, (घ) न्याय (च) उत्तर मीमांसा। इन समस्त वेदोंपांगों का लक्ष्य है आत्म-दर्शन। इनका लक्ष्य है अज्ञान के अंधकार में भ्रमीभूत तथा माया द्वारा भटकाये हुए मानव को कल्याण मार्ग पर अग्रसर करना। इन समस्त वेदोपांगों ने अपने-अपने ढंग से मानव समाज की ब्रह्म-विषयक जिज्ञासा को प्रशांत करने की चेष्टा की। इन्होंने मानव की सहज रागात्मिक-वृत्ति को प्रबुद्ध किया और विशुद्ध प्रेम तथा भक्ति भावना को जागृत किया। इनमें कोरे ज्ञान की चर्चा नहीं हुई है वरन् भक्ति के तत्व भी उपलब्ध होते हैं। भक्ति मार्ग के प्राथमिक रूप तथा विकसित चिन्तन के दर्शन इस साहित्य में निरन्तर होते हैं।

तंत्र-साहित्य में भक्ति के स्वरूप—वैदिक साहित्य के समान ही तंत्र साहित्य प्राचीन है। इस साहित्य में शक्ति सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है। इसमें सर्वशक्तिमान् की आराधना पिता के रूप में नहीं वरन् माता के रूप में करने का उपदेश दिया गया। भक्तिमार्ग में इन ग्रन्थों का प्रचुर प्रभाव पड़ा। देवीसूत्र को तो वैदिक साहित्य तक में स्थान प्राप्त हुआ। शैव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों की रचना तथा उद्भव इन्हीं ग्रन्थों के आधार पर हुआ। वैष्णव सम्प्रदाय के पांचरात्र आगम इसी साहित्य के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। तंत्र-साहित्य में भक्ति का बड़ा तीव्र, उज्ज्वल तथा महत्वपूर्ण रूप व्यक्त हुआ है। इस साहित्य में भक्त के चरित्र, साधना पद्धति तथा आचार-विचार का भी सविस्तार उल्लेख मिलता है। तंत्र-साधना में भक्ति का स्वरूप बड़ा स्पष्ट है।

पांचरात्र—सात्वतों से लेकर गुप्त सम्राटों के उत्कर्षकाल में वैष्णव धर्म तथा भागवत धर्म का अभ्युदय हुआ। गुप्त सम्राटों ने वैष्णव धर्म को राष्ट्रधर्म के पद पर प्रतिष्ठित किया। इसी समय पांचरात्र संहिता का प्रणयन हुआ। ब्रह्म के भक्तों को भागवत कहा गया और इसी कारण यह धर्म भागवत धर्म के नाम से प्रख्यात हुआ। भागवत धर्म ही पांचरात्र-मत के नाम से प्रसिद्ध है। इसका सात्वत-मत नाम भी है। यह अंतिम नाम इसलिये प्रसिद्ध हुआ कि सात्वत नरेशों ने इस मत के प्रचार में विशेष उद्योग किया था। पांचरात्र शब्द का निर्माण पांच तथा रात्र शब्दों से हुआ है। रात्र शब्द ज्ञान का पर्याय है। पांचरात्र साहित्य में परमतत्व मुक्तियोग तथा सत्संग की विवेचना की गई है। चारों वेद तथा योग के सिद्धान्तों का निरूपण होने के कारण भी यह साहित्य पांचरात्र के नाम से प्रख्यात हुआ :—

इदं महोपनिषदं तेन पंचरात्रान्नुशाब्दितम्।
नारायणमुखोद्गीतं नारदै श्रावयत् पुनः॥

—महा०, शांति पर्व, अध्याय ३३९

प्रस्तुत तंत्र अतीव अर्वाचीन एवं बहुदेवोपासना का समर्थक है। पांचरात्र साहित्य के अनुसार पंच व्यापारों के माध्यम से भक्त भगवान को प्रसन्न करता है :—

(क) **आर्यगमनकाय**—काया, वाक् एवं मन अवहित करके देवगृह के लिए प्रस्थान

(ख) **उपादान**—पूजा द्रव्य-अर्जन या संग्रह

(ग) **इज्या**—पूजा

(घ) **स्वाध्याय**—मन्त्रों का जप, दार्शनिक ग्रन्थों का संग्रह, अवलोकन

(ङ) **योग**—ध्यान

पांचरात्र साहित्य में ब्रह्म, जीवन, जगत् तथा मायादि के स्वरूप का विश्लेषण हुआ है। इसमें ईश्वर के उभय रूपों—निर्गुण एवं सगुण का विश्लेषण एवं प्रतिपादन हुआ है। जीव के सम्बन्ध में उल्लेख है कि वह अनादि चिरानंदघन तथा ब्रह्म प्रेरित है। यह जीव ब्रह्म निग्रह शक्तिमाया के कारण भ्रम में पड़ जाता है। वह ब्रह्म की शक्ति से ही पुनः मुक्ति प्राप्त करता है। पांचरात्र साहित्य में बाह्य सात्वत विधियों से अर्चना करने का आदेश है और इसके साथ ही साधक को ब्रह्म की शरण में जाने या प्रपत्ति मार्ग पर अग्रसर होने का आदेश दिये गये हैं। शरणागति के भी षट् प्रकार हैं :—

(क) अनुकूलस्य संकल्पः —ईश्वर से अनुकूल होने का दृढ़ निश्चय
(ख) प्रतिकूलस्य वर्जनम् —ईश्वर के प्रतिकूल वस्तुओं का परिहार
(ग) रक्षिष्यतीति विश्वासः —ईश्वर के रक्षकत्व पर अटल विश्वास
(घ) गोपप्तृत्व वरणम् —प्रमुकारेक्षक मानकर
(ङ) आत्मनिक्षेपः —आत्म समर्पण
(च) कार्पण्यम् —दैन्य भाव

पांचरात्र साहित्य में मोक्ष-तत्व भी विवेचित है। इसके अन्तर्गत मोक्ष का अर्थ है—"ब्रह्मभावापत्ते" अपुनर्भवता।" ब्रह्म की कृपा से सभी के साथ एकात्मकता संस्थापित हो जाना ही मोक्ष है।

नारदपांचरात्र भक्ति—भक्ति के मार्ग में देवनारद कृत भक्ति-सूत्रों का व्यापक तथा अत्यन्त उत्कृष्ट महत्व है। भक्ति सम्प्रदाय की प्रत्येक जड़ इन सूत्रों के मधुर रस से सिंचित तथा पोषित है। भक्ति की क्षेत्र यात्रा, रूपरेखा, आवश्यक तत्व, घातक तत्व, श्रेष्ठता आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है (स्वरूप की भक्ति सूत्र—२,३)। भक्ति को प्राप्त भक्त समस्त मनोविचारों से रहित होकर आत्माराम हो जाता है (सूत्र ६)। भक्ति की वास्तविक स्थिति है प्रभुत्वाकरण में अत्यन्त आकुलता की विद्यमानता (वही, १६)। भक्ति कर्म तथा ज्ञान से भी श्रेष्ठतर है (वही, सूत्र-२५)। ब्रह्म की अनुकंपा तथा सज्जनों की कृपा से प्रेमाभक्ति उपलब्ध होती है (वही, सूत्र—३८)। भक्त के लिए कुसंगति त्याज्य है (वही, सूत्र-४३)। ग्यारह प्रकार की आसक्तियों में भक्ति श्रेष्ठ है (वही, सूत्र-८२)। इन समस्त विवेचनों को दृष्टि में रखकर यह स्पष्ट हो जाता है कि पांचरात्र-मत को इस बात का श्रेय सम्प्राप्त है कि उसने भक्ति के उन्नयन में आशातीत सहायता प्रदान की।

पुराणों में भक्ति का स्वरूप—भक्ति-सूत्र के सदृश ही पुराण भी भक्ति भावना के अमूल्य मणि, सुदृढ़ स्तम्भ तथा कल्याणकारी तत्वों से सुसम्पन्न है। मानव जीवन के लिए पीयूष-वर्षी जिन तत्वों को वेदों ने गूढ़ बनाये रखा उन्हें पुराणों ने

सौन्दर्य शिरोमणि रूप प्रेम का रूप प्रदान किया। भक्तिसाधना के जो बीज वेदों की संहिताओं में सन्निहित हैं, वे ही क्रय विकास के पक्ष पर अग्रसर होकर उपनिषदों में अंकुरित एवं पल्लवित हुए तथा पुराणों में वह शाखा-प्रशाखा युक्त होकर फूल-फल से सुसम्पन्न होकर वृक्ष के रूप में परिणत होते गये। समस्त १८ पुराणों में से अधिकांश वैष्णव-धर्म के निकट हैं। ब्रह्म वैवर्तपुराण, पद्मपुराण, विष्णुपुराण तथा श्रीमद्भागवत पुराण विष्णु के स्वरूप, महत्व निरूपण तथा भक्ति निरूपण की दृष्टि से विशेष अध्ययनीय हैं। प्रायः इन सभी पुराणों में श्रीमद्भागवत की महिमा वर्णित है। श्रीमद्भागवत भक्ति का श्रोत, भक्ति का शास्त्र तथा भक्ति का आधार है। इस ग्रन्थ में ब्रह्म ने अपना तात्विक निरूपण ब्रह्म से किया है।

अहमेवासमेवाग्रे नान्यद्यत्सदसत्परा।
पश्चादहं यदेतच्च योऽवशिष्येत सोऽस्म्यहम्॥—भा० २। ६। ३२

स्पष्ट है कि ब्रह्म सगुण-निर्गुण दोनों है। जगत् भी वही है, संसार उसी का विवर्त्त रूप है। भागवत में उल्लेख है कि भक्तों पर विशेष अनुग्रह करने के हेतु भगवान सगुण रूप धारण करता है। उसकी लीलाओं के रसात्मक स्वरूप में जीव तन्मय होकर रसमग्न हो जाता है। भागवत में ब्रह्म के स्वरूप, महत्व तथा दिव्य प्रभाव का विस्तृत विवेचन हुआ है। ब्रह्म के निर्गुणात्मक रूपधारण कर्ता विष्णु, ब्रह्म तथा महेश के स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ दशमस्कंध में विशुद्ध सत्व रूप परात्पर ब्रह्म परम विष्णु का स्वरूप भी वर्णित है। भागवत में ब्रह्म की अनन्य सत्ता के वर्णन के साथ ही साथ उसके विविध अवतारों एवं प्रमुख शक्तियों का भी वर्णन है। ब्रह्म की तीन प्रमुख शक्तियाँ है :—

(१) स्वरूप शक्ति—चिच्छक्ति या अन्तरंग शक्ति
(२) मायाशक्ति—जड़ शक्ति या बहिरंग शक्ति
(३) जीव शक्ति—मध्य शक्ति या तटस्थ शक्ति।

भागवत में भक्ति के स्वरूप तथा साधना का भी उल्लेख निम्नलिखित रूप में सम्पन्न हुआ है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवदेनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णो भक्तिश्चेन्नवलक्षणा॥—भागवत ७। ५ २३-२४

इस भक्ति में ज्ञान एवं वैराग्य के समावेश स्पृहणीय तथा अपेक्षित हैं :—

इत्यच्युताङ्घ्रिं भजतोऽनुवृत्या भक्तिविरक्तिर्भगवत्प्रवोधः।
भवन्ति व भागवतस्य राजैस्ततः परां शांतिमुपैति साक्षात्॥
—भागवत ११। ३। ४३

कपिल मुनि के मत से भक्ति दो प्रकार की है—सगुण भक्ति तथा निर्गुण-भक्ति। निर्गुणभक्ति का पर्याय है अहेतुकी भक्ति। यही सर्वश्रेष्ठ प्रेम है :—

भक्तियोगो बहुविधो मार्गैर्भामिनि भाव्यते।
स्वभावगुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते॥
अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा।
संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात्स तामसः॥
विषयानभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा।
आचार्यादावर्चयेद्यो मां पृथग्भावः स राजसः॥
कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम्।
यजेद्यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः॥
मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ॥
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे॥
सालोक्यसार्ष्टिसामीप्य सारूप्यैकत्वमप्युत।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जनाः॥—भागवत ३।२९।७-१३

भक्ति के उच्चासन तक पहुँचने के हेतु सात्विकी वृत्ति को ग्रहण करना चाहिये। इसके अन्तर्गत भक्त कर्मजन्य वासनात्मक प्रवृत्ति की निवृत्ति के हेतु भक्ति योग का अवलम्ब ग्रहण करता है तथा भगवत् कृपा से तत्वज्ञान सम्प्राप्त कर भगवदर्पण भाव से कर्मानुष्ठान करता है। इस कोटि की भावना से देह, मन, इन्द्रिय एवं बुद्धि पवित्र होती है तथा आत्म रूप उज्ज्वल भाव में प्रतिभासित होता है। तदन्तर भगवत्प्रेम सम्पन्न ही साध्य बन जाता है। भागवत में सर्वोतम भक्त के लक्षणों का उल्लेख निम्नांकित रूप में हुआ है :—

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥—भागवत ११।२।४५

भागवत भक्तितत्व का अपार सागर है। इसमें भक्ति के आलम्बन भगवान के तत्वों का विशद तथा विस्तृत विश्लेषण हुआ है। इस महासागर में भक्ति की जो विविध प्रकार की उर्मियां उठती हैं, सर्वोपरि हैं। निष्काम भक्ति प्रेमा-भक्ति की तरंग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। प्रेमाभक्ति के समक्ष अन्य समस्त साधन व्यर्थ है। ज्ञान भी उसकी समता नहीं कर पाता है। भागवत का परम लक्ष्य है भगवत के चरणारविन्द में अहर्निश भ्रमरवत अपने मन को आयोजित रखना।

भागवत के अनन्तर भक्ति के स्रोत में विष्णु पुराण का उल्लेख करना आवश्यक है। इसके अन्तर्गत आध्यात्मिक तत्वों की व्यापक विवेचना हुई है। इस महत्वपूर्ण आध्यात्मिक ग्रन्थ में ब्रह्म की प्राप्ति के उपाय योग तथा स्वाध्याय निर्धारित किये गये हैं। इस ग्रन्थ में योग एवं भक्ति के अद्भुत समन्वय के द्वारा मोक्ष प्राप्ति की ओर संकेत किया गया है।

ब्रह्मवैवर्तपुराण में भक्ति के विविध पक्षों पर विस्तार के साथ विचार करने के साथ ही ब्रह्म शक्ति राधा के चरित्र एवं रहस्य की उत्कृष्ट विवेचना की गई है।

पौराणिक युग में विष्णु की महत्ता संस्थापित, करने के लिये विशेष उद्योग किए गये। 'विष्णु पुराण', 'नारद पुराण', 'गरुड़ पुराण', 'पद्मपुराण', 'ब्रह्म वैवर्त-पुराण', 'भागवत पुराण', आदि में विष्णु की भक्ति का प्रचार तथा प्रसार करने का प्रयत्न हुआ है। इन ग्रंथरत्नों में विष्णु के साथ ही साथ दिव्यशक्तियों से समलंकृत अन्य देवताओं का भी अभ्युदय हुआ है। शिव, शक्ति सूर एवं गणेश से सम्बन्धित पुराणों में इन सभी देवताओं की महत्ता का वर्णन है। शैव पुराण में भी देव कृपा को ही भक्ति का साधन निर्धारित किया गया है :—

> प्रसादात् देवता भक्तिः प्रसादो भक्ति संभवः।
> यथाङ्कुरतो बीजं बीजतो वा यथाङ्कुरः॥—शिव-पुराण १।१४

शक्ति पुराण में भी भक्ति की महिमा का गान हुआ है। भक्ति की महत्ता, प्रकार, रूप-स्वरूप, प्रक्रिया आदि के वर्णन की दृष्टि से श्रीमद्भागवत सबसे महत्वपूर्ण तथा अनुपम ग्रन्थ है। प्रस्तुत ग्रन्थ भक्ति का समुज्ज्वल, स्निग्ध, शीतल तथा मधुर प्रकाश-स्तम्भ है। यह ग्रन्थ समस्त वैष्णव-सम्प्रदायों का आधार है। उपनिषद्, गीता या ब्रह्म-सूत्र के समकक्ष यह ग्रन्थ शतशः वर्षों से भारतीय भक्त-जनता को उचित मार्ग की ओर अग्रसर कर रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ की सरस गीतों में, सरस एवं ललित भाषा के अन्तर्गत आध्यात्मिकता से परिप्लावित भक्ति रस भक्त-वृन्द को आनन्द-जलधि में आप्यायित कर तृप्त कर देता है।

दक्षिण भारत में भक्ति का विकास तथा आलवार संतों में भक्ति भावना का स्वरूप—पुराण-काल के अनन्तर दक्षिण भारत भक्ति के विकास, प्रसार-प्रचार एवं समृद्धि का केन्द्र बना। द्राविण देश में प्रवाहित भक्ति मंदाकिनी में अवगाहन करके दूसरों को पथ-प्रदर्शित करने वाले आलवार संत दो प्रकार के थे। इनमें से प्रथम थे शैव-संत तथा द्वितीय थे वैष्णव-संत। तामिल के आलवार शब्द का अर्थ ही होता है भगवद् भक्ति में लीन व्यक्ति। इस समय (पुराणकाल के अनन्तर)

आलवार संतों ने मधुर, सरस एवं पावन पदों में भक्ति भावना को भरकर जनता के कल्याणार्थ प्रसाद रूप में वितरित किया। बाह्य आलवार संतों ने भक्ति के क्षेत्र को रस-परिप्लावित करके उसके प्रसार में आशातीत सफलता प्राप्त की। इन संतों ने भक्ति को शास्त्रीय पद्धति पर आरूढ़ क्रिया। आलवारों की भक्ति उस पावन सलिला सरिता की नैसर्गिक धारा के सदृश है, जो स्वयमेव जन-कल्याण के हेतु उद्वेलित होकर प्रखर गति से प्रवहमान रहती है और असारतत्वों को दूर फेंक देने में हर प्रकार से समर्थ है। आर्यों की यह भक्ति-धारा मंदाकिनी के सदृश विशुद्ध तथा पवित्र है। उन संतों के जीवन का एक मात्र लक्ष्य था विशुद्ध भक्ति तथा मंजुल समन्वय। आलवारों में हृदय पक्ष की प्रबलता थी तो आचार्यों में बुद्धि पक्ष की दृढ़ता। शैव आलवारों की संख्या थी ६४ तथा वैष्णव आलवारों की संख्या १२ थी। वैष्णव संतों के नाम थे—पोयगे अलवार (सरो योगी), भूतत्तालवार (भूतयोगी), पेयालवार (महतयोगी), भक्तिसार तिरूमडिसे आलवार, शठकोप नामालवार (पैरांकुश मुनि), मधुर कवि, कुलशेखर आलवार, विष्णु चित्त (परिआलवार), गोदा आडाल (रंगनायकी), विप्रनारायण (भक्तपदरेणु), तोंडाडिप्पोलि, मुनिवाहक (योगवाह), तिरूप्पन तथा नीला (पाकाल), तिरूमंगैयालवार। शैव संतों के दो ग्रन्थ 'देवाम्' तथा 'तिरूवाचकम्' भक्ति शाखा के अत्यन्त प्रामाणिक तथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। वैष्णव संतों के 'पराकासंग्रह' नाला या प्रबंध के नाम से प्रसिद्ध है। आलवारों की भक्ति-धारा के सभी जाति, वर्ग तथा वर्ण के भक्तों ने अलक हल क्रिया। उनमें कोई भेदभाव नहीं था।

वैष्णव आलवारों की भक्ति भावना—आलवार वैष्णवों ने विधि-विधानों से युक्त करके भक्ति को कर्म एवं ज्ञान से समन्वित किया। इन्हें इस बात का श्रेय प्राप्त है कि इन्होंने वेदों एवं आलवार संतों के भक्तिग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन किया। दोनों के मध्य सम्बन्ध संस्थापित करके भक्ति को शास्त्रीय पद प्रदान किया। इसी आधार पर इन्हें उभय वेदान्ती भी कहते हैं। इन आचार्यों में प्रमुख रूप से उल्लेखनीय थे :—रंगनाथ मुनि, श्री रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य। अब हम इन पर पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

श्री रंगनाथ मुनि—श्री रंगनाथ का अभ्युदय शठकोपचार्य की शिष्य-परम्परा में हुआ। इन्होंने तामिल भक्ति काव्य के उद्धार का महत्वपूर्ण कार्य किया है। ये विशिष्टाद्वैतवाद के प्रवर्तक तथा गम्भीर विचारक थे। मुनि जी ने न्याय तत्व तथा योग रहस्य ग्रन्थों की दार्शनिक व्याख्या की है।

श्रीरामानुजाचार्य की भक्ति भावना—नाथ मुनि द्वारा प्रवर्तित वैष्णव-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को उनकी शिष्य-परम्परा में अवतरित यामुनाचार्य ने, विकसित

करने का प्रयत्न किया किन्तु रामानुज ने इस सम्प्रदाय के मूल को स्वचिन्तन-जल से सिंचित कर कवि संजीवनी शक्ति प्रदान की। श्री रामानुजाचार्य के प्रमुख ग्रन्थ हैं वेदान्त संग्रह, वेदांत सार, वेदांत दीप, गद्य-त्रयः गीता भाष्य आदि। गद्यत्रय के अन्तर्गत भगवान एवं प्रपत्ति विषयक तत्वों की सम्यक् विवेचना सम्पन्न हुई है। रामानुजाचार्य के सिद्धान्तों की कुछ विशेषतायें हैं। संसार में तीन ही तत्व हैं चित्, अचित्, तथा 'ईश्वर'। चित् ब्रह्मवाचक है, अचित् जगत् का वाचक है, तथा ईश्वर से अभिप्राय है अणु-अणु व्यापी परब्रह्म। परब्रह्म सगुण एवं सविशेष है। माया उसकी प्रमुख शक्ति है। अचित् जगत् का उपादान कारण ब्रह्म है। जीवन, जगत् उसका शरीर है और वह उसकी आत्मा है। ब्रह्म का स्वरूप ५ प्रकार का है—(१) पर, (२) व्यूह, (३) विभव (४) अन्तर्यामी तथा (५) अर्चा। ब्रह्म का वाह्य रूप है जगत्। जगत् भी माया है। जीव भी ब्रह्म का ही शरीर है। अंतर यह है कि ब्रह्म ईश्वर है, जीव दास है, ईश्वर कारण है और जीव कार्य है, जीव कर्ता एवं भोक्ता है। वह उपाधियों के कारण सांसारिक लोगों में संलिप्त रहता है। ब्रह्म के सदृश जीव भी पाँच प्रकार का है—(१) नित्य, (२) मुक्त, (३) केवल, (४) मुमुक्षु तथा (५) बद्ध। ब्रह्म की सेवा ही मुक्ति है। मुक्ति भी पाँच प्रकार का है—(१) कर्मयोग, (२) ज्ञानयोग, (३) प्रपत्ति योग, (४) आचर्य्याभिमान योग आदि। साधक वा भक्ति स्ववेदना, ध्यान तथा उपासना के माध्यम से ही अपनी भक्ति उस प्रभु के प्रति व्यक्त करता है। प्रभु के प्रति सर्वस्व न्यास से ही प्रपत्ति है। ब्रह्म के प्रति पूर्ण समपर्ण ही भगवत् प्रसन्नता का प्रमुख साधन है। भक्त एवं प्रयत्न में भावना का अंतर है। ब्रह्म के चरणों में अपने को हर प्रकार से समर्पित कर देना ही प्रयत्न का प्रमुख लक्षण है। भक्त भगवान को केवल अपना ही मानता है तथा अपने को भगवान का मानता है, उसका जो कुछ है वह भगवान का है। भक्त एवं प्रपन्न में वही अन्तर है जो सेवक और पत्नी में है। सेवक स्वामी के आदेशानुसार कैंकर्य करता है परन्तु पत्नी का पति सर्वस्व है। स्वामी के छूट जाने पर सेवक अन्यत्र आजीविका खोज लेता है परन्तु पति के परित्याग कर देने पर पत्नी के लिए कहाँ स्थान है, पति ही पत्नी का उपाय तथा अवलम्ब है। तथैव प्रपन्न का आश्रय, बुद्धि तथा उपाय एक मात्र ब्रह्म है। प्रपन्न सदा अपने को अपराधी तथा आर्त मानता है। प्रपत्ति भाव के अन्तर्गत अर्थ पंचक का ज्ञान अनन्य शेषत्व, अनन्यशरणत्व तथा अनन्य योग्यता आवश्यक है। साधन समष्टि के अन्तर्गत प्रपत्ति मार्ग का विशेष स्थान है। व्यावहारिक क्षेत्र में यह सबसे सुगम तथा सरल साधन है। विशिष्टाद्वैत में गुरु-महत्व को भी विशिष्ट स्थान प्राप्त है। गुरु की अनुकम्पा से पुरस्कृत जीव से ही भगवान ग्रहण करते हैं। इस सम्प्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना को

प्रधानता दी गई है। ब्रह्म का सर्वाधिक श्रेष्ठ रूप वैकुण्ठाधिपति श्री भगवान है जिसमें वे श्री-देवी से सम्पन्न हैं। ब्रह्म के दो रूप हैं, अन्तर्यामी तथा बहिर्यामी। उसके उभय रूपों के अन्तर्गत उसका कैंकर्य-परिपालन वांछित है।

मध्वाचार्य की भक्ति भावना—मध्वाचार्य के द्वारा संस्थापित मत माध्वमत, भेदाभेदी द्वैतवादी या ब्रह्म-सम्प्रदाय नामों से प्रसिद्ध है। इसका विकास-केन्द्र महाराष्ट्र का दक्षिणी भाग था। इस सम्प्रदाय के प्रमुख तत्व हैं—श्री विष्णु परम सत्य है। जगत् सत्य है। उसमें भेद वास्तविक है। समन्त जीवों में एक तारतम्य है। समस्त जीव ब्रह्म के सेवक हैं। वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति के अनेक प्रकार हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादिमार्ग तथा भोग (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य)। मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है 'अहैतुकी भक्ति' या 'अनन्या भक्ति'। मध्वाचार्य की भक्ति का समाहार निम्नलिखित श्लोक में हुआ है :—

श्री मन्मध्वमते हरिः परतरः सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा नीचोच्चभावं गताः ॥
मुक्तिनैजसुखानुभूतिरमला भक्तिश्च तत्साधनं।
लक्षादित्रितयं प्रमाणमखिलाम्नायैकवेद्यो हरिः ॥

—भागवत सम्प्रदाय, पृष्ठ २२३-२२४

प्रस्तुत श्लोकों में निम्न प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है :—

संसार सत्य है। भेद वास्तविक है। समस्त जीव भगवनाधीन है। जीवों में कर्मानुसार उच्च-नीच भाव होता है। वास्तविक सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति का सर्वोत्तम साधन निर्दोष भक्ति है।

तीन प्रमुख प्रमाण है :—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा शब्द। वेदों में प्रमुख वर्णतत्व विष्णु ही हैं। मध्वाचार्य ने भक्ति को मुक्ति का साधन माना है :—

(१) बिना ज्ञानं कुतो भक्तिः कुतो भक्ति बिना च तत्।
(२) अतो विष्णोः पराभक्तिस्तद्भक्तेषु रमादिषु।
तारतम्येन कर्तव्या पुरूषार्थमभीप्सता ॥

—ब्रह्मसूत्रानुख्यान, भक्ति अंक, पृ० १८६

मध्वाचार्य की भक्तिभावना की उर्वरा भूमि पर दक्षिण तथा उत्तर भारत में भक्ति आन्दोलन का विशाल वृक्ष विकसित हुआ। दक्षिण भारत की भक्ति प्रबलता ही ने १५वीं शताब्दी में उत्तरी भारत ने प्रबलता का रूप ग्रहण किया। १५वीं शताब्दी के भक्ति साहित्य ने हिन्दी साहित्य को अनेक सूर्य तथा चन्द्र भेंट किये जिन्होंने अज्ञान के अन्धकार को दूर कर दिया।

उत्तर भारत में भक्ति भावना—भक्ति का तृतीय उत्थान पन्द्रहवीं शताब्दी से माना जाता है। इस समय भक्ति-सरिता की दो अविरल धारायें प्रवाहित हुईं, एक पूर्ण रसाप्लावित श्याममयी कालिन्दी के रूप में, तथा द्वितीय शिवं एवं सत्यं समन्वित राम गंगा के रूप में। इन उभय धाराओं ने भक्ति के दोनों पुलिनों को रसमय बनाने के साथ ही साथ साहित्य भंडार की भी अभिवृद्धि की तथा उत्तर भारत में इन धाराओं के अतिरिक्त एक और धारा की भी अभिवृद्धि की। उत्तर भारत में इन धाराओं के अतिरिक्त जो एक और धारा प्रवाहित हुई वह ज्ञानाश्रयी धारा के नाम से विख्यात है। उत्तर भारत में रामभक्ति तथा ज्ञानाश्रयी धारा के उद्भव के मूल श्रोत हैं युग प्रवर्तक रामनन्द, रामानन्द का व्यक्तित्व धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति से निखार पाकर रोचक तथा व्यापक बन गया था। रामानन्द अत्यधिक उदार, क्रान्तिकारी, प्रगतिशील तथा चिन्तनशील प्राणी थे। मध्ययुग में जन साधारण के मध्य सुलभ तथा सरल रूप में भक्ति का प्रचार करने का श्रेय युग-प्रवर्तक रामानन्द को ही है। रामानन्द ने अपने गुरु रामानुजाचार्य के आदेशों को ग्रहण करके एक अभिनव सुधार आन्दोलन के माध्यम से सर्वसाधारण में भक्ति भावना का प्रचार एवं प्रसार किया। रामानन्द ने लोकसंग्रहवर्ण राम की उपासना का मधुर संदेश जन-जन तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। उन्होंने विष्णु के समस्त रूपों में लोक कल्याणकारी रूप का प्रचार किया। रामानन्द बड़े उदार व्यक्ति थे। उन्होंने भक्ति का विशाल द्वार सभी जातियों, वर्णों तथा वर्गों के लिये उन्मुक्त कर दिया। जो भक्ति चिरकाल से ब्राह्मणों के एकाधिकार सत्व की वस्तु बनी हुई थी, अब जनसाधारण के लिये भी सुलभ तथा उपलब्ध हो गई। कबीर, रैदास, सेन रंग-त्रंस आदि का अविर्भाव इसी परम्परा में हुआ। उत्तर भारत में विष्णु भक्ति के जनान्दोलन के वास्तविक आग्रह तथा राम भेद के प्रकार का राघवानन्द जी के शिष्य स्वामी रामानन्द के विशाल व्यापक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व एवं कार्यावली ने उन्हें महत्वपूर्ण व्यक्ति बना दिया। कृष्ण भक्ति के विकास में जो स्थान वल्लभाचार्य का है, राम भक्ति के विकास में वही स्थान रामानन्द का माना जाता है। इनकी भक्तिधारा, समय तथा परिस्थितियों के अनुकूल है। रामानन्द ने भगवत् भक्ति से अनुप्राणित होकर भक्ति के उज्ज्वलभावमणि निर्मित रत्नजटित-सोपान निर्मित किया, जिन पर आरूढ़ होकर जनता ब्रह्मानर के साथ-साथ परमानन्द भी प्राप्त कर सकी। रामानन्द सांध्ययुगीन स्वाधीन-चिन्ता के सद्गुरु हैं। उन्होंने नायकशेषशायी विष्णु के स्थान पर राम के उस रूप की प्रतिष्ठा की जो तत्कालीन आवश्यकता की पूर्ति करने में समर्थ था। उत्तर-पश्चिम से आक्रमण करने वाले अन्यायियों तथा लोक-प्रपीड़कों के आंतक से अभिशप्त भारतीय राम

के इस लोक रंजनरागी, भवभयभंजनकारी तथा जनमनरंजनकारी रूप को (रामानन्द के उपदेशों में) प्राप्त कर आनन्द की भावना से सुसम्पन्न हुए। भारतीय जनता में आशा की किरण संचारित हुई। आशा ने निराशा का स्थान ग्रहण किया। अब तक विष्णु या राम भक्ति के ग्रन्थों की रचना देववाणी की दुरूह शब्दावली में सम्पन्न होती आ रही थी, परन्तु रामानन्द ने काल की कठोर आवश्यकता को ध्यान देकर लोकभाषा के माध्यम से भक्ति के सन्देशों को जनता तक पहुँचाने का प्रयत्न किया। रामानन्द ने भक्ति को हर प्रकार से सुलभ बनाने की चेष्टा की। जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर जनहित के लिये ग्रन्थों की रचना होने लगी। भक्ति के द्वार सबके लिये उन्मुक्त हुए। जाँति-पाँति की शृंखलाएँ विच्छिन्न हुईं और रामानन्द ने प्रचारित किया कि "जाति पाँति पूछै ना कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" तथा "ब्राह्मण सोई जौ ब्रह्म पिछानै, आन भाव का कबहुँ न आनै"। इस प्रकार भक्ति के प्रभाव ब्राह्मणों के संकीर्ण मार्ग तथा गलियों के ही नहीं, वरन् जनता के राजपथ पर भी सम्पन्न हुआ।

राम भक्ति के विकास में रामानन्द कृत 'वैष्णवमताब्जभाष्कर' का विशेष स्थान है। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के प्रकाश में विशिष्टाद्वैत सम्मत सिद्धान्तों का सम्यक् अनुशीलन किया जा सकता है। रामानन्द-भक्ति तत्वों को आचार्य शंकर के अद्वैतवाद से समन्वित करने की चेष्टा की गई है। रामानन्द ने गोरखनाथ के योग को अपने मत तथा सिद्धान्तों में स्थान देकर ज्ञान, योग एवं भक्ति की ऐसी जन-कल्याण धारा प्रवाहित की कि इसकी शैतल्य प्रदायिनी धारा ने अनेकानेक अभिशापों को विदीर्ण कर दिया। रामानन्द ने अपने सिद्धान्तों—तत्वत्रय पर विशेष ध्यान दिया। उन्होंने चिद्चिद् विशिष्ट समस्त रूपों में एक ही माना परन्तु नाम एवं पदार्थ भेद से उनके तीन प्रकार माने—(क) चित् (चेतन) जीव, (ख) अचित् (अचेतन) प्रकृति, (ग) ईश्वर।

ब्रह्म, चित्-अचित् उभय का कारण कार्य रूप है। ब्रह्म से भिन्न चित् या अचित् की कोई सत्ता नहीं है। वह विशिष्ट रूप से उभय दशाओं में एक ही है। विशिष्टाद्वैत का यही मूल तत्व है। तत्वमय के दार्शनिक तत्वों को आधार मानकर रामानन्द ने भगवान राम को परमपुरुष का स्वरूप प्रदान किया। राम के इस रूप की आराधना रामानन्द ने बड़े ही मनोयोग एवं निष्ठा के साथ प्रचलित की। इसीलिये रामानन्द का सम्प्रदाय 'वैष्णव रामावत् सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। रामानन्द के तत्वत्रय के समान ही रहस्यत्रय भी भक्ति-धारा तथा भक्ति-सिद्धांत के महत्त्वपूर्ण तत्व हैं। राम-मंत्र राम भक्ति के मूल तत्व हैं। राम-मंत्र तीन रूपों में है :—

(क) मूलमन्त्र—श्री रां रामाय नमः (पंचविंशत्यक्षर मंत्र)

(ख) द्वयमंत्र—मद्रामचन्द्रचरणौ शरणं प्रपद्ये श्रीमते रामचन्द्राय नमः (पंचविंशत्यक्षर मंत्र)

(ग) चरम मंत्र—सुकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

त्रि-तत्वों के समान ही त्रिमूर्ति का ध्यान भी आवश्यक है। त्रिमूर्ति के अन्तर्गत श्रीराम-लक्ष्मण-सीता की पूजा का विधान किया गया है। इसमें राम ईश्वर के प्रतिरूप, लक्ष्मण जीव रूप, तथा सीता प्रकृति स्थानीया हैं। इस त्रिमूर्ति का ध्यान करना, मुक्ति के द्वार की ओर अग्रसर होना है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' में उल्लेख है कि :—

सा तैलधारा समनित्यसंस्मृति सन्तानरूपदेश परानुरक्तिः।
भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्ट सुबोधकाङगा ॥
—वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक, ६५

विशिष्टाद्वैत मत के अन्तर्गत अविच्छिन्न-भक्तिधारा प्रवाह के मूल स्रोत सात उल्लेखित हुए हैं :—

(क) विवेक—(विवेचन शक्ति), (ख) विमोक—(काम में अनासक्ति), (ग) अभ्यास—(राम का सततशीलन), (घ) क्रिया—(पंच महायज्ञों का अनुष्ठान), (ङ) कल्याण—(सत्य, आर्जव, दान, दयादि), (च) अनवसाद—(सतत सोत्साह), (छ) अनुद्दष—(सांसारिक सुखों की अपेक्षा आनन्दातिरेक)।

स्वामी रामानन्द की दृष्टि में समस्त भक्ति का उद्देश्य है भगवान राम की शरण में पहुँचकर मुक्ति सम्प्राप्त करना। भगवान राम अशरण-शरण, दीनानाथ तथा दीनवत्सल हैं। इस महाशक्ति की शरण में मानव तब तक नहीं पहुँच सकता, जब तक सद्गुरु की असीम अनुम्कपा न हो। सद्गुरु की कृपा से साधक स्वकर्मों का न्यास करके बंधन विमुक्त हो जाता है और ऊर्ध्व पद को प्राप्त करता है, तथा जीवन से मुक्त होने पर वैकुण्ठरूप साकेत धाम में पहुँच जाता है। इस प्रकार भगवान की महती कृपा से सम्यक् सायुज्य लाभ करता है तथा आवागमन से मुक्त हो जाता है :—

सीमान्त सिन्धवालुप्त एवं धन्यो,
गत्वा परब्रह्म सुवीक्षितो निशम्।
प्राप्यं महानन्द महाब्धिमग्नो
नावर्तते जातु ततः पुनः सः ॥
—वैष्णवमताब्जभास्कर, श्लोक १८७

रामानन्द की भक्ति का क्या स्वरूप था, यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। रामानुज द्वारा प्रतिपादित प्रपत्तिमार्ग के सदृश ही रामानन्द ने 'वैरागी' नामक विरक्त दल का संगठन किया। रामानन्द का सबसे बड़ा योगदान यह है कि उन्होंने संस्कृत आचार्यों की नियमबद्ध वैधीभक्ति जो सर्वसाधारण के लिए दुर्गम, दुरूह तथा दुष्प्राप्य थी, उसे प्रेमाभक्ति के रूप में परिवर्तित करके जनता के प्रत्येक वर्ग के लिये सुलभ किया। रामानन्द ने नवधा भक्ति के साथ-साथ दशधा भक्ति का प्रतिपादन किया।

रामानन्द की शिष्य परम्परा में भक्ति का स्वरूप :—रामानन्द की भक्ति भावना तथा साधनात्मक दृष्टिकोण का सम्यक् प्रचार तथा प्रसार उनके १२ शिष्यों द्वारा सम्पन्न हुआ। ये बारह शिष्य—(१) सेननाई, (२) कबीर, (३) पीपा, (४) धन्ना भगत, (५) सुरसरानंद, (६) योगानंद, (७) भवानन्द, (८) रैदास, (९) अनन्तानंद, (१०) नरहरियानंद, (११) सुखानंद, (१२) गालवानन्द थे।

रामानन्द के इन शिष्यों में से सगुणोपासक तथा निर्गुण भक्तों का अद्भुत समन्वय है। उभयवर्गों में ईश्वर की प्रेमभक्ति के प्रति विशेष बल दिया गया। यह सत्य है कि रामानन्द जी खुले हुए विश्व के बीच भगवान की कला की भावना करने वाले विशुद्ध भक्तिमार्ग के अनुयायी थे और इसी में जनता का कल्याण मानने वाले आचार्य थे। परन्तु फिर भी यदि उन्होंने कहीं-कहीं निर्गुण ब्रह्म की चर्चा तथा योग-साधना की प्रतिक्रिया का निर्देश किया है, तो यह उक्त मार्ग से नितान्त विरुद्ध नहीं पड़ता। रामानन्द का भारतीय धर्म में यही एक विलक्षण वैशिष्ट्य है। (रामावत्-सम्प्रदाय—पृष्ठ २८४)। रामानन्द के द्वारा दीक्षित दोनों प्रकार के भक्तों में भक्ति दो भिन्न रूपों में दृष्टिगत होती है। निर्गुणोपासकों के राम, दशरथनन्दन राम नहीं हैं, वरन् वे अखिल सृष्टि में निराकार रूप में व्याप्त रहने वाले अनन्त, अनादि, अनाम, अजाति, अवर्ण, निर्गुण, निराकार, निर्विकार राम हैं। यह ब्रह्म पूर्णतया अद्वैत हैं। रामानन्द के निर्गुणोपासक शिष्यों में कबीर का व्यक्तित्व बड़ा असामान्य, असाधारण तथा अद्वितीय था। कबीरदास का व्यक्तित्व हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वथा मौलिक, सर्वथा प्रभावशाली तथा सर्वथा अत्यन्त प्रगतिशील है। परम्परागत समस्त मान्यताओं को विनष्ट, विध्वंस, विभंग तथा विच्छेद करके उसने स्वस्थ्य तथा जनकल्याणकारी आदेशों की जिन भित्तियों की स्थापना की, वे आज भी अपनी शीतल-छाया में मानवता की रक्षा करने में सम्पूर्ण रूप से समर्थ है। कबीर ने शोषण, अपहरण, वाह्याडम्बर तथा विघटन के विरुद्ध उच्च-स्वर में विरोधी भावनाओं को अभिव्यक्ति कर संकीर्णता की भावना को स्पष्ट शब्दों में खुलकर आलोचना

की। जातिवर्ण तथा वर्ग-विषयक मिथ्या भावनाओं की कबीर ने भर्त्सना की। कबीर की दृष्टि में भक्ति और साधना के भव्य प्रासाद का द्वार सबके लिए उन्मुक्त रहना चाहिये। कबीर सच्चे जनवादी धार्मिक नेता तथा कवि थे। भाषा, भाव, छन्द, अलंकार, प्रतीक, किसी भी दृष्टि से कबीर को देखने की चेष्टा कीजिये, उनका व्यक्तित्व एक हजार वर्ष के हिन्दी साहित्य के इतिहास में सर्वोच्च, सर्वाधिक मौलिक तथा अत्यन्त स्पृहणीय है। वह चतुर्दिक क्रांति का अग्रदूत अत्यन्त भावुक महा कवि था। जीवन के जिस क्षेत्र में भी कबीर ने पदार्पण किया वहीं पर अपनी कल्पना के माध्यम से तथा तत्कालीन आवश्यकता के अनुसार नये-नये शब्द-चित्र अंकित किये जो अपनी उपयोगिता के कारण कभी पुराने नहीं पड़ेंगे।

रामानन्द के अभ्युदय काल से लेकर ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के स्थापना काल तक अनेक संत कवि हुए। इन संतों में विशेष उल्लेखनीय हैं—कबीर, रैदास, नानक, दादू, सुन्दरदास, मलूकदास, हरिया द्वै, गरीबदास, पलटू साहब, बुल्ला साहब, धानी दास, सहजोबाई, दयाबाई, तुलसी साहब, तथा चरनदास आदि। इन समस्त कवियों में कबीरदास, नानक, सुन्दरदास, गरीबदास, पलटू साहब तथा चरनदास विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके काव्य में सन्देहों की पुष्टता के अतिरिक्त काव्यतत्व तथा उक्ति वैचित्र्य भी उपलब्ध है। ये सभी कवि उत्कृष्ट रहस्यवादी तथा उत्कृष्ट तत्व ज्ञानी थे। ये सभी संतों के नाम से अभिहित हैं। मराठी साहित्य में संत, भक्त और सज्जन पर्यायवाची शब्द हैं परन्तु हिन्दी साहित्य में निर्गुणी तथा ज्ञानमार्गी साधुओं को ही संत कहने की रूढ़ि हैं। कबीर ने कहा है, "संतन जात न पूजो निर्गुनियाँ तथा "जानसि नहिं कस कथसि अयाना। हम निरगुन तुम सरगुन जाना।" इनका काव्य भक्तिभावना से ओत-प्रोत है। भक्ति के सम्बन्ध में इनमें से प्रत्येक की अपनी धारणाएँ हैं। इनमें से सर्वप्रथम कबीर की भक्ति विषयक धारणाओं को देखिये। कबीर निष्काम भक्ति के समर्थक हैं। जब तक भक्ति है तब तक सेवा निष्फल है।

जब लागे भक्ति सकाम है, तब लागे निष्फल ऐव।
कह कबीर वह क्यों मिलै, निःवासी निज देव॥

—संतवानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १४

भक्ति-मुक्ति सीढ़ी है, निशानी है:—

भक्ति निसैनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जन भजन पछिताय॥

—संतवानी संग्रह, भाग १, पृ० १४

हर प्रकार का अभाव पड़ने पर भी भक्ति बीज नष्ट नहीं होता है :—

सत्त नाम हल जोतिया, सुमिरन बीज नहिं जाय।
खंड ब्रह्मांड सूखा पड़े, भक्ति बीज नहिं जाय ॥

—वही, भाग १, पृ० १४

संत दादू के मत से भक्ति का भाव निम्नलिखित हैं :—

जोग समाधि सुख सुरति सों, सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का, इहै भगति का भाव ॥

—वही, भाग १, पृ० ८०

भक्ति के बिना संशय दूर नहीं होता और मानव एक तीर्थ से दूसरे में भटकता फिरता है। संत गरीब दास के मत से :—

बिना भगति क्या होत है, कासी करवत लेह।
मिटै नहीं मन वासना, बहुविधि भरम संदेह ॥
भगति बिना क्या होत है, भरम रहा संसार।
रत्ती कंचन पाय नहिं, रावन चलती बार ॥

—वही, भाग १, पृ० १८७

संत गरीब दास के मत मे भक्ति अधम-उधारन है :—

अधम उधारन भगति है, अधम उधारन नाथ।
अधम उधारन संत है, जिनके मैं बलि जांव ॥

—वही, भाग १, पृ० १८७

देवर्षि नारद ने भक्तिसूत्र के अंतर्गत भक्ति के निम्नांकित भेदों का वर्णन किया है :—

"गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति संख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्तिरूपा एकधाप्येकादशधा भवति।"

अर्थात् यह प्रेम-रूपाभक्ति एक होकर भी गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति पूजासक्ति, सारणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति इस प्रकार को होती है। सक्ति प्रवर प्रह्लाद ने भक्ति के नौ प्रकारों का उपदेश दिया है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदम् ॥—श्रीमद्भागवत ७।५।२३

माध्वसिद्धांत के अन्तर्गत भी नवधा-भक्ति को मान्यता दी गई है। नारद-पांचरात्र, शाडिल्य सूत्र, तथा भक्ति तरंगिणी, ग्रन्थों में भी नवधाभक्ति का प्रतिपादन हुआ है। भक्ति की विवेचन करते हुये संतों ने भी नवधाभक्ति का प्रतिपादन किया है। मलूकदास के अनुसार भक्ति नौ प्रकार की होती है— (१) श्रवण (२) कीर्तन (३) स्मरण (४) पादसेवन (५) अर्चना (६) वन्दन (७) सख्य (८) आत्मनिवेदन तथा (९) दास्य।

स्रवन सुजस हरि को कहव होई कीरतन सोई।
सुमिरन जो हरि सुमिरिये स्वांस स्वांस प्रति होई॥
पदसेवा अरचन, बन्दना ही भगतन की सेवा।
भगतन को भगवत सो कहौ अभवे गुरुदेवा॥
सो दासत्व सखत्व कहो श्रीमुख आप मुरारि।
निज तन हरि हित दीजिए काम निवेदन सोई।—ज्ञान बोध

नवधा भक्ति के प्रभाव प्रत्यक्ष तथा प्रमाणित हैं। राजा परिक्षित श्रवण से, शुक कीर्तन से, प्रह्लाद स्मरण से, लक्ष्मी पादसेवन से, पृथु अर्चन से, हनुमान दास्य से, अर्जुन सख्य से, बलि आत्मनिवेदन से तथा अक्रूर हरिवंदन से तर गए :—

श्रवन परीछित तरो सुक कीर्तन के कारन।
सुमिरन ते प्रहलाद तरो लक्ष्मी पद सेवन॥
अर्चन सो पृथु तरो तरो अक्रूर सो बन्दन।
दासत्व कार्य तरो सख्यहि तरो अर्जुन॥
बलि किया कायनिवेदन अजहूँ हरि वा के द्वार॥—ज्ञान बोध

मलूकदास के अनुसार हृदय-क्षेत्र में श्रवण बीज पड़ने से तर गया। वृक्ष का जन्म होता है "बीजसवन को श्रवन है तरु वैराग्य अनूप"—(ज्ञा० बो०)। संसार में वैराग्य रूपी इस वृक्ष का पुष्प भक्ति है। अर्थात् दार्शनिक एवं आध्यात्मिक विषय के श्रवण से हृदय में संसार से विरक्ति उत्पन्न होती है और उससे भक्ति का विकास होता है। भक्ति सत्संग से समृद्धि को प्राप्त होती है और दुराशा तथा खेद से विनष्ट हो जाती है—"सो वारे सत्संग तै मिटै दुरासा खेद"। चाहे पश्चिम में सूर्य का उदय हो परन्तु भक्ति के अभाव में क्लेश नहीं मिटते हैं। मलूकदास का कथन है—"भगति बिना नहिं मिटै कलेसा, पश्चिम जाये जो उड़ै दिनेसा।" राम भजन के बिना मुक्ति नहीं होती है चाहे मानव कितना परिश्रम कर ले—"राम भजन बिनु मुक्ति न होई, कोटि उपाय करै जो कोई।" भक्ति-विहीन नर नरक के अधिकारी होते हैं "भक्ति हीन भये राम न चीन्हा, ताते सबहिं नरक जम दीन्हा।" संत कवियों में सुन्दरदास ने भक्ति के सम्बन्ध में सविस्तार विचारों को व्यक्त किया

है। ज्ञान समुद्र के द्वितीय उल्लास में कवि ने विभिन्न योगों में भक्तियोग को सर्व-प्रथम स्थान प्रदान किया है। भक्तियोग का यह विवेचन ५६ छन्दों में सम्पन्न हुआ है। इन छन्दों में भक्ति का महत्त्व, प्रकार, नवधाभक्ति, प्रेम लक्षण, भक्ति का महत्त्व, परमभक्ति, भक्ति की विविध सिद्धियाँ, उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ट भक्तियोग आदि विषयों पर सविस्तार विचार प्रकट किये गये हैं। सुन्दर ग्रन्थावली के सम्पादक श्री हरिनारायण पुरोहित का अनुमान है कि नवधा भक्ति और प्रेम लक्षण का वर्णन स्वामी जी ने किन ग्रन्थों के आधार पर किया है, प्रकट नहीं होता है। परन्तु इनके वर्णन से यह अटकल लगाई जा सकती है कि ये नारद पंचरात्र, शांडिल्य सूत्र, भक्ति तरंगिणी आदि ग्रन्थों से लिये गए होंगे। सुन्दरदास ने भक्तियोग के सम्बन्ध में अपने विचारों का उल्लेख करते हुये कहीं पर भी आधार-ग्रन्थों को नहीं अंकित किया। सुन्दरदास ने भक्ति को भी एक योग माना है। भक्ति के साथ योग शब्द का जोड़ा जाना गीता का अनुकरण प्रतीत होता है। ब्रह्म में मन को नियोजित करने की विशेष प्रक्रिया या पद्धति ही योग है। यहाँ पर भक्तियोग से कवि का तात्पर्य है भक्ति के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में मन को नियोजित करने की प्रक्रिया या भक्ति की जिस क्रिया के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में मन नियोजित किया जाय, वही भक्ति योग है। भक्ति शब्द को सुनते ही हमारे मस्तिष्क में सगुण ब्रह्म की उपासना का ध्यान आ जाता है। वस्तुतः तथ्य भिन्न हो, पर सुन्दरदास की निम्नलिखित पंक्तियाँ इस बात की द्योतक हैं कि इनमें निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का ही उपदेश दिया गया है :—

> शिष तोहि कहौ श्रुति वानी। सब संतनि साषि बषांनी ॥
> द्वै रूप ब्रह्म के जाने। निर्गुण अरु सगुन छिपाने ॥
> निर्गुण निज रूप नियारा। पुनि सगुन अवतारा ॥
> निर्गुण को भक्ति सुमन सो। संतन की मन अरु तन सो ॥
> एकाग्रहिं चित्त जु राषै। हरिगुन सुनि सुनि रस चाषै ॥
>
> —ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १०।११-२३

सुन्दरदास ने नवधा भक्ति का उपदेश दिया :—

> सुनि शिष नवधा भक्ति विधान। श्रवण कीर्तन स्मरण जान ॥
> पाद सेवन अर्चन वंदन। दास भाव सख्यत्व समर्प्पन ॥
>
> —ज्ञानसमुद्र-द्वितीयोल्लास १८।६

सुन्दरदास लिखित नवधा भक्ति तथा शास्त्र भक्ति की नवधा भक्ति में कोई अन्तर नहीं है। भक्ति के अन्तिम प्रकार के विषय में कतिपय शाब्दिक भेद हैं,

पर तात्विक दृष्टि से दोनों ही शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं। सुन्दरदास ने भक्ति के नवम प्रकार को समर्पण कहा है और भक्ति शास्त्र के अनुसार यही नवम प्रकार आत्म-निवेदन है। वस्तुतः समर्पण तथा आत्म-निवेदन में कोई आधारभूत अन्तर नहीं है।

भक्ति के दो प्रधान भेद हैं :—(१) साधन रूप—वैध या नवधा भक्ति, (२) साध्य रूप—प्रेम लक्षण भक्ति। भक्ति के इन दोनों प्रकारों में सेवा साधन रूप है तथा प्रेम साध्य है। ब्रह्म जिस आचरण से प्रसन्न हो, उसी भाव से भावित होकर कार्य करना ही सेवा है। धर्मशास्त्र में सेवा के अनेक लक्षण उल्लिखित हैं। नवधा-भक्ति का सर्वप्रथम अंग है श्रवण। सुन्दरदास के शब्दों में श्रवण को परिभाषा तथा विवेचन निम्नलिखित है :—

शिव तोहि कहौ श्रुति बानी। सब संतनि साषि बषानी॥
द्वै रूप ब्रह्म कै जानै। निर्गुन अरु सगुन पिछानै॥
निर्गुण निज रूप नियारा। पुनि सगुन संत अवतारा॥
निर्गुन की भक्ति सुमन सो। संतन की मन अरु तन सो॥
एकाग्रहि चित्त जु राषै। हरिगुन सुनि रस चाषै॥
पुनि सुनै संत कै बैना। यह श्रवन भक्ति मन चैना॥

—ज्ञानसमुद्र, पृ० १६।११-१३

कीर्तन नवधा भक्ति का द्वितीय अंग है। कीर्तन भक्ति के लिए सत्संग की महती आवश्यकता है। सुन्दरदास ने निम्नलिखित शब्दों में कीर्तन भक्ति का उल्लेख किया है :—

हरिगुन रसना सुख गावै, अति सै करि प्रेम बढावै।
यह भक्ति की रतन कहिये, पुनि गुरु प्रसाद ते लहिये॥

—ज्ञानसमुद्र, पृ० १६।४४

ब्रह्म के नाम, रूप, गुण, एवं रहस्यों का श्रद्धापूर्वक श्रवण, कीर्तन एवं मनन ही स्मरण है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि ओंकार अक्षर ही ब्रह्म है। यही परब्रह्म, इसी ओंकार रूप ब्रह्म की उपासना करके मानव मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करता है :—

एतदेवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतदेवाक्षरं ज्ञात्व यो यदिच्छति तस्य तत्॥

—कठोपनिषद् १।२।१६

श्रीमद्भागवत में लिखा है कि जो व्यक्ति समस्त क्रियाओं को सम्पादित करता हुआ, ब्रह्म के कल्याणकारी रूप एवं नामों का श्रवण, रक्षा, स्मरण एवं चिन्तन करता है, वह आवागमन से उन्मुक्त हो जाता है :—

श्रृण्वन् गृणन् संस्मरयंश्च चिन्तयन् ।
नामानि रूपाणि च मंगलानि ते ।।
क्रियासु यस्त्वच्चरणारविन्दयो ।
राविष्टचेता न भवाय कल्पते ।।

—श्रीमद्भागवत १०।२।३७

संत सुन्दरदास ने स्मरण दो प्रकार का माना है—प्रथम कीर्तन के रूप में होता है और द्वितीय हृदय के अन्तर्गत स्मरण होता है :—

अब समरन दोई प्रकारा । एक रसना नाम उचारा ।।
इक हृदय नाम ठहरावै । यह समरू भक्ति कहावै ।।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १६।१५

नवधा भक्ति का चतुर्थ प्रकार है पाद-सेवन । भगवान के दिव्य मंगलमय मूर्ति का दर्शन, चिन्तन, पूजन एवं सेवन करना पाद-सेवन है । श्रीमद्भागवत में भी ब्रह्म के चरणों का बड़ा गुणगान हुआ है :—

न नाकपृष्ठं न च सार्वभौमं
न पारमेष्ठ्यं न रसाधिपत्यम् ।
न योगसिद्धिर्नपुनर्भवं वा
वाञ्छन्ति यत्पादरजः प्रपन्नाः ।।

सुन्दरदास ने ब्रह्म के चरणों में लोटना, उनको सहलाना तथा दबाना आदि पाद-सेवन माना है :—

नित चरन कमल महि लोटे । मनसा करि पांव पलोटे ।।
यह भक्ति चरन की सेवा । समुझावत है हे गुरुदेवा ।।

— ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १६।१६

अर्चना, नवधा भक्ति का पंचम प्रकार है । मानस-पटल में कल्पना विनिर्मित मूर्ति की उपासना करना अथवा सम्पूर्ण भूतों में ब्रह्म उपस्थिति को कल्पना करके उसके तत्व, रहस्यादि को समझना आदि अर्चन-भक्ति है । श्रीमद्भागवत १०।८१।१६ तथा गीता १८।४६, ४६।१६ में अर्चन के महत्त्व पर बारम्बार विचार प्रकट किया गया है । सुन्दरदास ने अर्चना का रोचक वर्णन किया है । कवि के अनुसार

भाव का मन्दिर बनाकर, भाव का मूर्ति स्थापित करके, भाव के कलश में भाव जल भर के ब्रह्म को नहला करके, भाव का बन्दन लगाकर, भाव के पुष्प चढ़ाकर, भाव का भाग लगाकर, भाव के दीपक की आरती कर तथा भाव के घण्टे-घड़ियाल बजाकर ब्रह्मोपासना करना ही अर्चन है :—

अब अरचना कौ भेद, सुनि शिष देउं तोहि बताइ ।
आरोपिकै तहं भाव अपनौ सेइये मन लाइ ॥
रचि भाव कौ मंदिर अनूपम सकल मूर्ति मांहिं ।
निजभाव की तहं करै पूजा बैठि सनमुख दास ॥
निज भाव की सब सौज आनै नित्य स्वामी पास ।
पुष्प भाव ही कौ कलस भरि धरि भाव नीर न्हवाइ ।
करि भाव ही कै वसन बहुविधि अंग-अंग बनाइ ॥
तहं भाव चन्दन भाव केशरि भाव करि घसिलेहु ।
पुनि भाव ही करि चरचि स्वामी तिलक मस्तक देहु ॥
लै भाव ही के पुष्प उत्तम गुहै माल अनूप ।
पहिराइ प्रभु कौ निरषि नखशिख भाव षेवे धूप्र ॥
तहं भाव ही वैधरै भाव लावै भोग ।
पुनि भाव ही करिकै समर्प-सकल प्रभु कै योग ॥
तहं भाव ही की घंट झालिरि संष ताल मृदंग ।
तहं भाव ही कै शब्द नाना रहै अतिसै रंग ॥
यह भाव ही कै आरती करि करै बहुत प्रनाम ।
तब स्तुति बहु विधि उच्चरै धुनि सहित लै लै नाम ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २१।१७-२१

नवधा भक्ति में अर्चन के अनन्तर वन्दना का स्थान है । यह नवधा भक्ति का सप्तम अंग है । भगवत्स्वरूप नाम, मानसपटल पर अंकित चित्र तथा सर्वभूत को ब्रह्म का ही अंग मानकर उसकी सेवा करना तथा श्रद्धापूर्वक ब्रह्म का गुणगान करना ही वंदन है । गीता (११/४०) तथा भागवत (११-२-४१) में वन्दन का महत्त्व वर्णित है । भीष्म-स्तवराज में उल्लेख है कि श्रीकृष्ण को किया गया एक भी प्रणाम दशाश्वमेघ यज्ञ से श्रेष्ठ है ।

एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामौ ।
दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ॥
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म ।
कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ।—भीष्मस्तव, राजश्लोक ६९

सुन्दरदास के मत से वन्दना दो प्रकार की होती है—१. तन से २. मन से। तन से दण्डाकार प्रणाम एवं मन से ब्रह्म का ध्यान करना ही वन्दना है। कवि के शब्दों में वन्दना का भेद पढ़िये:—

वन्दन दोइ प्रकार कहौ शिष संभलियं। दंड समान करै तन सौ तन दंड दियं।
त्यों मन सौ तन मध्य प्रभू का कर पाइ परै। या विधि दोइ प्रकार सु नन्दन भक्ति करै॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २२।३१

दास्यत्व नवधा भक्ति का सप्तम प्रकार है। भगवान के गुण, तत्व रहस्यादि का परिज्ञान सम्प्राप्त करके उनकी आज्ञा शिरोधार्य करना ही दास्य-भक्ति है। सत्संग एवं सदाचरण दास्य-भक्ति में प्राप्त होते हैं। भगवान के कृत्यों को अनुसरण करना दास्य-भक्ति का प्रमुख लक्षण है। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा कि यदि तुम अभ्यास में भी असमर्थ हो तो भी कर्मों का अनुसरण करो। कर्मों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है :—

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरोभव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि॥—गीता १२।१०

सुन्दरदास के मत से भक्त का भय, प्रेम एवं श्रद्धापूर्वक पतिव्रता स्त्री के समान ब्रह्म की सेवा करते रहना और आज्ञा का पालन करना ही दास्यत्व भक्ति है। दास्यत्व में कवि आत्महीनता को भी आवश्यक मानता है। सुन्दरदास के शब्दों में दास्यत्व भक्ति निम्नलिखित है :—

नित्य भय सो रहै हस्त जोरैं कहै, कहा प्रभु मोहि आज्ञासु होई।
पलक पतिव्रता पति वचन खंडै नहि, भक्ति दास्यत्व शिव जो निसोई॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास १३।३२

सख्य भक्ति नवधा भक्ति का अष्टम प्रकार है। विभीषण, उद्धव, अर्जुन, सुदामादि इसी कोटि के भक्त हैं। श्रीकृष्ण जी ने उद्धव से कहा कि मुझे जितने प्रिय तुम हो उतने प्रिय न ब्रह्म हैं, न शंकर, न लक्ष्मी और न आत्मा ही।

न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिन् शंकरः।
न च संकर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्॥ —श्रीमद्भागवत ४१।१४।१५

सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म का सदैव साहचर्य्य तथा दृढ़ निकट प्रेम रखना ही सत्य भक्ति है :—

सुनि शिष्य सखापन तोहि कहौ हरि आतम कै नित संग रहै।
पलु छाड़त नांहि समीप सदा जितही जितको यह जीव बहै॥

ऊवत् फिरी वै हरि सों हित राषहि होई सखा दृढ़ भावग है।
इस सुन्दर मित्र न मित्र तजै यह भक्ति सखापन वेद कहै॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २३।३३

आत्म-निवेदन नवधा भक्ति का अंतिम भेद है। ब्रह्म के तत्व रहस्य एवं प्रभावादि का परिज्ञान प्राप्त करके मनसा, वाचा, कर्मणा तथा तन-मन-धन से श्रद्धापूर्वक अपने को समर्पित कर देना ही आत्म-निवेदन है। गीता में भगवान ने बारम्बार कहा है "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज"। सुन्दरदास के अनुसार ब्रह्म के प्रति तन, मन, धन सम्पत्ति समर्पण कर देना ही आत्म-निवेदन है।

प्रथम समर्पन मन करै, दुतिय समर्पन देह।
तृतीय समर्पन धन करै चतुः समर्पन गेह॥
गेह दारा धनं, दास दासी जनं। बाज हाथी गनं, सर्व दै यौ मनं॥
और जे मैमनं, है प्रभू तै तनं। शिष्य वानी सुनं, आतमा अर्पनं॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २३।३४

नवधा भक्ति को कनिष्ठा भक्ति भी कहा गया है। कनिष्ठा भक्ति के अनन्तर प्रेम लक्षण भक्ति या मध्यमा भक्ति है। प्रेमलक्षण भक्ति के अनन्तर परमभक्ति का विधान है। कनिष्ठा भक्ति के विवेचन के अनन्तर "ज्ञान समुद्र" में कवि ने प्रेम लक्षण भक्ति के विषय में अपने विचार प्रकट किये हैं।

प्रेम-लक्षण भक्ति के विवेचन में कवि ने कतिपय छन्द प्रेमलक्षण भक्ति के महत्त्व पर दिये हैं। भगवान के प्रति प्रेम और भक्ति प्रगाढ़ होते ही माया के बंधन क्षीण पड़ जाते हैं—

प्रेम लग्यौ परमेश्वर सों तब भूलि गयौ सब ही घरबारा।
ज्यौ उन्मत्त फिरे जित ही तित नैकु रही न शरीर संभारा॥

प्रेम की भूमिका में पहुँच जाने पर, प्रेमाधिक्य के कारण साधक, रोमांच पुलक तथा उल्लास का अनुभव करता है। वह भक्ति को शास्त्रीय पद्धति, नवधा भक्ति को बिसर कर सीधे अपने हृदय के प्रेम के द्वारा ब्रह्म के नैकट्य को प्राप्त कर लेता है :—

स्वास उस्वास उठै सब रोम चलै दृग नीर अखंडित धारा।
सुन्दर कौन करै नवधाविधि छाकि पर्यौ रस पी मतवारा॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २५।३८

साधक की इन्द्रियाँ ब्रह्माकार में स्वतः समाहित हो जाती हैं और स्वामी के पाद-

कमल से उसका ध्यान एक क्षण के लिये भी नहीं हटता। संसार का भ्रम साधक को इसी स्थान पर जाकर स्पष्ट हो जाता है—साधक का चित्त अन्तर्मुखी हो जाता है, लौकिक या वैदिक साधना उससे नहीं हो पाती। सुन्दरदास जी ने भक्त की इसी दशा का यहाँ वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया गया है :—

न लाज कानि लोक की न बेद को कह्यो करै,
नशंक भूत प्रेत की न देव यज्ञ ते डरै।
सुनै न कान और की हशै न और अच्छणा,
कहै न मुक्ख और बात भक्ति प्रेम लच्छणा॥

सुन्दरदास के अनुसार प्रेम लक्षण भक्ति की परिभाषा निम्नलिखित है :—

निशिदिन हरि सौ चित्तासक्ती सदा ठग्यौ सौ रहिये।
कोउ न जान सकै यह भक्ती प्रेम लच्छणा कहिये।

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २५।३६

भक्त प्रेम और ब्रह्म को प्राप्त करने के लिए निरन्तर उसी प्रकार दुःखी रहता है, यथाः—

नीर बिनु मीन दुखी छीर बिनु शिशु जैसे,
परि जाकै औषध बिनु कैसे रह्यो जात है।
चातक ज्यौं स्वाति बूंद चंद कौ चकोर जैसे,
चन्दन की चाह करि सर्प अकुलात है॥
निर्धन ज्यौं धन चाहै कामिनी ज्यौं कन्त चाहै,
ऐसी जाकै चाह ताकौ कछु न सुहात है।
प्रेम कौ प्रभाव ऐसौ प्रेम तहां नेक कैसो,
सुन्दर कहत यह प्रेम ही की बात है॥

प्रेमलक्षण भक्ति जिसके हृदय में उदय होती है उसे कुछ भी अधिकार नहीं प्रतीत होता है। तृषा, भूख, निद्रा तथा अन्य अभाव उसे नहीं पीड़ित करते हैं :—

यह प्रेम भक्ति जाके घट होई, ताहि कछू न सुहावै।
पुनि भूष तृषा नहिं लागे वाकौ, निशदिन नींद न आवै॥
मुख ऊपर पीरी स्वासा सीरी, नैनहुँ नीझर लायौ।
ये प्रकट चिन्ह दीसत है ताके, प्रेम न दुरै दुरायौ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २६।४३

पराभक्ति के क्षेत्र में पहुँचने के अनन्तर साधक तथा साध्य में शारीरिक भेद

होते हुए भी भाव के क्षेत्र में उभय भेद रहित हो जाते हैं। भक्ति की उन्नत अवस्था में इसी अभिन्नता के भाव को सुन्दरदास ने प्रस्तुत छन्द में व्यक्त किया है :—

सेवक सेव्य मिल्यौ रसपीवत भिन्न नहीं अरु भिन्न सदा ही।
ज्यों जल बीच धर्यौ जल पिंड सु पिंड सनीर जुरे कछु नाहीं ॥
ज्यो दृग में पुतरी दृग येक नहीं कछु भिन्न सु भिन्न दिखाहीं।
सुन्दर सेवक भाव सदा यह भक्ति परा परमातम माहीं ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २८।४६

पराभक्ति की साधना की अंतिम अवस्था सेवक-स्वामी का एकत्व या एकात्मकता है। कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में स्वामी और सेवक की एकात्मकता चित्रित की है :—

हरी में हरिदास विलास करै। हरि सो कबहूँ न बिछोह परै ॥
हरि अत्तब त्यों हरिदास सदा। रस पीवन कौ यह भाव जुदा ॥
तेजोमय सेवक तहं सेवकहूँ तेजोमय। तेजोमय चरन को तेज सिर नांवई ॥
तेजमात्र ब्रह्म की प्रशंसा करे तेज मुख। तेज ही की रसना गुनानुवाद गावई ॥

—ज्ञानसमुद्र, द्वितीयोल्लास २८।४०

संत सुन्दरदास की भक्ति विषयक विचारधारा का यहाँ संक्षेप में दिग्दर्शन कराया गया। हिन्दी के संत कवियां में भक्ति के सम्बन्ध में जितनी स्पष्ट, वैज्ञानिक तथा गंभीर विचारधारा संत-सुन्दरदास के साहित्य में उपलब्ध होती है, उतनी अन्यत्र दुर्लभ है।

चरनदास ने 'भक्तिपदार्थ' में नवधा भक्ति का उल्लेख अत्यन्त संक्षेप में किया है :—

नवधा भक्ति संभारि अंग नौ जानिले।
श्रवण निगत और कीर्तन मानिले ॥
सुमिरस्त्रा वन्दन ध्यान और पूजा करो।
प्रभु सो प्रीति लगाय सुरति चरणान धरो ॥
होकरि दासहिं भाव साध संगति रलो।
भक्त न कींकर सेव यही मत है भलो ॥
प्रेम भक्ति का तात पात तीनौ नसै।
अर्थ धर्म अरु काम मोक्ष तामें बसै ॥

—भक्ति सागर, पृ० १८०

इस प्रकार हिन्दी संत कवियों की भक्ति विषयक विचारधारा का संक्षेप में विवेचन कर लेने के अनन्तर उनकी भक्ति के लक्ष्य ब्रह्म पर विचार करेंगे। चिरकाल से मानव एक अलौकिक शक्ति में, सामाजिक जीवन सत्ता का पोषक, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों भावनाओं का एकीकरण मान कर उस अलौकिक शक्ति पर अपने पूर्ण मनोयोग से मनन एवं चिन्तन करता आया है। इसी अलौकिक शक्ति को 'ईश्वर' के नाम से संबोधित किया गया है जिसके हेतु अथर्ववेद में उल्लेख है कि "वदन्ती यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ।" इसी अजर अमर, अनन्तर, सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ ईश्वर का विषय ईश्वरवाद है। यही अनादिकाल से भिन्न-भिन्न रूपों को धारण करता हुआ मानव का चिन्तन-तत्व रहा। ईश्वरवाद के अतिरिक्त अन्य कोई भी विषय मानव-समाज-की चिन्तना का लक्ष्य नहीं बन पाया।

शैशवावस्था से लेकर जीवन पर्यन्त मनुष्य 'ईश्वर' शब्द का मधुर उच्चारण सुनता ही रहता है। ईश्वर तो धार्मिक-जीवन की आधार-शिला है। क्षीण हो जाने पर भी जब आत्मा को शान्ति एवं सुख दृष्टिगोचर नहीं होता, तो मनुष्य की अतृप्त एवं अशान्ति आत्मा ईश्वर की ओर सन्मुख होती है। इस संसार-सागर भवसागर में जिस क्षण मानव को अपनी निरावलम्बता का परिज्ञान प्राप्त हो जाता है, वह माया-तृष्णा तथा सांसारिक सुख एवं मृगतृष्णा से परे वास्तविक शान्ति की खोज में अनन्त शक्ति ईश्वर का आश्रय ग्रहण करता है, और ईश्वर के आश्रय में अनिर्वचनीय सुख की उसे सम्प्राप्ति होती है। यह दुर्लभ अनिर्वचनीय सुख का श्रोत ईश्वर, संसार में सारतत्व है, वह नित्य है। उससे परे तो सब कुछ नष्ट-प्राय है। उल्लेख मिलता है :—"मत्पद्मं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति"।

मानव मन का ईश्वर से अभिन्न सम्बन्ध है। मानव मस्तिष्क की शोभा भी ईश्वरवाद है। धर्म एवं दर्शन का प्रतिपाद्य भी ईश्वर है। समस्त धार्मिक और दार्शनिक गूढ़ विवेचन एवं गवेषणार्थ भो ईश्वरवाद के ही रहस्योद्घाटन में लीन दृष्टिगत होते हैं। दार्शनिकों और धर्मवेत्ताओं का विषय भी ईश्वरवाद ही रहा है। समस्त मतों एवं धर्मों के आदेश इसी एक नित्यपूर्ण अक्षर ईश्वर की आराधना एवं उपासना करना है। ऐसा प्रतीत होता है मानो मानव जीवन का वास्तविक ध्येय, सत्य लक्ष्य यही ईश्वर है। इसी भावना का अथर्ववेद में उल्लेख है कि "तं संप्रश्नं भुवना यान्ति सर्वा"।

कोई भी व्याख्या ईश्वर के रहस्य को स्पष्ट करने में असमर्थ नहीं है। कारण यह है कि ईश्वर परिभाषा एवं व्याख्याओं की परिसीमा में कभी भी निबद्ध नहीं हो पाया। आस्तिकों और नास्तिकों के तर्क-वितर्कों, विवेचनों, व्याख्याओं के अन्तर्गत

से अग्रसर पथ-प्रशस्त करता हुआ ईश्वरवाद इस युग में भी चिन्तन का विषय है। ईश्वरवाद की सत्ता सभी समाजों में आज भी विद्यमान हैं। विज्ञान ने उसके सत्व को अधिकाधिक आलोकित कर दिया है। जुलियन हक्सले का कथन है कि "विज्ञान ने एक नया धर्म उपस्थित कर दिया है। अब ईश्वर का प्रभाव मानव चिन्तन से अलग होता जा रहा है।" परन्तु सत्य तो यह है कि विज्ञान एवं ईश्वरवाद एक-दूसरे के पोषक हैं। ईश्वरवाद, विज्ञान चिन्तन के हेतु विषय प्रस्तुत किया करता है। ईश्वरवाद का सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मिक और प्राकृतिक दोनों, जगत्-प्रिय ऐक्य का उत्पादक है। ईश्वरवाद सम्बन्धी विचार ही विज्ञान के आविष्कारों के मूल रूप हैं। वैज्ञानिक आविष्कार मनुष्य को वैयक्तिक शक्ति से अधिक कार्य करके सुख प्राप्ति के योग्य बनाता है, तथा ईश्वर संबंधिनी धारणायें उनकी नग्नता और बर्बरता का दमन कर मानव को आचारात्मक शिक्षा प्रदान कर वास्तविक सुख देना चाहती है। इस प्रकार ईश्वरवाद आध्यात्मिक सुखों का सोपान है और विज्ञान उसका आश्रित है।

विज्ञानवाद के कारण ईश्वरवाद को किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं पहुँचती, वरन् विज्ञानवाद सृष्टि-अभिज्ञ तथ्यों को उद्भासित करके ईश्वर की महत्ता को प्रमाणित करता है। विज्ञानवाद से ईश्वरवाद का एक अंग सम्पन्न होता है। आलीवर लाज का कथन है कि "दि रीज़न आफ़ रिजीज़न ऐन्ड दि रीज़न आफ़ कम्पलीटेड साइन्स आर वन।" तात्पर्य यह है कि धर्म क्षेत्र पूर्ण एवं ज्ञान-क्षेत्र एक हैं। विज्ञानप्रेमियों के लिये भी ईश्वरवाद एक शान्तिप्रदायिनी चर्चा है। ईश्वर सुन्दरम् है, अतः ईश्वरवाद से अधिक सुन्दर अन्य विषय मानव चिन्तन के हेतु अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती है। ईश्वरवाद का अद्भुत अनुभव मनन एवं चिन्तनीय है। कारण यह है कि ईश्वरवाद के रसास्वादन की मनोवृत्ति अमर होती है जैसाकि अथर्ववेद में कहा गया है—देवस्य पश्य काव्यं न ममार जीर्यति।

इतिहास बताता है कि ईश्वरवाद के नाम पर अत्याचारियों ने अनेक प्रकार के अनाचार किये हैं। परन्तु अन्ततोगत्वा उन धर्म और ईश्वर के नाम पर अनाचार का प्रसार करने वालों की स्वार्थपरता का अन्त भी ईश्वरवाद द्वारा ही किया जा सका।

आदिकाल से भारतवर्ष, ईश्वरवाद का रसपान करता आया है। आस्तिक बुद्धि ने भारतीयों को ईश्वर के प्रति आदिकाल से दार्शनिक, आचारवान् और अहिंसा-प्रिय बनाये रखा है। इस संसार में ईश्वरवाद मानव-जीवन का एक अमर मंत्र है। यह वह दिव्य शक्ति है जो मानव को संसार की नित्य विकासमान एवं परिवर्तनशील गति के अनुकूल रखती है। ईश्वरवाद ही सत्य एवं नित्य विश्वात्मक

का सहधर्मी बनाने की प्रभावशाली शिक्षा दिया करता है। ईश्वरवाद के द्वारा ही भारतीयों ने व्यावहारिक रूप में मनुष्य को ईश्वरत्व प्रदान कर यह सिद्ध कर दिया कि "ब्रह्मज्ञाता को ब्रह्मत्व की प्राप्ति पर, ब्रह्म के समान ही अमरत्व की उपलब्धि हो जाती है और वह ब्रह्म के समान ही अमर बन जाता है।" ईश्वरवाद ही मानव-जीवन का एक प्रकार से आधार है।

वेदों में ब्रह्म—भारतवर्ष में ब्रह्म के सम्बन्ध में चिरकाल से चिन्तन होता आ रहा है। प्रारम्भ से लेकर अब तक अनेक दार्शनिकों ने ब्रह्म को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया तथा विभिन्न स्वरूपों में उसकी कल्पना की। संसार के अणु-अणु में परिव्याप्त अनन्त सत्ता को ही अध्यात्मवादी दार्शनिकों ने ईश्वर, ब्रह्म, परब्रह्म आदि नामों द्वारा अभिहित किया है। ईश्वर का वेदों में विभिन्न प्रकार से वर्णन करते हुए ऋग्वेद में कहा गया है :—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विगम्। होतारं रत्नधातमम्॥

एक अन्य प्रसंग में उसे 'ईशान' नाम से सम्बोधित किया गया है :—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिधियं जिन्वमवसेहमहे वयम्।
पूषानो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

अर्थात् हे सर्वाधिस्वामिन् आप ही चर और अचर जगत् के ईशान हैं, आप ही सर्व विद्यामय विज्ञान स्वरूप बुद्धि को प्रकाशित करने वाले प्रेणनीय स्वरूप सबके पोषक हैं। आपको हम अपनी रक्षा के हेतु आवाहन करते हैं, जिस प्रकार से आप विद्या तथा अन्य धर्मों की वृद्धि के हेतु निरालस रक्षा करने में तत्पर रहे हैं, तथैव कृपा करके आप हमारे सद्स्वास्थ्य के हेतु सतत रक्षक रहें। आपसे परि-पालित होकर हम लोग सदैव उत्कृष्ट कर्मों में उन्नति और आनन्द प्राप्त करें। एफ० पी० प्रस्तुत स्तुतिमन्त्र से प्रत्यक्ष है कि लेखक ने ईश्वर के रचयिता रूप के कारण 'ईशान' शब्द द्वारा प्रार्थना की है।

ब्रह्म को पिता कहने की परम्परा आज भी प्रचलित है। यह प्रवृत्ति ऋग्वेद से प्रारम्भ होती है। ऋग्वेद में ईश्वर को 'पिता' रूप कहा गया है :—

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः। विश्वेदेवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम्॥ —ऋग्वेद १।६।१६।१०

इसी प्रकार से ऋग्वेद में उसे 'इन्द्र' संबोधन भी दिया गया है :—

पराणुदस्व मघवन्नमित्रान्त्सुवेदा नो वसू कृधि।
अस्माकं बोध्यविता महाधने भवा वृधः सखीनाम्॥

ऋग्वेद में ईश्वर को सूर्य के समान प्रकाशवान् कहा गया है :—

देवो नयः पृथिवि विश्वधाया उपक्षेतिहितमित्रो न राजा।
पुरःसदः शर्मसदो न वीरा अनन्या पितजुष्टेव नारी॥

वेदों के स्तुति-मन्त्रों में भिन्न-भिन्न देवताओं के नामों—इन्द्र, वरुण, वायु, अग्नि, सूर्य, आदि का उल्लेख है। ये सब ब्रह्म के ही पर्याय हैं। साधकों की दृष्टि में ये देवता अभिन्न थे। इन्हें भेदपूर्ण समझने की प्रवृत्ति कालान्तर में विकसित हुई। वैदिक देवताओं की स्तुतियों का लक्ष्य एक ही सत्ता है। वेद में संपूर्ण जगत् को एक रूप में चित्रित किया गया है, अनेकत्व में एकत्व की स्थापना मानी गई है। समस्त सृष्टि एक ही पुरुष में परिव्याप्त है। उससे बाह्य भी, संसार की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ तथा जड़-चेतन विश्व-लोक आदि उसी के अंग हैं। वह एक पुरुष अमर है, ऋग्वेद के 'पुरुष-सूक्त' में अद्वैत-भावना उपलब्ध होती है।

सहस्त्र शीर्षा पुरुषः सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्।
स भूमिं विश्वतो वृत्वा त्यतिष्ठाद्दशांगुलम् ॥१॥
पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम्।
उतामृतत्वस्येशोनो यदन्नेनाति रोहति ॥२॥
एतावानस्य महिमातो ज्यायेश्च पूरुषः ॥
पादोऽस्य विश्वभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥३॥ ऋग्वेद-पुरुष-सूक्त

उपनिषदों में ब्रह्म—उपनिषदों (प्रतिपाद्य-मन्त्रों) में ईश्वर की सर्वत्र विद्यमानता प्रतिपादित की गई है :—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यविद्धनम् ॥

ईशोपनिषद् के चतुर्थ मन्त्र में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन मनोरम शब्दों में सम्पन्न हुआ है :—

अनैजदेकं मनसो जवीयो, नैनद् देवा आप्नुवन्पर्वमर्षत्।
तद्धावतोऽन्यान्त्येति तिष्ठ, तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥

इन पंक्तियों में उस ब्रह्म को इन्द्रियातीत व्यक्त किया गया है। ईशोपनिषद् में उसे जगत्-उत्पादक तथा निराकार बताया गया है :—

सपर्यंगा च्छुक्रमकायमव्रण मस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम्।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यवतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥
ईशोपनिषद्—८

अर्थात् वह ईश्वर सर्वत्र व्यापक है, जगदुत्पादक, शरीर रहित, शारीरिक विकार रहित, नाड़ी और नस के बन्धन से रहित, पवित्र-पाप से रहित, सूक्ष्म-दर्शी, ज्ञानी, सर्वोपरि, वर्तमान, स्वयंसिद्ध, अनादि, प्रजा के लिये ठीक-ठीक कर्म-फल का

विधान करता है। उपनिषद्-साहित्य के एक मन्त्र में ब्रह्म को ज्ञान-स्वरूप भी कहा गया है और उसे प्रकाश स्वरूप भी कहा गया है :—

अग्ने नयसुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भुयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेय॥
यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, यतो जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म॥

उपनिषद् साहित्य में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति एवं लय के कारण को ब्रह्म बताया गया है। छांदोग्य उपनिषद् में तो समस्त विश्व को ही ब्रह्म कहा गया है :—

"सर्वं खल्वमिदं ब्रह्म"

वृहदारण्यक उपनिषद् के ब्रह्म को अपूर्व, अद्वितीय, अनन्तर व अवाह्य रूप में उल्लेख किया गया है :—

"तदेतत् ब्रह्म अपूर्वमपरमनन्तरमवाह्यम्"—वृह० उप० २।५।१६

उपनिषदों में ब्रह्म को वृहत् और सूक्ष्म एक साथ कहा गया है :—

वृहच्चतादिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत् सूक्ष्मतरं विभाति।
दूरात्सुदूरं तदिहन्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम्॥—मुंडक ७।५०

वह ब्रह्म, या परमात्मा अनन्त एवं निराकार है :—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्वरसस्तु तं पश्यति निष्कलध्यायमानं॥ —मुंडक ८।५१

कठोपनिषद् में उसे अव्यक्त से भी सूक्ष्म बताया गया है :—

अव्यक्तातु परः पुरुषो व्यापको लिंग एव च।
यज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति॥

वृहदारण्यक में उसे अस्थूल, अह्रस्व तथा अदीर्घ माना गया है :—

"अस्थूलमह्रस्वमदीर्घम्"

कठोपनिषद् के अनुसार परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा महान् से भी महान् है—

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको, धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः॥

ब्रह्म निराकार, अगोचर, तथा आकार-रहित है :—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमोयथैत-दुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि इति शुश्रुम पूर्वेषां येनरतद् व्याचक्षिरे॥३॥

ओम् अक्षर को सृष्टि के प्रारम्भ से लोग 'परम अक्षर' प्रभु का सर्वश्रेष्ठ नाम कहते चले आये हैं। कठोपनिषद् में यमाचार्य नचिकेता को इसी 'ओम्' शब्द

के विषय में बताया गया है कि वास्तव में ओम् अविनाशी ब्रह्म के समान सबसे महान् एवं सर्व व्यापक है। यही अक्षर सर्वश्रेष्ठ है :—

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतदेवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ —कठो० मन्त्र १६

एक अन्य सन्दर्भ में नचिकेता को उपदेश करते हुए यमाचार्य ने कहा है कि जीवात्मा और चेतन जीवात्मा अन्य नहीं है, इनका कोई उपादान कारण नहीं :—

न जायते म्रियते वः विपश्चिन्नात्ये कुतश्चित्र वभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतो ये पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ —कठो० १८

पुराणों में ईश्वर—पुराणों में ईश्वर सम्बन्धी भावना के विषय में यह भ्रमपूर्ण धारणा है कि उसके अन्तर्गत अभिव्यक्त ईश्वर सम्बन्धी विवेचन में एकता तथा तारतम्य नहीं है। जिसकी यत्किंचित् जनता में मान्यता थी, उसमें से अधिकांश में देवताओं की स्तुति या उपलब्धि होती है। उनमें ब्रह्मा, विष्णु और शिव के अतिरिक्त इन्द्र, वरुण, मित्र और मातरिश्वा आदि प्रधान देवताओं का उल्लेख है। किन्तु इन देवताओं का जो स्थान वेदों में है, वही पुराणों में है। इन उपर्युक्त विभिन्न देवताओं में एक सत्तात्मक शक्ति के केन्द्रीभूत रूप की परिकल्पना की गई है। पुराणों के अन्तर्गत उपासना में व्यक्तिगत अभिरुचि को प्रमुखता प्रदान की गई है। इसमें गीता की यही भावना लक्षित होती है :—

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥—गीता ४।११

अर्थात् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं, लोग चाहे जिस रूप में मेरी उपासना करें और चाहे जिस नाम से मुझे पुकारें, उनकी उपासना और पुकार मुझे ही पहुँचती है क्योंकि मेरे सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं।

पुराणों के अन्तर्गत भी अद्वैत की यही उच्च एवं समुन्नत भावना सन्निहित है। वायु पुराण में ईश्वर के प्रति भेद-बुद्धि रखने को अपराध कहा गया है, तथा अभेद बुद्धि वाले व्यक्ति को ही वास्तविक ज्ञानी बताया गया है। पुराणों में 'नारायण' शब्द का जहाँ पर भी प्रयोग हुआ है वह वैष्णव-सम्प्रदाय के उपास्य-देव के अर्थ के अतिरिक्त ईश्वर अथवा योगीश्वर एवं निर्गुण-ब्रह्म के अर्थ में भी प्रयोग किया गया है। समस्त देवता उस एक परमात्मा के ही विभिन्न परिवर्तित रूप हैं, जिसे नारायण, ईश्वर, महेश्वर, परब्रह्म, शिव, विष्णु, ब्रह्मा, देवी आदि नामों से जाना जाता है। पुराणों के मत में प्रत्येक वस्तु उस सर्वमय का ही रूप वा अंश है। वास्तव में सभी पुराणों का एक ही ईश्वर में विश्वास है, जिसे हम नारायण या ईश्वर कहते हैं।

पुराणों में ईश्वर विषयक भावना की प्रचुरता है। तारामंडल मंडित, अनेक

चमत्कार वेष्ठित, गिरि गगनालंकृत, सरित्सरस्समुद्र परिवृत, अतर्क्य विस्तार, अतुल प्रसार, अनेक कोटि ब्रह्मांड, पुराण-पुरुष श्री भगवान के एक-एक रोम में उसी प्रकार अहर्निश अप्रमत्त रूप से विचरण कर रहे हैं, जिस प्रकार किसी विशाल कलेवर वातायन में होकर अगण्य परमाणु-पुंज भ्रमण करते हों। यजुर्वेद के—तस्मिन्ह तस्थु-र्भुवनानि विश्वा—में जो सन्निहित भाव है, वही हमें श्री ब्रह्मदेव की इस बाल-गोपाल स्तुति में प्रतिभासित होता है :—

काहं तमोमहदहंखचराग्निवर्भू स्संवेष्टितांडघटसप्तवितस्तिकायः।
केदृगविधा विगणितांडपराणुचर्या वाताध्वरोमविवरस्वचते महित्वम् ॥

पुराणों में ईश्वर के सृष्टिकर्ता, पालक तथा संहारक रूप की अभिव्यक्ति हुई है :—

आत्ममायां समाविश्न सोऽहं गुणमयी द्विज।
सृजन् रक्षन् हरन् विश्वे दध्रे संज्ञा क्रियोचिताम् ॥

प्रस्तुत भाव वैदिक है। आचार्य बादरायण ने इसी विचार को आधार बनाकर, 'जन्माद्यस्य यतः' की रचना की और श्रीमद्भागवत पुराण भी 'जन्माद्यस्य यतः' से प्रारम्भ होता है। पुराणों को ईश्वर की सर्व व्यापकता तथा 'अन्तर्यामित्व' अभीष्ट है। भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र जी के सम्बन्ध में उल्लेख मिलता है कि :—

गोपीनां तत्पतीनां च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योन्तश्चुरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक् ॥

श्रुति में भी ईश्वर को अन्तर्यामी कहा गया है :—

"यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः"—वृहदारण्यक

वृहदारण्यक के अन्तर्गत मैत्रेयी ब्राह्मण में एक स्थान पर उल्लेख आया है कि आत्मा के लिए संसार की समस्त वस्तुएँ अच्छी लगती हैं। उसी आत्मा का दर्शन, श्रवण और ध्यान करना अपेक्षित है :—

आत्मनस्तु कामाय सर्वप्रियं भवत्यात्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।

यहाँ आत्मा शब्द परमात्मा के लिये प्रयुक्त हुआ है। शंकराचार्य जी ने 'वाक्यान्वयात्' सूत्र पर लिखे भाष्य में स्पष्ट लिखा है :—

विज्ञानात्मैवायं द्रष्टव्यत्वादिरूपेणोपदिश्यत आहोस्वित परमात्मेति। ......परमात्मोपदेश एवायम्।

पुराणों में भी परमात्मा के लिये ही, सांसारिक भोगों की प्रियता का उपदेश दिया गया है :—

तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम् ।
तदर्थमेव सकलं जगदेतच्चराचरम् ।।
कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम् ।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देही वा भाति मां यया ।। —भागवत

पातंजल-दर्शन में ईश्वर को सर्वज्ञ कहा गया है—'तत्रनिरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्' । पुराणों में प्रतिपादित ईश्वर भी सर्वज्ञ है :—

क्वाप्यदृष्टवान्तर्विपिने वत्सान् पातांश्च विश्ववित् ।
सर्वविधिकृतं कृष्णः सहसावजगाम ह ।।

पुराणोक्त ईश्वर निस्सन्देह 'महतो महीयान्' है । सलिलान्तर्गत भषमकरादि जीव-निकाय जिस प्रकार समुद्र-पद से बोधित हो जाते हैं, उसी प्रकार समस्त ब्रह्मांड भगवदन्तर्गत होने के कारण ईश्वर पद से विदित हो जाते हैं । 'यस्य कुक्षाविदं सर्वं सात्मं भाति यथा' तथा प्राकृतिक गुणजाल से परे होने के कारण ईश्वर अगुण अथवा निर्गुण कहे जाते हैं :—

तथापि भूमन् महिमा गुणस्य ते, विबोद्धुमर्हत्यमलान्तरात्मभिः ।
अविक्रियात्स्वानुभवादरूपतो ह्यनन्यबोध्यात्मतया न चान्यथा ।।

परन्तु भक्तवत्सलता प्रभृति गुणग्राम से अलंकृत होने से तथा भक्त मनोरथानुसार प्राकृतिक गुणत्रय से संग करने के कारण ये सगुण भी हैं :—

गुणात्मनस्तेऽपि गुणान्विमातुं, हितावतीर्णस्य क ईसिरेऽस्य ।
कालेजयैर्वा विमितासुकल्पै भूपांसवः खेमिहिकाद्युभासः ।।

पुराणों में ईश्वर के अनेक रूपों का वर्णन है । वैसे एक समय में अनेक रूप धारण कर लेने पर भी उनका पारमार्थिक एकत्व अव्याहत ही रहता है । पुराणों में प्रधान रूप से ईश्वर के पांच प्रधान रूप व्यक्त किए गये हैं—

१—मूषवाहन, विघ्नविनाशक संकट मोचन श्री गणपति ।
२—त्रिशूलधारी वृषभ वाहन, गंगाधारी श्री सदाशिव ।
३—तेजवान, एक चक्र रथ वाहक, तमोविनाशक श्री सूर्यदेव ।
४—श्रीवत्सपदांकित, गरुणवाहन, अज्ञानविध्वंसक भक्तपति श्रीमन्नारायण ।
५—वराभयकरा, सिंहवाहिनी, मधुरमूर्ति जगदम्बिका श्री दुर्गादेवी ।

वस्तुतः ये पांचों अभिन्न हैं । वास्तव में एक ही ईश्वर का ईश्वरत्व इनमें व्याप्त है । ईश्वर एक है । एक समय में अनेक रूप धारण करने पर भी उनका पारमार्थिक एकत्व विद्यमान ही रहता है ।

दर्शनों में ईश्वर—ईश्वर की व्यापक अद्वितीय सत्ता के विषय में भारतीय-दर्शनों ने भी बहुत कुछ कहा है । प्रत्येक दर्शन ने अपनी ज्ञान-भूमि के आधार पर

परमेश्वर की इस सत्ता को व्यक्त करने का प्रयास किया है। सर्वप्रथम हम न्याय-दर्शन पर विचार करेंगे।

न्याय दर्शन—ईश्वर सर्वस्व है। ईश्वर के अनुग्रह के बिना जीव के सभी कर्म निष्फल हैं। इसी से नैयायिकगण यज्ञयागादि कर्म में ईश्वरनिष्ठ हैं। योग-मार्ग में ईश्वर निरत है, भक्ति मार्ग में ईश्वर परायण है, और ज्ञान मार्ग में ईश्वर तत्पर है। न्याय-दर्शन में कर्म-फल के साथ ईश्वर को निमित कारणता का सम्बन्ध बताया गया है और परोक्ष रूप से सृष्टि के साथ ईश्वर का सम्पर्क भी बताया गया है—

"ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्।"

महर्षि वात्स्यायन ने इसके भाष्य में कहा है —

पराधीन पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीन स ईश्वरः। तस्मात् ईश्वरः कारणम्।

अर्थात् जीव का पराधीन कर्मफल जिसके आधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव के कर्मफल दाता है। इस भाँति जड़ कर्म के चेतन प्रेरक रूप से ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्पर्क घोषित किया गया है। न्यायवृतिकार विश्वनाथ जी ने भी 'किं क्षित्यादिके सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत्' सूत्रवृति द्वारा ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपन्न की है। कार्य ब्रह्म जगत् को देखने से उसके सृष्टिकर्ता निमित्तकारण रूप ईश्वर का अनुमान होता है।

अनेक नैयायिकों के सेव्य ईश्वर, शिव रूप होने पर भी त्रिमूर्ति हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर यह तीनों ही ईश्वर की मूर्ति हैं और त्रिमूर्ति होने पर भी वे स्वरूपतः निराकार हैं। एक अन्य सूत्र में कहा गया है, यह नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुष्य के कर्म न करने पर उसे फल की प्राप्ति नहीं होती—न पुरुषकर्माभावेरफलानिष्पत्ते। इसके अनुसार कर्म ही फल प्राप्ति का हेतु है, ईश्वर नहीं। किन्तु उस पुरुषार्थ या कर्म के मूल में भी ईश्वर है, पुरुषार्थ के अनुग्राहक ईश्वर है, फल प्राप्ति इश्वर द्वारा ही होती है, ईश्वर एक मात्र कारण न होने पर भी कर्म सापेक्ष निमित्त कारण है—तत्कारितत्वाद् हेतुः।

गौतम सूत्र के ४. १. १९ से २१ तक में ईश्वरवाद का स्पष्ट वर्णन है। न्याय-सूत्र के षोडश-पदार्थ निर्देश के मूल में भी ईश्वरवाद वर्तमान है, ईश्वर ही न्याय-दर्शन का प्राण-स्वरूप है।

ईश्वर स्वरूप के विषय में भाष्यकार ने आलोचना करते हुए कहा है, जीवात्मा में अधर्म, मिथ्या-ज्ञान और प्रमाद है। जिस आत्मा में यह सब नहीं है बल्कि धर्म-ज्ञान समाधि पूर्ण रूप से अवस्थित है, वैसी ही आत्मा ईश्वर है। उसकी

धर्म समाधि का फल अणिमादि ऐश्वर्य है। प्रत्येक जीवात्मा का धर्माधर्म और पृथिव्यादि भूतों की प्रवृत्ति उन्हीं के प्रभाव से होती है। सन्तान के लिये जिस प्रकार पिता यथार्थवादी हितैषी दया एवं करुणा से सिक्त है, ईश्वर भी सब भूतों के लिए वैसे ही पितृतुल्य है :—

अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्याधर्मज्ञानसमाधिसंपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः, तस्य च धर्म समाधिफलमणिमाद्यष्टैश्वर्यसंकल्पानुविधायी वास्य धर्म प्रत्यात्मवृतीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति।...आपकल्पश्चायं यथा पिता पत्यानां तथा पितृव्रत ईश्वरो भूतानाम्।

यहाँ ईश्वर को पितृस्वरूप एवं ज्ञानरूप अंकित किया गया है। नैयायिकों का यह मत है कि ईश्वर में नित्य सर्वज्ञता, नित्य इच्छा एवं नित्य यत्न आदि है, कोई विशेष गुण नहीं है। जयन्त भट्ट ने न्याय-मंजरी के आह्निक ईश्वर प्रकरण में कहा है कि जिस प्रकार जीवात्मा निराकार होकर भी सब का संचालक है, उसी प्रकार ईश्वर भी निराकार होकर सर्व-संचालक तथा सर्वव्यवस्थापक हो सकता है।

नैयायिक-दार्शनिक सिद्धान्तों में ब्रह्म निराकार, सर्वज्ञ, जीव का अदृष्ट फल-दाता, नित्य-प्रयत्न और नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न है। वह परम कारुणिक, समस्त जगत् का पितृस्थानीय है। वह यज्ञादि कर्म-मार्ग, योग मार्ग, भक्ति मार्ग तथा ज्ञानमार्ग से उपास्य है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन एवं दर्शन भी उसी ब्रह्म की उपासना है। साधक या भक्त की सिद्धि के हेतु शिव रूप में वह आविर्भूत होता है। ब्रह्मा, विष्णु, महेश तीनों उसी के रूप हैं।

सांख्य-दर्शन में ब्रह्म का स्वरूप—सांख्य-दर्शन में अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता द्वारा ईश्वर के अस्तित्व मानने का आदेश है। सांख्यीय मुक्ति भूमि में प्रकृति की व्यापक सत्ता अक्षुण्ण रहती है। ईश्वर की व्यापक सत्ता अगम्य है। स्वशरीरस्थ ईश्वर का चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। प्रत्येक शरीर में पुरुष की भिन्न-भिन्न बहुत सत्ता की कल्पना करना, प्रकृति को चिरन्तर मानना तथा मुक्ति के हेतु ईश्वर की सत्ता मानना, सांख्य-दर्शन भूमि के अनुसार ठीक है। इतना होने पर भी सांख्य ने ईश्वर के अस्तित्व को अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता द्वारा माना है। सांख्य में कहा गया है कि योगी गण अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, तत्वों को भी अनुभव कर लेते हैं, यथा, ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष का अगोचर है। सांख्य दार्शनिक ज्ञानभूमि के अनुसार असिद्ध होने पर भी अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्ष द्वारा जान लेते हैं—

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः।
लीनवस्तुकवद्धातिशय सम्बन्धाद्वा दोषः॥

लौकिक-विचार से सांख्य-भूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होते। कारण कि ईश्वर न तो मुक्त हो सकता है, और न बद्ध ही। मुक्त होने पर उनमें अभिमान भाव से सृष्टि कर्तृत्व नहीं आ सकेगा। बद्ध होने पर उनमें सृष्टि की शक्ति ही नहीं आ सकेगी। अतः स्पष्ट है कि लौकिक प्रत्यक्ष विचार द्वारा ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता—'ईश्वरासिद्धे'—मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः।

सांख्य दर्शन में एक अन्य स्थान पर उल्लेख मिलता है कि यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती परन्तु मुक्तात्म पुरुषगण और सिद्ध पुरुषगण बारम्बार शास्त्र में ईश्वर की स्तुति कर गये हैं। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये—उभयथाप्यसत्करत्वम्, मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा॥

लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक प्रत्यक्ष शक्ति के द्वारा उपलब्ध होता है। सांख्य-दर्शनानुसार प्रकृति पर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है। यह जीव देहावच्छेद से ईश्वर की सत्ता है। उसी परमात्मा ने जीव रूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विकार उत्पन्न कर दिया। वेदव्यास जी ने 'ईश्वर प्रणिधान' का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि ईश्वर प्रणिधान का अर्थ परम गुरु ईश्वर में समस्त कर्मों का समर्पण अथवा कर्म फल त्याग है—'ईश्वरप्रणिधानं, सर्वक्रियाणां परमगुरौ अर्पणं तत्फलसन्यासो वा'।

इस प्रकार योगदर्शन में क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से निर्लिप्त जो पुरुष विशेष है, वही ईश्वर माना गया है। उसे पुरुष से विलक्षण निर्धारित किया गया है। पुरुष जीव को भी कहते हैं और ईश्वर को भी। शरीर-रूपी पुर का स्वामी होने से जीव पुरुष कहलाता है। दोनों में भेद केवल इतना ही है कि एक उपर्युक्त उपाधियों में लिप्त है, तो दूसरा सबसे पूर्णतया निर्लिप्य। 'निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्' कहकर ईश्वर को ज्ञान स्वरूप बताया गया है। वह काल में निबद्ध नहीं है, वह अनादि है, अनन्त है।

वैशेषिक-दर्शन—वैशेषिक-दर्शन ने न्याय-दर्शन की भाँति अनुमान प्रमाण की सहायता से जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की निमित कारणता प्रतिपादित की है:—

संज्ञाकर्मत्वस्मद्विशिष्टानां लिंगम्।
प्रत्यक्षप्रवृतत्वात्संज्ञाकर्मणः॥

इन सूत्रों के उपस्कार में शंकर मित्र जी ने लिखा है कि संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप आदि कार्य से दो लौकिक मनुष्य से विशेषतः ईश्वर, महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। घट-घट आदि नाम से जो तत्तत्पदार्थों

का बोध हो जाता है, उसमें ईश्वर संकेत ही कारण है। क्षिति, अप आदि जब कार्य हैं, तो इनका कर्त्ता भी कोई अवश्य होगा, वही कर्ता ईश्वर है—

संज्ञानामकर्म-कार्यक्षित्यादि तदुभयमस्मद् विशिष्टानां ईश्वरमहर्षीणां सत्वोऽपि लिंगम्। घटपदादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव। यः शब्दों यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधु तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिंगत्वम्। तथा हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्घटवत् इति।

पदार्थ समूहों के तत्व ज्ञान को ही मोक्ष का कारण मानते हुए वैशेषिक-दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपदाचार्य जी कहते हैं, तत्वज्ञान ईश्वर प्रेरणाजनित धर्म से उत्पन्न होता है—'तं च ईश्वरेनदोदनाभिव्यक्ताद्धर्मादेव।'

वैशेषिक-दर्शन में अनुमान प्रमाण की सहायता से ईश्वर सत्ता की विशेष सिद्धि है, और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणों के साथ भी ईश्वर का सम्बन्ध निर्णय किया गया है।

मीमांसा का ब्रह्म—मीमांसा दर्शनों की भूमिका में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभाव की पूर्णतया सिद्धि की गई है। ऐश्वर्य भाव में परमात्मा या ईश्वर अदृष्ट के विधाता, पुण्य के फलदाता, पापियों के प्रशासनकर्ता और धर्म के प्रतिष्ठाता सर्व शक्तिमान् ब्रह्म है। यज्ञ उसका स्वरूप है। वेद उसकी वाणी है। विभिन्न नामधारी देवता उसकी ही दैवी विभूति के स्वरूप हैं :—

आमायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्य मनदर्थानाम्; यजते स्वर्गकामः; यजते यजातिमपूर्वम्; अपामसोमं अमृता अभूम। अलक्ष्यं इव चातुर्मास्य याजिनः सुकृतं भवति। सर्वान् लोकान् जयति मृत्युं तरति पाप्मानं तरति, ब्रह्महत्यां तरति योऽश्वमेधेन यजते।

इन पंक्तियों में यज्ञ की महिमा बताकर प्रकारान्तर से कर्मप्रेरक देवताओं की महिमा एव यज्ञ रूप भगवान विष्णु की महिमा और यज्ञक्रिया बताने वाले वेद-कर्त्ता ईश्वर की महिमा का उल्लेख किया गया है।

भक्ति-मीमांसा में ईश्वर के माधुर्य भाव का स्पष्टीकरण करते हुये, उसको दयामय, स्नेहमय प्रभु के रूप में चित्रित किया गया है। इस मधुर-भाव में भगवान् वात्सल्य प्रभु है, करुणामय स्वामी है, स्नेहमय पुत्र है और प्रेममय कान्त है। इस भाव की अलौकिक मधुरता से भक्ति-मीमांसा ओत-प्रोत है। प्रह्लाद से क्षमा मांगते हुए कहा है :—

केदं वपुः के च वयः सुकुमार तेन, क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते।
आलोकितं विषमेतदभूतपूर्वं, क्षन्तव्यमंग यदि मे समये विलम्बः॥

वैदिक मंत्रों में इसी भाव का प्रतिपादन स्पष्ट लक्षित होता है :—

रसौ वै सः। आनन्दरूपं परमं यद्विभाति। रसं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति। आनन्द ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन्।

ब्रह्म-मीमांसा दर्शन में ईश्वर के अन्यान्य भावों के साथ उनके ज्ञान-भाव की सम्यक सिद्धि की गई है। ब्रह्म मीमांसा में ब्रह्म के माया से अतीत अध्यात्मभाव की मीमांसा की गई है। इसमें ईश्वर को जगत् का निमित्त एवं उपादान कारण माना गया है। वेदान्त-दर्शन में निमित्त कारणता के सम्बन्ध में अनेक सूत्र हैं। सगुण ब्रह्म ईश्वर द्वारा जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय होती है। ईश्वर समस्त जगत् का कर्त्ता है—जन्माद्यस्य यतः 'जगद्वाचित्वात्' तथा 'प्रकृतिश्च प्र तिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिम्यः, तथान्यप्रतिषेधात्। इन सूत्रों द्वारा ब्रह्म की उपादान कारणता प्रतिपन्न होती है। 'तस्माद्ब्रह्मकार्यावियदिति सिद्धम्' में आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वर का ही कार्य है। वेदान्त दर्शन भूमि के अनुसार ईश्वर की उभय कारणता प्रतिपादित होती है।

ईश्वर के सगुण अथवा निर्गुण स्वरूप के विषय में ब्रह्मसूत्र में निम्नलिखित वर्णन हैं :—

"न स्थानतोऽपि परस्य उभयलिंगं सर्वत्र हि"

अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र उभयलिंग है, ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। ब्रह्म निराकार है, उपाधि सम्बन्ध होने पर भी साकार नहीं होते—अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्।

निराकार ब्रह्म का वास्तव में कोई रूप नहीं। वह उपाधि द्वारा नाना प्रकार के रूप प्रतीत होते हैं। ब्रह्म के सगुण तथा निर्गुण दोनों स्वरूप अनंत हैं— 'अतोऽनन्तेन तथा हि लगम्'। प्रकाश स्वरूप ब्रह्म में सगुण-निर्गुण भेद केवल उपाधि भेद है, स्वरूपगत भेद नहीं—'प्रकाशाश्रयद्वा तेजसत्वात्'।

ईश्वर सत्ता के रूप के विषय में वेदान्त दर्शन कहता है—'आनन्दमयोऽभ्यासात्'। ईश्वर को वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है। वैदिक दर्शनों ने अपनी-अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार ईश्वर सत्ता को प्रतिपादित किया है।

श्रीमद्भगवद्गीता का ईश्वर—गीता में ईश्वर शब्द का प्रयोग कई स्थलों में हुआ है, उदाहरणार्थ १६।१४ में ईश्वर शब्द का अर्थ मालिक है— 'ईश्वरोऽहमहं भोगी'। अर्थात् मैं ईश्वर हूँ, मैं भोगी हूँ आदि। ईश्वर को अन्य एक स्थान पर सर्वव्यापी कहा गया है—सर्वत्र समवस्थितम् (गीता १३।२८)।

ईश्वर ही भिन्न-भिन्न इन्द्रियों में स्थित रहकर तथा उनको नियन्त्रण में रखकर विषयों को उपभोग करता है—विषयानुपसेवते—गीता १५।८ और शरीर

का त्याग अथवा ग्रहण करते समय इनको साथ लिये हुए जाता है—'गृहीत्वैतानि संयाति' । गीता में ब्रह्म को व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप में वर्णन किया गया है । किसी भी इन्द्रिय के न रहते हुए भी उसमें समस्त इन्द्रियों का आभास होता है । यद्यपि वह सर्वातीत है, तथापि सबका पालन करता है । यद्यपि वह निर्गुण है, फिर भी वह गुणों का उपभोग करता है :—

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणगुणभोक्तृ च ॥ —गीता अध्याय १३

गीता में भगवान श्रीकृष्ण स्पष्ट कहते हैं कि यद्यपि मैं अव्यक्त हूँ तथापि मूर्ख लोग मुझे व्यक्त अर्थात् मनुष्य देहधारी मानते हैं । किन्तु मेरा अव्यक्त स्वरूप ही सत्य है ।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यते माम् बुद्धयः ।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥

गीता में ब्रह्म को ज्ञेय, अव्यय, शाश्वत तथा धर्म का ज्ञाता एवं सनातन-पुरुष कहा गया है :—

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं ।
त्वमव्ययं शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥
—गीता १३।१८

ब्रह्म को सूक्ष्म व अवज्ञेय भी कहा गया है :—

वहिरंतश्च भूतानामचरंचरमेव च ।
सूक्ष्मत्वातदविज्ञेयं दूरस्थं चांतिके च तत् ॥—गीता १३।१५

वह अनादि भी है तथा अव्यक्त भी :—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमत्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौंतेय न करोति न लिप्यते ॥—गीता १३।३१

वह सर्वव्यापी होने पर भी सबसे अलग है और अपनी शक्ति द्वारा सबका संचालन करता है :—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

इस प्रकार गीता में वर्णित ब्रह्म अव्यक्त, व्यक्त, निर्गुण, निराकार, अनादि, अनन्त, सर्वव्यापी, अविज्ञेय तथा सूक्ष्म है ।

बौद्ध-धर्म में ईश्वर—सामान्यतया बौद्ध धर्म में ईश्वर या ब्रह्म विषयक कोई भी धारणा उपलब्ध नहीं, फिर भी उनके यहाँ जगत् के अनन्त और नाना प्रकार के दृश्य एक ही तत्त्व से उत्पन्न माने गये हैं, वह तत्व देश और काल से

अपरिच्छिन्न है। बौद्ध धर्म में प्रचलित सिद्धान्त समता के द्वारा किसी अंश में ईश्वर की समानता और नानात्व के द्वारा व्यक्तिगत को जीव की समानता दी जा सकती है। बौद्ध धर्म ईश्वर अर्थात् समता के सिद्धान्त को जगत् में अन्तस्थ मानता है परन्तु ईश्वर शब्द का प्रयोग नहीं करता, ईश्वर के पर्यायरूप से बौद्ध धर्म धर्मकाय शब्द का व्यवहार करता है। यद्यपि बौद्ध-धर्म दृश्य-जगत् की यथार्थता और नानात्व को मानता है, तथापि उसका विश्वास है कि जो पदार्थ हमारे चतुर्दिक् दीख पड़ते हैं, वह सब एक अन्तिम कारण से उत्पन्न होते हैं, जो सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ और सर्वप्रिय है।

नागार्जुन ने अपनी महायान-शाखा के अन्तर्गत शून्य सत्ता स्वीकार की है। उनके मतानुसार वह सत्-असत् से परे है, वह न यह दोनों है और न इन दोनों से पृथक् है। इन चारों से अद्भुत विचित्र एक अन्य ही तत्व है। माध्यमिकों द्वारा वर्णित परमतत्व यही है—

न सन् नासनन् सदासनन् चाप्यनुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वमाध्यमिका विदुः॥—माध्यमिक कारिका, १,७

बौद्ध धर्म में परमार्थ सत्य को निर्वाण समान घोषित किया गया है। वह वाणी, मन तथा शरीर द्वारा गम्य नहीं, ज्ञेय नहीं। वह वाणी से परे अकथनीय है, अवर्णनीय है। वह अज्ञेय, अवचनीय है, ज्ञानियों को अनुभूति गम्य है :—

सर्वधर्माणां, निःस्वभावता, शून्यता, तथता, भूतकोटिधर्मधानरिति पर्यायाः। सर्वस्व हि प्रतीत्य समुत्पन्नस्य पदार्थस्य निःस्वभावता पारमार्थिकरूपम्।

—बोधि०, पृ० ३५४

बौद्धों का परमार्थ सत्य वैदिक ब्रह्म के समान ही वर्णित है। यद्यपि बौद्धों ने स्पष्ट रूप से ब्रह्म या ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कहा। बौद्ध मत में शून्यवाद और परमतत्ववाद की ही महत्ता है। किन्तु उनके इस शून्यवाद और परमतत्ववाद में वास्तव में वैदिक ब्रह्मवाद की ही आभा झलकती है। बौद्धों के शून्य तथा परमतत्ववाद पर ब्रह्मवाद का प्रभाव किन्हीं अंशों में अवश्य रहा है।

ब्रह्म-विषयक विभिन्न सांप्रदायिक धारणायें—माया से बुद्ध जीवात्मा के लिये अपरिच्छिन्न समष्टि चेतन अथवा ब्रह्म के स्वरूप को यथार्थरूप में समझ लेना, दुष्कर ही नहीं वरन् असम्भव है। महर्षि व्यास प्रणीत ब्रह्मसूत्रों पर विभिन्न भाष्य लिखे गये तथा प्रत्येक ने ब्रह्म का जो स्वरूप वर्णन किया, वह एक-दूसरे से सर्वथा पृथक-सा दृष्टिगोचर होता है। श्रुतियों के प्रमाणों को आधार बनाकर प्रत्येक ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। श्रुतियों में निहित ज्ञान प्राचीनतत्ववेत्ता

महर्षियों के साक्षात् अनुभव का फल व परिणाम है। श्रुति में वर्णित ब्रह्म स्वरूप को ध्यान में रखने पर वस्तु-स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं, शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम्।
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं, विभुं चिदानंदमरूपमद्भुतम् ॥

अर्थात् वह ब्रह्म अचिन्त्य, अव्यक्त, अनन्तरूप, शान्ति स्वरूप, अविनाशी, अखिल सृष्टि का कारण, अद्वितीय, सर्वव्यापक, चिदानन्द स्वरूप, आदि, मध्य एवं अन्त से रहित अलक्ष्य तथा अद्भुत है।

जगत्प्रसिद्ध महान् दार्शनिक स्वामी शंकराचार्य द्वारा निरूपित अद्वैत सिद्धान्त में ब्रह्म का स्वरूप मायातीत अर्थात् शुद्ध बताया गया है। अद्वैत के अनुसार दृश्यमान् जगत् से आत्मा का कोई सम्बन्ध नहीं है, और ब्रह्म के जिस अंश में माया है वह मायातीत अंश के अपेक्षा तुच्छ है। उनके मतानुसार ब्रह्म कभी बाधित नहीं होता। वह ब्रह्म निर्गुण, निर्लिप्त, निर्विशेष, शाश्वत व अनन्त है।

यथापिस्वप्नदर्शनावस्थस्य च सर्पदर्शनः नानादिकार्यमनृतं तथापि तदवगतिः सत्यमेव फलम् मतिबुद्धस्यापि अबाध्यमात्वात् ।—शंकर भाष्य २।१।१४

अद्वैतवाद में ब्रह्म को पारमार्थिक सत्य कहा गया है। पारमार्थिक सत्ता की व्याख्या देते हुए आचार्य शंकर ने शंकर भाष्य में कहा है कि 'एकरूपेण हि अवस्थितो योऽर्थः सः परमार्थः'—अर्थात् पारमार्थिक सत्ता वही है जिसका स्वरूप सदैव अखंड रूप में एक समान ही रहे। वह ब्रह्म त्रिकाल बाधित है, अतः वही सत्य है जगत् मिथ्या है—'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या।

विशिष्टाद्वैत मत में रामानुजाचार्य जी तीन पदार्थ मानते हैं—चित्, अचित् और ईश्वर, अर्थात् उनका ब्रह्म चित् और अचित् तत्वों से युक्त है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार ईश्वर सर्वान्तर्यामी है। परन्तु जीव तथा प्रकृति भी नित्य और स्वतन्त्र है, इसके मतानुसार उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म सगुण ब्रह्म ही है। सूक्ष्मचिदचिद् विशिष्ट ब्रह्म को कारणस्थ ब्रह्म तथा सृष्टिकाल के स्थूल रूप को कार्यावस्थ ब्रह्म कहते हैं।

शुद्धाद्वैत मत के अनुसार यदि एक मात्र तत्व कोई है, तो वह तत्व ब्रह्म ही है। उसमें ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्द, निराकार तथा सर्वशक्तिमान् है। अक्षर ब्रह्म ही प्रकृति और पुरुष का भी कारण है—

प्रकृतिः पुरुषश्चोभौ परमात्मा भवत्पुरा।
तद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ॥—प्रस्थान रत्नाकर, पृ० ५६

असत्, अव्यक्त आदि ब्रह्म के ही विभिन्न नाम हैं। निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैत मत में ब्रह्म के द्वैत और अद्वैत दोनों रूपों को माना है। जीव नियम्य और ईश्वर नियन्ता है। निम्बार्क मत में ईश्वर के सगुण रूप का ही प्रतिपादन है और भक्ति को

महत्ता प्रदान की गई है। वे ब्रह्म के मायातीत और माया विशिष्ट दोनों रूपों को दृष्टिभेद से ठीक मानते हैं। द्वैताद्वैत में ब्रह्म, पुरुषोत्तम, परमात्मा भगवान् आदि नाम ब्रह्म के ही पर्याय हैं।

द्वैतमत के अनुसार ईश्वर अनन्त एवं असीम गुणों का आधार है। द्वैत मत का ब्रह्म-सगुण है तथा अपने भक्तजनों के हेतु वह अवतार ग्रहण करता है।

उपर्युक्त दार्शनिक विचार-धाराओं के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्म विश्व का मूल तत्व है। वेदों में ही नहीं, उपनिषदों का भी प्रतिपाद्य विषय ब्रह्म ही रहा है। गीता में भी इसकी पूर्ण प्रतिष्ठा है। वह अव्यक्त, निर्गुण, निराकार अनिर्वचनीय, सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ है। वही सृष्टिकर्त्ता, भर्त्ता, संहारक है।

ब्रह्म के विषय में यही परम्परा हमें अपने संत भक्तों में भी यथाविध प्राप्त होती है। सभी संतों ने ब्रह्म को ही अपना इष्ट व लक्ष्य माना है। उन्होंने भक्ति और मुक्ति द्वारा ब्रह्म प्राप्ति का बारम्बार उपदेश दिया है। उन्होंने जगत की असारता का निर्देशन कराकर ज्ञान, भक्ति एवं प्रेम द्वारा निर्गुण, निराकार ब्रह्म की प्राप्ति को ही जीवन का लक्ष्य घोषित किया है। संत-मत के समुज्ज्वल रत्न महात्मा कबीर बारम्बार उसी निर्गुण निराकार ब्रह्म की उपासना के हेतु कहते हैं—'निर्गुण राम जपो रे भाई।' उसी निर्गुण राम को जो अविगत, अकल और अनुपम है, जो वाणी से परे है—'अविगत, अकल अनुपम देखा कहता कहा न जाई।' वह निराकार ब्रह्म इन्द्रियों से परे अनुभूति का ही विषय है, वह अनिर्वचनीय एवं अनुभव बोधगम्य है। कबीर का ब्रह्म पूर्णतया निर्गुण तथा निराकार है। वह मुख माया विहीन है—

जाकै मुंह माया नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप वास तै पतला, ऐसा तत्त अनूप॥—ग्रं० सा० ४ पृ० ६०

वह ब्रह्म अविकल, अकल, अनुपम है। वह वर्णनातीत तथा शब्दातीत है। कबीर के शब्दों में—

अविगत-अकल-अनुपम देख्या, कहता कहा न जाई।
सैन करै मन ही मन रहसै, गूंगै जानि मिठाई॥

कबीर के सदृश मलूकदास भी अद्वैत ब्रह्म के उपासक हैं। मलूकदास अवतारवाद के विरुद्ध हैं। जो ब्रह्म आवागमन के क्रम में बँधता है, सो कैसे उपासनीय हो सकता है—'अवधू आवै जाय सो माया।' वही ब्रह्म समस्त सृष्टि का रचयिता है, जगन्नाथ है, और सर्वशक्तिमान् है। मलूकदास के शब्दों में—

सर्वव्यापी एक कोहारा। जाकी महिमा अपरम्पारा॥
हिन्दू तुरुक का एकै करता। एकै ब्रह्म सबन का भरता॥

कबीर अद्वैत ब्रह्म में विश्वास रखते हैं, वे कहते हैं—

एक जगत का एकै करता, दोसर ब्रह्म कहा है रहता।

× × ×

मन्दिर मस्जिद एक बसत है तामै भावन दूजा।

मलूकदास अवतारवाद का विरोध करते हुए कहते हैं :—

अवधू याही करो विचार।
दस अवतार कहाँ तै आये, किन रे गढ़े करतार।
केति उपदेस भये तुम जोगी, केहि विधि आतमजारा॥
थोथे बाँट बाँधि के भोदू, येहि विधि जाव न पारा।
ऋद्धि सिद्धि में बूड़ि मरोगे, पकड़ो खेवन हारा॥
अगल बगल पैडा पकड़ा रे, दिन दिन चढ़ता मारा।
कहत मलूक सुनो रे भोदू, अविगत मूल बिसारा॥

—मलूकदास की बानी १५।६

राम नाम अज्ञात रूप से उसी प्रकार शरीर में विकास करता है, जैसे घृत, दुग्ध में या जल, पृथ्वी में। मलूकदास के शब्दों में :—

राम नाम दोउ बसै सरीरा, जैसे घृत रहै मध्य छीरा।
जैसे रहै तिल में तेला, तैसे राम सकल घट खेला॥
जैसे सुमन मां रहै खुसवोई, तैसे राम सकल घट पोई।
जैसे धरती के बिच पानी, तैसे राम सकल घट जानी।
जैसे दरपन में परछाईं, तैसे राम सकल घट माहीं।

—भक्ति विवेक

× × ×

जग हरि में हरि हैं जगमाहीं, कहत सुनत को बहुबिधि आही।
कंचन आदि अन्त हूँ कंच, भूखन भ्रम मधि हूँ कंचन।

—ज्ञानबोध

मलूकदास का ब्रह्म क्षुधा, निद्रा, जागरण आदि विकारों से परे है :—

हमरे गुरु की अद्भुत लीला न कुछ खाय न पीवै।
ना वह सोवै ना वह जागै ना वह मरै न जीवै॥
बिन पंखन उड़ि जाय अकासे बिन पंखन उड़ि आवै।
बिन पायन सब जग फिरि आवै सो मेरा गुरु भाई॥

—मलूकदास की बानी, पृ० १।२

सुन्दरदास का ब्रह्म कबीर के ब्रह्म के समान ही निरामय, निर्गुन, नित्य, निरंजन तथा अखंडित है—

ब्रह्म निरीह निरामय निर्गुन नित्य निरंजन और न भासै।
ब्रह्म अखंडित औ अचराचर बाहिर भीतर ब्रह्म प्रकासै॥

—सुन्दर ग्रन्थावली ६५१।२०

यथा सागर में उठती हुई उत्ताल तरंगों को देखकर मानव उन्हें सागर से भिन्न मानता है, उसी प्रकार अज्ञानी ब्रह्म को संसार से भिन्न मानता है—

एक शरीर में अंग भये बहु, एक धरा पर धाम अनेका।
एक शिला महिं कोरि किये, सब चित्र बनाइ धरे ठिक ठेका॥
एक समुद्र तरंग अनेकनि, कैसे के कीजिए भिन्न विवेका।
द्वैत कछू नहिं देषिये सुन्दर, ब्रह्म अखंडित एक कौ एका॥

—सुन्दर ग्रन्थावली २, ६४६।५

बेदान्त एवं उपनिषदों के चरम सत्य एवं अद्वैतभाव की अभिव्यंजना सुन्दरदास ने सरल तथा स्पष्ट शैली में की है—

ईश्वर एक और नहिं कोई। ईश शीश पर राखहु सोई॥

× × ×

तामैं जाति वर्ण है नाहीं। द्वैत ताहि फिर कहाँ समाही॥

× × ×

प्रीतम मेरा एक है सुन्दर और न कोई।

सुन्दरदास का ब्रह्म गणना, गुण तथा आकार काल की सीमा से परे हैं :—

कोई बार कहै कोई पार कहै, उसका कहूँ बार न पार है रे।
कोई मूल कहै कोई डार कहै, उसके कहूं मूद न डार है रे॥
कोई सून्य कहै कोई थूल कहै, वह सून्य हूँ थूल निराल है रे।
कोई एक कहै कोई दोई कहै, नहिं सुन्दर द्वन्द्व लगाम है रे॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, भाग १, पृ० २६८

× × × ×

एक कि दोइ न एक न दोइ, उहीं कि इहीं न उहीं न इहीं है।
शून्य कि थूल न शून्य न थूल, जिहीं कि तहीं न जहीं न तहीं है॥
मूल कि डाल न मूल न डाल, वहीं कि महीं न वही न मही है।
जीब कि ब्रह्म न जीब न ब्रह्म, तौ है किन्हीं कछू है न नहीं है॥

—सुन्दर ग्रन्थावली, २।६१६

सुन्दरदास का ब्रह्म सर्वत्र व्यापक है—

व्यापिन व्यापिक व्यापि हु व्यापक आतम एक अखंडित जानौ ।
ज्यों पृथ्वी नहिं व्यापिन व्यापक भाजन व्यापिहु व्यापक मानौ ॥
कंचन व्यापि न व्यापक दीसत भूषन व्यापि हु व्यापक ठानौ ।
सुन्दर कारण व्यापि न व्यापक कारण व्यापि हु व्यापक आनौ ॥

—सुन्दर ग्रन्थावली २।६५२

सुन्दरदास का ब्रह्म वर्णनातीत, अव्यक्त, अगम तथा आदि अंत रहित है :—

निराकार है नित्य स्वरूपं, अचल अभेद्य छांह नहिं धूपं ।
अव्यक्त पुरुष अगम अपारा, केसे कै करिये निर्धारा ॥
आदि अंत कछु जाइ न जानी, मध्य चरित्र अकथ कहानी ॥

—सुन्दर ग्रन्थावली १।६६-१००

चरनदास की ब्रह्म-विषयक विचारधारा गीता से बहुत अंशों में प्रभावित है । कवि के ही शब्दों में :—

माया जीव दोउ ते न्यारा, सो निज कहिये पीव हमारा ।
छर अच्छर निह अच्छर तीनों, गीता पढ़ि सुनि इनको चिन्हो ॥
गीता अच्छर जीव बतावै, छर माया सोई दृष्टि दिखावै ।
निह अच्छर है पुरुष अपारा, ज्ञानी पंडित ल्योह विचारा ॥

कबीर के ब्रह्म के सदृश चरनदास का ब्रह्म भी निर्गुण-सगुण से परे है :—

निर्गुण ना सर्गुण नहीं, उपजै या मिट जाय ।
सब कछु हैं अरु कछु नहीं, सदा ब्रह्म छिर थाय ॥

चरनदास का ब्रह्म हृदय तथा बेहद दोनों की सीमाओं से परे है :—

हद कहूँ तो है नहीं, बेहद कहौ तौ नाहिं ।
हद बेहद दोनों नहीं, चरनदास भी नाहिं ॥

विगत पृष्ठों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि संतों की भक्ति तथा भक्ति के लक्ष्य ब्रह्म के सम्बन्ध में प्रचुर-मत-साम्य है । इनमें आश्चर्यजनक भाव-साम्य तथा अभिव्यक्ति-साम्य है । इनकी कल्पना शक्ति, प्रतीक योजना तथा अप्रस्तुत-योजना में अद्भुत साम्य है । संत दादूदयाल का कथन बहुत सत्य है कि :--

जे पहुँचे ते कहि गए तिनकी एकै बात ।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात ॥

———

प्रथम अध्याय

चरनदास का युग

किसी देश के निवासियों पर उनके देश, समाज एवं समय का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। वातावरण के प्रभाव से दूर रहना मनुष्य के लिए कठिन है। किसी घटना के मूल में तत्कालीन परिस्थितियों का विशेष भाग होता है। चरनदास के जीवन की घटनाएँ भी उस समय की परिस्थितियों से प्रभावित थीं। चरनदास का लक्ष्य था पथभ्रष्ट जनता को मार्ग पर लाना, अंधकार के गर्त की ओर अग्रसर मानव को प्रकाश प्रदर्शित करना, विश्वकल्याण के हेतु विश्व-बन्धुत्व की भावना का प्रसार करना तथा क्षमा, दया, त्याग आदि मानवोचित गुणों का व्यवहार जनता में बढ़ाना। उनके इस लक्ष्य के मूल में अनेक कारण निहित थे। इन कारणों से प्रेरित कार्यों को सम्यक् रूप से समझने तथा उन पर विचार करने के हेतु चरनदास के आविर्भाव तथा उत्कर्ष काल की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनीतिक परिस्थितियों का अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। कवि ने अपनी रचनाओं में तत्कालीन राजनीतिक दशाओं का चित्रण कहीं भी नहीं किया है परन्तु धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियों की ओर स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है। इसका कारण यह है कि उन्होंने अपने ग्रन्थों की रचना 'जनहिताय' तथा 'स्वांतः सुखाय' की थी, ऐतिहासिक घटनाओं को सुरक्षित रखने के हेतु नहीं। तत्कालीन परिस्थितियों पर अन्तःसाक्ष्य प्रमाण के अभाव में वहिर्स्साक्ष्य प्रमाणों के ही आश्रित होना पड़ता है। परवर्ती इतिहासकारों की ऐतिहासिक रचनाओं से उनके समय का पर्याप्त परिचय मिल जाता है।

सामान्यतया चरनदास की जन्म-तिथि सन् १७०३ ई० और मृत्यु-तिथि १७८२ ई० मानी जाती है। हमारे कवि ने ७९ वर्ष का पवित्र एवं निष्कलंक जीवन व्यतीत किया, जिसका एक मात्र लक्ष्य था अन्तस्साधना। चरनदास का आविर्भाव उस समय हुआ जब कि भारतवर्ष में औरंगजेब के रूप में मुगल साम्राज्य का दीपक अपने समस्त आलोक एवं वैभव को प्रकाशित करने के अनन्तर विनाश के अन्धकार में समाहित होने जा रहा था। सन् १७५९ में शाह आलम सिंहासनासीन हुआ। चरनदास जी शाह आलम के राज्य-काल में ही दिवंगत हुए। उनका महाप्रस्थान उस समय हुआ, जब देश में मुगल राज्य प्रायः

निःशेष हो चुका था और उसके स्थान पर बंगाल, बिहार और उड़ीसा आदि प्रान्तों में दीवानी के अधिकार अंगरेजों के अधीन हो गये थे। इस समय ईस्टइंडिया कम्पनी के अधिकार दृढ़तर होते जा रहे थे और वारेन हेस्टिंग्ज़ भारतवर्ष के गवर्नर जनरल पद पर आसीन था।

चरनदास के जन्म (सन् १७०३ ई०) के समय देश की राजनीतिक परिस्थितियाँ बड़ी विषम थीं। इस समय देश पर औरंगजेब का राज्य था। औरंगजेब की संकीर्ण धार्मिक नीति का इतिहास बड़ा दुखद है। उसकी धार्मिक नीति अपने पूर्वजों बाबर, हुमायूं, अकबर जहांगीर और शाहजहां से नितांत भिन्न थीं। हिन्दुओं के प्रति उसके हृदय में कहीं औदार्य, दया अथवा संवेदना का स्पर्श भी नहीं हो पाया था। औरंगजेब इस्लाम का बहुत ही कट्टर अनुयायी था।[१] वह कुरान के कथित नियमों के अनुसार आचरण करता था[२]। इसी कारण उसने राज्यारोहण के पश्चात् राज्य में प्रचलित हिन्दू प्रथाओं और राज्य पदों के लिए हिन्दुओं की नियुक्ति बन्द कर दी थी[3]। सन् १७०२ ई० में उसने फौज से भी हिन्दुओं को हटा दिया था[४]।

औरंगजेब अपने को 'इस्लाम के धार्मिकराज (Islamic-Church-State), का अध्यक्ष मानता था। इस धर्म में धार्मिक सहिष्णुता महान् पाप समझी जाती

---

[१]. शाहजहां सुत औरंगजेबा : चले स्वपंथ कुरान कथा :

परिचयी ले० सुथरादास पृष्ठ १६

नोट : सुथरादास के इस कथन का समर्थन इतिहासकार श्रीराम शर्मा के निम्नलिखित कथन से भी होता है :

He was Muslim King and it seemed to him unreasonable not to govern country according to his interpretations of injunctions of Quran and Traditions....

The Religious Policy of Moughal Emperors by Sri Ram Sharma, page 152.

[२] The Religious Policy of Moughal Emperors, Page 120.

[3] In 1671 an ordinance was issued that the rent collectors...... must be Muslims and all Viceroys and Taluqdars were ordered to dismiss their Hindu head clerks......and accountants and replaced them by Muslims.

History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III, Ch. XXXIV, Page 277.

[४] Religious Policy of Moughal Emperors, Page 135.

थी[१]। इस्लाम के अनुयायियों के अतिरिक्त अन्य धर्मावलम्बियों को इस प्रकार के राज्य में रहने की आज्ञा नहीं थी। परन्तु कठिनाई यह थी कि हिन्दू जाति भारतवर्ष से समूल उखाड़ी नहीं जा सकती थी। अतः हिन्दू खिराज-गुज़ार की हैसियत से देश में रहते थे। मुहम्मद साहब की आज्ञानुसार[२] औरंगजेब ने सन् १६७६ ई० में हिन्दुओं पर जज़िया लगाया[3]। जज़िया कर लगाये जाने का स्थान-स्थान पर विरोध किया गया पर कोई भी प्रयत्न फलीभूत न हुआ। जज़िया से राज्य की आय बढ़ गई[४]। दूसरा फल यह हुआ कि अनेक हिन्दू मुसलमान हो गए। औरंगजेब का समकालीन मनूसी लिखता है कि कर देने में असमर्थ अनेक हिन्दू कर वसूल करने वालों के अपमान से बचने के लिए मुसलमान हो गए। औरंगजेब प्रसन्न होता था कि इस वसूलयाबी से हिन्दू मुसलमान हो जाने के लिए विवश हो जायँगे[५]। औरंगजेब में मन्दिरों को नष्ट करने की प्रकृति बहुत पहले से थी। गुजरात के गवर्नर के पद से उसने अनेक भव्य मन्दिरों को नष्ट करवा दिया था। सम्राट् होने पर फ़रवरी २८, सन् १६५६ ई० में उसने नवीन मन्दिरों के निर्माण को रोकने के लिए एक आज्ञा-पत्र[६] प्रकाशित किया। ६ अप्रैल सन् १६६६

---

[१] History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III, Chapter XXXIV, Page 227.

[२] "Fight those who do not profess the true faith, till they pay Jaziya with the hand in humility" Quran IX. 20.

and

History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III; Chapter XXXIV, Page 271.

सुथरादास औरंगजेब के समकालीन थे। उन्होंने परिचयी में जज़िया लगाये जाने का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है:—

काज़ी मुल्ला की करै बड़ाई, हिन्दू को जज़िया लगवाई।
हिन्दू डांड देय सब कोई, बरस दिनन में जैसा होई।

परिचयी, पृष्ठ १६.

[3] The passionate animosity excited by tax was displaced in various ways and on various different scenes...

The Fall of Moughal Empire by Sidney J. Owne, p. 76.

[४] The History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III Chapter XXXIV, p. 274.

[५] Many Hindus who were unable to pay turned Muhammadan to obtain relief from insults of collectors......Aurangzeb rejoices that by such exaction these Hindus will be forced to embrace the Mohammadan faith.

History of Aurangzeb, Vol. III, p. 275

[६] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 136.

ई० के एक आज्ञापत्र द्वारा समस्त साम्राज्य के मन्दिरों को नष्ट कर देने की आज्ञा भेजी[१]। सन् १६६६ ई० के अगस्त मास में विश्वनाथ जी का सुप्रसिद्ध मन्दिर नष्ट कर दिया गया[२]। विश्वनाथ जी के इस सुविशाल मन्दिर के नष्ट किए जाने का उल्लेख सुथरादास ने अपने ग्रन्थ 'परिचयी' में किया है[३]। औरंगजेब के समकालीन, हिन्दी के गौरव कवि भूषण ने भी अपनी पुस्तक 'शिवाबावनी' में विश्वनाथ जी के मन्दिर के नष्ट होने का उल्लेख किया है।[४] इसी समय काशी के अन्य सभी मन्दिर नष्ट कर दिये गए, जिनमें गोपीनाथ का मन्दिर भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[५] इसके पश्चात औरंगज़ेब ने मथुरा और गोकुल के मन्दिरों की ओर ध्यान दिया। सर्वप्रथम उसने मथुरा के केशवराय जी के मन्दिर को नष्ट किया, जिसके निर्माण में राव वीर सिंह ने ३३ लाख रुपए का व्यय किया था।[६] मथुरा के मन्दिरों के ध्वंस का उल्लेख सुथरादास ने भी किया है।[७] इससे प्रकट होता है कि मथुरा के मन्दिरों के ध्वंस होने का तत्कालीन जनता पर बड़ा प्रभाव

---

[१] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 136

[२] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[३] काशी विश्वनाथ विस्तारा। कला न देखा सभी उजारा ॥

परिचयी, पृष्ट १५

[४] कुंभकन्न असुर औतारी अवरंगजेब
कीन्ही कत्ल मथुरा दोहाई फेरि रब की।
खोदि डारे देवी देव देवल अनेक सोई,
पेखी निज पारान ते छूटी माल सब की।
भूषन भनत भाग्यो कासीपति विश्वनाथ,
और क्या गिनाऊँ नाम गिनती में अब की।
दिन में डरन लागे चारो वर्ण वाही समै,
सिवा जी न होतो तो सुनति होति सब की।

भूषणग्रन्थावली, शिवाबावनी, पृष्ट ४६–५० (प्रकाशक—साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)

[५] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[६] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 141

[७] तब बहुरो मथुरा चलि आवो, पाखंड देख सब मंदिल ढायो।

परिचयी, पृष्ठ १७

पड़ा था। गोकुल के मन्दिरों पर भी औरंगजेब की शनिदृष्टि पड़ी।[१] सुथरादास ने गोकुल के मन्दिरों के उजाड़े जाने का हाल 'परिचयी' में लिखा है।[२] गोस्वामी हरिराय जी ने भी गोकुल तथा मथुरा के मंदिरों के प्रति औरंगजेब के प्रकोप का अपने ग्रन्थ 'श्री गोवर्द्धन नाथ जी की प्राकट्य वार्ता' में सविस्तार वर्णन किया है।[३]

---

[१] The priests of the temple of Govardhan founded by the Balbhacharya sought safety in flight. The idols were removed and the priests softly stole out in night. Imperial territories offered no place of safe asylum either to God or his votaries. After the adventurous journey they at last reached Jodhpur. Maharaj Jaswant Singh was away on imperial errands. His subordinates in the State did not feel strong enough to house the God who might have soon excited the wrath of the Moughal Emperor...the head of the priesthood in charge of the temple, sent...to Maharaja Raj Singh to beg for a place to enable to serve his religion in peace. The Sasodia prince extended his welcome...the party...decided to house the God in Sihar and with due religious ceremony the God was installed on the 10 March, 1672...Sihar...named after the God, is known as Nathadwara......At Kankroli (in Udaipur from State) and another......idol of Krishna similarly brought down from Brindaban had been housed a little earlier.

The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 142

[२] द्वारिका नाथ में तुरुक पठायो, रणछोर को स्थानै ढायो।
बद्री नाथ गोकुलै उजारा, जगन्नाथ को कियो विकारा।

परिचयी, पृष्ठ १७

नोट: (१) द्वारिका नाथ से सुथरादास का अभिप्राय है द्वारिकेश जी का मंदिर।
(२) रणछोर जी तथा जगन्नाथ के मंदिरों का उल्लेख आगे होगा।

[३]. तव वा देशाधिपति ने एक दिन एक हलकारा श्री द्वार पठायो सो वा हलकारा ने आय के श्री विट्ठलराय जी के पुत्र श्री गोविन्द जी हते तिन सो कही और टीकैत तो...हते सो श्री जी के यहां अधिकार करत ताते हलकारा ने उन सों कही देशाधिपति ने कही है जो श्री गोकुल के फकीरों से कहो जो हमको कछू करामात दिखाओ नहीं तो हमारे देश में ते उठ जाओ तब गोविन्द जी श्री जी सों पूछे जो देशाधिपति ने करामात मांगी है या मारग में तो आप की कृपा ही

औरंगजेब द्वारा नष्ट किए गए मंदिरों की संख्या बहुत अधिक थी, जिसका पूरा विवरण आज किसी इतिहास में उपलब्ध नहीं होता है। तत्कालीन लेखकों की रचनाओं में इस सम्बन्ध में उल्लेख मिल जाते हैं। 'परिचयी' में परशुराम तथा नगरकोट के मन्दिरों के नष्ट किये जाने का वर्णन मिलता है।[१] औरंगजेब की दमनकारी नीति की प्रतिक्रिया सिक्खों में विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।[२] गुरु तेग बहादुर को बन्दी बना कर प्राण दंड देना उसकी धार्मिक संकीर्णता का एक ज्वलन्त उदाहरण है।[3] सुथरादास ने भी अपनी 'परिचयी' में गुरु तेग बहादुर के बध का वर्णन किया है।[४] उनके शब्दों में वेद पुराण का पठन-पाठन सभी

करामात है जो आज्ञा आप करो तो हम वाको करामात दिखावैं...श्री गिरिधार जी के और गोवर्धन के ब्राह्मणन सों तथा गोखान से असमंजस पड्यो...श्री जी रथ में आय के विराजे असोज सुदी १५ शुक्रवार संवत् १७२६ के पाछिली प्रहर... ...और दो जल घटिया श्री जी के सेवक जल भरते सो जा बिरियां देशाधिपति को डस्ता मंदिर ढायवेको आयते ता समय वाके संग २०० म्लेच्छ हुवे...डेढ महिना ताई मंदिर ढायवे न दियो फिर दुसरो डस्ता १७ सतरे बिरियां ५००,७०० म्लेच्छ लैकें आयो परन्तु उन दोऊ भाइन ने सब को मार डारे तब देशाधिपति ने वजीर को हुकुम दीनो सो बहुत म्लेच्छ संग लैकें वजीर चढ्यौ......श्रीनाथजी जब श्री गिरिराज सों आगरे में पधारे तब पाछिली रात्रि घड़ी ६ रही हती......जब बादशाह देवतान पै करामात मांगतो सो जब न मिली करामात तब वह मूला आप जाय के देवतान को खंडित करतो पांच सौ म्लेच्छ वाके संग रहते......ता दिन श्री जी को रथ चंबल के पार उतार्‌यो......और दंडोत घाट ते श्री श्री गोवर्धन श्री कोटा बूंदी पधारे......और श्री जी चतुर्मास बीते पीछे पुष्कर जी होय के जोधपुर को पधारे...श्री गोवर्द्धन नाथ जी प्राकट्य वार्ता, पृष्ठ ४४. ६०

[१] नगर कोट की कला विचारी, कला न देखी मढ़ी उजारी।
बहुत विकट मन माहि विचारा, परसुराम को देवल उजारा।
परिचयी, पृष्ठ १८

[२] (i) History of Aurangzeb by Sir J. N. Sarkar, Vol. III, Chapter XXXV, pp. 301-302
(ii) Aurangzeb & His Times by Zahiruddin Faruqi pp. 247-259

[3] The Religious Policy of Moughal Emperors, p. 166, एवं 'भक्तमाल', पृष्ठ १७

[४] नानक के सिष्यन को पूँछा; गुरु का धरम न तुमही सूझा।

१७८५ तक लार्ड हेस्टिंग्ज ने गवर्नर जनरल के पद से कम्पनी की नीति को कार्यान्वित किया।

धार्मिक परिस्थिति—चरनदास से पूर्व भारतवर्ष की राजनीतिक परिस्थिति का विवेचन हो चुका है। इन विगत पृष्ठों को देखने से प्रकट हो जाता है कि सन् १२०० से १७५० ई० तक देश की दशा कितनी विषम बनी रही। इस समय के अन्तर्गत भारतीय-संस्कृति एवं हिन्दू-धर्म पर सहस्त्रों घातक आक्रमण हुए। हिन्दू-धर्म को विनष्ट कर देने के लिए कोई भी प्रयत्न अवशेष न रहा। साम, दाम, दंड और भेद सभी उपायों से आघात पर आघात होते जा रहे थे। हिन्दुओं के अस्तित्व पर प्रश्नवाचक चिह्न लग गया था। हिन्दुओं की इस गंभीर, शोचनीय और नित्य परिवर्तनशील दशा में हिन्दुओं का धर्म संकट में पड़ चुका था। 'निर्बल के बल राम' भारतीय जनता के हृदय एवं मस्तिष्क से विलग हो चले थे। भारतीय जनता का हृदय और विश्वास मूर्तिपूजा से डिग चुका था। देश की राजनीतिक परिस्थिति इस बात की द्योतक थी कि मूर्ति उपासक कितने निर्बल, अशक्त तथा संकट में थे और इसके विरुद्ध मूर्ति-भंजक कितने शक्ति-सम्पन्न एवं ऐश्वर्यवान थे। हिन्दू-जाति जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निराशा का अनुभव कर रही थी। गज़नवी, ग़ोरी, ग़ुलाम, खिलजी, तुग़लक, लोदी और मुगल सभी तो मूर्ति-भंजक के रूप में भारतीय जनता के समक्ष प्रकट हुए। इन सभी मूर्ति-भंजकों को सुख एवं ऐश्वर्य के पालने में भूलते हुए देखकर हिन्दुओं का मूर्ति पूजा से विश्वास उठ रहा था। वे मूर्ति उपासना की निःसारता भलीभांति समझ चुके थे। देश की इस विषम परिस्थिति में एक ऐसे धार्मिक आन्दोलन की आवश्यकता प्रतीत हो रही थी, जो देश के निवासियों को अंधकार में प्रकाश, निराशा में आशा की ज्योति दिखा सके। इस आवश्यकता की पूर्ति वैष्णव आंदोलन के द्वारा पहले बहुत कुछ अंशों में पूर्ण हो चुकी थी। इस आन्दोलन में ब्रह्म के लोक-रक्षक, लोक-पालक स्वरूप की विष्णु के रूप में प्रतिष्ठा करके उनकी सरल भक्ति का मार्ग निराश हृदयों को प्रदर्शित किया गया था। इस वैष्णव आन्दोलन ही की प्रेरणा एवं प्रयत्न से निराश हिन्दुओं में एक बार पुनः धार्मिक जागृति समुत्पन्न हो गयी थी। समय-समय पर इस आंदोलन में उपास्य देवों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता रहा। फिर भी इसके मूल में एक भावना बराबर बनी रही और वह भावना भी परब्रह्म के सर्वव्यापी एवं अन्तर्यामी स्वरूप की।

रामानन्द ने लोक-रक्षक राम की प्रतिष्ठा की। रामानन्द की इस रामभक्ति के महान् स्त्रोत से दो धाराएँ फूट निकली। प्रथम धारा थी राम के सगुण रूप की। इस धारा में नाभादास एवं तुलसीदास आदि प्रतिभावन व्यक्ति हुए और

द्वितीय धारा में राम के निर्गुण रूप की उपासना हुई, जिसके प्रचारक नामदेव, कबीर, दादू, नानक, मलूक, दरिया तथा चरनदास आदि संत हुए। इन सन्तों ने अपने सम्प्रदाय में योग की क्रियाओं को भी स्थान दिया पर सामान्य जनता ने इनके सरल उपदेशों को ग्रहण किया। इन संतों ने उपासना के लिए निर्गुण ब्रह्म का आश्रय ग्रहण किया और इस भावना ने जातीय, सांस्कृतिक एवं धार्मिक मतभेद के लिए अवशेष अवसर भी समाप्त कर दिए।

चरनदास के युग में हिन्दू-धर्म में वाह्य प्रभावों के अतिरिक्त अनेक दोष भी व्याप्त हो गये थे। वाह्याडम्बरों ने धर्म के पवित्र रूप को आच्छादित कर लिया था। जनता धर्म के सत, सरल और सहज रूप को भूल गई थी और वाह्याडम्बरों एवं वाह्याचारों को ही मुक्ति का साधन मानने लगी थी। गृहस्थ एवं साधु सभी माला, तिलक ग्रहण करके सत्य की खोज में यत्र-तत्र भ्रमित हो रहे थे।[1] दम्भ एवं पाखंडों के आधार पर जनता अपनी तृष्णा के साधन संग्रहित कर रही थी। राजा, प्रजा, योगी, तपस्वी सभी इसी प्रकार कुबुद्धि से अभिशप्त माया के आवरण में अज्ञान का प्रसार कर रहे थे।[2] साधु एवं सन्यासी सत्य की खोज छोड़ कर इन्द्रियों और मन के चेरे बन रहे थे। वे प्रीति की रीति से अनभिज्ञ, क्रिया-कर्म

---

[1] माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कंवल कस्तूरि हिरन जंगल भो बौरा॥
चांद सूर्य्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिरदेवा थिर नहीं नहीं थिर माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
निरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कूं दूर है॥

[2] साधो चलो तुम संभारी जग होरी मचि रहि भारी॥
दंभ पखंड गहे कर में डफ हूबड हूबड की तारी।
त्रैगुन तार तंबूरा साजे आसा तृस्ना गति धारी॥
पाप पुन्य दोउ ले पिचुकारी छोड़त हैं बारी बारी।
सनमुख ह्वै करि जो नर खेलो ताके चोट लगी कारी॥
लोभ मोह अभिमानी भरी लै मावा गागरि डारी।
राजा परजा जोगी तपसी भीज रहे संसारी॥
जड़ चेतन दोऊ रूप संवारे एक कनक दूजी नारी।
पांच पचीस लिये संग अवला हंसि हंसि मिल गावत गारी॥
चतुरा फगुवा दै दै छूटै मूरख को लागी प्यारी।
चरनदास सुखदेव बतावैं निर्गुन ज्ञान गली न्यारी॥

एवं माया के बन्धनों से जकड़े हुए पथ भ्रष्ट हो गए थे। जग की रीति और लोक की मर्यादा के विरुद्ध आचरण करते फिर रहे थे। सुरति-निरति के लोक-सुखदायी रूप को बिसार कर वे ब्रह्म से मिलन का उपाय निःसार वस्तुओं में खोजते फिर रहे थे। स्वतः सत्य के आलोक पूर्ण रूप से अपरिचित होते हुए भी अपने उपदेशों से दूसरों के लिए मुक्ति और भक्ति का मार्ग प्रदर्शित कर रहे थे।[1] तपसी और यती पथ-भ्रष्ट हो गए थे। वे धूनी रमाने, भभूति लगाने, जटा धारण करने अथवा मूड़ मुड़ाने को ही धर्म समझने लगे थे। वट में विराजमान मूर्ति को देखनेका प्रयत्न कोई नहीं कर रहा था, जिससे चतुर्दिक कल्याणकारी प्रकाश का प्रसार हो पाता।[2] बहुत से तपसी चारों ओर अग्नि जलाकर अपनी काया को कष्ट देने को ही धर्म का वास्तविक रूप मान रहे थे। पंडित धर्म के प्राचीन ग्रन्थ वेद-शास्त्रादि के अध्ययन को ही मुक्ति का मार्ग मान रहे थे। कुछ जटा को बढ़ाने, कुछ मूंड मुंडाने, कुछ प्राणायाम का ऊपरी दिखावा करने में ही ब्रह्म की प्राप्ति का मार्ग खोज रहे थे। परन्तु ये सभी कायर (कायर इसलिए कि शरीरस्थ मन से सर्वथा पराजित थे) साधना के मार्ग में अग्रसर होने में असफल थे।[3] सभी मन में कामना

---

[1] सुरति निरति की गम नहि सजनी जहां मिलन को लटके।
भूलो जगत बकत कछु औरै वेद पुरानन ठठके॥
प्रीति रीति को सार न जानै डोलत भटके भटके।
किरिया कर्म भर्म उरझे रे ये माया के झटके॥
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाही राम रहीमा फटके।
जगकुल रीति लोक मर्यादा मानत नाही हटके॥
चरनदास सुखदेव दया सूं त्रैगुन तजि के सटके।

[2] न ऊरध बाहु न अंग भभूति।
न धूनी लगाय जटा सिर धारू॥
न मूड मुड़ाय फिरूँ बन ही बन।
तीरथ बर्त नही तन गारू॥
उलटि लखो घट में प्रतिबिम्ब सों।
दीपक ज्ञान चहूँ दिस जारूं॥
चरनदास कहै मन ही मन में।
अब तुही तुही करि तोहि पुकारूं॥

[3] बहुतक तपसी कष्ट साध।
बहुतक पंडित पोथी लाद॥
बहुतक चुंडित जटा धारि।

और प्राप्ति की भावना रखकर साधना कर रहे थे। निष्काम भक्ति कोई नहीं कर रहा था।[1] ऐसे व्यक्तियों को देख चरनदास ने निष्काम-भक्ति और उपासना का उपदेश दिया।[2] गृहस्थाश्रम के उत्तरदायित्व को छोड़कर साधु, यती हो जाना ही धर्म का आवश्यक अंग माना जा रहा था। जब साधना अन्तस की वस्तु है, तब जैसे घर में वैसे ही जंगल में, जैसे गार्हस्थ्य वैसे सन्यस्त। नाम सुमिरन आवश्यक है, न कि स्थान परिवर्तन। संसार-सागर में कमल के पत्र के सामान रहना चाहिए।[3]

यह तो हुआ संसार को त्यागकर संसार की माया में संलग्न रहने वाले साधु, संत, यती तथा मुंडियों की दशा। परन्तु गृहस्थ और सांसारिक इनसे किसी प्रकार अच्छे नहीं थे। वे भी वाह्याचारों में संलग्न थे। जग के माया मोह में वे इतना अधिक संलग्न थे कि उन्हें नाम जप के लिए भी समय नहीं मिल पाता था। भौतिकता उनके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्यापक प्रभाव स्थापित किए हुए थी। जैसे कूकुर कौर के लिए द्वार-द्वार भटकता फिरता है, उसी प्रकार सांसारिक

चहुँ ओर पावक जारि जारि ॥
बहुतक मुंडित पूजा राखि।
बहुतक भक्तन पिछली साखि ॥
बहुतक जोगी पवन जीति।
हरि मिलबे की करैं रीति ॥
कायर थाके बाट माहिं।
कछु इक आगे चले जाहि ॥

[1] बिना कामना करूं चाकरी आठों पहरे नेरो।
मनसब भक्ति कृपा करि दीजै यही मोहि बहुतेरो ॥

[2] जोग तपस्या कीजिये सकल कामना त्याग।
ता कूं फल मत चाहियो, तजो दोष अरु राग ॥
अष्ट सिद्ध जो पै मिलैं नेक न कीजौ नेह।
धरि हिरदै परमात्मा त्यागे रहियो देह ॥
जेती जग की वस्तु है तामे चित्त न लाय।
सावधान रहियो सदा, दियो तोहिं समुझाय ॥

[3] कै घर में कै बाहरे, जो चित आवै नाम।
दोनों होयं बराबरी कै जंगल कै ग्राम ॥
जग माहीं ऐसे रहो ज्यो अम्बुज सर मांहि।
रहै नीर के आसरे पै जल छूवत नाहिं ॥

कनक और कामिनी के हेतु दर-दर पर भटकते फिरते थे।[1] राजनीतिक विषमताओं और सामाजिक ह्रास के साथ ही मानव-समाज का चरित्र अधःपतित हो गया था। गृहस्थ पर-स्त्री में अनुरक्त हो रहे थे। चारित्रिक अधःपतन चरम-सीमा पर देखकर चरनदास ने उन्हें कामाग्नि से दूर रहने के लिए चेतावनी दी।[2] भूत, भवानी की उपासना के द्वारा अपने कष्टों का उपशमन करना उस युग की विशेषता थी। अंध-विश्वास लोकप्रिय हो रहे थे। मूर्ति-पूजा, मृत-पूजा और मज़ारों की पूजा करने की प्रथा अत्यन्त प्रचलित थी।[3] जनता की आस्था ज्योतिष तथा वेदादि ग्रन्थों के प्रति बढ़ती जा रही थी। टोना, टोटका, जादू, मंत्र, तन्त्रादि को ही जनता साधना का सच्चा रूप समझने लगी थी। गुरु-प्रदत्त भक्ति और गुरु मंत्रादि से विश्वास हट गया था।[4] लोग अज्ञान के कारण असार वस्तुओं में भ्रमते फिरते

---

१ छले सब कनक कामिनी रूप।
सुर असुर अरु जच्छ गंधर्व, इन्द्र आदिक भूप।
रावन से अति बली मारे, मौत जिन बस कीन।
पसु नरन कीको चलावै, ये तौ अति आधीन।
रूप रस में दे धतूरा, मोह फासी डार।
तप की पूंजी छनि कै कियो, सृंगी रिषि कूं ख्वार॥

२ अरे नर पर नारी मत तक रे।
जिन जिन ओर तको डायन की, बहु तन कूं गई भखरे॥
दूध आक को पात कटैया, झाल अगिन की जानो।
सिंह मुछारे विष कारे को, ऐसे ताहि पिछानो॥
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै।
जनम जनम कूं दाग लगावै, हरि गुरु तुरत छुटावै॥

३ आतम ज्ञान बिना नहिं मुक्त।
वेद भेद करि देखा जोय॥
जल पातन अरु भूत भवानी।
पूजि पूजि भरमा सब कोय॥

४ वैदिक को भेद ठानै ज्योतिष विचार जानै।
काहू की कही नाहिं मानै करै मन भावै॥
भूत टोना जादू से वै प्रभु को न नाम लेवै।
गुरु भक्ती में न चित देवै गुन नाही गावै॥

थे और अज्ञानियों तथा ढोंगियों का समाज पर बोलबाला फैल रहा था।[1] अपने युग की ऐसी जनता से चरनदास जी ने कहा कि "अरे मूर्खों ! भूतों की सेवा में क्यों जन्म नष्ट कर रहे हो। बड़ी कठिनाई से तो यह नर-जन्म और शरीर मिला है, उसे भी तुम वृथा विनष्ट कर रहे हो। झूठी आशाओं के सहारे तुम्हारा जीवन कितने दिन चलता रहेगा। जान बूझ कर अज्ञानी बनना उपयुक्त भी तो नहीं है।"[2] चरनदास जी के युग में जनता तीर्थ, व्रत,[3] गंगा-स्नान,[4] बहु-देवोंपासना से संलग्न थी। सभी लोग पंचतत्व के उपासक होते जा रहे थे। कोई मिट्टी की प्रतिमा की उपासना कर रहा था, कोई अग्नि-होत्री था, कोई सूर्योपासक था तो कोई आकाश का उपासक था।[5] इस प्रकार जितने व्यक्ति थे, उतने ही

---

[1] भाई भरमत फिरै लोई जल और पाहन सेइ।
बात नहीं बूझै कोई तिन को वह ध्यावै॥

[2] अरे नर क्या भूतन की सेवा।
दृष्टि न आवै मुख नहि बोलै ना लेवा ना देवा॥
जेहि कारन घी जोति जलावै, बहु पकवान बनावै।
सो खर्चे तू अधिक चाव सू, वह सपने नहिं खावै॥
राति जगावैं, भोपा गावैं, झूठै मूंड़ हिलावै।
कुटुम्ब सहित तोहि पैर पडावै मिथ्या वचन सुनावै॥
तोहि भरोसे जनम गंवावै जीवत मरत न साथा।
बड़ भागन नर देही पाई खोवै अपने हाथा॥

[3] सखि सजनी हे तेरो पिया तेरे पास।
अरी बौरी इत उत भटकी क्यों फिरै जी॥
सखि सजनी हे सुरति निरति करि देख।
अरी बौरी अपने महल रंग नमिये जी।

[4] हमारे चरन कंवल को ध्यान।
मूरख जगत भरमता डोलै चाहत जल अस्नान॥
सब तीरथ वाही सूं प्रकटे गंगा आदिक जान॥

[5] सब जग पांच तत्व को उपासी।
तुरियातीत सबन सूं न्यारा अविनासी निर्बासी॥
कोई पूजै देवल मूरत सो पृथ्वी तत जानो।
कोई न्हावै पूजै तीरथ सो जल को तत मानो॥
अग्नि होत्र अरु सूरज पूजा सो पावक तत देखा।
पवन खैच कुंभक को राखै वायु तत्त को लेखा॥

सम्प्रदाय होते जा रहे थे। अपने युग की धार्मिक परिस्थितियों का चित्रण चरनदास जी ने बड़ी सुन्दरता के साथ निम्नलिखित पद्य में किया है। इन पंक्तियों को अविकल रूप से यहां उद्धृत कर देना असंगत न होगा।

सब जग भर्म भुलाना ऐसे।
ऊंट कि पूंछ से ऊंट बध्यो ज्यों, भेड़ चाल है जैसे ॥
खर का सोर सूं कूकर की देखा देखी चाली।
तैसे कलुआ जाहिर भैरों सेढ़ मसानी काली ॥
गांव भूमिया हितकरि धावै जाय बटोही दौरे।
सद्दो सरवर इष्ट धरत है लोग लोगाई बौर ॥
राखं भाव स्वान गर्दभ को, उनको लाय जिमावै।
ठेठ चमारन को सिर नावैं, ऊंची जाति कहावै ॥
दूध पूत पाथर से मांगै जाके मुख नहि नासा।
लपसी पपड़ी ढेर करत है वह नहि खावै मासा ॥
वाके आगे बकरा मारैं, ताहि न हत्या जाने।
लै लोहू माथे सों लावै, ऐसे मूढ़ अयाने ॥
कहै कि हमरे बालक जावै, बड़ी अयुर्बल दीजै।
उनके आगे बिनती करते, अंसुवन हिरदा भीजै ॥
भोये भटरे के पग लागैं, साधु संत की निन्दा।
चेतन को तजि पाहन पूजै, ऐसा यह जग अंधा ॥
सत संगति की ओर न झांकै, भक्ति करत सकुचावै।
चरनदास सुकदेव कहत है, क्यों न नरक को जावैं ॥

इस प्रकार का स्थिति में धर्म विनाशप्राय था। कोई भी धर्म के सत् स्वरूप को पहचानने के लिए उत्सुक नहीं था। चरनदास जी ने चेतावनियों के द्वारा अपने युग की जनता को प्रबोधित करने का प्रयत्न किया। उन्होंने मूर्ति-पूजा, अंध-विश्वास, भेष-धारण, वाह्याडम्बर, तीर्थयात्रा, गंगास्नान, टोना-टोटका आदि की स्पष्ट एवं कटु शब्दों में आलोचना की। उन्होंने यह दिखाने का प्रयत्न किया कि ब्रह्म के लिए हमें यत्र-तत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है, वह तो हमारे घट में ही विद्यमान है।[1] साधना सर्वत्र हो सकती है। वे अभागे हैं, जो

कोई तत्व अकास को पूजै ताको ब्रह्म बतावै।
जो सबके देखन में आवै सो क्यों अलख कहावै ॥
परम तत्व पांचौ से आगे गुरु सुकदेव बखाने।

[1] घट में खेलि ले मन खेला।

घर का परित्याग करके बाहर शान्ति खोज के लिए जाते है, परन्तु वहां भी उन्हें वह प्राप्त नहीं होती है।[१] चरनदास जी ने गुमराहों[२] को भ्रमपूर्ण मार्ग छोड़कर निगुर्ण छैला[३] से नेह लगाने का उपदेश दिया और उन्हें सत्पथ पर लाने का प्रयत्न किया।

सामाजिक परिस्थिति—राजनीति, धर्म एवं समाज का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। इनमें से एक के पतनशील होने पर दूसरा भी ह्रासोन्मुख हो जाता है। देश की राजनीतिक परिस्थितियों के साथ ही समाज के अन्तर्गत भी महान परिवर्तन

सकल पदारथ घट ही मांही हरि सूं होय जो मेला ॥
घट के देवल घट में जाती घट में तीरथ सारे ॥
बेगहिं आव उलट घट माहीं बीते परबी न्हारे ॥

१ जो नर इतके भये न उतके ॥
उत को प्रेम भक्ति नहीं उपजी।
इत नहिं नारी सुत के ॥
घर सूं निकसि कहा उन कीन्हा।
घर घर भिच्छा मांगी ॥
बाना सिंह चाल भेड़न की।
साध भये अकि स्वांगी ॥
तन मूडा पै मन नहि मूडा।
अनहद चित्त न दीन्हा ॥
इन्द्री स्वाद मिले विषयन सूं।
बक बक बक बक कीन्हों ॥
माला कर में सुरति न हरि में।
यह सुमिरन कहु कैसा ॥
बाहर भेख धारि के बैठे।
अंतर पैसा पैसा ॥

२ गुमराओ छोड़ दिवाने मूरख बावरे।
अति दुरलभ नर देह भया गुरु देवसान आव रे ॥
जग जीवन है निस को सुनो अपनो हवां कौन बताव रे ॥

३ टुक निर्गुन छैला सूं कि नेह लगाव री।
जाकी अजर अमर है देस, महल बेगमपुर री ॥
जहं सदा सोहागिन होय पिया सूं मिलि रहु री।
जहं आवा गमन न होय मुक्ति तेरी चेरी ॥

इसमें स्वतः समाहित हो गये थे। मध्य और उच्च वर्गों के सुख-सौख्य का साधन था निम्न वर्ग या सेवक वर्ग। इस वर्ग का जीवन उक्त दोनों वर्गों की दया पर निर्भर था। इनका जीवन बड़ा हीन था।

समाज पर राज दरबारों का व्यापक प्रभाव अंकित था। वह वाह्याचार और ऊपरी प्रदर्शन को ही अपने मान-सम्मान और प्रतिष्ठा का मापदंड मानने लगा था। वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढ़ा कर जनता के समक्ष व्यक्त करने का प्रचलन सा हो गया था। जनता महत्वाकांक्षा के अभिशाप से अत्यधिक उत्पीड़ित थी। अपनी स्थिति से, चाहे वह कितनी ही सुदृढ़ और सुरक्षित क्यों न हो, कोई सन्तुष्ट नहीं था।

तत्कालीन समाज चार वर्णों में विभाजित था—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। इनमें से प्रथम वर्ण समाजमें सबसे अधिक समादरित था। युगों से उसकी प्रतिष्ठा समाज में होती चली आ रही थी। समाज में उच्च और पूज्य होने के कारण वह निम्न वर्णों का धर्म की ओट में शोषण कर रहा था। ब्राह्मण वर्ण अपने कर्म और चरित्र से भ्रष्ट हो गया था। वह अध्ययन, धर्म, पठन-पाठन, को छोड़कर निम्न-प्रवृत्तियों में संलग्न था। त्याग के वे उच्चादर्श विलीन हो गये थे। वह भी काम, क्रोध, लोभ, मोह का चेरा बनता जा रहा था। ब्रह्म के ध्यान को विसार कर वह भी सांसारिकता और भौतिकता में फँस गया था।

समाज का अंतिम वर्ण शूद्र था। "यह समाज का अत्यन्त घृणास्पद और हेय वर्ग समझा जाता था। उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना ही इसके जीवन की सार्थकता थी। वर्णव्यवस्था के जो नियम समाज की सुविधा, व्यवस्था और सुचारु रूप से कार्य संचालन के लिए बनाए गए थे, वही कालान्तर में इस वर्ग के लिए अभिशाप बन गए और समाज में वैषम्य एवं क्रूरता के विधायक बन गये। धीरे-धीरे जीवन के कार्यक्रम के चुनाव में व्यक्तिगत अभिरुचि और प्रसन्नता की भावना समाप्त हो गई। क्रमशः वर्ण की मान्यता जन्म से होने लगी। किन्तु हिन्दू-धर्म को केवल मुसलमानों के ही नहीं, स्वयं हिन्दुओं के अत्याचार से भी बचाना आवश्यक था। अपने ऊपर अपना ही यह अत्याचार हिन्दू-मुस्लिम-संघर्ष से प्रकाश में आया।"[१] निम्नतम् वर्ण में समुत्पन्न होने के कारण शूद्र सभ्य समाज के समस्त अधिकारों की परिधि से दूर फेंक दिये गए। धर्म-शास्त्र के ग्रन्थ उनकी स्पर्शता से बाहर हो गए। उनके दर्शनों से मंदिरों का निर्माल्य अपवित्र हो जाने की अशंका दृढ़तर होती गई। शताब्दियों तक इस दशा में रहने

---

[१] डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ६

के कारण शूद्रों के लिए यह सामान्य और स्वाभाविक सी बात हो गई थी। इसका अनौचित्य उन्हें एकाएक खटकता न था। परन्तु मुसलमानों के संसर्ग ने उन्हें जाग्रत कर दिया और उन्हें अपनी स्थिति की वास्तविकता का परिज्ञान होगया। मुसलमान मुसलमान में कोई भेद-भाव न था। उनमें न कोई नीचा था, न ऊँचा। मुसलमान होने पर छोटा से छोटा व्यक्ति अपने आपको सामाजिक दृष्टि में किसी भी दूसरे मुसलमान के बराबर समझ सकता था। अह्ले इस्लाम होने के कारण वे सब बराबर थे। पर हिन्दू-धर्म में यह संभव न था[1]।

वर्ण-व्यवस्था की निःसारता, विषमता और कुप्रभाव से हिन्दू धर्म और समाज को बचाने के लिए रामानन्द ने भक्ति का द्वार सभी के लिए उन्मुक्त कर दिया। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इस बात को दुहराया कि कुलीन और अन्त्यज सभी उसी ब्रह्म की कृतियां हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है। अतएव सभी को समान रूप से ब्रह्मोपासना का अधिकार प्राप्त है। विशाल हृदय रामानन्द की परम्परा में सहस्रों ऐसे उदारचेता, महानुभाव संत कवि हुए, जिन्होंने इस सामाजिक अभिशाप को उखाड़ फेंकने के लिए कोई कसर उठा न रखी। कबीर, दादू, नानक, मलूक, दरिया, गरीबदास, चरनदास आदि इसी शृङ्खला की अनेक भिन्न-भिन्न कड़ियां हैं।

चरनदास ने इस दोष को मिटाने के लिए बड़ा प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि वही ब्राह्मण है जो कर्म से पवित्र और ब्रह्म के ध्यान में सतत संलग्न रहता हो, आत्मविद्या का मनन करता हो, काम, क्रोध, मद, लोभ आदि से परे हो तथा सत्य प्रिय और मृदु-भाषी हो, उसके हृदय की दया-पयस्विनी से सभी शैतल्य प्राप्त करें[2]। हरिजन समस्त वर्णों से उच्च और पूज्य हैं। सच तो यह है कि

---

[2] ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै।
बाहर जाता भीतर आनै॥
पांचौ बस करि झूठ न भाखै।
दया जनेऊ हिरदे राखै॥
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै।
परमातम का ध्यान लगावै॥
काम क्रोध मद लोभ न होई।
चरनदास कहै ब्राह्मन सोई॥

[1] डॉ. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल–हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७

"जाति बरन कुल सोई नीको जाके होय भक्ति परकासा।"[1] राम-भक्ति की गति बड़ी निराली है। अगर भगवान जाति-वर्ण के समर्थक होते तो गनिका, धना, कालू, कूबा, कबीर, शबरी, आदि भक्ति के क्षेत्र में इतने विख्यात क्यों और कैसे होते। वेद पुरान सभी इसके समर्थक हैं कि भक्ति ही संसार में सर्वश्रेष्ठ है।[2] इस प्रकार हिन्दू और मुसलमानों में परस्पर मतभेद की गहरी खाई खुदी हुई थी। दोनों जातियां एक दूसरे के रक्त की प्यासी बनी हुई थीं। मुसलमान विजयी होने के कारण हिन्दुओं पर सभी प्रकार के अत्याचार कर रहे थे। हिन्दुओं को किसी भी सीमा तक उत्पीड़ित करना उनके लिए असम्भव नहीं था। हिन्दुओं की सांस्कृतिक, सामाजिक, धार्मिक, और ज्ञानार्जन के समस्त साधनों को विनष्ट करने के लिए प्रयत्न हो रहे थे। चरनदास जी ने विरोध की इस खाई को पाटने का हर प्रकार से प्रयत्न किया। उन्होंने कहा कि, "हिन्दू मुसलमान भाई-भाई हैं। दोनों में आकृति विषयक कोई भेद नहीं है। दोनों एक ही कुम्हार की रचना है। दोनों के बीच धर्म विषयक मतभेद की दीवालों को खड़ा करने वाला मनुष्य है, ब्रह्म नहीं। इसलिये यह भेदभाव निःसार है। राम रहीम उसी के नाम के दो पर्यायवाची शब्द हैं।"

---

१. चारि बरन सूं हरिजन ऊँचे।
भये पवित्तर हरि के सुमिरे तन के उज्जल मन के सूचे॥
जो न पतीजै साखि बताऊँ सबरी के जूंठे फल खाये।
बहुत ऋषीसर छाई रहते तिनके घर रघुपति नहि आये॥
भिल्लनि पांव दियो सरिता में सुद्ध भयो जल जब कोई जानै।
भेद हुतो सो निरमल हुवो अभिमानी नर भये खिसानै॥
ब्राह्मन छत्री भूप हुते बहु बाजो संख सुपच जब आयो।
बाल्मीक जगपूरन कीन्हों जै जैकार भयो जस गायो॥
जाति बरन कुल सोई नीको जाके होय भक्ति परकासा।

२. सुनु राम भक्ति गति न्यारी है।
जोग जज्ञ संजम अरु पूजा।
प्रेम सबन पर भारी है॥
जाति बरन पर जो हरि जाते।
तौ गनिका क्यों तारी है॥
धना जाट कालू अरु कूबा।
बहुत कियो भौ पारी है॥
प्रीति बराबर और देखै।
बेद पुरान विचारी है॥

यह तो हुआ धार्मिकता के आधार पर समाज के मस्तक पर लगा हुआ विषमता का कलंक परंतु समाज में इसके अतिरिक्त विषमताओं और असंगतियों की कमी नहीं थी। चरनदास के युग में समाज, असमान वितरण, असमान सुविधा, असमान आर्थिक उपलब्धि के आधार पर विनिर्मित था। जहाँ एक ओर हम उस युग के समाज की इन विषमताओं को पढ़कर आश्चर्यान्वित रह जाते हैं वहाँ दूसरी ओर हम कवि की उस अन्तर्दृष्टि की भी सराहना किए बिना नहीं रह सकते हैं जो तत्कालीन समाज के आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दोषों के मोटे तह के नीचे पहुँचकर उसे उखाड़ कर फेंक देने के लिए सदैव तत्पर रही थी। निम्नलिखित पंक्तियों में तत्कालीन समाज की आर्थिक असंगतियों, विषमताओं और विभीषिकाओं का चित्र बड़ी सफलता के साथ व्यक्त हुआ है :

एकन पग पनही नहीं, एक चढ़ें सुख पाल ॥
यही जो मोहि बताइये, एक युक्ति को जाहिं।
एक नरक को जाय करि, मार जमों की खाहिं ॥
एक दुखी इक अति सुखी, एक भूप इक रंक।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नहिं अंक ॥
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहिं।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छांहि ॥
यही मोहि समझाइये, मन का धोखा जाय।
ह्वै करि निस्संन्देह मैं, रहौ चरन लिपटाय ॥

चरनदास के युग में मानव-समाज हीन मनोवृत्तियों में संलग्न था। चारित्रिक पतन[1], धन लिप्सा[2], प्रतिकार की भावना, असत्य सम्भाषण, दंभ और मिथ्या तथा अहंकार की भावना[3] उत्तरोत्तर विकासशील थी। समाज, मानवता,

---

[1] अरे नर पर नारी मत तक रे।
जिन-जिन और तको डायन की, बहु तन कूं गई भख रे ॥

[2] देहैं धर्म छोहाय हो, आन धर्म ले जाय।
हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच, लोभ लगाय ॥

[3] क्या दिखलावै सान यह कुछ थिर न रहैगा।
दारा सुत अरु माल मुलक का कहा करै अभिमान ॥
छिन-छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरै आन ॥
बिनसै जल थल रवि ससि तारे सकल सृष्टि की हानि।
अजहूँ चेत हेत करु हरि सूंता ही को पहचान ॥

हीन मनोवृतियों की इन होलियों में झुलसा जा रहा था। इन दुर्गुणों के आधार पर समाज का वाह्य ढांचा विकृत होता जा रहा था। जनता भौतिकता के कारण आध्यात्मिक चिन्तन, दार्शनिक वातावरण और साधना के क्षेत्र से निरंतर दूर होती जा रही थी। जनता इस प्रकार मृग-तृष्णा में फंस कर अपने अस्तित्व को भूलती जा रही थी। जनता की करनी और कथनी में साम्य और ऐक्य नहीं था। दम्भी लोग बढ़ बढ़ कर बात करने में सिद्धहस्त थे।[१] संसार की इन निम्न-प्रवृत्तियों में संलग्न रहने वाले समाज को जगत की क्षण-भंगुरता की चेतावनी दी।[२] उन्होंने कहा कि यह जग दौड़ते हुए मृग की परछांई के सदृश अस्थिर है। यह स्वप्न के समान क्षणिक है।[३] फिर यहां महत्वाकांक्षा व्यर्थ है।[४] यह शरीर जिस पर इतना घमंड और गर्व है उसकी स्थिति बालू की भीत्ति से भी हीन है।[५]

१. करनी की गति और है कथनी की औरे।
बिन करनी कथनी कथैं बकबादी बौरे॥
करनी बिन कथनी इसी ज्यों ससि बिन रजनी।
बिन सस्तर ज्यों सूरमा भूषन बिन सजनी॥
ज्यों पंडित कथि कथि भूले बैराग सुनावै।
आप कुंटुंब के फंद पड़े नाही मुरझावै॥
बहु डिंभी करनी बिना कथि कथि करि मूए।
संतो कथि करनी करी हरि के सम हूए॥

२. समझौ रे भाई लोगो समझौ रे।
अरे ह्याँ नहि रहना, करना अंत पयाना।
मोह कुटुम्ब के औसर खोलो हरि की सुधि बिसराई।
दिन धंधे में रैन नींद में ऐसे आयु गंवाई॥
झूठे जग से नेह छोड़ करि सांचो नाम उचारो।
चरनदास सुकदेव कहत है अपनो भलो बिचारो॥

३. जानै कोई संत सुजान यह जग सुपना है॥
सुप्न कुटुम्बी आपा मानै सुप्न बैरागी लय।
सुपनै लेना सुपनै देना सुपनै निर्भय भय॥
सुपनै राजा राज करत है सुपनै जोगी जोग।
सुपनै दुखिया दुख बहु पावै सुपनै भोगी भोग॥

४. माल मुलक औ सुख सम्पति में क्यों हुवा गलतान।
देखत देखत बिनसि जायगो मत करु मान गुमान॥
कोई रहन न पावै जग में यह तू निस्चै जान।
अजहूँ समुझि छांड़ु कुटिलाई मूरख नर अज्ञान॥

५. तन का तनिक भरोसा नाहीं काहे करत गुमाना रे।

चरनदास ने असन्तोष और लोभ की उग्र भावना को शांत करने के लिए महत्वाकांक्षा और सन्तोष का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि मनुष्य को अपनी तृष्णा शांत करने के लिए मन की साधना और नियंत्रण करना चाहिए नहीं तो जैसे मृग, मरीचिका को प्राप्त करने के लिए अपनी जान दे देता है, उसी प्रकार मनुष्य माया के झिलमिले आवरण पर अनुरक्त होकर प्राण खो बैठता है। एक मन की साधना से सब इन्द्रियां नियंत्रित हो जाती हैं।[1]

तत्कालीन समाज अंधविश्वासों से युक्त था। पशु-बलि द्वारा देवताओं को प्रसन्न करने और उनसे बरदान प्राप्त करने की प्रथा प्रचलित थी। प्रतिकार की जलती हुई ज्वाला में मानवता झुलसी जा रही थी। इन दोषों से समाज को मुक्त करने के लिए कवि ने दया और क्षमा धारण करने का उपदेश दिया। ईश्वर की सर्वव्यापकता व्यंजित करके उन्होंने कहा कि जब सभी घटों में वह विद्यमान है, तो कौन अबध्य है और कौन बध्य! चरनदास समाज को परिष्कृत और निर्दोष रूप में देखना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने प्रत्येक जीव के प्रति उदार, दयालु क्षमाशील तथा स्नेहवान होने का उपदेश दिया। जब सभी एक ही पिता की सन्तान हैं तो किसके प्रति कपट और क्रोध धारण किया जाय और किसके प्रति औदार्य भावना?

ठोकर लगे नेकहूँ चलतै करि है प्रान पयाना रे ॥
ऐंड़ अकड़ सब छोड़ बावरे तेज तमक इतराना रे।
रंचक जीवन जगत अंचभो छिन माहीं मर जाना रे ॥
मैं मैं मैं मैं क्यों करता है माया माहिं लोभाना रे ॥
बहु परिवार देखि कै फूलो मूरख मूढ़ अयाना रे।

तथा

दम का नहीं भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिंजरे सूँ निकस जायगो पल में पंछी प्रान ॥
चलतें फिरते सोवत जागत करत खान अरु पान।
छिन छिन छिन छिन आयु घटत है होत देह की हान ॥

[1] बहु रूप बहु तरंग यह बहु चाव।
बहुत भांति संसार में करि करि घने उपाव ॥
यह मन भूत समान है दौड़े दांत पसार।
बांस गाड़ि उतरै चढ़ै सब बल जावै हार ॥

नारी—चरनदास से पूर्व और उनके युग में भी नारी का जो चित्र हमें साहित्य, धर्म और इतिहास के पृष्ठों में अभिव्यक्त मिलता है वह अत्यन्त हीनता से पूर्ण और विवशता से पूर्ण है। नित्य ही सुन्दरी दिव्यांगनाओं के प्राप्त करने के लिए बड़े बड़े युद्धों का आयोजन होता था और सहस्त्रों व्यक्तियों का बलिदान हो जाता था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि नारी को प्राप्त करने के लिए अनेक बार देश का नक्शा बदल दिया गया। भारत वर्ष में मुसलमानों के आगमन के साथ ही नारी की स्थत्ति और भी विकृतिपूर्ण हो गई। नारी के प्रति इस दूषित भावना की आलोचना चरनदास से बहुत पूर्व कबीरदास ने अत्यन्त कटु शब्दों में की थी। कबीर की परम्परा में ही चरनदास का भी आविर्भाव हुआ। उन्होंने तत्कालीन जनता को भोगलिप्सा से दूर रहने का उपदेश दिया। उन्होंने कहा कि काम की ज्वाला से सभी को दूर रहना चाहिये अन्यथा मनुष्य की वही स्थिति होती है जो दीपक पर अनुरक्त पतंगों की होती है। काम की भावना, मानव को पागल और निर्लज्ज कर देती है।[1] इसी काम के कारण समाज में अवमानना सहन करनी पड़ती है। इसी के कारण कुत्ते के सदृश द्वार-द्वार भटकना पड़ता है[2] और जीते जी नरक की यातनाओं का अनुभव करना पड़ता है।[3] काम मन को विचलित कर देता है और मन इन्द्रियों को। काम और साधना साथ साथ नहीं चल पाती हैं। परनारी का स्पर्श ही नरक ले जाने का साधन है।[4] वह नरक की खान तथा सिंह से भी अधिक भयंकर, मदार और भटकटैया से भी अधिक भयानक और विषाक्त है। इसलिए कवि ने कहा कि अरे मूर्ख! परनारी की ओर मत दृष्टिपात् कर अन्यथा तेरा जीवन विषमय हो जायगा।[5] कबीरदास की भांति चरनदास ने

---

१. यह काम कुरारे भाई। सब देवै तन बौराई।
पंचौ में नाक कटावै। वह जूती भार दिलावै॥

२. मुँह काला गधे चढ़ावै। बहु लोग तमासा आवै।
झिड़का ज्यों डोले कुत्ता। सब ही के मन सूं उत्ता॥

३. कोई नीके मुख नहि बोलै। सरमिंदा हो जग डोलै।
वह जीवत नरक मझारी। सुन चेतो नर अरु नारी।

४. पर नारी सब चेतियो दीन्हो प्रकट दिखाय।
पर तिरिया पर परुस हो, भोग नरक को जाय॥

५. जिन जिन आरे तको डायन की, बहु तन कूं गइ भखरे॥
दूध आक को पात कटैया, काल अग्नि की जानो।
सिंह मुछारे विषकारे को, ऐसे ताहि पिछानो॥
खानि नरक की अति दुखदाई, चौरासी भरमावै॥

भी नारी के भोगमय रूप की बड़ी निन्दा की है। उन्होंने भी नारी को परम्परागत विशेषण बाघिनी, सर्पिणी, मीठी छुरी आदि से सम्बोधित किया है।

चरनदास ने जहाँ एक ओर नारी के भोगमय रूप की निन्दा की, वहां उसके पातिव्रत स्वरूप की प्रशंसा भी की है। कवि के अनुसार पतिव्रता सर्वथा अभिनन्दनीय और वन्दनीय है, कारण कि वह सदैव अपने प्रियतम पर अनुरक्त रहती है। वह दूसरों के प्रतिव्यक्त अपने प्रेम, अनुराग और समस्त भावना को खींच कर पति के चरणों में केन्द्रीभूत कर देती है[1]। वह सदैव उसी एक पिया के रंग में अनुरंजित रहती है[2]। साधना के क्षेत्र में प्रत्येक व्यक्ति को पतिव्रता का सा व्रत ग्रहण करना चाहिए। जिस प्रकार पतिव्रता अपने पति पर अनुरक्त रहती है, उसी प्रकार साधक को अन्य विभिन्न देवताओं से अपना चित्त हटा कर निर्गुण परब्रह्म में नियोजित करना चाहिए[3]। पराये महल की छाँह की अपेक्षा जिस प्रकार अपने घर की धूप और दुःख को सभी सहन कर लेते हैं, उसी प्रकार पराये पति की अपेक्षा अपना पति सदैव श्रेष्ठ है। जो नारी अपने पति पर अनुरक्त है वह सतवन्ती है[4]।

इस प्रकार चरनदास के युग में नारी की दशा एवं स्थिति का जो चित्रण हुआ है वह निरा परम्परागत है। इससे स्पष्ट है कि भारतीय नारी की दुर्दशा का जो प्रारम्भ बारहवीं शती में हुआ था, वह सत्रहवीं शती तक अक्षुण्ण रूप से चला आया।

उस युग की इन परिस्थितियों ने संत चरनदास के हृदय एवं मस्तिष्क पर अपना पूर्ण प्रभाव अंकित किया। विषमताओं एवं असंगतियों को दूर करने के लिए कवि ने समता, एकता, औदार्य, क्षमा एवं दया का उपदेश जनता को सुनाया।

---

[1] पतिव्रता वह जानिये आज्ञा करै न भंग।
पिय अपने के रंग रतै और न सोहै ढंग॥

[2] अपने पिय कूं सेइये, आन पुरुस तजि देह।
पर घर देह निवारिये रहिए अपने गेह॥

[3] आज्ञाकारी पीव की रहै पिया के संग।
तन मन सूं सेवा करै और न दूजो रंग॥

[4] रंग होय तो पीव को आन, पुरुष विष रूप।
छांह बुरी पर घरन की अपनी भली जु धूप॥

द्वितीय अध्याय

चरनदास का जीवन-चरित्र

चरनदास के जीवन-चरित्र पर हिन्दी साहित्य के कतिपय पाश्चात्य एवं भारतीय इतिहासकार विद्वानों ने प्रकाश डाला है, जिनमें विशेषरूपेण उल्लेखनीय है सर्वश्री जेम्स हेस्टिंग्ज, एच० एच० विल्सन, विलियम क्रुक्स, सर ए० जा० ग्रियर्सन, क्षितिमोहन सेन, पीताम्बर दत्त बडथ्वाल, गणेश प्रसाद द्विवेदी, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, भुवनेश्वर मिश्र माधव, शिवशंकर मिश्र, सम्पादक संत-वानी-संग्रह, रामकुमार वर्मा, अयोध्या सिंह उपाध्याय "हरिऔध," तथा सम्पादक योगांक (कल्याण)। इनके अतिरिक्त साहित्य के अन्य इतिहासकारों ने भी चरनदास के जीवन-चरित्र के सम्बन्ध में अपने अभिमतों का उल्लेख किया है जो मुख्यतया इन्हीं उपर्युक्त लेखकों की रचनाओं पर आधारित है। किसी विशेष खोज का प्रतिफल न होने के कारण उनका उल्लेख महत्वहीन होगा।

चरनदास के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले अन्य व्यक्तियों में विशेष रूप से उल्लेखनीय चरनदासी-सम्प्रदाय के शिष्य कवि सर्वश्री रामरूप (साम्प्रदायिक नाम गुरुभक्तानन्द) सहजोबाई तथा शिवदयालु गौड़ (साम्प्रदायिक नाम सरस माधुरी शरण) हैं।

चरनदास के जीवन-चरित्र पर कवि की रचनाओं से एक अन्तस्साक्ष्य भी उपलब्ध होता है। यह अन्तस्साक्ष्य केवल एक छन्द में सीमित है। इसमें कवि ने केवल अपने गुरु, माता, पिता और जन्म स्थान मात्र का उल्लेख किया है। इसमें सन्, संवतों आदि का पूर्णतया अभाव है। यह अन्तस्साक्ष्य जहां एक ओर अपूर्ण प्रतीत होता है वहां दूसरी ओर हमारी खोज के विषय में अत्यधिक सहायक और ठोस आधार प्रदान करता है।

वर्तमान साहित्य के इतिहासकारों में (जिनमें पश्चात्य और भारतीय सभी विद्वान सम्मिलित हैं और जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है) सभी एकमत हैं और कवि के जीवन-चरित्र पर प्रकाश डालने वाले साम्प्रदायिक लेखकों (श्री रामरूप गुरुभक्तानन्द, श्री सहजोबाई रूप माधुरी तथा श्री शिव दयालु गौड़, सरस माधुरी शरण) से सहमत हैं। इन विद्वानों ने कहीं पर भी कोई

मतभेद उपलब्ध नहीं होता है। अतएव कवि की जीवनी निश्चित करने में कोई विशेष कठिनाई और दुविधा नहीं रह जाती है।

इस संक्षिप्त, अपूर्ण तथा अपर्याप्त अन्तस्साक्ष्य के अनन्तर, कवि की जीवनी पर सबसे अधिक प्रामाणिक ग्रंथ हैं सर्वश्री रामरूप (गुरुभक्तानन्द) कृत 'गुरु-भक्ति प्रकाश' तथा सहजोबाई का एक पद जिसमें कवयित्री ने अपने गुरु के जन्म और उसके महत्व का बड़े श्रद्धापूर्ण शब्दों में उल्लेख किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ कवि के जीवन पर गम्भीर एवं व्यापक प्रकाश डालता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' कवि की जीवनी पर सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ है। इसका उल्लेख सम्पादक 'सन्तबानी संग्रह'[1], सर जार्ज ए० ग्रियर्सन[2] एवं रूपमाधुरी शरण[3] ने भी किया है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' की प्रामाणिकता पर विचार करने के पूर्व श्री रामरूप जी के विषय में परिचय दे देना आवश्यक होगा।

रामरूप जी चरनदास जी के सर्वप्रिय शिष्य थे। श्री रूप माधुरी शरण के शब्दों में, "जब रामरूप जी दस बरस के भये तब महाराज के मन में ऐसी आई कि श्री श्यामचरनदास जी की शरण में जाके भजन करूँ, सो रामरूप जी श्री महाराज की शरण में आ गए श्री महाराज ने कृपा करके मंत्रोपदेश किया, कंठी तिलक दिया और बड़े प्रेम से अपने पास रक्खे और बेग ही आपको पढ़ा लिया, ज्ञान, ध्यान, योग, सब सिखला दिया और प्रेम में डुबो दिया और आपको अपने ग्रन्थ की सेवा सौंपी सो रामरूप जी ग्रन्थ लिख-लिख के भक्तों को बाँट देते......सो रामरूप जी श्री महाराज के ऐसे कृपापात्र भये इनकी महिमा कहाँ तक लिखे।[4]"

---

1. चरनदास जी की बानी, प्रथम भाग, बेलवेडियर, प्रेस। १६०८। पृष्ठ २, भूमिका खंड
2. इन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एंड एथिक्स, जे० हेस्टिंग्ज, भाग ३, पृष्ठ ३६५
3. श्री महाराज ने आपको गुरु भक्तानन्द नाम दान दिया और फिर एक दिन बहुत प्रसन्न होके आज्ञा दीनी कि तुम वाणी रचो सो श्री स्वामी रामरूप जी महाराज ने श्री मुक्ति मार्ग ग्रन्थ की रचना करी बड़ी ही प्रभावशाली आनन्द की भरी हुई बानी है। दूसरा ग्रन्थ श्री गुरु भक्ति प्रकाश बनाया जिसमें श्री महाराज का जीवन चरित्र वर्णित है।

   महन्त गंगादास के पास सुरक्षित अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु-महिमा'
4. 'गुरु-महिमा' (अप्रकाशित) ग्रन्थ से

श्री रूप माधुरी शरण के द्वारा दिए गए इस परिचय से प्रकट होता है कि रामरूप जी चरणदास जी के बड़े ही प्रिय शिष्य थे। सम्प्रदाय के वर्तमान शिष्यों में भी यही भावना प्रचलित है। रामरूप जी ने स्वतः 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में आत्म-परिचय का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है। रामरूप जी के आत्म परिचय से रूप माधुरी शरण के उपर्युक्त उद्धरण में प्रतिपादित विचार-धारा और अभिमत का समर्थन होता है।

अठारह से अरु ग्यारहवें संवत की यह बात।
रामरूप भये वैष्णव छाड़ि मोह जग जात॥
महाराज हित करि बैठाया। बांधी कंठी तिलक लगाया॥
मंतर सरवन माहि सुनाया। नीकी विधि नित नेम बताया॥
शील प्रसाद आपना दीया। सबही भांति दास मोहि कीया॥
फिरि मोको लिया बेग पढ़ाया। दीने आसन भी सधवाया॥
योग विद्या सबै संधाई। ज्ञान भूमिका हू समझाई॥
अपना मंत्री ही किया दिया निकट विश्राम।
गुरु भक्तानन्द नाम रखि दिया ग्रन्थ का काम॥
दिन दिन प्यार हेतु बहुत करै। पच्छी की ज्यों पंजा धरै॥
कमठ दृष्टि हो देखे मोय। अंडे की बुधि दीनी खोय॥
पर काठे पच्छी की भांति। साध मते की आई शांति॥
होय भिरंगी मोको सेया। प्रेम सुधा में अधिकी भेया॥
उपदेश करन की आज्ञा दीनी। मैंहूँ सो माथे धरि लीनी॥
चरण कमल का राखूं ध्यान। गुरु सेवा बिन और न आन॥
पन्द्रह वर्ष सेवन चित्त दीना। बिन आज्ञा कोई काज न कीना॥
पन्द्रह वर्ष ही पास रख फिर आज्ञा दई जाव।
तारन तरन कहाय के भूले जीव चिताव॥
हित सो पास बुलाय के टोपी धर कर शीश॥
नाव जु रामरूप मोहिं किया बकशीश॥
... .
गुरु भक्तानन्द रामरूप ये दो बकसें नांव।
चरणदास के नाम पर बार बार बलि जांव॥

इन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रामरूप जी चरनदास जी के बड़े कृपा-पात्र थे और लगभग १५ वर्ष तक दोनों व्यक्तियों का बड़ा निकट सम्पर्क रहा। चरनदास के प्रिय शिष्यों में रामरूप जी का सर्वप्रथम उल्लेख होता है। उपर्युक्त उद्धरण को पढ़ने से ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने रामरूप जी का पालन-पोषण

शिक्षा-दीक्षा बड़े ध्यान और लगन के साथ किया था। रामरूप जी का दीक्षा-संस्कार संवत १८११ में हुआ। इस समय चरनदास जी की अवस्था ५१ वर्ष की थी। साधन-पथ पर अग्रसर हुए उन्हें प्रायः ४० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। रामरूप जी ने श्रुतज्ञान और अनुभूति के आधार पर चरनदास जी का जीवन-चरित लिखा। चरनदासी-सम्प्रदाय में उल्लेख हो चुका है कि चरनदास जी ने अपने सम्प्रदाय की स्थापना लगभग सन् १७३८ में (संवत् १७९५) में की थी और रामरूप जी की दीक्षा तिथि संवत् १८११ है। अतएव निश्चित है कि रामरूप जी ने 'गुरु-भक्ति प्रकाश' की रचना पर्याप्त अनुभव, नैकट्य एवं सम्पर्क प्राप्त करने के पश्चात् की। ग्रन्थ की रचना के विषय में रामरूप जी के विचार पठनीय हैं। इन विचारों की व्याख्या से प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता और भी दृढ़ हो जाती है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' के प्रारम्भ में ग्रन्थ के रचना का लक्ष्य और प्रसंग का उल्लेख करते हुए कवि रामरूप जी ने लिखा है :—

एक दिना मम हिये में ऐसी उपजी बात।
मन हरषों हुलसो हियो यही करन कूँ काथ॥
रामत में रमता हुता ह्वाँई उठा विचार।
लीला गुरु चरित्र की कछुक कहूं उच्चार॥
गुरु भाई जो संग थे जिन सूं पूछी बात।
मेरे मन यही बासना कहूँ जु ऐसी काथ॥
यह सुन सब परसन भये दई जु अज्ञा मोहि।
हत्थ जोड़ फिर मैं कही तुम्हरी किरपा होहि॥
अरु गुरु भाई दूर थे छोटे बड़े जु जान।
उनके चरणन को हिये मैं करि लीनो ध्यान॥
ध्यान माहिं मैं या कहीं यही जु मेरी बास।
तुम सब गुरु समान हो पूरी कीजै आस॥
आयुष ले पोथी कही सो अब करूँ बखान।
सावधान होके सुनो सब ही संत सुजान॥
अठारह सै छब्बीस ही संवत था वह द्यौस।
जब ही सूं कहने लगा अपने मन की हौस॥
साढ महीना शुक्ल पक्ष वृहस्पति वारी तीज।
कछुक वाही दिन विषे बोया याका बीज॥
अनभै सींचन ही लगी बढ़ने लगी पौध।
पुस्तक बनने ही लगा अक्षर बिन्दी शोध॥

शिक्षा-दीक्षा बड़े ध्यान और लगन के साथ किया था। रामरूप जी का दीक्षा-संस्कार संवत १८११ में हुआ। इस समय चरनदास जी की अवस्था ५१ वर्ष की थी। साधन-पथ पर अग्रसर हुए उन्हें प्रायः ४० वर्ष व्यतीत हो चुके थे। रामरूप जी ने श्रुतज्ञान और अनुभूति के आधार पर चरनदास जी का जीवन-चरित लिखा। चरनदासी-सम्प्रदाय में उल्लेख हो चुका है कि चरनदास जी ने अपने सम्प्रदाय की स्थापना लगभग सन् १७३८ में (संवत् १७९५) में की थी और रामरूप जी की दीक्षा तिथि संवत् १८११ है। अतएव निश्चित है कि रामरूप जी ने 'गुरु-भक्ति प्रकाश' की रचना पर्याप्त अनुभव, नैकट्य एवं सम्पर्क प्राप्त करने के पश्चात् की। ग्रन्थ की रचना के विषय में रामरूप जी के विचार पठनीय हैं। इन विचारों की व्याख्या से प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रामाणिकता और भी दृढ़ हो जाती है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' के प्रारम्भ में ग्रन्थ के रचना का लक्ष्य और प्रसंग का उल्लेख करते हुए कवि रामरूप जी ने लिखा है :—

एक दिना मम हिये में ऐसी उपजो बात।
मन हरषों हुलसो हियो यही करन कूँ काथ॥
रामत में रमता हुता ह्वांई उठा विचार।
लीला गुरु चरित्र की कछुक कहूं उच्चार॥
गुरु भाई जो संग थे जिन सूं पूछी बात।
मेरे मन यही बासना कहूँ जु ऐसी काथ॥
यह सुन सब परसन भये दई जु अज्ञा मोहि।
हत्थ जोड़ फिर मैं कही तुम्हरी किरपा होहि॥
अरु गुरु भाई दूर थे छोटे बड़े जु जान।
उनके चरणन को हिये मैं करि लीनो ध्यान॥
ध्यान माहिं मैं या कहीं यही जु मेरी बास।
तुम सब गुरु समान हो पूरी कीजै आस॥
आयुष ले पोथी कही सो अब करूँ बखान।
सावधान होके सुनो सब ही संत सुजान॥
अठारह सै छब्बीस ही संवत था वह द्यौस।
जब ही सूं कहने लगा अपने मन की हौस॥
साढ महीना शुक्ल पक्ष वृहस्पति वारी तीज।
कछुक वाही दिन विषे बोया याका बीज॥
अनभै सींचन ही लगी बढ़ने लगी पौध।
पुस्तक बनने ही लगा अक्षर बिन्दी शोध॥

उपर्युक्त उद्धरण में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य हैं। सर्वप्रथम यह कि ग्रन्थ का रचनाकाल बृहस्पतिवार तीज, अषाढ़ शुक्ल पक्ष संवत् १८२६ है। इतिहासकारों के मतानुसार चरनदास की मृत्यु-तिथि संवत् १८३६ है। इसका तात्पर्य यह है 'गुरु-भक्ति प्रकाश' ग्रन्थ की रचना, चरनदास के जीवन-काल में ही मृत्यु से १३ वर्ष पूर्व प्रारम्भ हो चुकी थी। अतः चरनदास के सर्वप्रिय एवं सबसे निकट शिष्य द्वारा उन्हीं के जीवन-काल में लिखित जीवन-चरित के विषय में कोई सन्देह का अवसर नहीं रह जाता है। इस दृष्टिकोण से भी रामरूप जी का प्रस्तुत ग्रन्थ सबसे अधिक अधिकृत सूत्र है, जिसके आधार पर हम कवि का चरित्र या चरित निश्चित कर सकते हैं। उद्धरण की अंतिम पंक्ति से स्पष्ट है कि रामरूप जी ने ग्रन्थ के शुद्ध-लेखन के प्रति विशेष ध्यान रखा था। यह तथ्य ग्रन्थ की प्रामाणिकता को और भी पुष्टि प्रदान कर देता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में यत्र-तत्र अतिरंजना भी उपलब्ध होती है। वर्णन में अतिरंजना विशेष रूपेण दो स्थलों पर प्राप्त होती है। प्रथम है चमत्कारों के वर्णन में और द्वितीय है चरनदास की ख्याति के विषय में। इसका मुख्य कारण यह है कि राम रूप जी चरनदास के प्रिय तथा भक्त-हृदय व्यक्ति थे। गुरु के प्रति शिष्य की श्रद्धा होना बहुत ही स्वाभाविक बात है। अतएव अतिरंजना पूर्ण स्थल, वर्णित तथ्यों एवं घटनाओं के मूल्यांकन में किसी प्रकार भी बाधक नहीं सिद्ध हो सकते।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' एक प्रकाशित रचना है। परन्तु इस ग्रन्थ की अनेक हस्तलिखित प्रतियां उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ के लेखक को दिल्ली में इस 'गुरु भक्ति प्रकाश' की ४ प्रतियां, कानपुर में एक प्रति, लखनऊ में एक प्रति, बनारस में एक प्रति उपलब्ध हुई है। ज्ञात हुआ है कि बहादुरपुर, डेहरा, अलवर और अजमेर प्रदेश में इस ग्रन्थ की प्रतियां घर-घर में उपलब्ध होती हैं। इस ग्रन्थ का पाठ इन प्रदेशों में उसी प्रकार होता है जैसे अवध प्रदेश के श्रद्धालु और भक्त हिन्दू गृहस्थों के यहां 'राम-चरित्र मानस' का पाठ होता है। इस ग्रन्थ के लेखक ने स्वयं दिल्ली में महन्त गुलाब दास, महन्त गंगादास तथा श्री गणेशदत्त मिश्र के यहां चार भिन्न-भिन्न प्रकार की हस्तलिखित प्रतियां देखी है। इन समस्त प्रतियों में श्री गणेशदत्त मिश्र की प्रति सबसे प्राचीन है। इस प्रति का प्रतिलिपि काल चरनदास की मृत्यु (संवत १८३६) के तीन वर्ष बाद संवत १८४२ है इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता अजपादास जी थे। श्री रूप माधुरी शरण अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु-महिमा, में अजपादास जी का परिचय निम्नलिखित शब्दों में दिया हुआ है।

"अजपादास जी श्री रामरूप जी महाराज के परम प्रिय शिष्य भये, श्री गुरु महाराज की शरण में आके दिन रैन भजन स्मरण में व्यतीत करते, श्री स्वामी

जी की कृपा से प्रेम की लगन हृदय में अत्यन्त बाढ़ी.....सो श्री अजपादास जी श्री स्वामी जीके ऐसे कृपापात्र भये जिनको आपने साक्षात्‌दिव्य रूप के दर्शन कराये, इनकी महिमा कहां तक लिखें।"

इस प्रति को अजपादास जी ने स्वपठनार्थ प्रस्तुत किया था जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है।

"इति श्री गुरुभक्तानंद किरत गुरुभक्ति प्रकास सम्पूरन स्वपाठार्थ लिखा संवत् १८४२ फागुन शुक्ल पक्षे। जैसा देखा वैसा लिख दिया। मम दोष न दीयते। जै श्री गुरु महाराज चरनदास जी। जै गुरु महाराज श्री गुरु भक्तानन्द जी महाराज।"

इस प्रति और प्रकाशित प्रति में विषय सम्बन्धी कोई विशेष अन्तर नहीं है। फिर भी लेखक ने श्री अजपादास द्वारा प्रस्तुत की गई इस प्रति को अपने अध्ययन का आधार बनाया है। अतएव इसी प्रति के आधार पर हम कवि की जीवनी और चरित को लिपिबद्ध करने का प्रयत्न करेंगे।

चरनदास का जन्मस्थान

चरनदास का जन्म-स्थान मेवात प्रदेशान्तर्गत अलवर नगर से तीन कोस दूर डेहरा नामक ग्राम है। इस सम्बन्ध में चरनदास जी लिखित एक अन्तस्साक्ष्य विचारणीय है। कवि के शब्दों में।

डेहरे मेरो जन्म नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात दूसर पहिचानो॥
बाल अवस्था माहिं बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले शुकदेव नाम चर्णदास धरायो॥
जोग जुगति कर भक्ति कर ब्रह्म ज्ञान दृढ़ कर गह्यो।
आतम तन विचार के अजपा ते तनमन रह्यो॥

प्रस्तुत उद्धरण की प्रथम पंक्ति में कवि ने अपना जन्म स्थान डेहरा ग्राम लिखा है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' के लेखक ने कुछ विस्तार के साथ कवि के जन्म-स्थान का परिचय निम्नलिखित शब्दों में किया है।

मेवत देश में अलवर पासा।
डेहरा गांव जु अधिक सुबासा॥
ताके निकटै सरिता बहै।
जित की सृष्टि महासुख लहै॥

आस पास बहु बाग सुहावै ।
फूलै फलै हरष छवि छावै ॥
ताके जन्म लियो सुखदाई ।
रामरूप तिकी शरणाई ॥

रामरूप जी की भांति चरनदासी-सम्प्रदाय के अन्य कवियों और लेखकों में सहजोबाई[1], रूपमाधुरी शरण[2] तथा शिव दयालु गौड़[3] उल्लेखनीय हैं। इन लेखकों ने भी कवि का जन्म स्थान डेहरा ग्राम ही माना है। क्षितिमोहन सेन[4] जेम्स हेस्टिंग्ज,[5] पीताम्बर दत्त बडथ्वाल,[6] विलियम क्रुक्स,[7] ग्रियर्सन,[8] गणेश

---

१. सखी री, आज धन धरती धन देसा ।
धन डेहरा मेवात मंझारे, हरि आए जन भेसा ॥

२. सो श्री श्याम चरणदास जी महाराज श्री शुकदेव सम्प्रदाय के प्रवर्त्तकाचार्य मेवात देश में अलवर से तीन कोस डेहरा नाम के ग्राम में प्रगट भये।
गुरु महिमा (अप्रकाशित ग्रन्थ)

३. नाम ग्राम डहरे विषै, घर घर मंगल चार ।
विविध बधाई गुनिनमिल, गाई भली प्रकार ।

४. In 1703 Charan Das was born in a village named Dabra (or Dehra) in the Alwar State of Rajputana.
The Medieval Mysicism of India, p-145

५ He was born at Dahera in Alwar and was named Ranjit by his parents
Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol. 3, p-366

६ Charan Das was a Dhusar Bania who was born at Dehra in Kotwa (Rajputana) in 1703.
Nirgun School of Hindi Poetry, p- 266

७ A Vaishnava sect which takes it name from its founder Charan Das of Dhusar Caste who was born at Dehra in Alwar State in 1703.
Tribes and Castes of N. W. P. and Oudh,
W. Crooks, p-201

८ He was born at Dahera in Alwar and was named Ranjit by his parents.
'श्री-शुकदेव-सम्प्रदाय-प्रकाश,' पृष्ठ ४

प्रसाद द्विवेदी,[1] प्रभुदत्त ब्रह्मचारी,[2] रामकुमार वर्मा,[3] सम्पादक संतबानी संग्रह,[4] शिव शंकर मिश्र[5] सम्पादक योगांक (कल्याण)[6] तथा माधव[7] उक्त मत समर्थक है।

चरनदास का जन्मकाल

चरनदास के जन्मकाल के विषय में कोई अन्तस्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता। ऊपर कहा जा चुका है कि साम्प्रदायिक विद्वानों में सबसे प्रामाणिक मत श्री रामरूप जी का है। रामरूप जी के मतानुसार चरनदास का जन्म मंगलवार भादौं सुदी तीज संवत १७६० वि० को सूर्योदय के सात घड़ी (घण्टा) पश्चात तुला लग्न में हुआ। रामरूप जी के ही शब्दों में।

भादौं तीज सुदी जबै आया मंगल द्यौस।
माता पिता अरु कुटुम्ब की पूरी कीनी हौस॥
सात घड़ी सूरज चढ़े लियो भक्त औतार।
नर नारी पुल्कित भये करन लगे त्यौहार॥

---

१. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २-३

२. राजपूताने के मेवात देश में डेहरा नाम का एक ग्राम है। उस ग्राम में दूसर बनियां के बहुत से घर हैं। उन्हीं परिवारों से एक परिवार में मुरली नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए...कुंजों के गर्भ से बालक उत्पन्न हुआ।
भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

३. ये संत डेहरा (अलवर) के निवासी थे।
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण पृष्ठ ४०५

४. गुरु चरनदास जी का जन्म राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामी गांव में एक प्रसिद्ध दूसर कुल में हुआ था...चरनदासजी की बानी, प्रथम भाग पृष्ठ १

५. इस पंथ के स्थापक का जन्म अलवर के निकटवर्ती डेहरा नामक ग्राम में हुआ था।
भारतवर्ष का धार्मिक इतिहास, पृष्ठ ३३२

६. चरनदास जी का जन्म संवत् १७६० में राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामक गाँव में दूसर कुल में हुआ था।
कल्याण योगांक, पृष्ठ ८१६

७. महात्मा चरनदास जी उन्हीं आत्मदर्शी संतों में हैं जिन्होंने परमात्मा के परिचय में ही अपना सारा जीवन लगाया। मेवात (राजपूताना) के डेहरा गांव में इनका जन्म १७६० वि० सं० के लगभग हुआ था।
संत साहित्य, पृष्ठ १११

सत्रह सै अरु साठ का संवत् धरा बनाय ।
भादौं तीज सुदी शुभ मंगल सात घड़ी दिन आय ॥
शुभ समय तुला राशि रख नाम धरा रणजीत ।
है है बड़ा नक्षत्री दाता हरि का मीत ॥

उपर्युक्त उद्धरण में रामरूप जी ने विस्तार के साथ जन्म-तिथि, संवत्, दिन, बार, लग्न और समय का बड़े स्पष्ट और सुव्यवस्थित रूप से उल्लेख कर दिया है। चरनदास के चरित पर अन्य किसी लेखक ने इतने विस्तार के साथ अपने अभिमत का उल्लेख नहीं किया है।

सहजोबाई ने अपने सद्गुरु चरनदास के जन्मकाल का तो उल्लेख किया है, परन्तु जन्म-संवत का उल्लेख नहीं किया है, जैसा कि प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होता है।

सखी री आज धन धरती धन देशा।
धन डेहरा मेवात मंझारे, हरि आए जन भेसा ॥
धन भादों धन तीज सुदी है, धन दिन मंगल कारी ॥

इस उद्धरण की अंतिम पंक्ति में कवयित्री ने भादों तीज सुदी मंगलवार चरनदास की जन्म तिथि निश्चित की है। सहजोबाई लिखित यह तिथि रामरूप जी लिखित तिथि से पूर्ण साम्य रखती है। अतएव संवत का उल्लेख न होते हुए भी दोनों के मत में पूर्णरूपेण साम्य है। रूप माधुरी शरण के अनुसार, "संवत् १७६० भादों सुदी ३ मंगलवार को सात घड़ी सूरज चढ़े आपने जन्म लिया। आपके जन्म के समय भुवन में चन्द्रमा का सा प्रकाश हो गया और देवताओं के मुख से वेद ध्वनि सुनाई दई।"[1] प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि रूप माधुरी शरण का रामरूप जी से पूर्ण मत-साम्य है। चरणदासी शिष्यों के मत परीक्षण में शिवदयालु गौड़ का मत भी विचारणीय है। गौड़ जी के मत से चरनदास का जन्मकाल वही है, जिसका उल्लेख रामरूप जी अथवा सहजोबाई ने किया है। प्रमाण के रूप में लेखक की निम्नलिखित पंक्तियों को उद्धृत करना असंगत न होगा।

भादों शुक्ला तीज को, कुंजो कुख मंझार।
बालनाम रणजीत धर, प्रकटे कृष्ण मझार ॥
संवत सत्रह सौ गिनो, ऊपर साठ पिछान।
प्रकटे भार्गव वंश में, कृष्ण वंश प्रभु आन ॥

१. गुरु महिमा (अप्रकाशित ग्रन्थ)

वर्तमान काल के लेखकों में क्षितिमोहन सेन[१], जेम्स हेस्टिंग्ज,[२] विलियम क्रुक्स[३], सर जार्ज ग्रियर्सन[४], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[५], गणेश प्रसाद द्विवेदी[६], प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[७], रामकुमार वर्मा[८],भुवनेश्वर माधव[९],सम्पादक संत-वानी-संग्रह[१०] एवं सम्पादक योगांक (कल्याण)[११] का 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' के लेखक श्री रामरूप जी से पूर्ण मत-साम्य है। इनमें से अधिकांश लेखकों ने जन्म-संवत मात्र का उल्लेख

---

१. In 1703 Charan Das was born in a village named 'Dahra... in the Alwar State of Rajputana.

The Medieval Mysticism of India by K. M. Sen, p. 145

२. Charan Das was born in A 1703 and died in 1782.

The Eneyclopedia of Religion and Ethics by James Hastings, Vol. 3, p. 365

३. A Vasshnava Sect which takes its name from its founder Charan Das of Dhusar Caste who born at Dehra in Alwar State in 1703.

Tribes and Castes of N.W.P. and Oudh, Vol. II, p. 201

४. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश' पृष्ट २

५. Charn Das was a Dhusar Bania who was born at Dehra in Kotwa (Rajputana) in 1703.

Nirgun School of Hindi Poetry p. 266

६. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

७. संवत् १७६० में भाद्रपद शुक्ल तृतीया मंगलवार के दिन भाग्य मुरलीधर के··· ···बालक उत्पन्न हुआ।

भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

८. इनका जन्म संवत् १७६० में हुआ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास। द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४०५

९. मेवात (राजपूताना) के डेहरा गांव में इनका जन्म १७६० वि० स० के लगभग हुआ था।

'संत साहित्य' पृष्ठ १११

१०. गुरु चरनदास जी का जन्म···दिन भादों सुदी ३ मंगलवार संवत १७६० विक्रमी मुताबिक सन् १७०३ ईसवी के था।

चरनदास जी की वानी भाग १, पृष्ठ १

११. चरनदास जी का जन्म संवत १७६० में···हुआ था।

योगांक (कल्याण) पृष्ठ ८१६

कर दिया है और कुछ ने तिथि-वार का भी उल्लेख किया है। जो भी हो, उनके दृष्टिकोण में कोई मत-वैषम्य नहीं उपलब्ध होता है।

माता-पिता

चरनदास की माता का नाम श्रीमती कुंजो देवी और पिता का नाम मुरलीधर जी था। चरनदास की जीवनी पर प्रकाश डालने वाले सभी लेखक इस विषय पर एक मत हैं। चरनदास ने आत्मपरिचय देते हुए अपने पिता का नाम मुरलीधर स्वीकार किया है।[1] परन्तु आश्चर्य का विषय है कि उन्होंने अपनी माता का नाम नहीं लिखा है। इस विषय पर रामरूप जी ने 'गुरुभक्ति-प्रकाश' में सविस्तार प्रकाश डाला है। कवि की निम्नलिखित पंक्तियों से चरनदास के वंश-वृक्ष का अच्छा परिचय प्राप्त होता है।

सूबस बास बहुत सुखदाई। जहा विराजै शोभन राई ॥
गृहस्थ आश्रम ही के माहीं। ऐसी प्रेम भक्ति जिन पाहीं ॥
तिन सो चतुरदास भये ज्ञानी। ताके सुत गिरिधर परमानी ॥
गिरिधर के लाहड़ बड़ भागी। नवधा भक्ति मांहि अनुरागी ॥
जगनदास तिनके सुत जानौ। उनके प्रागदास पहिचानौ ॥
जिनके मुरलीधर सुत भये। सो भी सदा भक्ति में रहे ॥
ताके जनम लियो सुखदाई। रामरूप तिनकी शरणाई ॥

इस वर्णन के आधार पर चरनदास के पितृपक्ष का निम्नलिखित वंशवृक्ष प्रस्तुत किया जा सकता है।

शोभन राय
|
चतुरदास
|
गिरिधर
|
लाहड़
|
जगनदास
|
प्रागदास
|
मुरलीधर
|
चरनदास (अथवा रणजीत)

---

१. डेहरे मेरे जन्म नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान जात द्वूसर पहिचानौ ॥

रामरूप जी के मतानुसार चरनदास की माता कुंजों देवी थी जैसा कि निम्नलिखित उदाहरण से ज्ञात होता है।

कुंजों माई अति बढ़ भागी। सदा रहै मन में अनुरागी ॥
सती सुभाव शील में ऊंची। मधुर वचन भोलापन सूची ॥

सहजोबाई ने बड़े ही ललित शब्दों में माता कुंजों तथा पिता मुरलीधर को अभिनन्दित किया है, जिनकी कोख में चरनदास जैसा यशस्वी तथा तपस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ।[१] रूपमाधुरी शरण[२] तथा शिवदयालु गौड़[३] भी इस विषय पर एकमत हैं। इन दोनों व्यक्तियों ने चरनदास के जन्म से सम्बन्धित दो रोचक कथाओं का भी उल्लेख किया है जिससे इस तर्क के युग में श्रद्धा और भावना की वस्तु निर्धारित होती है।

चरनदास के माता-पिता, उनके नाम और व्यक्तित्व के विषय में सर्वश्री क्षितिमोहन सेन[४], जेम्स हेस्टिंग्ज[५], विलियम क्रुक्स[६], जार्ज ग्रियर्सन[७], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[८], गणेशप्रसाद द्विवेदी[९], रामकुमार वर्मा[१०], प्रभुदत्त

---

१. धन माई कुंजो रानी धन मुरलीधर तात ॥

२. "श्री शोभन जी भक्त को जो बरदान श्री ठाकुर जी ने दिया था कि तेरी आठवीं पीढ़ी में मैं अंशरूप से अवतार लेऊँगा, सोई शोभन जी आठवीं पीढ़ी में श्री महाराज श्यामचरणदास जी अवतेरे। आपके पिता का नाम श्री मुरलीधर और माता का नाम कुंजोरानी था।"

३. शोभन जी के कुल विवै, अष्टम पीढ़ी अन्त ॥
मुरलीधर घर प्रगट भे, श्याम रूप धर सन्त।
स्वप्न मांहि दर्शन दिये, कुंजो को श्री श्याम।
तुमरे प्रगटं पुत्र हो, सुनहु मातु सुख धाम ॥

४. Medeival Mysticism of India by K.M. Sen 145

५. His father's name was Murli Dhar and his mothers, Kunjo.
Encyclopedia of Religion and Ethics. James Hastings
Vol. 3, p. 366

६. His father Murli Dhar who died when he was only five years old......
Tribes and Castes of N.W.P. and Oudh, p. II. page 201

७. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश,' पृष्ठ ५

८. His father's name was Murli Dhar and mother's Kunjo.
Nirgun School of Hindi poetry, p.266

९. हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

१०. इनके पिता का नाम मुरली था जो धूसर बनिया थे......
हिन्दीसाहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, संस्करण २, पृ० ४०५

ब्रह्मचारी[1], सम्पादक संतबानी[2] तथा सम्पादक योगांक[3] (कल्याण) एकमत से रामरूप जी के अभिमत से सहमत है। इन लेखकों में क्षितिमोहन सेन, विलियम बुक्स, रामकुमार वर्मा, तथा सम्पादक योगांक (कल्याण) ने केवल इनके पिता के नाम का उल्लेख किया है। परन्तु पिता के व्यक्तित्व के विषय में पूर्णतया सहमत है।

जातिः—

संत कबीर के मतानुसार :—

जाति न पूंछो साधु की पूंछो उसका ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ी रहन दो म्यान ॥

और संत दादू के शब्दों में:—

जे पहुँचे ते कहि गये तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात ॥

सत्य तो यह है कि जिन्होंने स्वतः अपने शरीर, संसार, बन्धु-बांधवों का परित्याग जीते जी कर दिया है,उनके लिये क्या जाति क्या वर्ग ? परन्तु सैकड़ों वर्षों से प्रयत्नशील रहने पर भी हम आज उस बन्धन को तोड़ कर ऊपर नहीं उठ पाये। हमारा समाज उसी अभिशाप से आज भी अभिशप्त है जिससे कबीर का समाज व्यथित था। जाति-पांति की भावना छाया के समान हमारे साथ सदैव से लगी चली आ रही है।

चरनदास जी का जन्म दूसरे वैश्य-कुल में हुआ था। आत्म-परिचय में स्वतः कवि ने कहा है :

डेहरे मेरो जनम नाम रणजीत बखानो।
मुरली को सुत जान-जात दूसर पहिचानो ॥

सहजोबाई ने भी चरनदास को दूसर वैश्य कुलोत्पन्न माना है—

धन दूसर कुल बालक जनम्यौं, फुल्लित भए नर नारी।

रामरूप जी ने अपने गुरु की जाति का उल्लेख करने का कहीं भी प्रयत्न नहीं किया है। रूप माधुरी शरण के मत से "श्री श्यामाचरण

---

१. उन्हीं परिवारों में से एक परिवार में मुरलीधर नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए………उनकी धर्म पत्नी का नाम कुंजो देवी थी……………………
भक्त चति वली, भाग १, पृष्ठ ३४२

२. इनके पिता का नाम मुरलीधर और माता का कुंजों था।
चरनदास जी की वानी, प्रथम भाग, पृष्ठ १

३. इनके पिता मुरलीधर जी की प्रवृत्ति सुमिरन ध्यान की ओर ही थी……
योगांक (कल्याण) पृष्ठ ८१६

दासाचार्य जी भृगु ऋषि के वंश में प्रगट भये ताते भार्गव ब्राह्मण कहाये और ढूसर आपको इस वास्ते कहते हैं कि भृगु जी की स्त्री पुलोमा श्री च्यवन ऋषि की माता उसके नेत्रों से एक समय आंसुओं की धारा ऐसी चली कि उससे एक नदी बह चली। उस नदी का नाम (वधूसरा) कहा गया। उस बधूसरना नाम की नदी के किनारे रहने वालों का नाम (वधूसरा) भया सो यही शब्द बिगड़ते-बिगड़ते ढूसर हो गया। सो इससे ढूसर कहने लगे।"

इस तर्क को पढ़ जाने के अनन्तर भी हमारी आस्था और विश्वास कहीं पर इस बात पर नहीं टिकता कि चरनदास भार्गव या ब्राह्मण थे। पौराणिक अन्तर्गत कथाएँ चाहे जो भी हों परन्तु कवि द्वारा लिखित आत्म-परिचय और अन्तस्साक्ष्य यही निश्चय करता है कि ये ढूसर वैश्य कुलोत्पन्न थे। अंतस्साक्ष्य के अभाव में कोई भी कल्पना कर सकते थे, परन्तु इस स्थिति में कवि के शब्द ही प्रमाण हैं।

वर्तमान लेखकों में से क्षितिमोहन सेन[1] जेम्स हेस्टिंग्ज[2], जार्ज ग्रियर्सन[3] एच० एच० विल्सन[4], डब्ल्यू० कुक्स[5], रामकुमार वर्मा[6], गणेश प्रसाद द्विवेदी[7]

---

१. He came from a Bania family of Rewari and was known as Ranjit in his early life.

Medieval Mysticism of India, p. 145

२. They belonged to Dhusar tribe of the Baniya caste.

Encyclopedia of Religion and Ethics,

James Hastings, Vol. 3, p. 366

३. श्री शुकदेव-सम्प्रदाय-प्रकाश, पृष्ठ ४

४. Another Vaishnava Sect......was instituted by Charan Das a merchant of Dhusar Tribe who resided at Delhi in the reign of the Second Alamgir.

Essays and Lectures on Religion of the Hindus

Vol. I—1862 p. 178

५. A Vaishnava sect which takes its name from its founder Charan Das of Dhusar Caste......

Tribes and Castes of N. W. P. and Oudh Vol. II, p. 201.

६. इनके पिता का नाम मुरली था जो धूसर बनिया थे।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ४०५

७ हिन्दी के कवि और काव्य, पृष्ठ २०३

प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[1] तथा सम्पादक संतवानी संग्रह[2] का मत है कि चरनदास ढूसर वैश्य कुल में उत्पन्न हुए थे। पीताम्बर दत्त बड़थ्वल, भुवनेश्वर माधव तथा सम्पादक योगांक (कल्याण) इस विषय पर मौन हैं।

नाम

साहित्य के पृष्ठो में चरनदासी-सम्प्रदाय के प्रवर्तक के तीन नामों का उल्लेख मिलता है। ये तीन नाम क्रमशः रणजीत, चरनदास और श्यामाचरण-दासाचार्य है।

कवि का रणजीत नाम उसके जन्म के समय ही निर्धारित किया गया था। इसके समर्थन में रामरूप जी की पुस्तक 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से निम्नलिखित पंक्तिया उद्धृत करना असंगत न होगा।

सत्रह है अरु सात संवत धरा बनाय।
भादौं तीज सुदी शुभ मंगल सात घड़ी दिन आय॥
शुभ समय तुल राशि रख नाम धरा रणजीत।
ह्वै है बड़ा नक्षत्री माता हरि का भीत॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि जन्म के समय पर ही कवि का नाम कुल के आचार्य ज्योतिषी द्वारा रणजीत रखा गया।

रामरूप जी के मत से कवि का दूसरा नामकरण श्री सुकदेव जी ने संवत् १७७९ (१९ वर्ष की अवस्था) में दीक्षा देने के पश्चात किया। कवि का द्वितीय नाम चरणदास रखा गया।

छिपा भेद और कुछ दीया। सबविधि अपना महरम कीया।
ऐसे सतगुरु परम दयाल। अपने शिष्य को किया निहाल॥
सब विधि करि के भेटी प्यासी। संवत सत्रह सै उन्नासी॥
चैत महीने के मध्य माही। पडवा वृहस्पति वार सुहाही॥
नाम दूसरा चरन ही दासा। भक्ति मांह हूजो परकासा॥
हरि के चरण कंवल करि बासा। जग सा रहियों सदा उदासा॥

---

[1] राजपूताने के मेवात देश में डेहरा नाम का एक ग्राम में ढूसर बनियों के बहुत से घर हैं...उन्हीं परिवारों में से एक परिवार में मुरलीधर नाम के एक भाग्यवान पुरुष हुए.....

भक्त चरितावली, भाग १, पृष्ठ ३४२

[2] गुरु चरनदास जी का जन्म राजपूताना के मेवात देश के डेहरा नामी गांव में एक प्रसिद्ध ढूसर कुल में हुआ।

चरनदास जी की वानी, पृष्ठ १, भाग १

रामरूप जी के प्रस्तुत कथन का समर्थ रूपमाधुरी शरण के निम्नलिखित कथन से भी होता है।

"१६ वर्ष की अवस्था में आपने श्री शुकदेव जी से विधिपूर्वक मंत्र, कंठी, उपदेश लिया और श्यामाचरणदास नाम प्राप्त किया।"

(गुरुमहिमा)

कवि के तृतीय नाम श्यामाचरण दासाचार्य का उल्लेख श्रद्धालु अनुयायियों ने किया है, जिनमें रूप माधुरी शरण, रामरूप जी शिवदयाल गौड़ तथा अनेक अन्य व्यक्ति उल्लेखनीय हैं।

बाल्यावस्था

रामरूप जी ने चरणदास जी की बाल्यास्था का सविस्तार प्राय: ४१ पृष्ठों में वर्णन किया है। इस वर्णन में कवि ने एक वर्ष से उन्नीस वर्ष की अवस्था तक के प्रत्येक वर्ष का ब्यौरेवार वर्णन रोचक शैली में किया है। इतना विस्तृत वर्णन न तो रूपमाधुरी शरण जी ने किया है और न शिवदयालु गौड़ ने सहजोबाई ने तो इसके विषय में एक शब्द भी नहीं लिखा। राम रूप जी ने चरणदास की बाल्यावस्था और जीवन के क्रमिक-विकास के प्रति उतना ही महत्व निश्चित किया है, जितना कि युवावस्था अथवा सिद्धावस्था के प्रति महत्व प्रदान किया है।

रामरूप जी के शब्दों में चरनदास जी एक वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही बाल्य सुलभ मधुर तोतले शब्द बोलने लगे थे। दूसरे वर्ष में प्रवेश करते ही चलने की शक्ति का क्रमिक विकास हुआ। तृतीय वर्ष की अवस्था में बालक चरनदास समवयस्क बालकों में खेलने लगे और बालकों की जैसी चपलता का प्रदर्शन करने लगे। चतुर्थ वर्ष के प्रारम्भ होते ही ईश्वर का नाम जपना प्रारम्भ किया।

चरनदास बालक का यह आचरण और ईश्वर प्रेम देखकर सभी लोग आश्चर्यान्वित रह गए। ब्रह्म की नामप्रियता का यह अंकुर जो चरनदास के जीवन में चतुर्थ वर्ष से प्रारम्भ हुआ था, आगे चलकर बट वृक्ष के रूप को प्राप्त हुआ। इस दिशा में उनके हृदय में दिन-दिन नवीन उत्साह जागरित होता गया और वे ब्रह्म के प्रेम में लवलीन होते गए। पांचवें वर्ष की अवस्था में इस गति में और भी आशातीत विकास हुआ। पांच वर्ष की अवस्था में वे सूर्योदय से एक पहर पूर्व जग जाते थे और ब्रह्म के ध्यान में संलग्न रहते थे। संसार की भौतिकता में संलग्न सांसारिक माया मोहादि के आवरण में आवृत नर-नारी इस रहस्य को समझने में असमर्थ थे। लोग बालक चरनदास के इस आचरण को देखकर उन्हें बौरा और बुद्धि हीन समझते थे। जब वे समवयस्क बालकों के मध्य खेलने के लिए जाते थे तो लड़की लड़कों को बैठाकर सब से 'हरे राम' 'हरे राम' का जय करवाते थे। एक

दिन जब वे बालकों के साथ खेल रहे थे तो एक आश्चर्यजनक घटना घटित हुई।[1] अत्यंत दिव्य कांतिवान्, श्यामवर्ण, विशाल नेत्र वाला, नंगे तन, कौपीन धारण किए हुए एक व्यक्ति का आगमन् हुआ। उस व्यक्ति ने बालक चरनदास को अपने निकट बुलाया और कंधे के ऊपर बैठा लिया।[2] तदनन्तर बालक को वट-वृक्ष के नीचे लाकर उसे पेड़े प्रदान किये और उसके मस्तक के ऊपर हाथ रख कर कहा—

हंस के कहा तोहि चेला कीया। कर धरि शीश भक्ति पर दीया ॥
तारण तरण जगत में ह्वै हो। बहुत उबार जीव ले जैहो ॥
जो कोई मंत्र तुम्हारा सुनैहै। सो निहचे यमपुर नहिं जै है ॥
छत्रपती अरु राजा राया। चहिहै तुम चरणन की छाया ॥
चहु दिशि फैले भक्ति तुम्हारी। नाम जपेंगे बहु नर नारी ॥
शीश निवा सबही बर लीना। उतर गोद चरनन शिर दीना ॥

---

१. वर्ष एक के जब भये बाला। बोलै तुतले बचन रसाला ॥
दूजे वर्ष मांहि पग दीन्हा। डोलन सीखे चाल नवीना ॥
तीजा वर्ष सुहावन आया। जब लड़कों में खेलन धाया ॥
चौथे वर्ष सँभाला आपा। मुख से जपन लगे हरि जापा ॥
देखि देखि सब अचरज करैं। बड़ा अचम्भा मन में धरैं ॥
पंचवें वर्ष भई गति औरे। लखे न लोग लुगाई बौरे ॥
पहर एक के तड़के जागे। जब ही ध्यान करन को लागैं ॥
जो लड़कों के बीच ही, खेलन जावे लाल ।
और खेल भावे नहीं, गावैं गुण गोपाल ।
लड़की लड़कों को बैठावैं। हरे राम सब सो जय पावैं ॥
नदी किनारे खेल मचावै। कभू न्हाय के तिलक लगावै ॥
खेलत रहै गांव के गोरे। ठौर प्यारी सीना बोरे ॥
एक दिन अचरण भयो भारी। ये हू थे लड़कन मंझारी ॥

२. वही जगह पुरुष एक आया। ठाढ़ा होय देख हर्षाया ॥
नांगे तन कोपीन विराजे। श्याम स्वरूप अधिक छवि छाजै ॥
शीश बावरी घूंघट वारी नैन बड़े शोभा अतिभारी ॥
नैन अरु माथा दिपै, तेजवन्त अधिकाय ।
माधुरी मूरत सोहनी, सोंही लखो न जाय ॥
मुख सों वचन उचारि के, बालक लिया बुलाय ।
कांधे ऊपर ले गये, बट तर बैठे जाय ॥
कांधे से लिया गोद मंझारी। उर लाया बोले हितकारी ॥
अजगैयी पेड़े मंगवाये। दिये हाथ अरु बचन सुनायो ॥

यह घटना चरनदास की पांच वर्ष की अवस्था में वृहस्पतिवार शरद् पूर्णिमा संवत् १७६५ को घटित हुई।[1]

जीवन के छठे वर्ष में शिक्षा-दीक्षा का प्रारम्भ हुआ।[2] परन्तु यह क्रम अधिक समय तक न चला। शीघ्र ही निकट भविष्य में पठन-पाठन का कार्य समाप्त हो गया। सात वर्ष की अवस्था में एक दिन बालक चरनदास ने स्वप्न देखा कि उनके पिता से परिवार का शीघ्र ही वियोग होगा। दुर्भाग्य से शीघ्र ही यह घटना सत्य प्रमाणित हो गई।[3] पितामह प्रागदास ने बड़ी खोज की परन्तु मुरलीधर जंगल में ऐसे विलीन हो गए कि फिर दर्शन न हुये।[4] मुरलीधर के असमय और अनिश्चित स्वर्गवास से परिवार पर दुःख के बादल छा गए। सभी विरह से संतप्त हो उठे। परन्तु समय ने विरहजनित व्यथा को शनैः-शनैः कम कर दिया। माता कुंजो देवी ने अपने विरक्त हृदय को ईश्वर के चरणों में लगाना प्रारम्भ किया। एक बार कुंजो माता वैशाखी पर गङ्गा नहाने के लिये गईं। गङ्गा-स्नान के पश्चात् वहाँ से अपने पिता के घर दिल्ली गईं। यहाँ सब की सम्मति और आग्रह से कुंजों माता दिल्ली में ही रहने के लिये तैयार हो गईं। माता ने चरनदास को भी कोट कासिम से दिल्ली बुलवा लिया। सात वर्ष की

---

१. पूरनमासी शरद की दिन था वृहस्पतिवार।
महापुरुष दरशन दिये किरपा करी अपार॥
बरस पांचवे जो भया सो मैं दिया सुनाय।
छठे बरस की कहत है रामरूप जन गाय॥

२. विशेष विवरण—देखिये उसी प्रकरण के उपशीर्षक 'शिक्षा' के अन्तर्गत।

३. एक दिना सोवत सूं जागे। गोद पिता की रोवन लागे।
सुबकी लेले कहै सुनाई। हम तुम में बिछुरन अब आई॥
बार बार यह बात बखानी। कुटुम्ब लोग कछुना पहचानी।
दिना बीस में ऐसी भई। बालक ने जैसी जब कही॥

४. मुरलीधर उनमत्त सदाई। रहते हरि में ध्यान लगाई॥
एक आदमी नित रहै साथा। वह नहि होन देत था राता॥
मनुष्य सङ्ग का दूर हि बैठा। आई नींद गया वह लेटा॥
जागा तो मुरलीधर नाहीं। आया दौड़ बेग वां ठाईं॥
तणी बंधा जामा तहँ पाया। ज्यों का त्यों पटका दरशाया॥
पगड़ी शाल धोवती पाई। तबते बहुते चिन्ता आई॥
जङ्गल और पहाड़ में, ढूढ़े फिरे सब ठोर।
लोग पठाये दूर लौं, ना पाया कहि और॥
प्रागदास सोचत घर आये। वा दिन भोजन किन्हू न खाये॥
उहीं बरस में दादी दादा। तन तजि कै गये धाम अगाधा॥

अवस्था में चरनदास अपने मातामह के घर पर आकर रहने लगे।[1]

आठ वर्ष की अवस्था में माता तथा मातामह ने चरनदास की सगाई करने का बड़ा आग्रह किया। रूपमाधुरी शरण के शब्दों में, "आठ वर्ष की उम्र में जब माता तथा नाना सगाई करने लगे तो आपने नाही करी और माता को भी भगवत् भक्ति का उपदेश देके पूरण भक्त बना लाई और नाना के घर में सबको तथा नौकरों तक को हरि भक्ति सिखाई। अब आपके प्रेम की अवस्था अत्यन्त बढ़ने लगी। दिन रात ध्यान में लगे रहे और नेत्रों से श्रीकृष्ण के बिरह में अश्रुधारा बहा करें, दो-दो दिन बेसुध भवन में लेटे रहें"।[2]

कुञ्जो देवी और उनके पिता के समस्त प्रयत्न चरनदास को माया और भौतिक बन्धनों में बांधने में असफल हुए। चरनदास ने विवाह करने का विरोध किया और शिक्षा ग्रहण करने से भी इन्कार किया। प्रतिक्रिया-स्वरूप उनके नाना और माता को महती निराशा हुई।[3] माता को जब ज्ञात हुआ कि चरनदास साधु होकर संसार त्याग देना चाहता है तो वे बहुत दुखी हुईं। उसने

---

१. अपने बालक कुं हूवां छाड़ा। मात गङ्ग कूं आवन माड़ा॥
चलती चलती दिल्ली आई। हा रहते थे मां अरु भाई॥
चचा बहुत ही धन मध जानो। दीखै राय बड़ा ही मानौ॥
बहादुरपुर डहरे के पासा। वह था वतन दिल्ली सुख बासा॥
हांसूं संग लई जो माता। दो लौंडी दस चाकर साथा॥
हां रनजीत बुलाय ले, कही सवन यह बात।
किह कारन हां छोडिया, क्यों नहि लाई साथ॥
अब माता तुम ऐसी कही। तुम्हरे कहने सों ह्याँ रही।
जो तुम कही सोई मन आई। रनजीता को लेहु बुलाई॥
बीबी कुंजों ने सुन बानी। पुत्र बुलावन की मन ठानी।
लाग साथ भेजे असवारी। जा पहुँचा डहरे मंझारी॥

२. विशेष विस्तृत विवरण के लिये इसी प्रकरण का उपशीर्षक 'विवाह' देखिये।

३. सुनि कुंजों मन में मुरझाना। अब ही सूँ बोलत सुत बानी॥
ढीठ बड़ा काहूँ कि न मानै। जहाँ तहाँ अपनी ही ठानै॥
होत फकीर कहै सब आगे। डाटि सकूं नहिं डर यह लागे॥
निकस जान का भय बहु देवे। मेरी कही सीख नहिं लेवे॥
जा दिन करन सगाई आये। वा दिन भी यह कहि डरपाये॥
जो अब पढ़ने काज दबाऊँ। निकल जाय तौ फिर कह पाऊँ॥

भाँति-भाँति से साधु होने के विरुद्ध उपदेश दिया।[1] यह उपदेश सुनकर बालक चरनदास ने उत्तर दिया—

हेतु सहित सब बचन तुम्हारे। कैसे उलटूं जाय न टारे॥
माता का सा प्यार न कोई। करै न और बिचारा सोई॥
बड़ी दया मोपे तुम कीनी। अपना जान सीख मोहि दीनी॥
जो तुम सुनिकै रोष न मानौ। जो मैं कहूँ साच ही जानौ॥
जा दिन जीव देह धरि आया। कुटुम्ब लोग कोई संग न लाया॥
जीव अकेला भरमत आया। तन तजि कै भटकत ही धाया।
जीवत कष्ट जगत में पावैं। तन छूटे यमपुर को जावैं॥
जगत छोड़ विरकत जो होईं। आनन्द पद पावत है सोई॥
जो मांगे सो मगता जानौ। ताको तुम कंगाल पिछानौ॥
रूठा भूखा रोगी भया। कै कुछ नांहि कमाया गया॥
काज पेट के भेष बनाया। मागै खाय जु पालैं काया॥

इस प्रकार जीवन के आठ वर्ष व्यतीत हो गए। दिन पर दिन बालक चरनदास की मनोवृत्ति ईश्वर के चरणों में दृढ़तर होती गई। मन में सेवा भाव, दयाभाव और विश्वबन्धुत्व की भावना सुदृढ़ होती गई। भूखे-प्यासे को घर से अन्न-पानी पहुँचाने में सदैव दत्तचित्त रहते थे। नौकर-चाकर, दीन-हीन, बालक-वृद्ध सभी में

---

१. पुचकारा बैठाय करि, और कही यह बात।
तेरे भाई और न, शिर पै नाहीं तात॥
सगा चचा ताऊ कोई नाहीं। तुम ही हो दादे घर माहीं।
और मोकूं नित ही वह आसा। बड़ा भये करि है परकासा॥
बाप ददा का भवन जगै है। अरु उनका ही नाम करैहै।
अरु मैं तोहि देखि करि जीऊँ। तुझ बिन पानी कभी न पीऊँ॥
अब भी हिये कहा मम आनौ। अडकूं छोड़ सीख मेरी मानौ।
अरु ऐसी खोटी मत भाषो। अतीत होनकी मन नहि राखौ॥
अतीत होत रूठे अरु भूखे। कै तन रोग करम के दूखे।
जिनके मात पिता नहीं कोई। वे फकीर हो जावैं सोई॥
जाकू कुल की लाज न भावै। सो वह मांगि मांगि करि खावै।
लाज खोई कै घर घर डोलै। मुख सौ दीन बचन ही बोलै॥
ऐसा कबहु न भाषिये, सुनो पुत्र विशेष।
काहूँ सुनी काहूँ ना सुनी, फिर मत कहियो तेक॥

भक्ति का प्रचार करके अभिनन्दित करते रहते थे। बालक चरनदास जहाँ कह रहते वहीं भक्तिमय वातावरण का सर्जन कर देते। सभी व्यक्ति इनके निश्छल एवं सरल व्यक्तित्व से प्रभावित रहते थे। उनकी प्रतिभा और हृदय के करुणा भाव का प्रसार केवल मानव जगत तक ही नहीं सीमित थी वरन् पशु जगत भी उससे लाभान्वित होता था।[१] दस वर्ष की अवस्था में एकान्त—प्रियता एवं हरि—भक्ति भावना हृदय में और प्रगाढ़ होती गई। रामरूप जी ने इस अवस्था का निम्न-लिखित शब्दों में वर्णन किया है।

आवन जान जहाँ तहं लागे। हरि के नेह रहें नित पागे।
जावै बाग बगीचों माही। काहूँ कूं संग लेवै नाहीं॥
साधु.संत के निकटै जावै। दरशन देख बहुत सुख पावैं।
कबहूँ जावै ठाकुर द्वारे। कबहूँ बैठे सन्तों लारे॥
और भांति की बात न भावे। हरि के गुणवाद ही गावें॥

ग्यारह वर्ष की अवस्था का वर्णन रामरूप जी ने बहुत ही संक्षेप में निम्न-लिखित शब्दों में व्यक्त किया है।

बरस ग्यारवें की कहूँ अदभुत बात पुनीत।
प्रेम पौध उपजी हिये बढ़ी श्याम सू प्रीत॥
प्रेम वृक्ष बढ़ने लगा तरुण भया अतिजोर।
तन मन पै छाया पड़ी बाहर आया फेर॥

---

१. अब कहूँ नौ बरस की लीला परम पुनीत।
गली माँहि निकसन लगे महाराज रनजीत॥
सुन्दर माला कर में लीये। माथे ऊपर टीका दीये।
भूखा देख दया उपजावै। घर में से ले देदे आवैं॥
साधु रूप कूं शीश नवावें। भक्ति रीति कछु कही न जावें।
लड़कों में नहीं खेल मचावें। उलटी और भक्ति सिखलावै॥
कबहूँ दो चाकर ले लारे। जा बैठे बाजार मंझारे।
कबहूँ बैठ भवन के मांही। परमेश्वर को ध्यान लगाही॥
कथा होय नाना के हवाई। कबहूँ सुन बकूं तहं जाई।
कथा माहिं जेते नर आवें इनकी ओरी सबै लखावै॥
दाता थे धरमी उपकारी। दया लई हिंसा सब डारी।
कबहूँ माता के ढिग जावें। नारी सिमट सबै तहं आवें॥
जिनकूं हरि की भक्ति सुनावें। उनके मुख हरिनाम जपावें।
बाहर जेते चाकर होई। लागे भक्ति करन सब कोई॥

बारह वर्ष की अवस्था में ब्रह्म के रहस्य की जिज्ञासा और भी अधिक प्रबल हुई। चरनदास जिस किसी से मिलते थे उसी से पूछते थे कि "मौकूं गोविन्द कैसे सूझै" विरह की तीव्रता दिन पर दिन वृद्धिमान होती गई। कवि के शब्दों में, "रोम ही सूं अति पागे। प्रभु के ध्यान रहै नित लागे"। तथा "चलत फिरत हवांई मन राखै। श्याम मिलन बिन और न भाखै।" यह लगन की भावना यहाँ तक बढ़ती गई कि चरनदास आत्म-विस्मृति की स्थिति को पहुँच गए। भूख, प्यास, सभी कुछ भूल गए। नेत्रों से अश्रु की जल धारा अविरल रूप से प्रवाहित रखती थी। रामरूपजी ने इस स्थिति का बड़ा मार्मिक वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है।

लागा नेह देह सुध नहीं। खान और पान सबै बिसराही ॥
कबहूँ नैनन सों जलधारा। उठै प्रेम नहीं जाय संभारा ॥
श्याम मिलन की मन में आवै। घर बाहर कुछु नांहि सुहावै ॥
मिलै साधु जासूं यहि बूझै। मौकूं गोविन्द कैसे सूझै ॥
ऐसे कहि अंसुवा भरि लावै। लहरें हिये सूं उमंगी आवै ॥

इसी प्रकार चार वर्ष व्यतीत हो गए। एक दिन भक्तराज चरनदास कहीं कथा—वार्ता का आनन्द लेने के लिए गए। कथा समाप्त होने पर उपस्थित गोष्ठी में बड़े ही आर्द्र स्वर से पूछा कि, "कृष्ण मिलन को भेद बताओ। मेरे मन में दुख मिटावो।" रामरूप जी के शब्दों में।

ऐसा प्रेम देख सब छाके। इनकी ओर सकल जन ताके।
कही कि धनि धनि प्रेम तुम्हारा। यही गुपाल मिलावन हारा।
सब साधन ऐसे कहो निश्चय करि यह भेद।
गुरु बिन गोविन्द ना मिले छुटै न मन के खेद ॥

उसी दिन से (सोलह वर्ष की आयु से) चरनदास जी गुरु के उपदेश बिना व्याकुल फिरने लगे।

अब तो चैन परै नहि कैसे। जल बिन मछली तरफे जैसे ॥
चातक स्वामी बूंद कूं तरसै। ज्यों चकोर बिन चन्दा परसै ॥
जैसे पिय बिन विरहिनि दुखिया। मणि पाये बिन नाग न सुखिया ॥
ऐसी विरह अगिन तन लागी। गई भूख अरु निद्रा भागी ॥

तीन वर्ष तक चरनदास जी निरंतर अथक परिश्रम करके गुरु की खोज करते रहे। परन्तु किसी का ऐसा व्यक्तित्व न दृष्टिगत हुआ जो उनके मन और मस्तिष्क को समान रूप से प्रभावित कर सकता।[1] इस प्रकार जीवन के उन्नीस वर्ष

[1] ढूंढे योगी अरु सन्यासी। ढूढे सब मत पन्थ उदासी ॥
सतगुरु कूं ढूंढन ही लागे। ढूढे बिरकत तपसी नागे ॥
ऐसा दृष्टि न आवई जहां नवावैं माथ।
सतगुरु करि चरनों लगै शीश धरावैं हाथ ॥
दिल्ली के आसा पासी। ढूंढे गिरही अरु बनबासी ॥
लिए दीनता सबसूं बोलै। चारों दिशा ढूंढते डोलै ॥
खोज खोज पचि पचि करि हारा। लाभ मिलाय करै सुखसारा ॥

व्यतीत हो गए, चरनदास के मन में भक्ति एवं गुरु के प्रति भावना प्रगाढ़ होती गई।

गुरु

चरनदास जी के सतगुरु व्यासपुत्र शुकदेव जी माने जाते हैं। चरनदास के गुरु के विषय में प्रायः सभी विद्वानों का यही मत है। जार्ज ग्रियर्सन[१], जेम्स हेस्टिंगज[२], एच० एच० विल्सन[३], पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल[४], विलियम क्रुक[५]

तातें बिरह अग्नि तन जारे। बौरे भये देह अंग सारे॥
वस्तर पहरन की सुधि नाईं। दस दस दिवस होहि बिन खाईं॥
सुबकी लेले रोवन लागे। जग सोवे ये दुख में पागे॥
घर बाहर सब बौरा जाने। इनका भेद नहीं पहचानें॥
दो-दो मास रहे बन मांहीं। होहिं व्यतीत रात दिन हां हीं॥
ऐसे लगा वर्ष उन्नीसा। जानिकसे जहं मोरनां तीसा॥

१. In his nineteenth year, while thus roaming in acstasy he came across a holyman named Suk Deo Das at Sukra Tal, a village near Muzaffarnagar. Later legends have identified this Person as reincarnation of the famous Suka Deva who is said to have narrated the Purans. Influenced by the looking words addressed by Suk Deo, Ranjit threw himself at his feet and besought him to rective him as his disciple and to carry him across the ocean of existence...The saint...now initiated him as a disciple...Sukh Deo named his new disciple Charan Das...

श्री शुक सम्प्रदाय प्रकाश, पृष्ठ ५—६

२. Encyclopedia of Religion and Ethics, Vol. 3, p. 366
James Hastings.

३. The authorities of the sect Shri Bhagwatanb Gita of which they have Bhasha Translations,......and Dharm Jihaj in a dialogue between him and his teacher Sukh Deva the same according to the Charan Das is as the pupil of Vyas and the narrator of Purans.

Essays and Lectures on the Religion by H. H. wilson
Vol. I, p. 880

४. He claim to have been initited by Sukh Deo, the celebrated sage to whom knowledge initiated when yet in the mother's womb and who is supposed to be immortal.

The Nirgun School of Hindi poetry. Dr. P. D. Barthwal,
P. 266

५. He became a disciple of Baba Suk Deva, a religious Faqir of high religious attainment, at the age of nineteen, at Sukra Tal near Muzaffarnagar who gave him the name of Charan Das.
Tribes and Castes of N. W. P. and Oudh, p. 201

गरोश प्रसाद द्विवेदी[1], प्रभुदत्त ब्रह्मचारी[2], रामकुमार वर्मा[3], भुवनेश्वर माधव[4], सम्पादक योगांक (कल्याण)[5], तथा सम्पादक संत-वानी संग्रह[6], ने एक स्वर से शुकदेव को ही इनका गुरु माना है। स्वतः चरनदास ने स्थान-स्थान पर शुकदेव को अपने गुरु के रूप में स्वीकार किया है। इस विषय में श्री रूपमाधुरी शरण का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा :—

"११ वर्ष की अवस्था से १९ वर्ष की अवस्था तक गुरु की तलाश में रहे। जब सतगुरु कहीं नहीं मिला तो गंगा जी के तट पर प्रण करके बैठ गए कि जब सतगुरु मिलेंगे तब अन्न जल लेऊँगा। ऐसे कितने ही दिन बीत गए। तब श्री शुकदेव जी महाराज ने ध्यान में दर्शन देकर कहा शुकतारा पर आओ तब आप प्रसन्न होके शुकतारा गये वहां श्री शुकदेव जी से विधि पूर्वक मंत्र कंठी उपदेश लिया और श्यामाचरणदास नाम प्राप्त किया।[7]"

---

१. 'हिन्दी के कवि और काव्य' पृष्ठ २०३

२. कहते हैं कि इन्हें जंगल में शुकदेव मुनि मिले और उन्होंने इन्हें मंत्रोपदेश दिया। इन्होंने अपने ग्रंथों में परम गुरु शुकदेव जी की बड़ी महिमा गाई है।

'भक्त चरितावली' भाग १, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, पृष्ठ १४२

३. इन्होंने सुखदेव नामक साधु से दीक्षा लेकर अपना नाम चरनदास रख लिया था।

'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', पृष्ठ ४०५

४. कहते हैं कि उन्नीस वर्ष की अवस्था में महात्मा चरनदास जी जंगल में एकांत तपस्या कर रहे थे। उसी समय श्री शुकदेव जी ने इन्हें दर्शन दिये और मंत्र दिया। अपने पदों में भी गुरु के रूप में इन्होंने श्री शुकदेव मुनि का स्मरण किया है।

'संत साहित्य' पृष्ठ १११

५. कहते हैं कि करीब १९ वर्ष की उम्र में एक दिन आप भगवान के विरह में जंगल में रो रहे थे। उस समय प्रसिद्ध शुकदेव मुनि जी वहां प्रकट हुए और उन्होंने शब्द मार्ग का उपदेश दिया।

'योगांक' पृष्ठ ८१६

६. लिखा है कि १९ वर्ष की अवस्था में इन को जंगल में······शुकदेव मुनि मिले और शब्द मार्ग का उपदेश दिया।

'चरनदास जी की बानी' पृष्ठ २

७. गुरु प्रकाश, (अप्रकाशित रचना)

रामरूप जी ने गुरु-भक्ति प्रकाश में चरणदास जी के गुरु, उनके व्यक्तित्व और साधना आदि पर सविस्तार रोचक शैली में प्रकाश डाला है। 'गुरु-भक्ति प्रकाश के आधार पर यहां चरनदास के गुरु प्राप्ति एवं दीक्षा संस्कार का क्रम-बद्ध उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है।

तीन वर्ष तक गुरु की खोज में व्यथित चरनदास को एक दिन ध्यानावस्था में आदेश मिला कि :—

गंगा यमुना के मधि जानौ। शुक्कतार पास पहिचानौ ॥
जहां कथा शुकदेव सुनाई। राजा परीक्षित को समुझाई ॥
ताते शुक्कतार भया नाऊं। उत्तम अधिक पवित्र ठाऊं ॥
कृष्ण भक्ति के दाता सोई। फलदायक बरदायक होई ॥
उनके भावै यही निज धामा। मुक्ति करन पूरन सब कामा ॥
पौन कोस वा पास जो जाते बांई ओर।
ऊंचा टीला जानिये सहज गए वा ठौर ॥

वहां जाने पर चरनदास ने—

लखो अचानक पुरुष हूवां लघु तरवर की छाहिं।
किशोर अवस्था सावरी तन में वस्तर नाहि ॥
आसन पद्म महा दृढ किये। बैठे नैनन के पट दीये ॥
मन को हरि की ओर लगाये। ध्यान माहि अस्थिर छक छाये ॥
श्याम गात लख मनमथ लाजे। चरनकमल दोऊ अति छवि छाजे ॥
पिंगली जंघ कहा कहूँ शोभा। ता देखन कू मन रहै लोभा ॥
कमर पेट छाती अति सोहै। शोभा वरन सकै कवि कोहै ॥
आजानु बाहु बिंबगोल विराजै। दोऊ हाथ घुटनौ बैसाजै ॥
मुख दुति गाल अधिक उजियारे। बड़े नैन सुन्दर रतनारे ॥
सुनकादिक सम बाबरी राजै। मधुर शरीर निरख दुख भाजै ॥

ऐसे अलौकिक कांतिवान व्यक्ति को देखकर चरनदास का मन अत्यन्त पुलकायमान हुआ। उन्होंने अपने मन में विचार किया कि "सतगुरु कूं ढूंढत हुता सो अब लीन्हे पाय।" प्रसन्नता और श्रद्धा के आधिक्य से नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। इसके अनन्तर चरनदास ने दीक्षा देने के लिए प्रार्थना की तब :—

ऋषि ने बूटी एक तब हवाई दई बताय ।
याको पीसो तोड़ि कै फिर मोपै ले आव ॥
जब बूटी महाराज के तोडी पीसी लाय ।
सतगुरु के कर में दई चरनों शीश नवाय ॥
ऋषि ने जब परसन्न हो लिये पास बैठाय ।
हंसकर सिर नंगा किया बूटी दई लगाय ॥
सारे सिर पै लेपन कीन्ही । घड़ी एक लाये जब चीन्ही ।
फिर न्हाने की अज्ञा दई । जभी पोवटी हां इक भई ॥
भक्ति राज न्हाये तिह माही । पहले दोऊ हाथ सिर लाई ॥
मल कर सीस नीर सों धोया । उतर बाल सब निरमल होया ॥
न्हाव आय बैठे जब पास । ऋषि कहीं कंकर घिसला दासा ॥
जब ही उठ कंकर घिस लाये । आगे हाथ किया हुलसाये ॥
ऋषि कही टीका भेट कीजै । तन मन भेंट हमारी दीजै ॥
भक्ति राज ने ऐसे ही किया । टीका काढ भेंट सब दिया ॥
ले कंठी दोऊ करमे साधी । भक्ति राज के गल में बांधी ॥
माथे तिलक सिलमिली कीया । श्री जोति रेषा कहि दिया ॥
अरु गुरु मंत्र जु कान सुनाया । उतर विधि नित नेम बताया ॥

इस दीक्षा-मंत्र सुनाने के अन्तर सदगुरु ने नित्य नियम, उपासना पद्धति, प्रणवोपासना एवं प्राणायाम का मर्म बताया,[1] और दीक्षार्थी का द्वितीय नाम चरणदास रखा[2] ।

---

१. सोलह ओमकार ले पूरक कीजै धार ।
चौसठ ओमकार को कुम्भक रखो संभार ॥
फिर ओम बत्तीस ही रेचक सहज उतार ।
प्राणायाम की तीन विध यह तुम लेहु निहार ॥
ऐसे प्राणायाम ही कीजै चौबीस बार ।
सम्पूर्ण नहि हो सकै तौ आधा जु विचार ॥
पूरक बाये स्वर सों लीजे दहिने स्वर सों रेचक कीजै ॥
फिर दहिने स्वर पूरन धारो । वाये स्वर रेचक जुनिहारो ॥
ऐसे बारी बारी करिये । सुरति निरति त्रिकुटी में धरिये ॥
ताके पीछे दस ही माला । गुरु मंत्र जप होय निराला ॥

२. नाम दूसरा चरनहि दासा । भक्ति मांह हूजी परकासा ।

इस प्रकार वृहस्पतिवार, चैत परीवा संवत् १७७६ वि० को शुकदेव जी ने चरनदास जी को दीक्षित किया।[1]

शिक्षा

जीवन में छठे वर्ष का प्रभात होते ही अभिभावकों को उसे साक्षर बनाने की चिन्ता होने लगी। इस कार्य-भार का उत्तरदायित्व रणजीत के पितामह प्रागदास पर था। अतएव उन्होंने बालक को अक्षर ज्ञान के लिए चटशाला प्रेषित किया। चटशाला के आचार्य ने वर्णाक्षर लिख कर रणजीत से उन पर अभ्यास करने के लिए कहा। इसके उत्तर में रणजीत ने आचार्य से कृष्ण-भक्ति और नाम-महिमा सिखाने का निवेदन किया। आश्चर्य चकित चटशाला के आचार्य बालक रणजीत को उसके अभिभावक पितामह के पास ले गए और शिक्षा के क्षेत्र में बालक की असफलता की भविष्यवाणी की।[2]

परन्तु पितामह को फिर भी आशा बनी ही रही। उन्होंने एक द्वितीय प्रयत्न किया। उन्होंने एक दूसरे चटशाला के आचार्य को इस काम का भार दिया और उससे साम, दाम, भय अथवा भेद हर प्रकार से बालक को सभी आवश्यक शिक्षा देने के लिए आदेश दिया।[3] आचार्य ने पट्टी पर अक्षर लिखकर अभ्यास करने

---

१. ऐसे सतगुरु परम दयाला। अपने शिष्य को किया निहाला ॥
सब विधि करिके मेटी प्यासी। संवत सत्तह से उन्नासी ॥
चैत्र महीने के मध्य माहीं पडवां वृहस्पतिवार सुहाही ॥

२ आगे छटा बरस जब आया। पांडे को पढ़ने बैठाया ॥
लगा पढ़ावन का खा घा ना। उलट उलट कर यही बखाना ॥
आल जाल तू कहा पढ़ावै। कृष्ण नाम लिख क्यों न सिखावै ॥
और पढ़न सूं ना कुछ कामा। हिरदे राखूंगो निज नामा ॥
जो तुम हरि की भक्ति पढ़ाओ। तो मो कू तुम फेर बुलाओ ॥
पाधा सुन मन अचरज आई। यह बालक पढ़ि है नहि काई ॥

३. दूजे दादा फिर यों कीना। ब्राह्मण के कर में कर दीना ॥
मारो डाटो याहि पढ़ावो। सबही विद्यावेग सिखावो ॥
फिर जब लगा पढ़ावन पांडे। पट्टी ऊपर अक्षर मांडे ॥
नीची नाड किये नहिं बोलै। मन की बात कहू नहि खोलै ॥
पाधा कह कह बहु पच हारा। पढ़े न बोलै पै वह बारा ॥
फेर क्रोध कर घुरकी दीनी। बालक ने सबही सह लीनी ॥
मुसकाये बोले मृदु बानी। पांडे तुम अब तक नहिं जानी ॥

का आदेश दिया। परन्तु उसका एक भी प्रयास सफलीभूत न हुआ। अन्त में बालक ने मुस्कराकर कहा कि,

मोपै ऐसा पढ़ा न जावे।
बिना हरि नाम और नहि भावे ॥
सूरज पछम जौ उगै सरिता उलट बहै।
कृष्ण नाम बिना न पढ़ूँ यों रणजीत कहै ॥

बालक दूसरी चटशाला से भी लौटा दिया गया। परिवार के लोगों ने सोचा कि अवस्था विकास के साथ बालक में व्यावहारिक बुद्धि का भी भविष्य में विकास होगा और तभी वह शिक्षार्जन कर सकेगा। रणजीत की—

दादी हँस कर निकट बुलाया।
खेलो खावो मन भाया ॥
पढ़ियो जब तेरे मन आवे।
ऐसा कौन जु तोहि सतावे ॥

और यही से बालक के पढ़ने का क्रम सदैव के लिए स्थागित हो गया।

विवाह जीवन

विरक्त रणजीत को जगत के माया मोहादिक में बाँधने के अनेक यत्न किये गए पर सब कुछ निष्फल रहा। उसके लिए सांसारिक सम्बन्ध सब निःसार बन्धन प्रतीत हुए। आठ वर्ष की अवस्था प्राप्त करते ही सब लोगों ने रणजीत का विवाह कर देने का निश्चय किया। सम्बन्ध निश्चित करने के लिए कुछ लोग आए भी परन्तु रणजीत के निश्चय के आगे किसी को कुछ न चली। उसके माता, मातामही और मातामह ने बड़ा आग्रह किया परन्तु रणजीत ने कहा—

अरु बोले सुन माय सुभागी। हमकूं क्या तुम बेचन लागीं ॥
जान बूझ करि ताना दीया। सो माता हंस करि लीया ॥
व्याह किये दुःख होय अपारा। जाका फैलै बहु विस्तारा ॥
जाकी चिन्ता तन कूं जारे। भजन छुटे गोविन्द मुरारे ॥
जो मैं माता तोहि पियारो। बिपता में मोकूं मत डारो ॥
मैं तो भक्ति कृष्ण की करिहूँ। मोह जाल के फन्दे नहि परिहूँ ॥

माता को समझाने में असफल देखकर रणजीत के मातामह ने तर्कपूर्ण शैली में समझाने का प्रयत्न किया और कहा :—

अब ही बालक बुद्धि तुम्हारी। ताते निन्दत हो तुम नरी ॥
कहा व्याह की महिमा जानौ। याके गुण कैसे पहचानो ॥
गरुण पुराण में यों दरसावैं। ब्याह बिना कोई गति नहिं पावै ॥
अरु महाभारत में कहा सोई। पुत्तर बिना मुक्ति नहि होई ॥
सब ऋषियौं ने यों ही चीना। तप किये पाछे व्याह जु कीना ॥
सत युग त्रेता द्वापर जानौ। सबे ऋषिन की यों पहचानौं ॥
अब कलयुगी के भक्त बताऊं नारि सहित ताकू दिखलाऊं ॥
रैदासा अरु दास कबीरा। अरु जैदेव अभी भया नीरा ॥
कालू अरु कूबा भए नर हरि नरसी संत।
नारी साथ ले भक्ति ही बहुतन करी महन्त ॥

इसी प्रकार मातामह ने अनेक उदाहरणों और दृष्टान्तों के द्वारा विवाह का समर्थन किया परन्तु रणजीत पर इसका प्रभाव न पड़ा। उन्होंने सविनय कहा कि ऋषियों और मुझमें बड़ा अन्तर है। सूर्य और दीपक की क्या तुलना? उनके समान मैं शक्तिशाली एवं संयमशील भी तो नहीं हूँ। परन्तु फिर भी यदि आप लोग आग्रह करते ही जायगे तो मैं गृह परित्याग कर ऐसा चला जाऊँगा कि फिर मुख देखना असंभव हो जायगा।[१] इस उत्तर को सुनकर सभी चुप हो गए और माता ने कहा "व्याह सगाई ना करै जो तुम्हारा या मन ॥"

---

१. अरु सब हम पर दया करीजै। करन सगाई नाम न लीजै ॥
जो मेरी इच्छा विन लेहो। तौ मोकूं घर में नहि पैहौ ॥
ऐसा निकसूँ फिर नहिं आऊ। कै जंगल परबत कूं धाऊं ॥
तुम जु ऋषिन की बात चलाई। वे तो योधा अति बल दाई ॥
वै सूरज हम दीपक आगे। उनके पटतर कैसे लागै ॥
अब मैं कहूँ रोस नहि मानौ। गौतम की गति भई पिछानौ ॥
जमदग्नि की वह गति भई। नारी मुँह कटा कर रही ॥
और ऋषीश्वर बहुत विचारे। दुख पायो तिरिया लइ लारे ॥
जो जो साधू सन्त बतायो। जिनहूँ सग बुरा ही गायो ॥
या दुनियां कूं सपना जानौ। कछू नही मोही पहिचानौ ॥
ह्यां का जीवन तुच्छ बखाना। मेरा मन ऐसे पतियान ॥
ताका कहा भरोसा होई। जामे सुख बतावे लोई ॥
व्याह नही जोपै करै बंधे नही बंधान।
छका रहै आनन्द सूं सुमिरे श्री भगवान ॥

वेषभूशा

चरनदासी-सम्प्रदाय में प्रचलित एवं स्वीकृत वेशभूषा के विषय में 'चरनदासी-सम्प्रदाय' प्रकरण में उल्लेख हो चुका है।

चरनदास के शारीरिक बनावट के विषय में 'गुरु भक्ति-प्रकाश' से कोई विशेष सूचना नहीं उपलब्ध होती है। यत्र-तत्र जो भी उल्लेख हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि चरनदास जी का व्यक्तित्व बड़ा प्रभावशाली था। शांत-भाव उनके व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता है। उनका मुखमंडल कांति से युक्त था। शरीर सुडौल तथा मनोहर प्रतीत होता था।

वर्तमान महन्त से ज्ञात हुआ है कि चरनदास जी आजानु बाहु थे। उनका शरीर लम्बा और शक्ति सम्पन्न था।

वर्तमान महन्त के यहां चरनदास जी का जो चित्र उपलब्ध होता है उससे ज्ञात होता है कि चरनदास जी विशालाक्ष थे। उनके कान लम्बे थे। उनके मुखमंडल से शांति एवं दृढ़ता का भाव प्रस्फुटित होता है। मुख पर विशाल नेत्र एवं बड़ी-बड़ी मूँछे उनके व्यक्तित्व को प्रभावशाली बना देती थी।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में एक स्थल पर रामरूप जी ने चरनदास जी की आकृति का वर्णन किया। उसे अविकल रूप में यहां उद्धृत करना असंगत न होगा :

> प्रेम भरे नैना बड़े बदन श्याम ही रंग।
> बांकी मूंछै सोहनी हिय में हर्ष उमंग॥
> मुसक्याते दीखै सदा अधरन यही सुभाय।
> माथे टीका सिल मिली रामरूप बलिजाय॥
> रूपे की चौंरी लिये ढोर खिदमतगार।
> महाराज को ध्यान यह लीजै हिय में धार॥

चित्र से स्पष्ट है कि लम्बा कुरता, पगड़ी और चादर चरनदास जी की सामान्य वेशभूषा थी। मस्तक पर श्री तिलक सुशोभित दृष्टिगत होता है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में वस्त्राभूषण से सुसज्जित चरनदास की एक छवि का सुन्दर उल्लेख हुआ है। यहां पर रामरूप द्वारा वर्णित वह छवि उद्धृत की जाती है

> सिंहासन पर बैठ सोहैं। छवि वरणौं ऐस कवि को हैं॥
> अपनी बुद्धि लाय कछु गाऊ। अब उनके चरणन सिर नाऊं॥

महंदी रचना कही नहिं जाई। मन लागौं नख सुन्दरताई ॥
दहिने तोड़ा सोने केरा। बायें पग में कंगना गेरा ॥
पीरा नीमा तन के माहीं। घेरदार अति ही घुमराही ॥
घुंडी लगी जड़ाव बिशाला। बड़े-बड़े मोतियन गल माल ॥
नौ रतनौ के बाजू बाहूँ। दोऊ कर पहुँची रतन जड़ाऊ ॥
अंगुरी अंगुरी पहर अंगूठी। मंहदी हाथौं लागी अनूठी ॥

इस उद्धरण में जिन जिन आभूषणों का वर्णन है वे चित्र में कहीं भी दृष्टिगत नहीं होते हैं। सम्भव है कि कवि ने काल्पनिक वर्णन किया हो।

सेवाभाव

सेवाभाव के दृष्टिकोण से चरनदास का व्यक्तित्व और महत्व कबीर, दादू, नानक, रैदास आदि से पूर्णतया भिन्न है। संत सम्प्रदाय अथवा निर्गुण-पंथी कवि अधिकतर साधक एवं धर्म-सुधारक थे। धर्म-सुधार तथा समाज को परिष्कृत करने के लिए उन्होंने स्पष्टवादिता एवं व्यंग्यात्मक शैली को ग्रहण किया और इसी के द्वारा उन्होंने न केवल समाज के पाखंडों का रहस्योद्घाटन किया वरन् उसे अपने फक्कड़पन से झकझोर डाला। दोषी व्यक्ति और समाज को इनके आगे निकलने का कभी साहस नहीं होता है। "जो तुम बाह्मन बाह्मनि जाये और राह ते काहे न आए' जैसे वाक्यों को कह कर उन्होंने दोषी समाज को तिल-मिला डाला। उसमें हीनत्व की जिस भावना का उन्होंने दर्शन किया उससे समाज के दोष दूर भले ही हो गए हों पर समाज उनकी कृपा कोर और सहानुभूति कभी न पा सकी। उन्होंने सेवाभाव अथवा मनोवैज्ञानिकता के आधार पर समाज को दोष रहित अथवा कुरीतियों से छुटकारा दिलाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् डिक्टेटर की भांति कठोर आदेशों से उसे परिष्कृत करने का प्रयत्न किया। इन उक्त संतों में सहानुभूति की भावना का तो अभाव प्रतीत होता है परन्तु शासकीय मनोवृति सर्वत्र उपलब्ध होती है। संत-साहित्य के दो कवि चरनदास और मूलकदास साधक, धर्म-सुधारक एव समाज-सुधारक होने के साथ ही सेवाव्रती भी थे। इन दोनों कवियों की अन्तर-दृष्टि भी मानव के व्यक्तिगत, समाज एवं जनता के सामूहिक दोषों एवं कलंकों का निदर्शन करने में समर्थ है परन्तु वे दोषी समाज के अभावों को अपनी सहानुभूति और सेवाओं के द्वारा दूर करने का प्रयत्न करते हैं उनका उपहास नहीं करते हे। वे दोषी के हृदय और मस्तिष्क को तिलमिला देने वाले उपहासात्मक व्यंग बाणों का साधन मात्र नहीं करते हैं, वरन् उसे समझते हैं और दोषों के निवारण में उसका हाथ भी बँटाते हैं। उन दोषों से समुत्पन्न अथाह दुःखों के दुर्गम सागर को

पार कर जाने के लिए उसको ढाढस भी बंधाते हैं और यही है इन दोनों संतों की विशेषता, जिसके कारण वे अन्य सन्तों से इस दिशा में सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हैं।

चरनदास में सेवा-भाव का यह बीज नौ वर्ष की स्वल्प अवस्था से ही विकसित होता हुआ दृष्टिगत होता है। जब उनके समवयस्क खेलने कूदने और बाल्यसुलभ चपलताओं में पड़े रहते थे, उस समय वे भूखे, प्यासे, और आर्त लोगों की सेवा और सहायता में संलग्न रहते थे।[1] भिक्षुकों और आर्तों की सहायता करने के विषय में अनेक किंवदन्तियां प्रचलित हैं। वर्तमान महन्त ने इस विषय में कई किंवदन्तियां सुनाई। उनमें से एक का उल्लेख यहां आवश्यक है। चरनदास का परिवार निम्न मध्यवर्गीय परिवार था। परिवार में नित्य कमाई ही जीविका का आधार था। एक दिन सायंकाल चरनदास के पिता दिन भर की आय कुरते की जेब में डाल कर अपने बीमार पड़ोसी को देखने चले गए। इतने में द्वार पर दिन भर का भूखा एक अपंग लूला भिक्षुक आ गया। उनकी माता ने उसे भगा देने का प्रयत्न किया और कहा कि दिन भर भीख माँगते-माँगते पेट नहीं भरा तो अब रात में भी मांगोगे। भिक्षुक ने अपने दुर्भाग्य का रोना सुनाना चाहा। परन्तु कुंजों माता को कहाँ अवकाश था। वे दरवाजा बन्द करके अन्दर चली गई। चरनदास से यह सहन न हो सका। घर में चुपचाप अन्दर जाकर वे पिता के जेब से कुल पैसे निकाल लाये और भिक्षुक को दे दिया। बाद में पूछ-ताछ हुई तो उन्होंने निर्भीकता से स्वीकार कर लिया। उनके पिता ने जब डाट कर कहा कि इतना धन क्यों दिया पैसे दो पैसे बहुत थे, तो उन्होंने उत्तर दिया कि शायद उसे कल भी कहीं भिक्षा न मिल सके, इसीलिए इतने सब पैसे दे दिये। सभी को बालक की सरलता और अबोधता पर बड़ी हँसी आई।

चरनदास की सेवा भावना को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। सर्वप्रथम हम उन्हें लोक सेवी के रूप में पाते हैं। उनकी दया और लोक सेवकत्व की भावना केवल मानव जगत तक ही नहीं वरन् पशुओं तक प्रसार पाती थी। किंवदन्ती है कि गर्मी के दिनों में वे डोल और लोटा लेकर कुएँ पर दिन-दिन भर बैठे रहते और निःस्वार्थ भावना से समस्त प्राणियों को जल पिलाते रहते थे। यहां तक कि दूसरों के सुख और आराम के लिए वे अपने घर खाना खाने के लिए भी नहीं आ पाते थे। यही उनका लोक-सेवी रूप धर्म और समाज के क्षेत्र में प्रस्फुटित हुआ।

[1]. भूख देख दया उपजावैं। घर में से ले दे-दे आवै।
साधु रूप कूं शीश नवावैं। भुक्ति रीति कछु कही न जावैं ॥
लड़कों में नहीं खेल मचावे। भक्ति रीति कछु कही न जावै ॥

चरनदास के सेवा व्रत का द्वितीय क्षेत्र परोपकार की भावना थी! दुष्ट, सज्जन, समर्थ, असमर्थ सभी की वे सहायता करने के लिए प्रस्तुत रहते थे। दुर्जनों को सद्-मार्ग पर लाने के लिए वे सदैव प्रयत्नशील रहते थे। वे चोरों के प्रति भी दया का प्रदर्शन और सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करते थे।[1] इस दया और सहानुभूति का प्रभाव उन पर सदैव अच्छा ही पड़ता था। ग्लानि का अनुभव करते-करते वे अपने दुष्कृत्य और दुष्कर्मों का स्वतः परित्याग कर देते थे। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से इसके समर्थन में अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। चरनदास की परोपकार भावना का एक ज्वलन्त उदाहरण निम्नलिखित पंक्तियों में रामरूप जी ने व्यक्त किया है :—

---

१. ······ ······ ······ । उस ही रात चोर नौ आये ॥

भक्तिराज के अस्थल माहीं । ढांकी वस्तैं बहुत चुराई ॥
आवत चोर देख जो लीया । जानबूझ कर टारा दीया ॥

बासन बसन समेट कर गठरी बांधी चार ।
सिर पर धरिकै ले चले, कहीं न पावैं द्वार ॥

चहूं ओर भटकत ही डोलै । हौरे हौरे मुख सौं बोलै ॥
अँधरे भये राह नहिं पावें । कौन बाट हो बाहर जावें ।

इतने ही में उठे गुसाईं । जा ठाढ़े चोरन के मांही ॥
उनको राह बतावन लागे । सुनि के चौके चोर सुभागे ॥
कहीं और कछु सूझे नाहीं । हम बाहर को कैसे जाहीं ॥
महापुरुष की चीज चुराई । ताते अपनी आँख गँवाई ॥
हमको डर लागत है भारा । पकड़े जावे होय सकारा ॥
ऐसे सुन बोले औतारी । अब तुम सुनौ जु बात हमारी ॥

या अस्थल का धनी मैं चरनदास मम नांव ॥
आंख दई अरु चीज सब ले जावो अपठांव ॥

तुमने मेहनत बहुतै कीनी । ताते गठरी चारौ दीनी ॥
ले जावो मोहिं करो निहाला । होता आवे बेग सकाला ॥
यह गठरी उनके शिर धरिया । अरु नाले तक रक्षा करिया ॥
किरपा सागर दया विचारी । परमारथ को देही धारी ॥
पहुँचा कर अस्थल में आये । जब सब सूते लोग जगाये ॥

कायथ एक गरीब विचारा। सो था भक्ति राज का प्यारा ॥
वाके समधी ब्याह उठाया। भेजी चिट्ठी बहुत दबाया ॥
अबहीं करि या छोड़ सगाई। नहीं और दो सुता बिवाही ॥
वह अनाथ था धन का हीना। घर के सब मिल संशय कीना ॥
कीजै कहा कहां अब जइये। ऐता दरब कहां सो लइये ॥
भोर भये दरशन को आया। अपने पुत्तर को संग लाया ॥
कहने की मन माहिं उटावे। सकुच लाज सोंरहि रहि जावे ॥

महाराज वा देख कर आपही लीन्ही जान।
कही कि सुत को ब्याह कब हमसूं कहों बखान ॥

हाथ जोड़ उन बिथा सुनाई। अपने घर की खोल दिखाई ॥
महाराज कही यहां से लीजे। याको ब्याह शितावी कीजे ॥
यों कहि कछू दरब वा दीनों। वाको मन को दुख हरि लीनों ॥
खुशी होय कायथ घर आया। सकल सौंज सजि ब्याह रचाया ॥
सज बरात पूजन को आये। भक्ति राज को शीश नवाये ॥
महाराज ने अति हर्षाकर। दस ढलैत दीने निज चाकर ॥
चोबदार अरु दिये खवासा। उनका सब बिधि मेटा सांसा ॥

इसी प्रकार चरनदास दीन-दुखी पड़ोसियों की सहायता करते थे। गरीबों की पुत्रियों का विवाह अपने पास से धन देकर करवाते थे। याचकों को अन्न-वस्त्र दान में देकर उनके कष्टों का हरण करते थे। जो भी व्यक्ति किसी प्रकार की कामना अथवा इच्छा लेकर आते थे, वे उन सभी की पूर्ति करते थे।

रामरूप जी के कथनानुसार—

दयावन्त दाता उपकारी। जिनके सम अस्तुति अरु गारी ॥
ना कोई भीता ना कोई बैरी। तिनके ना कछु मेरी तेरी ॥
भूखा आवे भोजन खावैं। नांगे को बस्तर पहिनावैं ॥
अरु सबहीं सो मीठा बोले। जिज्ञासू सो चरचा खोले ॥
जो कोई आवे इच्छा धारी। कहे कि मेरी कन्या क्वारी ॥
वाको गुप्त द्रव्य दे डारें। अरु दुखिया को दुःख निवारें ॥
तनकरि मनकरि दे सुख सबही। कडुआ वचन न बोले कबही ॥
जो जैसी आशा करि आवे। सो निराश कबहूँ नहि जावे ॥

पर्यटन

चरनदास द्वारा की गई यात्राओं के सम्बन्ध में कोई अन्तस्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है। इस विषय पर प्रायः सभी बहिस्साक्ष्य मौन हैं। इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ सूचना एवं सहायता प्राप्त होती है वह केवल 'गुरु-भक्ति प्रकाश' से। आश्चर्य है कि रूपमाधुरी शरण जी ने 'गुरु महिमा' ग्रन्थ में लगभग दस पृष्ठों में कवि की जीवनी और चमत्कारों का सविस्तार उल्लेख किया है परन्तु इस विषय पर एक बात भी नहीं कही। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में रामरूप जी ने कवि द्वारा की गई अनेक यात्राओं का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ में छोटी बड़ी सभी यात्राओं की संख्या १२ से कम न होगी परन्तु इन वर्णनों के साथ एक कठिनाई भी है। रामरूप जी ने विभिन्न यात्राओं का समय और अवधि का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इस प्रकार के चिन्तन में अनुमान लगाना अंधकार में निशाना लगाना मात्र है। रामरूप जी ने इन यात्राओं के भिन्न-भिन्न लक्ष्यों का भी उल्लेख नहीं किया, परन्तु उन वर्णनों से यात्रा के लक्ष्य और उद्देश्य का ज्ञान हमें स्पष्ट रूपेण हो जाता है।

चरनदास ने अपनी सर्वप्रथम यात्रा पिता के देहावसान के अनन्तर सात वर्ष की अवस्था में कोटकासिम से दिल्ली तक की। इस यात्रा का लक्ष्य चरनदास की माता और मातामह द्वारा निर्धारित किया जा चुका था। पिता की मृत्यु के अनन्तर मुरलीधर के परिवार को अपने साथ रखने के लिए ही चरनदास के मातामह ने उन्हें अपने घर बुला लिया। यही प्रथम यात्रा थी। इस यात्रा में एक विशेष घटना घटित हुई जिसका उल्लेख चमत्कारों के साथ हो चुका है। इस यात्रा में चरनदास के अन्य निकट सम्बन्धी उनके साथ थे।

चरनदास ने अपनी द्वितीय यात्रा दिल्ली से रामत के लिए की थी। इस यात्रा में कवि के साथ दस नौकर थे। यह यात्रा कवि ने म्याने पर चढ़कर पूरी की थी। वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि यह यात्रा दो मास के लिए की गई थी और गंगा स्नान इस यात्रा का लक्ष्य था। रामरूप जी ने इस यात्रा का वर्णन चरनदास की गुरु-दीक्षा के बाद किया है। इस प्रकरण में उल्लेख हो चुका है कि चरनदास शुकदेव द्वारा संवत १७७६ में दीक्षित हुए थे। अतः यह यात्रा कवि ने संवत् १७७६ के प्रायः साल डेढ़-साल बाद ज्येष्ठ मास में की थी।[1]

चरनदास ने अपनी तृतीय यात्रा ब्रज प्रदेश के लिए की थी। इस यात्रा का लक्ष्य श्रीकृष्ण की लीला भूमि ब्रज के दर्शन तथा साधु सन्तों का सम्पर्क प्राप्त

---

१. एक समय महाराज के मन में उठा बिचार।
दोय महीने जाइये रामत कू इस बार॥

करना था। इस यात्रा का वर्णन रामरूप जी ने नादिरशाह के आक्रमण के अनन्तर किया है। इतिहास के अनुसार नादिरशाह के आक्रमण का समय सन् १७३९ ई० है। अतएव यह व्रज यात्रा सन् १७३९ के पश्चात् चरनदास ने की थी। व्रज से दिल्ली आते समय मार्ग में बीस दिन का समय लग गया। इस यात्रा का केवल धार्मिक अथवा दार्शनिक महत्व ही नहीं है वरन् इसका साहित्यिक महत्व भी है। इसी यात्रा में चरनदास ने अपने 'व्रज-चरित्र' और 'व्रज-लीला' ग्रन्थों की रचना की। व्रज के सुरम्य वातावरण के मधुर चित्र उनके साहित्य में सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं। इन ग्रन्थों की रचना चरनदास ने नन्दराम की हवेली में ठहर कर की थी। ग्रन्थों के रचनाकाल में चरनदास के भक्त हरि प्रसाद ने भी बड़ी सहायता की।[1] इस यात्रा में उन्हें श्रीकृष्ण, श्रीराधिका, श्रीशुकदेव जी जैसे अलौकिक महापुरुषों के दर्शन हुए और अनेक साधु सन्तों का समागम हुआ।

व्रज प्रदेश से प्रत्यागमन के अनन्तर चरनदास जी ने चतुर्थ यात्रा पानीपत के लिए की। पानीपत में आप राजाओं के यहां ठहरे और वहां ६ मास तक

छोड़े सब अस्थान पर दस चाकर लिये साथ।
म्याने में चढ़के गये गंगा और सुहात॥
जेठ महीना था जब न्हाने के दिन नाहि।
जंगल की कर हौंस ही खुशी होय मन मांहि॥
खुशी होय रामत करी जंगल और पहाड़।
मुख धरी अस्थान को आये शहर मंझार॥

१. नित्य नेम कुछ कियो अहारा। दिल्ली ओर को गवन विचारा॥
मग में थोड़े दिवस लगाये। आय मात के दर्शन पाये॥
केते दिवस रहे वह ठांई। व्रज की बात कही मन भाई॥
आय गये दिन बीस में पहुँचे माता पास।
माता को परसन्न कर और ठौर कियो वास॥
नन्द राम फिर यों कही सुनो श्री गुरुदेव।
मेरी हवेली के विषे एक कोठडी लेव॥
भक्ति राज नीकी समझ जाय रहे वहि ठांव।
हरि प्रसाद के कुटुम्ब सब आकर पूजे पांव॥
जैसे व्रज में लीला चीन्ही। व्रज चरित्र की पोथी कीन्हीं॥
जो प्रभु ने निज धाम दिखायो। सो ह्यां भाषा माहिं बनायो॥
दो पोथी बहुहित सों साजी। ग्रन्थ बीच रहें शिरे विराजी॥
उनको पढ़ें सुने चितलावे। अमर लोक में बासा पावै॥

रहे। पानीपत में महाराज जी प्रथम पांचों पहर ध्यान में संलग्न रहा करते थे। यहां पर उन्हें एकांतसाधना के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त होता था। अनेक व्यक्ति दर्शनार्थ सेवा में प्रस्तुत रहते और सभी की वे यथा आवश्यकता सहायता करते थे। परन्तु ज्यों-ज्यों ख्याति और भीड़ बढ़ती गई त्यों-त्यों वहां से चित उचटता गया। अन्ततोगत्वा आगन्तुकों से ऊब कर चरनदास जी नरसिंह गढ़ गये। परन्तु नरसिंह गढ़ भी अधिक समय न ठहरे और वहां से वे करनाल जा पहुँचे। साथ में दो व्यक्ति (चाकर) थे। यह यात्रा कवि ने पूर्णतया पैदल ही की। करनाल से दिल्ली आते समय महाराज जी ने टट्टू पर यात्रा की।[१] 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में इस यात्रा के लक्ष्य का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। इस वर्णन के अंत में रामरूप जी ने लिखा है कि—

दो बीसी की उमर थी फिर आये वा ठौर।
ध्यान मांहि रहने लगे वाही विधि निशि भोर॥

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने चालीस वर्ष की अवस्था में यह यात्रा की थी। कवि का जन्म संवत १७६० माना जाता है, अतएव इस यात्रा का समय संवत् १८०० निश्चित होता है।

---

१. अरु छोटे बहु परचे भये। सो मैंने वे नाहीं कहे॥
महाराज फिर भये उदासा। जाय किया पानीपत बासा॥
राजादों की बैठक माहीं। रहे महीने छै वह ठांई॥
पांच ही पहर ध्यान हां करते। तीन पहर बाहर ही रहते॥
बहुतक नर दर्शन को आवैं। चरचा सुन बहुतै सुख पावैं॥
बहुतक दान महाराजा करे। मन में लोग भरम बहु धरें॥
काहू की पूजा नहीं लेवे। इतना दान कहां से देवें॥
होने लगी भीड़ जब भारा। नरसिंह गढ़ कू गवन विचारा॥
नरसिंह गढ़ भी ना ठहराए। फेर उलट करनालहि आए॥
दोय आदमी ही थे साथा। था निशान एक के हाथा॥
एक टहल में निशि दिन रहता। जो कुछ कहते सो वह करता॥
कछू सवारी संग नहि लीनी। जब चाही जब भाड़े कीनी॥
दिल्ली जावन की मन आई। चलने कारण सुरति उठाई॥

टट्टू पे चढ़ि के चले आगे किया निशान।
कछू बटाऊ और थे संग मिले वे आन॥
पानीपत थोड़ा ठहर चले श्रीचरन हि दास।
आये दिल्ली शहर में रहे जु मंडी घास॥

पांचवी यात्रा चरनदास ने दिल्ली से शाहजहांपुर के लिए की। इस यात्रा का लक्ष्य निम्नलिखित है :—

एक दिना मन में उठी रंमूँ महीने दोय।
ह्यां उदास जी रहत है बाहर खुशी जु होय॥
रमत रमत गए सहज ही शाहजहांपुर मांहि।
ह्वां सेवक रहते हुते उठने दीना नांहि॥
साधु बहुत ही संगते रहे जु उनके बीच।
अपने अमृत बचन कह सब को राखे सींच॥

इस यात्रा से सम्बन्धित एक चमत्कार का वर्णन रामरूप ने किया है। शाहजहांपुर में एक रात्रि को चरनदास के मन में माता के दर्शन की लालसा जाग्रत हुई। डेढ़ पहर रात्रि व्यतीत होने पर वे शाहजहांपुर से अन्तर्ध्यान होकर दिल्ली गए और वहां अपनी माता के दर्शन किये।[1] इस यात्रा का ठीक-ठीक समय अथवा संवत् का निश्चित करना कठिन है कारण कि इसके पूर्व या पश्चात् कवि के जीवन से सम्बद्ध कोई घटना नहीं है जिसके आधार अथवा माध्यम से संवत् निर्धारित किया जा सके। इस वृतांत के प्रायः तीन पृष्ठ बाद एक स्थान पर रामरूप जी ने लिखा है :—

पचास बरस लौं जो किया सो कुछ दिया सुनाय।
रामरूप अब कहत है आगे की सब गाय॥

इससे ज्ञात होता है कि चरनदास जी ने अपने जीवन के पचासवें वर्ष के निकट यह यात्रा की थी, अतः इसका समय अनुमानतः लगभग संवत १८१० होता है।

अपने जीवन में अंतिम यात्रा चरनदास ने जयपुर के हेतु की थी। इस यात्रा में कुल तीन मास का समय लगा था।[2] जयपुर राज्य के तत्कालीन शासक के अनुज माधोसिंह के विशेष आग्रह, अनुरोध और आमन्त्रण के फलस्वरूप चरनदास

---

१. रैन समय मन में उठी मात मिलन की चीत।
जा सोये कोठे विषै पट दीने रनजीत॥
डेढ़ पहर गइ रात जब कियो जो हांसों ध्यान।
दिल्ली ही के बीच में दरशन दीने आन॥
एक पहर को जो निकट सब को दरशन दीन।
डेढ़ पहर रहि राति जब और सुरत यौ कीन॥

२. आवन जाना सब भया तीन महीने बीच।
भक्ति हेतु आये गये धोई कल की कीच॥

जी ने जयपुर की यात्रा की ।[1] यह कवि की सबसे लम्बी और सबसे दूर की यात्रा थी । "गुरुभक्ति प्रकाश" में इस यात्रा के समय का कोई उल्लेख नहीं हुआ है परन्तु ऐसा प्रकट होता है कि महाप्रस्थान से कुछ ही समय पूर्व कवि ने यह यात्रा की थी इस प्रकार अनुमानतः इसका समय संवत् १८३८ निश्चित होता है ।

इन महत्वपूर्ण यात्राओं के अतिरिक्त चरनदास जी ने अन्य छोटी-छोटी कई एक यात्राएं की जिनमें दिल्ली से गंगा स्नान के लिए कवि को बाहर जाना पड़ा था । ऐसीं यात्राओं का महत्व केवल धार्मिक दृष्टि से माना जा सकता है ।

सम्मान-विरोध

युग-पुरुष प्रायः सभी द्वारा समादरित होता है । उसकी महत्ता हो और उसके व्यक्तित्व के समक्ष सभी नत शिर हो जाते हैं । वह अपनी प्रतिभा और अपने चरित्र से संसार को आलोकिक करता है । उसका व्यक्तित्व उस प्रकाश-स्तम्भ के सदृश्य है जो बिना भेदभाव सभी के पथ को आलोकित किया करता है । परन्तु फिर भी अपवाद के रूप में उसके विरोधियों का अभाव नहीं रहता है । खल जन अपने विरोध के द्वारा उसके व्यक्तित्व को और भी अधिक प्रोत्साहन और परिष्कार प्रदान करते हैं । इस विपुला पृथ्वी पर ऐसा कौन व्यक्ति है जिसके प्रशंसक ही रहे हों और विरोधी न उत्पन्न हुये हों । राम,कृष्ण,ईसा,मुहम्मद,बुद्ध,सरमद कौन इस कथन का अपवाद कहा जा सका है ? यही दशा चरनदास के व्यक्तित्व की है ।

---

[1] राजा ईश्वरी सिंह तासु इक छोटा भाई ।
माधो सिंह शुभ नाम जासु को सुख दाई ॥
सो प्रताप सिंह जानि श्री महाराजधिराजा ।
हरि भक्तन सो नेह बड़ो धर्मज्ञ समाजा ॥
तेहि आगे चरचा चली भरी सभा दरबार में ।
चरणदास अवतार है परगट अब संसार में ॥
यह सुनि राजा को बढ़ो दर्शन को अति चाव ही ।
कही की चिट्ठी भेजिए लिख दंडवत अरु भाव ही ॥
....
लखि राजा के हीय की प्रीति भाव अरु चाह ।
चलने की त्यारी करी सतगुरु बेपरवाह ॥
दिन दश राजा ढिग रहे दिन दश जैपुर मांहि ।
बहुत जीव निस्तारि के आये दिल्ली ठांहि ॥
बहुत लोग दरशन को आवें । दुख लावें सुख ले घर जावें ॥
जो कोइ हरि के प्रेमी आवें । किरपा करके तप्त बुझावे ॥
जो कोइ आया पुत्र विहीना । ताहि बचनकहि पुत्र जु दीना ॥

इसी संसार के रहने वाले व्यक्तियों ने अपने समय में उनके चरणों पर मस्तक झुकाया एवं श्रद्धांजलि अर्पित की और इसी संसार के "जे बिनु काज दाहिने बाँए" व्यक्तियों ने उनका अपमान और विरोध किया। परन्तु संतों का चरित्र एवं व्यक्तित्व पद्मपत्र के समान इस संसार सागर में विचरता है। तब फिर उनके लिए क्या मान और क्या अपमान, क्या प्रशंसा क्या बुराई। न वे किसी की कृपा के भूखा हैं, न प्रेम के लिए लालायित रहते हैं:—

कबिरा खड़ा बजार में चाहत सब की खैर।
ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर॥

इस प्रकार की भावना विकसित हो जाने पर सब तुच्छ प्रतीत होने लगता है। जिन्होंने अपने जीवन में ही अपने शरीर का परित्याग कर दिया है, उन्हें प्रशंसा और अपमान स्पर्श ही नहीं कर पाता है।

चरनदास अपने समय में एक युग पुरुष के रूप में पूज्य हुए। हिन्दू मुसलमान-साधू, सन्यासी, गृहस्थ, दीन, धनी, स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, सभी वर्ग और वर्ण के व्यक्तियों ने उनका सम्मान किया। 'गुरु भक्ति प्रकाश' के रचयिता रामरूप जी, 'गुरु महिमा' के लेखक रूपमाधुरी शरण जी, तथा अन्य लेखकों ने इस प्रकार की लम्बी सूची का उल्लेख किया है जहां चरनदास जी का विशेष सम्मान हुआ। चमत्कारों में भी इस प्रकार के अनेक उल्लेख हुए हैं। 'गुरु-भक्ति प्रकाश' में चरनदास के महत्व और सम्मानित होने की सूची बहुत बड़ी है। इनमें से कतिपय घटनाएं विशेष उल्लेखनीय हैं।

सर्वप्रथम नादिरशाह द्वारा चरनदास का सम्मानित होना उल्लेखनीय है। 'गुरु भक्ति प्रकाश' के अनुसार चरनदास ने नादिरशाह के अभिमान की भविष्य-वाणी तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह के पास लिख कर भेज दी थी। कालांतर में यह बात सत्य घटित हुई। जब कत्ल और लूट बन्द हुई तो नादिरशाह से इस तथ्य का उल्लेख मुहम्मदशाह ने किया। नादिरशाह ने चरनदास को बुला भेजा और करामात दिखाने का हुक्म दिया। चरनदास से असन्तुष्ट होकर उसने उन्हें किले में दो बार बन्द करवा दिया परन्तु प्रत्येक बार चरनदास बाहर निकल आए। अन्त में चरनदास की साधना और करामातों से प्रभावित होकर उसने भांति-भांति से क्षमा-याचना की और बहुत-सी जागीर प्रदान करके सम्मानित किया।[१] नादिरशाह ने निवेदन करते हुए कहा :—

हाथ जोड़ यों कहने लागा। मैं दुर्मति में पगा अभागा॥
तुम्हरी महिमा कछू न जानी। मैं मन में कुछ और ठानी॥

---

१. विशेष सविस्तार वर्णन देखिए, इस प्रकरण के उपशीर्षक 'चमत्कार' में।

अब मैं जानी तुम दरवेश । तुमको दुनियां सो नहिं लेश ॥
तुम फक्कर हो खुदा रसीद । मेरे गुनाह करो बकसीस ॥
अब मैं समझा विसुबा बीस । मेरे हक में करो अशीस ॥
बातन ही में अरु कही बाता । नादरशाह जोड़ दोउ हाथा ।
गांव परगना अब कछु लीजै । करो निजात यही खुशि कीजै ।
मुहर मंगाई सौ और एका । भेद धरी कहो लेहु बशेषा ॥
नादिरशाह उठ बांह गह खड़े, किये महराज ।
बेग भगाई नाल की लई तुरत ही साज ॥

२. दिल्ली का शासक मुहम्मदशाह, चरनदास जी के प्रति विशेष श्रद्धालु था । नादिरशाह के प्रत्यागमन के अनन्तर उसने गद्दी पर आकर उन्हे बहुत सम्मानित किया । इसका वर्णन 'गुरु भक्ति प्रकाश' के अनुसार निम्नलिखित है :-

तीन महीने पीछे चीन्हो । मुहम्मद शाह मिलन को कीन्हो ।
रामरूप कहै दरश को आया । बहुत भेद देने को लाया ॥
नजर धरी अरु दरशन कीना । बैठन कारण आयुष लीना ॥
चार घड़ी बैठे रहे, बिनती करी बनाय ।
महाराज किरपा करी, उर से लिया लगाय ॥

३. जयपुर की यात्रा करते समय वहाँ के तत्कालीन शासक, उसके पुत्र, अनुज तथा समस्त दरबार ने चरनदास का विशेष सम्मान किया । इस यात्रा का वर्णन प्रस्तुत प्रकरण के पर्यटन शीर्षक के अन्तर्गत हो चुका है । जयपुर से प्रस्थान करते समय वहाँ के तत्कालीन शासक ने हाथी, घोड़े, गांव, पालकी, मुहरें तथा असंख्य धन भेंट किया[1] परन्तु चरनदास जी ने उसे लौटा दिया । और एक गांव तथा इक्कीस मुहरें स्वीकार करते हुए कहा—:

हम भी तुम्हारी भक्तिवश आये हैं यहि ठांव ।
मोको कछू न चाहिये हाथी घोड़े गांव ॥
अरस परस बहु प्रीति करि राजा परसन काज ।
एक गांव इक्कीस मुहर भेंट लई महराज ॥
हुआ करे मेला जहां मेले होवे संत ।
सुदी माह की पंचमी जिस दिन होय बसन्त ॥

---

[1]. ये घोड़े ये पालकी ये हाथी ये गांव ।
मुहर रुपैये भेंट हैं रहिये जैपुर ठांव ॥
अब तांई तुम हां रहे अब रहो हांई आय ।
यह परताप सब आपको सो लीजै अपनाय ॥

इन तीन उदाहरणों के अतिरिक्त कवि के जीवन में अनेक अवसर आए जब वह विशेष रूप से सम्मानित किया गया। उन सभी का उल्लेख एक स्वतंत्र ग्रन्थ का विषय है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि कवि हिन्दू-मुसलमान, धनी-निर्धन सभी में समान रूपेण समादरित था।

'गुरुभक्ति प्रकाश' में अनेक व्यक्तियों द्वारा कवि के विरोध का भी उल्लेख किया गया है। इन विरोध सम्बन्धी सभी उल्लेखों में महाराज की महत्ता की स्थापना अंतिम लक्ष्य है। विरोध सम्बन्धी उल्लेखों में दो प्रकार के व्यक्ति बार बार व्यक्त हुए हैं। प्रथम मुसलमान हैं और द्वितीय अन्य सम्प्रदाय के अनुयायी, जिनके हृदय में स्पर्धा की भावना की प्रबलता थी। यहां पर दो उदाहरणों को उद्धृत कर देना असंगत न होगा—

१. नागों द्वारा विरोध

दिल्ली माही इक समय नागे दसै हजार।
आये वे रामत करत तिन में दो सरदार॥
तिन में दो सरदार शहर में भीख चुकाई।
धाये सतगुरु पास नाम की सुनी अवाई॥
कही बैठ ढिग बात भक्ति चहु दिशि में फैली।
सुनते थे परदेश रहत चरणदासा देहली।
हम आये इस कारणे चरणदास तुम सिद्ध॥
लगी भूख घनी हमें दीजै बहुती ऋद्ध।
दीजे बहुती ऋद्ध करें भोजन जो गहरा।
नहिं लेंवेंगे लूट आज यह अस्थल शहरा॥

२. मुसलमानों द्वारा विरोध

भक्ति राज के अस्थल माहीं। आये मुगल चढ़ाये बाही॥
महाराज ने तेज चलाही। रह गया हाथ चली वह नाही॥
फिर दूजे ने तेग चलाई। हांथ बंधे हूवा तक नहिं आई॥
फिर वे सब चरणों पर गिराया। इक इक शस्तर मेह जो धरिया॥
भय कूं देख लोग भज गये। अस्थल में दो चाकर रहे॥
भगे जिन्हों कुछ औरे कही। भक्ति राज की देही गई॥
अंतीत संग थे सो सब मारे। भागि बचे सो भाग हमारे॥
सुन सुन बहुत देखने आये। महाराज आनन्द सूं पाये॥

चमत्कार

सन्तों के चरित्र के साथ अलौकिक चमत्कारों का समावेश कर देना इस देश की प्राचीन परम्परा है। कदाचित् ही ऐसा कोई भक्त हो जिसके व्यक्तित्व के साथ इस प्रकार की कौतूहल-वर्धक और चमत्कारिक कथाएं सम्बद्ध न हो। भारतवर्ष चिरकाल से धार्मिक भावनाओं से आक्रांत रहा है। जहां धर्म है वहां अंधविश्वास पहले स्थान पा लेता है। चमत्कार इन्हीं अंध विश्वासों के अविच्छिन्न अंग हैं। "श्रद्धावान् लभते फलम्" के कारण तर्क के लिए धर्म में कोई स्थान नहीं है, और इसी तर्क-हीनता के कारण चमत्कारों का विकास होता गया। प्रायः चमत्कारों का वर्णन विश्वास और श्रद्धा के विकास में सहायक होता है। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानव और भी अधिक बौद्धिक जीव बन गया है। विज्ञान के इस युग में भौतिक यथार्थवादी जीवन देश की मांग है। आज कल्पनाओं के लिए न मानव-जीवन लालायित है न उसे काल्पनिकता पर आस्था ही है। संतों के चरित्र के साथ सम्बद्ध कथाओं के पीछे हमें उन भक्तों के अंध-विश्वास ही नहीं वरन् उनकी हार्दिक श्रद्धा का भाव भी दृष्टिगत होता है। शिष्यों ने अपने अपने साम्प्रदायिक गुरुओं की महत्ता सिद्ध करने के हेतु उनके विषय में भांति भांति की आश्चर्य-जनक बातें गढ़ ली हैं। चरनदास इसके अपवाद नहीं है।

चरनदास की जीवनी से सम्बद्ध चमत्कार तीन प्रकार के हैं। प्रथम वे हैं जिनका साम्प्रदायिक महत्त्व है। इस कोटि में अधिकतर संत चरनदास की सर्वज्ञता, सर्वसामर्थ्यता तथा शक्तिमत्ता के द्योतक हैं। द्वितीय कोटि में वे हैं जिनका साम्प्रदायिक एवं राजनीतिक दोनों प्रकार का महत्त्व है। इसमें राजनीतिक व्यक्तियों का गर्व-मोचन तथा चरनदास जी का महत्त्व प्रदर्शन किया गया है। तृतीय कोटि के वे हैं जिनके द्वारा अन्य साम्प्रदायिक व्यक्तियों की तुलना में चरनदास जी का महत्त्व संस्थापित हुआ है।

'गुरु-भक्ति प्रकाश' में अनेक चमत्कारों का उल्लेख हुआ है परन्तु वे सभी इन्हीं तीन श्रेणियों में विभाजित किये जा सकते हैं इस ग्रन्थ में से कुछ को यहां उदाहरणार्थ उद्धृत किया जाता है:—

१. आठ वर्ष की अवस्था में बालक चरनदास अपने घर से नाना के घर जाने के लिये कुछ निकट सम्बन्धियों के साथ यात्रा कर रहा था। मार्ग में एक भयानक जंगल होकर जाना था। जंगल में प्रवेश करते ही एक सिंह मिल गया। सब लोग बालक को छोड़कर भगे। परन्तु चरनदास घबड़ाए नहीं। पैर फैलाकर बैठ गये। सिंह ने निकट आकर उनके पैर चाटे। थोड़ी देर के बाद सिंह चला

गया, और खेत में पहुँचते ही उसने प्राण त्याग कर इन्द्र लोक की यात्रा की[१]।

२. एक खत्री के सात पुत्रियां थी परन्तु पुत्र एक भी नहीं था। वह चरनदास जी की सेवा में अत्यन्त दत्तचित्त रहता था। एक बार उसने अपनी पुत्र कामना निवेदित की। महाराज ने दो पुत्र होने का आशीर्वाद दिया। कालान्तर में फिर दो पुत्री हुई। उसने फिर वही निवेदन किया। महाराज ने कहा वे पुत्री नहीं पुत्र हैं। हमसे झूठ बोलते हो। उन्हें यहाँ ले आओ। महाराज का प्रताप दोनों ही पुत्र हो गए[२]।

३. चरनदास जी ने ईरान से नादिरशाह के आगमन की तारीख, महीना, मिती, वार, मुहम्मद शाह की पराजय, नादिरशाह की विजय आदि सब भविष्य-वाणी के रूप में ६ मास पूर्व मुहम्मद शाह से कह दिया था। जब नादिरशाह भारतवर्ष में आया और दिल्ली की विजय करने के लिये लूट-कत्ल कर चुका तब मुहम्मदशाह ने सब हाल नादिरशाह को सुनाया। यह सुनकर नादिरशाह ने

---

१. महाराज ततकाल ही दीना पांव पसार।
जब सिंह चाटन लगा सब ही रहे निहार॥
हेत किया सिर कर धरा वर दीना कही जाव।
वा शरीर का छोड़ कर इन्द्रलोक के पांव॥

२. वाके बेटी सातक भई। पुत्तर की आशा मनाही।
पुत्तर की चाहत मन माही। सकुच शरम सो कही न जाई॥
अरज दास की यह सुन लीजै। हमारे घर में पुत्तर दीजै॥
केते द्योसन माह ही भयी जु बेटी दोए।
जिन जिन आगे कही थी हंसने लागे सोय॥
एक दिना सहजन के मांही। वासे पूछन लगे गुसाईं॥
तुमको दो पुत्तर दिये हमही। ताको तुमने कही न कबही॥
गिर ही कही सुनो हे स्वामी। कहा कहूं तुम अन्तर्यामी।
लड़को की लड़की भई ऐसे भाग हमार।
तीन महीना बीतया सकुच न कही तुम्हार॥
कही कि दोनों ह्यांले आओ। उनकी सूरत हमें दिखाओ॥
उठ गिरहीं अवने गृह धाया। नार सहित पुत्री ले आया॥
आगे डार दई कर जोरे। दृष्टि परत पलटो औरे॥
रामरूप चरन दास उचारे। तुम बौरे बौरे नर सारे॥
लड़को को लड़की बतलाओ। कहो भाग तुम कितनों खाओ॥

दर्शन के लिए उन्हें बुलाया। महाराज के जाने पर उसने करामात दिखाने के लिए कहा। तब चरनदास जी ने ताज की ओर देखा तो ताज की कलंगी पक्षी बनकर उड़ गई। नादिरशाह ने उन्हें जादूगर समझकर किले में बन्द कर दिया। महाराज अन्तर्ध्यान होकर अपने स्थल पर जा पहुँचे। नादिरशाह ने फिर उन्हें बुलाकर किले में बन्द करवा दिया और चाभी अपने पास रखली। अर्धरात्रि में चरनदास ने प्रकट होकर नादिरशाह के मस्तक पर लात मारी। वह घबड़ाकर उठा और चरणों में गिर पड़ा। महाराज जी ने हृदय से लगा लिया और बहुत से उपदेश दिये। नादिरशाह ने क्षमा-याचना करते हुए उन्हें बहुत से गाँव जागीर के रूप में भेंट किये। चरनदास जी वहाँ से पालकी में अपने स्थल पर प्रसन्नचित्त वापस आए।

४. एक समय श्री वृन्दाबन से एक नागरीदास गुसाई श्री जगन्नाथ जी के दर्शन के लिए पुरी जा रहे थे। जगन्नाथ जी ने उन्हें स्वप्न दिया कि तुम वृद्ध हो इतने दूर आने की कोई जरूरत नहीं है। दिल्ली में चरनदास मेरा ही स्वरूप है, उन्हीं के दर्शन कर लेना। भोर ही नागरीदास जी दर्शन के लिए चल पड़े। चरनदास के स्थल पर देखा तो वहां भी बलभद्र जी, तथा सुभद्रा जी एवं जगन्नाथ जी के दर्शन हुए। जब परिक्रमा करके अष्टांग प्रणाम किया तो देखा पीला चोला धारण किए हुए चरनदास जी विराजमान हैं।

५. एक बार पंजाब से एक राधा-वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी साधु ने महाराज के पास आकर निवेदन किया कि आप ने ठाकुर जी के दर्शन किए हैं मुझे भी करा दें। अपने हठवश उसने दो दिन भोजन नहीं किया। अंत में चरनदास जी ने दया करके उसे भी दर्शन करा दिये।

६. एक बार चरनदास जी के शिष्य बैठे हुए भजन कीर्तन कर रहे थे। चरनदास जी भी वहां बैठे थे। सब शिष्यों ने प्रार्थना की कि महाराज आकाश गंगा के स्नान करा दो। महाराज ने आकाश की ओर देखा और आकाश से धारा बह चली। सबने जी भरकर स्नान कर लिया। तब स्वतः धारा बन्द हो गई।

७. एक बार चरनदास जी व्रज के लिए यात्रा कर रहे थे। मार्ग में बटमारों ने घेर लिया और मार डालने का प्रयत्न किया। महाराज तो बच गए परन्तु बटमारों की क्या दशा हुई इसका वर्णन रामरुप जी की भाषा में इस प्रकार वर्णित है :—

---

१. 'गुरु महिमा', (अप्रकाशित रचना)।

बाट माहिं अचरज भया मिले सात ठग आय।
पाछे सो फांसी दई हरि ने लिया बचाय॥

फांसी जल कर हाथ जलाने। तनके कपड़े सभी तपाने॥
भक्ति राज फिर लिये बुझाई। साध बिना को करै भलाई॥
कर सो मींड मींड दुख मेंटा। ठग व्याकुल हो धरणी लेटा॥
और सबै ठग चरणों परिया। हाथजोड़ कही तुम दुख हरिया॥
हमारा खोट माफ अब कीजै। कठी बाधो हाथ धरीजै॥
अब ही सो हम ठगई छांड़ी। मन सों भक्ति राम की माड़ी॥
यों ही करेंगे राम दुहाई। भजन करै सुल लोग लुगाई॥
हम सातों ने यह मत लीया। तन मन भेंट तुम्हारी कीया॥
महाराज हंस कंठ लगाये। कंठी बांधी तिलक चढ़ाये॥
करके साधू कुटिलता खोई। देकर भक्ति बिदा किये सोई॥

इसी प्रकार चरनदास जी का चरित्र अद्भुत चमत्कारों से परिपूर्ण है। इनमें कहां तक सत्यता है और कहां तक कल्पना एवं श्रद्धा को स्थान दिया गया है, यह उक्त उल्लेखों को पढ़ने से ही स्पष्ट हो जाता है। परन्तु इन सब के नीचे तथ्य यह है कि चरनदास साधना के क्षेत्र में सिद्ध थे और धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को परिष्कृत एवं निर्दोष बनाने के लिये उन्होंने अथक परिश्रम किया। समाज के विकास में उनका अपना योग दान था। उन्होंने हीन और अपराधी मनोवृत्ति के व्यक्तियों में सुधार किया। सहानुभूति और सहिष्णुता के आधिक्य ने उनमें वसुधैव कुटुम्बकम् की भावना जाग्रत कर दी थी और वे इस प्रकार वृहत्तर मानव समाज के पोषक एवं संस्थापक बन गए थे।

चरनदास की इन्हीं विशेषताओं ने उन्हें अत्यधिक श्रद्धा के आसन पर ला बैठाया जहां से देवत्व दूर नहीं प्रतीत होता है। सच तो यह है कि मानवीय भावनाओं का पूर्ण विकास ही देवत्व की स्थिति है।

मृत्यु

अपने महाप्रयाण से दो दिन पूर्व संवत १८३९ के अगहन मास के शुक्ल पक्ष परीवा को उन्होंने शरीर त्यागने की भविष्य वाणी कर दी थी। निश्चित तिथि से दो दिन पूर्व उन्होंने अपने समस्त प्रिय शिष्यों को निकट बुलाकर कहा कि संसार में मेरे आने का लक्ष्य पूर्ण हो गया है। अब मैं अपने धाम को प्रस्थान करना चाहता हूँ।[1] यह सुनकर समस्त शिष्य समाज में व्याकुलता और अधीरता

१. दो दिन पहले अस्थल के जो। लिये बुलाये संत सब थे सो॥
ढिग बैठाय कहै यो बैना। अब हम जैहै अपने ऐना॥
जीव चितावन को ह्यां आये। सो कारज कीने मन भाये॥
आये थे जिस कारणों सब अब कीने काज।

का वातावरण छा गया। अत्यन्त प्रिय व्यक्ति के वियोग से किसे दुख और कष्ट का अनुभव नहीं होता। प्रिय शिष्यों की व्याकुलता देखकर चरनदास जी ने कहा कि यही सब समझ कर मैंने अपनी महायात्रा का हाल अधिक दिन पूर्व नहीं बताया था। पहले से मालूम हो जाने पर अधिक वियोग और कष्ट करना पड़ता। इसी कारण मैंने यह रहस्य नहीं उद्घाटित किया था। मैं तुमसे कभी भी पृथक् नहीं हूँ। यही मेरा अन्तिम सन्देश है कि सब घट मे ब्रह्म विद्यमान हैं। ब्रह्म और सद्गुरु से स्नेह रखो। दोनों भिन्न कभी नहीं हैं। भगवान भक्त वत्सल है। वियोग और दुख की बात ही क्या है। तुम भी निश्चय ही एक दिन इस जीर्ण काया का परित्याग करके मेरे धाम में प्रवेश करोगे। इस संसार में रहते हुए जब भी तुम मेरा ध्यान करोगे तो अपने हृदय में ही उपस्थित पाओगे।[1]

सद्गुरु के इन वचनों को सुनकर रामरूप जी ने उनसे शरीर त्याग करने की विधि पूंछी। चरणदास जी ने कहा कि :—

सुनु शिष तै पूछी भली यह थी पूछन जोग।
तन त्या गूंगो योग विधि तू मत कर मन सोग ॥
जो मैं कीना जगत में सो मर्यादा हेत।
भक्ति बढ़ावन कारने हम आये या खेत ॥
सोई अब मैं करूंगा मर्यादा की रीति।
दशवां द्वारा छेद कर जैहौ निज पुर नीत ॥
योग कमाई हम करी तरुण अवस्था मांहि।
ताहिं करेंगे सुफल अब दो दिन है इहि ठांहि ॥
दो दिन बीते जायगें परम धाम को तात।
दशम द्वार की गैल हो चार घड़ी रहे रात ॥
बरस उन्नासी ह्यां रहे और महीने तीन।
परमारथ हित तन धरा अब ह्वै हूँ हरि लीन ॥

---

1. सुनते ही ऐसे वचन सब सिष भये विहाल।
तरफत व्याकुल दुखित अति बिछुरन जान दयाल ॥
लखि के ऐसी विकलता फिर बोले अवतार।
यही समझ हम ना कहा पहले सों निजसार ॥
कहत बहुत दिन पहले जो बढ़ता अधिक वियोग ॥
अति प्रेमी तन त्यागते घर घर होता सोग ॥
अरु होती भीड़ जो अति बहुत लोग।
दूर दूर को चालते सुनि के बिछुरन जोग ॥

जब महाप्रयाण का समय निकट आया तो चरनदास जी ने पलंग के पास भूमि पर गद्दी बिछवा ली और उसी पर पद्मासन लगाकर बैठ गए। इसके अनन्तर उन्होंने सबसे शांति धारण करने का आदेश दिया। सब लोगों ने आंखों में अश्रु भर भर कर सद्गुरु के श्री चरणों में अपना अंतिम प्रणाम अर्पित किया। इसके पश्चात् चरनदास जी ने प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु को दशम द्वारा पर चढ़ा लिया। कालान्तर में ब्रह्मांड विदीर्ण हो गया और प्रकाश पुंज में प्राण वायु समाहित हो गई। ब्रह्मांड के विदीर्ण होते ही आकाश में ध्वनि हुई। शंख, नगाड़ा आदि वाद्यों के रव से आकाश गुंजरित हो उठा। आकाश अलौकिक वाद्य ध्वनियों से परिपूरित हो गया और समीपवर्ती स्थित साधु मंडली अत्यधिक व्याकुल हो गई। इसके अनन्तर शिष्यों की वियोगावस्था वर्णनातीत है। चरनदास जी के शरीर परित्याग का रामरूप जी ने बड़ा मार्मिक वर्णन किया है। यहां पर उन पंक्तियों को उद्धृत किया जाता है :—

जब ही आया वह समय लोगादी बिछवाय।
उतर पलंग सो धीर बुधि वापर बैठे जाय॥
आसन पदम लगाय के यों कही श्री महाराज।
अब हम सों मत बोलियों सब को जै महराज॥
सभी करी दंडवत ही रो रो व्याकुल होय।
भक्ति राज करिन लगे फिर ना बोले कोय॥
करके प्राणायाम ही दशवें प्राण चढ़ाय।
चले खोल ब्रह्मांड पट मिले नूर में जाय॥
तड़ से भई अवाज ही जै जै गगन मंझार।
शंख नगारा ध्वनि हुई अजगैबी वह बार॥
भया चांदना भवन में निकसी ज्योति अनूप।
मिले नूर में नूर ही जो था आदि स्वरूप॥
गगन मंडल बाजे बजे कल में हाहाकार।
लाख विछोह महराज का पीड़ा भई अपार॥

इस प्रकार चरनदास जी ने अगहन शुक्ल पक्ष तीज संवत १८३८ का नाशवान् शरीर का परित्याग कर अमरलोक की ओर महाप्रस्थान किया।

तृतीय अध्याय

चरनदास का साहित्य

संत-साहित्य के उज्वल रत्न तथा सुकवि चरनदास का पद्य-साहित्य पर्याप्त, विस्तृत, व्यापक और गंभीर है। उनका पद्य-साहित्य, वर्ण्य-विषय, प्रतिपादित विचारधारा एवं शैली की दृष्टि से विभिन्न वर्गों में विभाज्य है। कवि की प्रतिभा का जितना सुन्दर प्रसार और प्रकाश वेदान्तविषयक प्रसंगों में हुआ है; उतना ही योग, ज्ञान और भक्ति विषयों में भी। कवि की "नासकेत लीला" इस बात की द्योतक है कि उपाख्यान और इतिवृत्तात्मक ग्रन्थों की रचना में भी कवि की प्रतिभा समान रूप से प्रसरित हो सकी है और उसमें कथा कहने की अद्भुत शक्ति है। उसका शब्द-साहित्य, काव्य और कला की दृष्टि से जितना ही विभिन्नता पूर्ण है उतना ही महत्वपूर्ण भी। भाषा पर उसका अच्छा अधिकार था। अन्य सन्तों के समान एक ही भाव को अनेक शैलियों में व्यक्त करने में उन्हें भी आशातीत सफलता प्राप्त हुई है। काव्य-साहित्य में संत-कवि सुन्दरदास के अनन्तर भाषा-विषयक जितने प्रयोग चरनदास ने सफलतापूर्वक किये हैं, उतने किसी भी अन्य संत-कवि ने नहीं किये।

संत कवि चरनदास-कृत उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या इक्कीस है। इनके अतिरिक्त शब्दों एवं साखियों की संख्या शतशः है। कवि का स्फुट-साहित्य और ग्रन्थ-साहित्य समान रूप से महत्वपूर्ण और कलात्मक है।

चरनदासी-सम्प्रदाय एक जीवित और जाग्रत सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदाय के अन्तर्गत सहजोबाई, दयाबाई, गुरुभक्तानन्द, सरसमाधुरीशरण जैसे सुकवि और आध्यात्मिक साहित्य-स्रष्टा-साहित्यकार और रूपमाधुरीशरण जैसे गद्यकारों का आविर्भाव हुआ। इन साहित्यकारों का साहित्य के क्षेत्र में सुन्दर और उपयोगी योग-दान है। संतो द्वारा संस्थापित सम्प्रदायों में इतना जाग्रत और जीवित सम्प्रदाय अन्य नहीं है। इसी सजीवता के फलस्वरूप संत कवि चरनदास के प्रायः समस्त ग्रन्थ अब तक प्रकाशित हो गए हैं। इन ग्रन्थों का प्रकाशन दो स्थानों से विभिन्न समयों में हुआ है। सर्वप्रथम सन् १६०८ में वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से कवि का यह साहित्य प्रकाशित हुआ। इसके अनन्तर कवि के ग्रन्थ और स्फुट पद्य-साहित्य का एक साथ प्रकाशन लखनऊ के प्रसिद्ध नवलकिशोर प्रेस से हुआ है। इस प्रकार कवि का समस्त साहित्य प्रकाश में आ चुका है।

चरनदास के ग्रन्थों का उल्लेख पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने स्थान-स्थान पर किया है। साहित्य के इतिहासकारों ने भी इस कवि के ग्रन्थों के परिचयात्मक विवरण अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किये हैं। धार्मिक-साहित्य के आलोचक और सम्प्रदायों के इतिहासकारों ने कवि के ग्रन्थों का भी स्थान-स्थान पर विवरण दिया है।

पाश्चात्य विद्वानों में से सर्वश्री जेम्स हेस्टिंग्ज, एच० एच० विल्सन, विलियम क्रुक्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर तथा भारतीय विद्वानों में सर्वश्री क्षितिमोहन सेन, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, रामकुमार वर्मा, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, शिवदयालु गौड़ आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं जिन्होंने संत चरनदास के ग्रन्थों का परिचयात्मक उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है।

इन पाश्चात्य एवं भारतीय लेखकों के अतिरिक्त डा० श्यामसुन्दर दास तथा आचार्य रामचन्द्र शुक्ल एवं श्री हरिऔध जैसे साहित्य के इतिहासकर, श्री भुवनेश्वर माधव, सम्पादक संत-बानी-संग्रह, सम्पादक चरनदास की बानी, सम्पादक योगांक, श्री गणेशप्रसाद द्विवेदी तथा रूपमाधुरीशरण जैसे संत साहित्य पर ग्रन्थों की रचना करने वाले विद्वानों ने कवि के ग्रन्थों का उल्लेख बिलकुल नहीं किया है। उनका यह मौन आश्चर्यजनक है।

श्री जेम्स हेस्टिंग्ज के मतानुसार चरनदास के मौलिक ग्रन्थों में भक्तिसागर, सन्देह सागर, ज्ञान स्वरोदय, धर्म जहाज, ब्रह्म विद्यासागर तथा नासिकेतोपाख्यान उल्लेखनीय है[1]। इस सूची में कवि के ६ ग्रन्थों का उल्लेख श्री जेम्स हेस्टिंग्ज ने किया है। इसी सूची की द्वितीय पुस्तक का नाम श्री हेस्टिंग्ज के अनुसार सन्देह-सागर है। परन्तु कवि के पुस्तक के अन्तस्साक्ष्य से इस ग्रन्थ का नाम योगसन्देह-सागर है। इसी प्रकार श्री हेस्टिंग्ज द्वारा उल्लिखित पंचम एवं षष्टम् ग्रन्थ है—ब्रह्म विद्यासागर तथा नासिकेतोपाख्यान। अन्तस्साक्ष्य के आधार पर इनका नाम ब्रह्म-ज्ञान सागर, तथा नासकेत लीला है जैसा कि ग्रन्थों के पृथक्-पृथक् विवेचन से स्पष्ट हो जायगा।

श्री एच० एच० विल्सन के मतानुसार कवि के 'सन्देह सागर' एवं 'धर्मजहाज' ग्रन्थ प्रामाणिक रचनाए हैं।[2] श्री विलियम क्रुक्स ने अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'ट्राइब्स

---

१. His original works include Bhakti-Sagar, Jnan-Swarodaya, The Sandeh Sagar, The Dharm Jahaj, Brahamavidya Sagar, The Nasiketopakhyana; Encyclopedia of Religion and Ethics vol.3.p.368

२. He has also left original works as the Sandeh Sagar and Dharm-Jahaj in a dialogue between him and his teacher Sukh Deva-f, the Same according to the Charn Das as the pupil of Vyas and the narrator of the Purans.–Esrays and Lecture on the Religion of the Hindus Vol 1, 1862 p. 180

एंड कास्ट्स आफ एन० डब्ल्यू० पी० एंड अवध' में कवि के द्वारा लिखित 'सन्देह सागर' तथा 'धर्म जहाज' का उल्लेख किया है।

'राजपूताना गज़ेटियर' के संपादक ने चरनदास की 'सन्देह सागर,' 'धर्म जहाज' तथा 'नासाक्षेत्र' नामक रचनाओं का परिचयात्मक विवरण उक्त गज़ेटियर में दिया है। परन्तु इस उल्लेख में तृतीय ग्रन्थ 'नासाक्षेत्र' का वास्तविक नाम 'नासकेतलीला' है, जैसा उपलब्ध अन्तस्साक्ष्य से प्रकट होता है।

सर जार्ज ग्रियर्सन के अनुसार चरनदास ने बहुत से संस्कृत ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद किया है। कवि के अन्य ग्रन्थों में 'भक्तिसागर,' 'ज्ञान स्वरोदय', 'योग न्देह सागर', 'धर्म जहाज', 'ब्रह्म विद्या सागर' 'नासिकेतोपाख्यान' का उल्लेख श्री ग्रियर्सन ने 'श्री शुकसम्प्रदाय प्रकाश' में किया है[१]।

भारतीय विद्वानों में सर्वश्री क्षितिमोहन सेन ने 'सन्देहसागर,' 'धर्म जहाज[२]' प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, ने 'ज्ञान स्वरोदय'[३], डा० रामकुमार वर्मा ने 'अमर लोक अखंड-धाम', 'भक्ति पदार्थ' 'ज्ञान स्वरोदय,'[४] डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल ने 'ज्ञान स्वरोदय'[५] तथा शिवदयालु गौड़ ने 'ब्रज चरित्र', 'अमर लोक,' 'अष्टांग योग,' 'धर्म जहाज', 'सन्देह सागर,' 'ज्ञान स्वरोदय', 'भक्ति पदार्थ', 'पंचोपनिषद् सार', तथा 'ब्रह्म ज्ञान सागर'[६] ग्रन्थों का उल्लेख किया है।

उपर्युक्त इन पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वानों के उल्लेखानुसार कवि की निम्नलिखित रचनायें हैं :—

१. धर्मजहाज २. सन्देहसागर ३.ज्ञान-स्वरोदय ४. अमरलोक-अखंड-धाम ५. भक्ति-पदार्थ ६. ब्रजचरित्र ७. अष्टांगयोग ८. पंचोपनिषद्सार ९. ब्रह्मज्ञानसागर १०. नासकेत-लीला ११. भक्ति-सागर।

---

१. 'श्री शुकदेव सम्प्रदाय प्रकाश' पृष्ठ २०

२. मेडीवियल मिस्टीसिज़्म

३. इन्हें स्वरों का भी पूर्ण ज्ञान था। इनका बनाया 'ज्ञान स्वरोदय, नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। 'भक्त चरितावली', भाग १, पृष्ठ ३४६

४. इनके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—'अमर लोक अखंड धाम', 'भक्ति पदारथ', 'ज्ञान स्वरोदय' और 'शब्द'।

५. 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास', द्वितीय संस्करण, पृष्ठ ५०५

६. जिनकी वाणी विविध विधि अद्भुत अनुपम ग्रन्थ।
नाम भक्ति सागर सरस, प्रेम पगा को पन्थ॥

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखक को अपने प्रस्तुत खोजकार्य के सम्बन्ध में कवि की निम्नलिखित रचनायें हस्तलिखित रूप में उपलब्ध हुई हैं। इन ग्रन्थों की संख्या, ग्रन्थों के शीर्षक, प्राप्ति स्थान अथवा सूत्रों का विवरण निम्नलिखित है। चरन-दास के उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची २० है।

संख्या	ग्रन्थों के शीर्षक	प्राप्ति स्थान अथवा सूत्र
१.	ब्रज-चरित	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
२.	दान-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
३.	माखनचोरी-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
४.	मटकी-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
५.	चीरहरण-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
६.	काली-नथन-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
७.	कुरुक्षेत्र-लीला	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
८.	अमरलोक-वर्णन	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
९.	धर्म-जहाज	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र
१०.	अष्टांग-योग	महन्त गुलाब दास तथा श्री गणेश दत्त मिश्र

ब्रजचरित तामें प्रथम, अमर लोक शुचि नाम।
रासादिक लीला ललित, अरु महिमा निज धाम॥
कर्मकांड शुभ अशुभ फल, कथन किये महराज।
नाम धर्‍यो ताको प्रभू, अनुपम धर्म जहाज॥
योग युक्ति जामें भरी, सब विधि सांगोपांग।
याही ते याको धर्‍यो, नाम योग अष्टांग॥
सागर योग संदेह की, पुस्तक वानी गूढ़।
गुरु मुख ज्ञानी जन विना, अर्थ न समझे मूढ़॥
योग स्वरोदय पुनि रच्यो, स्वर को भेद अपार।
ताहि पढ़े कर प्रेम जो, पावे तत्व विचार॥
वेद अथर्वण की कही, पंच उपनिषद् सार।
भाषा में वर्णन करी, योग ज्ञान निरधार॥
भक्ति पदारथ पुनि कथ्यो, श्रुति पुराण को सार।
अगुन सगुन हरि रूप को, कियो तत्व निरधार॥
दत्तात्रेय मुनि ने किये, गुरु चौबीस उदार।
ताकी कथा कही भलो, नाम सु गटकासार॥

११. योग-सन्देहसागर	महन्त गुलाब दास, श्री गणेश दत्त मिश्र तथा श्री भगवान दास
१२. ब्रह्मज्ञान-सागर	महन्त गुलाब दास, श्री गणेश दत्त मिश्र एवं श्री भगवान दास
१३. भक्ति-पदार्थ-वर्णन	श्री गणेश दत्त मिश्र
१४. जागरण-माहात्म्य	श्री गणेश दत्त मिश्र
१५. श्रीधर-ब्राह्मण-लीला	श्री गणेश दत्त मिश्र
१६. मन-विकृतकरण-सार	महन्त गुलाब दास, श्री गणेश दत्त मिश्र एवं श्री भगवान दास
१७. भक्ति सागर	श्री गणेश दत्त मिश्र तथा श्री भगवान दास
१८. ज्ञान-स्वरोदय	महन्त गुलाब दास, श्री गणेश दत्त मिश्र एवं श्री भगवान दास
१९. पंचोपनिषद्सार	श्री गणेश दत्त मिश्र तथा श्री भगवान दास
२०. नासकेत लीला	श्री गणेश दत्त मिश्र एवं श्री भगवान दास

पाश्चात्य विद्वानों एवं इस देश के लेखकों के द्वारा उल्लिखित सूची और लेखक द्वारा अन्वेषित ग्रन्थों की प्रस्तुत सूची में निम्नलिखित नौ-ग्रन्थों का अंतर पड़ता है :—

१. दान-लीला २. माखन-चोरी-लीला ३. मटकी-लीला ४. चीरहरण-लीला ५. काली-नथन-लीला ६. कुरुक्षेत्र लीला ७. जागरण माहात्म्य ८. मनविकृत-करणसार ९. श्रीधर-ब्राह्मण-लीला।

प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक उपर्युक्त इन २० ग्रन्थों को कवि चरनदास की प्रामाणिक रचना मानता है। ग्रन्थों पर पृथक् विचार एवं विवेचना करने के पूर्व इन ग्रंथों की प्रामाणिकता पर विचार कर लेना आवश्यक है।

ग्रन्थों की प्रामाणिकता

चरनदास के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार करने के पूर्व हमें कसौटी प्रस्तुत कर लेना होगा। किसी ग्रन्थ की प्रामाणिकता हम उसकी भाषा, शैली विचार परम्परा, अभिव्यक्त भावावली, परम्परानुगत भावों का चित्रण, कवि के नाम की छाप, छन्दों का प्रयोग तथा गद्दी एवं मठों में उसकी मान्यता आदि से आंक

जीव ब्रह्म की एकता, कही खोल निरधार।
ब्रह्म ज्ञान सागर धर्यो, ताको नाम विचार॥
सुनि परिशिष्ट सुभाग में, दशम स्कन्धनुसार।
श्रीकृष्ण लीला ललित, अनुपम युगल विहार॥

सकते हैं। इस परीक्षण के आधार पर हम किसी ग्रन्थ की प्रामाणिकता का मूल्यांकन कर सकते हैं। चरनदासजी के ग्रन्थों पर भी हम इसी दृष्टि से विचार करेंगे।

सर्वप्रथम हम कवि की रचना 'योग सन्देह सागर' पर विचार करेंगे। कवि की समस्त रचनाओं में 'योग सन्देह सागर' ही एक ऐसी रचना है, जिसका उल्लेख साहित्य के इतिहासकारों ने सबसे अधिक किया है। सर्वश्री एच० एच० विल्सन, डब्ल्यू० क्रुक्स, जेम्स हेस्टिंग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादक राजपूताना गजेटियर, क्षितिमोहन सेन, शिवदयालु गौड़, परशुराम चतुर्वेदी, आदि ने इसे चरनदास की प्रामाणिक रचना माना है। दिल्ली, डेहरा, बहादुरपुर के मठ और गद्दियाँ जिनका कवि के व्यक्तित्व और जीवनी से बड़ा निकट और घनिष्ट सम्पर्क रहा है, इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा और शैली प्रौढ़ है। इसकी भाषा और शैली का रूप बहुत कुछ 'ज्ञान स्वरोदय', 'अष्टांग योग', 'ब्रह्मज्ञान सागर', 'पंचोपनिषद् सार' एवं 'मन विरक्तकरण सार' से साम्य रखता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यक्त भावावली एवं विचारधारा वही है, जिसकी साधना चरनदास ने जीवन-पर्यन्त की और जिसका प्रचार उन्होंने अपने सम्प्रदाय में किया था। यह ग्रंथ 'अष्टांगयोग' का पूरक ग्रंथ प्रतीत होता है। यह भी निश्चित है कि इसकी रचना कवि ने 'अष्टांगयोग' के बाद में की थी। इस ग्रन्थ में श्री शुकदेव से प्राप्त योग की परम्परानुगत विचार-धारा का चित्रण सफलतापूर्वक हुआ है। स्थान-स्थान पर कवि के नाम की छाप 'चरनदास का गुरु शुकदेव' भी उपलब्ध होता है, जो प्रामाणिकता सिद्ध करने में सहायक प्रतीत होता है। ग्रन्थ की रचना कवि के प्रिय छंद दोहा-चौपाई में हुई है। मठों में आज भी इसकी प्रतियां पूजा और आराधना की वस्तु है। अतः यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

अष्टांगयोग

प्रस्तुत-ग्रन्थ कवि की सबसे प्रौढ़ और परिपक्व रचना है। विषय-प्रतिपादन, वर्ण्य-विषय की गम्भीरता तथा भाषा और शैली की प्रौढ़ता की दृष्टि से यह कवि का अद्वितीय ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का भाषा और शैली ज्ञानस्वरोदय, पंचोपनिषद् सार, ब्रह्मज्ञानसागर एवं योगसन्देह सागर से साम्य रखती है, जो कि कवि की सर्वमान्य रचनाएं समझी जाती हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में श्री शुकदेव से उपदिष्ट योग विषयक विचार-धारा एवं विचार-परम्परा की अभिव्यंजना हुई है। स्मरण रखना आवश्यक है कि आज दिन भी चरनदासी-सम्प्रदाय में योग, ज्ञान एवं स्वर साधना आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस सम्प्रदाय में पाई जाने वाली अथवा उपलब्ध यह साधना श्री शुकदेव जी द्वारा उपदिष्ट विचार-परम्परा में ही है। अतएव इस ग्रन्थ में परम्परागत भावों का ही चित्रण हुआ है। कहना न होगा कि कवि ने अपने जीवनकाल में भी इन्हीं सिद्धांतों की साधना और

प्रचार किया था। 'गुरु भक्ति प्रकाश' में कवि द्वारा चौदह वर्ष तक योग-साधन करने का एक स्थान पर उल्लेख भी हुआ है। ग्रन्थ में 'शुकदेव कहै सुनि चरणहिदासा', 'कहैं शुकदेव चरणही दासा' आदि कवि के नाम की छापें अंकित है। प्रस्तुत ग्रन्थ के आदि में कवि का कथन है:—

चरणदास अपनो कियो, चरणन लियो लगाय।
शिर कर धरि सब कछु दियो, भक्ति दई समझाय ॥
बालेपन दरशन दिये, तबही सब कछु दीन।
बीज जु बोया भक्ति का, अब भया वृक्ष नवीन ॥
दिन दिन बढ़ता जायगा, तुम किरपा के नीर।
जब लग माली ना मिला, तब लग हुता अधीर ॥
अरु समझाये योग ही, बहु भांती बहु अंग।
ऊरध रेता की कही, जीतन विन्द अनंग ॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि श्री शुकदेव ने कवि को विशेष रूप से योग-मार्ग में दीक्षित किया था और इसी दीक्षा के फलस्वरूप कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की थी। ग्रन्थ की रचना कवि ने अपने प्रिय छन्दों (दोहा और चौपाइयों) में की है। इस ग्रन्थ की प्रतियाँ सम्प्रदाय के मठों और गद्दियों में आज भी उपलब्ध होती है। वर्तमान महन्त इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

उक्त आधारों पर हम इसे कवि की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

पंचोपनिषद्सार

'योग-सन्देह-सागर,' ब्रह्म-ज्ञान-सागर,' 'अष्टांगयोग', 'ज्ञान-स्वरोदय' के समान 'पंचोपनिषद् सार' भी कवि की सर्वमान्य प्रामाणिक रचना है। इस ग्रन्थ की भाषा एवं शैली का उपर्युक्त अन्य ग्रन्थों की भाषा-शैली से पूर्णतया साम्य है। उपनिषदों की शिक्षा और ज्ञान कवि को श्री शुकदेव से दीक्षा के रूप में प्राप्त हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट होता है:—

वेदहि की उपनिषद् जु मैं भाषाकारी।
जो कुछ था वहि माँहि सोई जैसे धरी ॥
... ...

जोपै करै विचार और गुरु सों लहै।
वाकी गहनी गहै और रहनी रहै।
गुरु शुकदेव प्रताप सों चितते गाइया।
चरणहिदासा होय सबन शिर नाइया।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि 'पंचोपनिषद् सार' में श्री शुकदेव से प्राप्त परम्परागत विचारधारा का चित्रण हुआ है। इस ग्रन्थ में व्यक्त भावावली ब्रह्म की अद्वैतसत्ता, प्रणव-महिमा, जीव, आत्मा एवं ब्रह्म का साम्य एवं भेद, सोऽहं

एवं हंस मन्त्रों की सर्वश्रेष्ठता आदि को आज भी चरनदासी-सम्प्रदाय में मान्यता प्राप्त है। इसके अतिरिक्त कवि के अन्य ग्रन्थ 'योग-सन्देह-सागर,' 'ब्रह्मज्ञान सागर,' 'अष्टांग योग,' तथा 'भक्ति पदार्थ' आदि ग्रन्थों में 'पंचोपनिषद् सार' में प्रतिपादित विचार धारा ही लहरें ले रही है। ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें 'चरणहिदासा', 'चरणदास', 'चरणदास यों कहत हैं' आदि सर्वत्र उपलब्ध होती है। ग्रन्थ की रचना दोहा-छन्द में हुई है। चरनदासी सम्प्रदाय के मठों में और गद्दियों पर यह ग्रन्थ नित्य पाठ और आरती की वस्तु है। वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास इसे एक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

उपर्युक्त आधारों पर हम इस ग्रन्थको कवि कीएक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

ब्रह्मज्ञान-सागर

सर जार्ज ग्रियर्सन, जेम्स हेस्टिंग्ज तथा शिवदयालु गौड़ आदि लेखकों ने इसे कवि की प्रामाणिक रचना माना है। इस ग्रन्थ की भाषा एवं अभिव्यंजना शैली कवि की अन्य सर्वमान्य प्रामाणिक रचनाओं—'योग सन्देह सागर', 'अष्टांग योग', 'ज्ञान-स्वरोदय, तथा 'पंचोपनिषद् सार' की भाषा-शैली से साम्य रखती है। चरनदास ने अपने सम्प्रदाय में जीवनपर्यन्त निर्गुण-निराकार परब्रह्म का उपदेश दिया था। द्वैत-भावना के भारी भ्रम मिट जाने पर कवि को गुणातीत ब्रह्म का स्पष्ट-ध्यान हो आया था। इस द्वैत के मिट जाने पर कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की थी जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

भूल हुई जब दो हुते, अब नहि एक न दोय।
अटक उठी धोखो मिटो, अपनाहूँ गयो खोय॥
अद्वै अचल अखंड है, अगम अपार अथाह।
नहीं दूर नहि निकट है, सतगुरु दियो बताय॥

इस द्वैत-भावना के विनष्ट हो जाने पर कवि ने प्रस्तुत-ग्रन्थ में जिस ब्रह्म की विवेचना की है वह उपनिषदों में वर्णित ब्रह्म-विषयक धारणा से नितांत साम्य रखती है। कवि की ब्रह्म-विषयक प्रस्तुत धारणा उसके 'पंचोपनिषद् सार,' 'योग सन्देह सागर', आदि ग्रंथों में प्रतिपादित हुई है।

नाहि सूक्ष्म अस्थूल न भारी। रूप रंग नहि है परकारी॥
आर पार कछु दीखत नाहीं। कबसो है अरु कबसों नाहीं॥
कहां कहौ कछु कहत न आवै। गूंगो स्वप्न कहा बतावै॥
हद कहूँ तो है नहीं, बेहद कहौ तो नाहि।
हद बेहद दोनों नहीं, चरनदास भी नाहि॥
निर्गुण ना सगुण नहीं, उपजै ना मिटि जाय।
सब कुछ है अरु कछु नहीं, सदा ब्रह्म थिर थाय॥

ये भाव और ये पंक्तिया निश्चय ही चरनदास की अपनी व्यक्तिगत रचना है, इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है। ये पंक्तियां स्वतः ग्रन्थ की प्रामाणिकता कों उद्घोषित करती है। यह सबसे सबल प्रमाण है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें, दोहा, चौपाइयों (कवि के सर्वप्रिय छन्द) में ग्रन्थ की रचना, और इसकी प्रतियों का मठों एवं गद्दियों पर पूज्य होना ग्रन्थ की प्रामाणिकता को और अधिक बल प्रदान करते हैं। निश्चय ही यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

ज्ञान स्वरोदय

श्री जेम्स हेस्टिंग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, डा० रामकुमार वर्मा, डा० पीताम्वर दत बड़थ्वाल, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी एवं शिवदयालु **गौड़** आदि विद्वानों ने इसे कवि की प्रामाणिक रचना मना है।

'ज्ञान स्वरोदय' की भाषा-शैली कवि कीअन्य प्रामाणिक रचनाओं, 'अष्टांगयोग' 'योग सन्देह सागर' आदि से पूर्ण साम्य रखती है। इसमें चिन्तन की वही गंभीरता और अभिव्यंजना की वही स्पष्टता उपलब्ध होती है जो 'अष्टांग योग' या 'योग सन्देह सागर में उपलब्ध होती है। भाषा की प्रौढ़ता अन्य ग्रन्थों ('अष्टांग योग' एवं 'योगसंदेहसागर') से साम्य रखती है।

'स्वरोदय' की शिक्षा चरनदास को श्री शुकदेव से प्राप्त हुई थी। श्री शुकदेव-सम्प्रदाय में आज भी स्वरोदय साधना, आध्यात्मिक साधना का एक महत्वपूर्ण अंग माना जाता है। परम्परा में यह ज्ञान कवि को श्री शुकदेव से प्राप्त हुआ था, जैसा कि निम्नलिखित उद्धरणों से ज्ञात होता है :—

> धरणि टरे गिरिवर टरै, ध्रूव टरै सुन मीत।
> वचन स्वरोदय ना टरै, कहै दास रणजीत॥
>
> शुकदेव गुरू की दया सों, साधु दया सों जान।
> चरनदास रणजीत ने, कह्यो स्वरोदय ज्ञान॥

इन पंक्तियों में कवि का स्वरोदय-विज्ञान के प्रति अटूट श्रद्धा और विश्वास प्रकट होता है, साथ ही यह ज्ञानार्जन की परम्परा को स्पष्ट कर देता है। स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ में व्यक्त भावावली का उपदेश कवि को अपने गुरुदेव से प्राप्त हुआ था। इस ग्रन्थ में परम्परानुगत भावों की अभिव्यंजना की गई है। इन प्रमाणों के आधार पर इसे हम कवि की प्रामाणिक रचना कहने में संकोच का अनुभव नहीं कर सकते हैं। इनके अतिरिक्त ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें, 'चरणदास शुकदेव बतावै,' 'चरणदास ,' "शुकदेव कहै चरणदास' अंकित है। प्रस्तुत ग्रन्थ की

रचना दोहा और चौपाई छन्दों में हुई है, जो अन्य ग्रन्थों की रचना के आधार है ।

'ज्ञान स्वरोदय' की प्रामाणिकता का सबसे श्रेष्ठ प्रमाण चरणदासी-सम्प्रदाय में इस विज्ञान की अत्यधिक मान्यता है । दीक्षा मंत्र के बाद शिष्य को महन्त आज भी योग और स्वरोदय विज्ञान की शिक्षा देते हैं । चरनदासी-शिष्य आज भी स्वरोदय-विज्ञान के द्वारा अपने कार्य की पूर्ति और भविष्य में घटित होने वाली घटना का ज्ञान प्राप्त करते हुए देखे गये हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि मानों श्वास प्रश्वास संचालन जहां एक ओर उनके जीवन का आधार बना हुआ है वहां दूसरी ओर यही श्वास-प्रश्वास नियंत्रण तथा सन्तुलित आवागमन उनके साधना का जीवन है । इस सम्बन्ध में सविस्तार विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ के आध्यात्मिक साधना परिच्छेद में की गयी है । यहां पर इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करते हुए इतना कह देना और आवश्यक है कि इस ग्रन्थ की प्रतियां बिना किसी अपवाद प्रत्येक मठ और गद्दी पर मिलना कवि की प्रतिष्ठा और ग्रन्थ की प्रामाणिकता की द्योतक है ।

मन-विरक्तकरण-सार

प्रस्तुत रचना 'ज्ञान स्वरोदय,' 'पंचोपनिषद सार,' 'अष्टांग योग,' ब्रह्मज्ञान सागर' एवं 'योग सन्देह सागर' से पूर्व विरचित ग्रन्थ प्रतीत होता है ।

भाषा और शैली के दृष्टिकोण से 'धर्म जहाज,' 'भक्ति सगार,' 'भक्ति पदार्थ' एवं 'नासकेत लीला' समकक्ष रचनाएं है । ये समस्त ग्रन्थ कवि की काव्य-प्रतिभा, शैली-परिमार्जन और भाषा-प्रौढ़ता के विकास की द्वितीय श्रेणी प्रतीत होते हैं । 'भक्ति सागर' की विवेचना और प्रामाणिकता पर विचार करते हुए हमने देखा था कि यही एक ऐसी रचना है जिसके अंत में स्वयं कवि ने आत्म-चरित और आत्म-परिचय का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ रचना के लक्ष्य एवं प्रेरणादि का उल्लेख किया है । इस आधार पर हम उसे कवि की अत्यधिक प्रामाणिक रचना मानते हैं । 'मन-विरक्त करण-सार' की भाषा का 'भक्ति सागर' की भाषा से बहुत कुछ साम्य है । शब्दों का वही चयन, भाषा का वही प्रवाह, उपमा और उदाहरणों की वही अभिनवता जो 'धर्म जहाज', 'भक्ति सागर' और 'भक्ति पदार्थ' आदि रचनाओं में उपलब्ध होता है, वह यहां भी दृष्टिगत होता है । ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने लिखा है :—

एकादश भागवत में, जाकी यह मति ज्ञान ।
दत्तात्रेयी ने कह्यों, राजा यदु सो ज्ञान ॥

चरणदास हौ कहत हौ, परमारथ के काज।
जो अंग श्री भागवत में, साधु होन के साज॥
गुरु शुकदेव प्रताप सों, कहूं विचार विवेक।
दत्तात्रेयी ने कियो, चौबीसो गुरु देख॥

प्रस्तुत ग्रन्थ में व्यक्त उपर्युक्त भाव से स्पस्ट हो जाता है कि, कवि ने इस ग्रन्थ की रचना श्री गुरुदेव की प्रेरणा से की थी। उपर्युक्त ग्रन्थ की विचार-धारा और व्यक्त-भावावली ज्ञान योग, और संसार से विरक्ति से सम्बन्धित है। स्मरण रखना चाहिए कि कवि के समस्त ग्रन्थों में (बिना किसी अपवाद के) योग, ज्ञान, और वैराग्य की यही भावना व्यक्त मिलती है। कवि का स्फुट काव्य इस भाव धारा से ओतप्रोत है। अतएव विचार परम्परा, व्यक्तभावावली एवं परम्परानुगत भावों के चित्रण की दृष्टि से इस रचना की प्रामाणिकता पर सन्देह नहीं होता है।

इन प्रमाणों के अतिरिक्त कतिपय अन्य सूत्र भी विचारणीय है जो ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्धारण मे सहायक होंगे। ग्रन्थ में कवि के नाम की छाप प्रत्येक दोहा के अनन्तर उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में कवि के नाम की छाप है "चरणहिदास"। वर्तमान मठों और गद्दियों के अध्यक्षों द्वारा प्रस्तुत ग्रन्थ मान्यता प्राप्त कर चुका है। आज भी इन स्थानों पर इसका दैनिक पाठ और सामयिक वार्तालाप या वाद-विवाद में उल्लेख होता रहता है।

भक्तिसागर

डाक्टर राम कुमार वर्मा, पं० परशुराम चतुर्वेदी, श्री शिवदयाल गौड़ प्रभृति विद्वान प्रस्तुत रचना को चरनदास का प्रामाणिक ग्रन्थ मानते हैं। ग्रन्थ के अन्त में उल्लिखित निम्नांकित पंक्तियों से भी हम ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्धारित करने में सफल होते हैं :—

संवत् सत्रह सै इक्यासी। चैत सुदी तिथि पूरणमासी॥
शुक्ल पक्ष दिन सोमहिवारा। रचो ग्रन्थ यो' कियो विचारा॥
तब ही सूं अस्थापन धरिया। कछु इक बानी वा दिन करिया।
तामें ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जामें अनुरागा॥
ना में किया न करने हारा। गुरु हिरदे में आय उचारा॥

इन पंक्तियों में कवि ने ग्रन्थ की रचना तिथि और प्राप्त प्रेरणा का उल्लेख किया है। गणनानुसार कवि ने इस ग्रन्थ की रचना अपने जीवन के इक्कीसवें वर्ष में की थी। इसकी भाषा और शैली 'धर्म जहाज,' 'भक्ति पदार्थ' एवं 'मनविरक्त-करण सार' से साम्य युक्त है। 'भक्ति सागर' की शैली और अभिव्यंजना पद्धति काव्य कला की विकासावस्था की द्वितीय मंजिल प्रतीत होती है।

इस ग्रन्थ में कवि के ही शब्दों में 'तामें ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जामें अनुरागा'। इसका प्रतिपाद्य विषय ज्ञान, योग और वैराग से सम्बन्धित है, जिसका उपदेश कवि को सद्गुरु शुकदेव से प्राप्त हुआ था। कहना न होगा कि यही विचार परम्परा और अभिव्यक्त भावावली कविके सम्प्रदाय की मुख्य विचारधारा है। इसीका प्रकाश और विस्तार कवि की प्रायः सभी रचनाओं में समान रूप से उपलब्ध होता है। प्राणायाम, प्रणव-जप, और योग की अन्य साधना जिनकी अभिव्यक्ति कवि की अन्य रचनाओं 'अष्टांगयोग' आदि में हुई है वही इस ग्रन्थ में भी उपलब्ध होती है। परम्परानुगत यही विचारधारा आज भी चरनदासी-सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से मान्य है हठयोग की इन्हीं प्रक्रियाओं का वर्णन यहां इस ग्रन्थ में भी है जो सम्प्रदाय के प्रत्येक शिष्य को पालन करना अनिवार्य माना गया है।

इस ग्रन्थ में "चरणदास," तथा "रणजीत कहै" की छाप बारम्बार उपलब्ध होती है। ग्रन्थ की रचना में कवि के प्रिय छन्द दोहा, चौपाई के अतिरिक्त कुंडलिया, छप्पय, कवित्त, सवैय्या आदि भी प्रयुक्त हुए है।

ग्रन्थ की मान्यता सम्प्रदाय की अधिकृत संस्थाओं, मठ, मंदिरों में समान रूप से है। सम्प्रदाय में इसे नव दीक्षित शिष्य के अध्ययन के हेतु आधार-भूत ग्रन्थ माना जाता है।

अस्तु यह कवि की प्रामाणिक रचना है।

भक्तिपदार्थ

सर्व श्री डाक्टर राम कुमार वर्मा, परशुराम चतुर्वेदी, शिवदयालु गौड़ प्रभृति विद्वानोंके मतानुसार यह चरनदास की प्रामाणिक रचना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा-शैली 'भक्ति सागर' से बहुत कुछ साम्य रखती है। भाषा का वही परिमार्जित रूप जो कवि की अन्य प्रामाणिक रचनाओं ('ब्रह्म-ज्ञान सागर,' 'भक्ति सागर,' 'मन विकृत करण सार' एवं 'सर्वोपनिषद् सार') में उपलब्ध होता है वही इस ग्रन्थ में भी प्राप्त होता है। ग्रन्थ में गुरुदेव स्तवन, हरि गुरु की एकता, ब्रह्म की अद्वैत सत्ता, आदि का सुन्दर विवेचन हुआ है। ब्रह्म विवेचना से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियों का 'योग सन्देह सागर,' 'ब्रह्मज्ञान सागर,' 'सर्वोपिनिषद् सार,' 'अष्टांगयोग' और 'भक्ति सागर' आदि में सम्पादित ब्रह्म विषयक धारणा से पूर्ण साम्य है :–

वे निरगुण सरगुण ते न्यारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे॥
ऐसे पूरणब्रह्म पिछानौ। निराकार निरगुण मत जानौ॥

निराकार नहिं ना आकारा । नहिं अडोल नहिं डोलन हारा ॥
नहिं परगट नहिं गूपन ठाऊ । समझि सकौ नहि थकि थकि जाऊं ॥

इन पंक्तियों में जिस ब्रह्म की विवेचना की गई है वह सविस्तार 'अष्टांग योग' 'सर्वोपनिषद् सार' आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित हुआ है इसी प्रकार व्यक्त भावावली परम्परागत है जिसकी दीक्षा कवि को श्री शुकदेव से प्राप्त हुई थी। इस प्रकार कवि की रचना परम्परागत विचार-धारा की पोषिका है। इस ग्रन्थ में दया, लोभ, क्रोध, मोह, अभिमान शील, माया, मन आदि विषयों का जो प्रतिपादन कवि ने किया है, वह पूर्णरूप से अक्षरशः 'चरनदास जी की बानी' में सम्पादक संतवानी संग्रह ने प्रामाणिक स्वीकार कर लिया है। ग्रन्थ की प्रतिपादन शैली का अन्य प्रामाणिक रचनाओं से प्रचुर साम्य हैं।

ग्रन्थ में "चरणदास," "चरणदास यों कहत है," ",कहें चरणदास" आदि कवि के नाम की छापें विद्यमान हैं। ग्रन्थ की रचना आद्योपांत दोहा और चोपाई में सम्पन्न हुई है। चरणदासी सम्प्रदाय के मठों और मंदिरों में कवि की इस रचना का बड़ा समादर है। यह ग्रन्थ सम्प्रदाय के शिष्यों द्वारा विशेष रूप से पठित है। मठों के विशेष उत्सवों पर इस ग्रन्थ का पाठ और कीर्तन होता है।

इन सभी तर्कों के आधार पर कवि चरणदास के इस ग्रन्थ को हम प्रामाणिक रचना मानते हैं।

धर्म जहाज

सर्वश्री एच० एच० बिल्सन, विलियम कुक्स, सर जार्ज ग्रियर्सन, जेम्स हेस्टिंग्ज, क्षिति मोहन सेन, सम्पादक राजपूताना गजेटयर, शिवदयालु गौड़ तथा परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति विद्वान लेखकों ने इस ग्रन्थ को चरनदास की प्रामाणिक रचना है।

भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'भक्तिसागर,' 'भक्ति पदार्थ' एवं 'मन विकृत करणसार' की समकक्ष रचना है। इसमें कवि की काव्यकला के प्रारम्भिक स्वरूप के दर्शन होते हैं।

ग्रन्थ मे करनी एवं कथनी का साम्य एवं ऐक्य की आवश्यकता, करनी और फल प्राप्ति, करनी और जगत की व्यवस्था आदि पर प्रकाश डाला गया। है इस भाव और विचार-धारा का उपदेश कवि को सतगुरु शुकदेव जी से उपलब्ध हुआ था जैसा कि ग्रन्थ के आदि और अंत में कवि द्वारा उल्लिखित हुआ है। अस्तु, इसका वर्ण्य विषय परम्परानुगत भावों से सम्बन्धित है। कवि के नाम की छापें "कहि शुकदेव चरणहिदास" प्रत्येक प्रसंग के अंत में उपलब्ध होती है।

ग्रन्थ की रचना कवि के प्रिय छन्द दोहा चौपाई में सम्पन्न हुई है। इस ग्रथ को साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त है वर्तमान महन्त इसे एक प्रामाणिक रचना मानते हैं।

अमरलोक

डा० राम कुमार वर्मा, श्री परशुराम चतुर्वेदी एवं श्री शिवदयाल गौड़ प्रभृति विद्वानों ने इसे कवि का प्रामाणिक ग्रन्थ माना है।

दार्शनिक विषयों के प्रतिपादन की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ 'भक्ति-सागर' एवं 'भक्ति पदार्थ' से पूर्व विरचित प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कवि का दार्शनिक विषयों का अध्ययन विकास की ओर अग्रसर प्रतीत होता है। इस ग्रन्थ में कवि ने श्रीकृष्ण जी के 'अमर लोक वृंदावन' का वर्णन किया है। ये श्रीकृष्ण निगुण होते हुए भी अवतारधारी हैं। इससे स्पष्ट है कि इस समय तक कवि कृष्ण के सगुणत्व को नहीं भूल सका है। इसमें सन्देह नहीं है कि अपनी साधना के प्रारम्भिक वर्षों में कवि सगुणोपासक था अतः यह रचना इसी समय की लिखी हुई प्रतीत होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ विचार परम्परा, व्यक्त भावावली और परम्परानुगत भावों के चित्रण में 'ब्रज चरित,' 'चीरहरण लीला,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी लीला' 'काली नथन लीला,' 'मटकी लीला' आदि की परम्परा में प्रतीत होती है। श्रीकृष्ण के चरित्र से सम्बन्धित कवि के ग्रन्थों में यह अंतिम और सर्वाधिक कलापूर्ण रचना प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में शनैः शनैः निगुण ब्रह्म के तत्वों का समावेश प्रारम्भ सा मिलता है। ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें प्राप्त होती है। दोहा और चौपाइयों में ग्रन्थ की रचना हुई है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रति मठाधीशों का मोह और श्रद्धा उसकी प्रामाणिकता का परिचायक है।

'ब्रज चरित्र' चीरहरण लीला' 'दान लीला' माखन चोरी लीला' कालीनथन लीला,' 'श्रीधरण ब्राह्मण लीला.' 'मटकी लीला,' एवं 'कुरु क्षेत्र लीला'

सगुण परब्रह्म नन्द यशोदा के पुत्र श्रीकृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं से सम्बन्धित ये रचनायें कवि चरणदास के लघु ग्रन्थ हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने श्रीकृष्ण के चरित्र एवं लीलाओं के विभिन्न प्रसंगों और प्रकरणों की अभिव्यंजना की है प्रथम ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के ब्रज में कृत विभिन्न चरित्रों, द्वितीय में चीरहरण, तृतीय में दान मांगने की लीला, चतुर्थ में माखन-चोरी प्रसंग, पंचम में कालीनथन प्रकरण, षष्ट में मटकी छीनने और विनष्ट करने का वर्णन और सप्तम में

कुरुक्षेत्र से सम्बन्धित लीलाओं का वर्णन उपलब्ध होता है । इन ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के चरित्र की संक्षिप्त एवं विविध रश्मियों का प्रकाशन किया गया है ।

आश्चर्य का विषय है कि चरनदास पर लिखने वाले विद्वानों और इतिहासकारों का ध्यान हमारे कवि की इन रचनाओं के प्रति बिलकुल नहीं गया है। श्रीपरशुराम चतुर्वेदी ने अपने ग्रन्थ 'उत्तरी भारत की संत परम्परा' में लिखा है। "संत चरणदास कृत समझी जाने वाली अन्य रचनाओं में जागरण माहात्म्य, मटकी लीला, कालीनथन लीला, श्रीधर ब्राह्मण लीला व माखन चोरी लीला, श्रीमद्भागवत् से सम्बन्ध रखती हैं। कुरुक्षेत्र लीला में कृष्ण का नन्दादि के साथ पुनर्मिलन दिखाया गया है ।"[1]

इस उद्धरण में चतुर्वेदी जी के संत चरणदास कृत समझी जाने वाली अन्य रचनाओं" शब्दों से प्रकट होता है कि उन्हे स्वयं इन ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं है । तथ्य यह है कि ये ग्रन्थ संत चरणदास कृत ही है । कवि ने इन ग्रन्थों की रचना अपनी साधनावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में की थी। इन ग्रन्थों की भाषा, शैली आदि इस बात की द्योतक है कि कवि की ये कला विहीन, अपरिमार्जित भाषा में लिखित कृतियां उसके साधनात्मक जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में लिखी गई थी ।

चरणदास जी पहले सगुण श्रीकृष्ण के भक्त थे। तदनन्तर योग के क्षेत्र में अवतरित होकर निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक बने । चरणदास जी के दिल्ली वाले मठ और गद्दी स्थल पर बने हुए मंदिर में आज भी श्रीकृष्ण की वह मूर्ति स्थापित है जिसकी आराधना कवि पहले किया करता था । यह मूर्ति कवि विरचित श्रीकृष्ण के चरित्र सम्बन्धित काव्यग्रन्थ ब्रजचरित, चीरहरणलीला, दानलीला, माखनचोरी लीला, कालीनथन लीला, मटकी लीला, कुरुक्षेत्र लीला आदि की प्रामाणिकता सिद्ध करने में सहायक है । ये ग्रन्थ सगुणोंपासना से सम्बन्धित हैं, अतः अप्रामाणिक रचनाएं हैं, यह केवल निःसार तर्क है । संत कवि मलूकदास भी अपनी साधनावस्था के प्रारम्भिक वर्षों में चरनदास के समान ही सगुण कृष्णोंपासक थे और इसीलिए उन्होंने भी कृष्ण-चरित काव्यों की रचना की थी। इतना ही नहीं सन्तों में अधिकांश कवियों ने सगुणोंपासना से निर्गुण उपासना की ओर ध्यान दिया था अतः चरनदास का सगुण कृष्ण का चरित्र गान करने के अनन्तर निर्गुण और उस से भी परे सत्ता का स्तव लिखना कोई आश्चर्यजनक बात नहीं है ।

इन ग्रन्थों में कथा वर्णन की वही शैली उपलब्ध होती है जो आगे चलकर कवि की प्रौढ रचनाओं 'नासकेत लीला' आदि ग्रन्थो में प्रस्फुटित हुई ।

[1] उत्तरी भारत की संत परम्परा पृ० ६०२

इन ग्रन्थों में चरणदास के नाम की छापें सर्वत्र अंकित मिलती है। इन ग्रन्थों की रचना प्रमुख रूप से दोहा चौपाई छन्दों में हुई है और इनको साम्प्रदायिक मान्यता प्राप्त है।

इन आधारों पर ये रचनाएं कवि की प्रामाणिक कृतियां हैं।

जागरण–महात्म्य

प्रस्तुत ग्रन्थ भी कवि की एक लघु रचना है। इसमें एकादशी व्रत एंव तदन-न्तर जागरण-कीर्तन का माहात्म्य वर्णित है।

भाषा शैली की दृष्टि से यह अपरिपक्व और अपरिमार्जित रचना है। इस दृष्टि से इसे हम कवि कृत कृष्ण-चरित काव्यों की श्रेणी में रख सकते हैं। योग, ज्ञान एवं वैराग्य से सम्बन्धित अपने कव्यों में कवि ने जप, व्रत, माला, तिलक छाप आदि की बड़ी निन्दा की है। अत: यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ भी कवि कृत कृष्णचरित काव्यों के समान ही प्रारम्भिक रचना है। कवि ने ग्रन्थ के प्रारम्भ और अन्त में इस ग्रन्थ के रचना का प्रेरणा स्रोत श्री शुकदेव को बताया है सम्भव है कि इसी कारण गुरु के उपदेश से प्रेरित होकर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना कर डाली हो।

ग्रन्थ की रचना आद्योपांत दोहा एवं कवित छन्दों में सम्पन्न हुई है। इस ग्रन्थ में भी कवि के अन्य प्रामाणिक ग्रन्थों की भांति कवि ने नाम की छापें विद्य-मान है। मठों में इस ग्रन्थ को प्रामाणिक माना जाता है।

नासकेत लील

श्री जेम्स हेस्टिंग्ज, सर जार्ज ग्रियर्सन, सम्पादन राजपूताना गजेटियर, श्री शिव दयालु गौड़, श्री परशुराम चतुर्वेदी प्रभृति लेखकों के मत से प्रस्तुत ग्रन्थ चरनदास की प्रामाणिक कृति है।

भाषा एवं शैली की दृष्टि से प्रस्तुत रचना 'धर्म जहाज,' 'भक्तिसागर,' 'भक्ति पदार्थ,' एवं 'मनविकृतकरण सार' आदि कवि की प्रामाणिक रचनाओं से साम्य रखती हुई इनके समकक्ष प्रतीत होती है। इसमें 'नासकेत' का चरित्र और चरित बड़े विस्तार के साथ वर्णित हुआ है। ग्रन्थ की कथा अनेक परिच्छेदों में विभाजित हुई है, जिनमें से कतिपय अंतिम परिच्छेदों में करनी और उसका प्रतिफल कवि की अन्य प्रामाणिक रचना 'धर्म जहाज' के करनी कथनी प्रकरण के समान ही वर्णित हुई है। भाव परम्परा की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'भक्ति पदार्थ' की श्रेणी में ही आता है। अतः यह कवि की प्रामाणिकता में सहायक है।

ग्रन्थ में कवि के नाम की छापें विद्यमान हैं। ग्रन्थ की रचना कवि के प्रिय छन्द दोहा और चौपाई में हुई है। ग्रन्थ को साम्प्रदायिक समर्थन प्राप्त है।

विषयानुसार विभाजन एवं अध्ययन

कवि के ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विचार कर लेने के उपरान्त इनका विषयानुसार अध्ययन और विभाजन कर लेना आवश्यक है। इन ग्रन्थों पर पृथक-पृथक विवेचन करने के हेतु इनका वर्ण्य-विषयानुसार विभाजन आवश्यक, उपादेय और वैज्ञानिक होगा।

ग्रन्थों का विषयानुसार विभाजन निम्नलिखित चार प्रकार से उचित प्रतीत होता है :—

१. अवतार लीला विषयक : दान लीला, कुरुक्षेत्र लीला, माखनचोरी लीला, मटकी लीला, चीरहरण लीला।

२. ज्ञान, योग एवं आध्यात्मिक विचार विषयक : ब्रजज्ञानसागर, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, धर्मजहाज, मनविरक्तकरण सार, योगसन्देह सागर, सर्वोपनिषदसार, ज्ञानस्वरोदय, अष्टांगयोग।

३. कथानक विषयक : नासकेत लीला एवं श्रीधर ब्राह्मण लीला।

४. स्फुट : जागरण माहात्म्य, अमर लोक, तथा कवि लिखित शतशः साखी और पद साहित्य।

वर्ण्य-विषय और सिद्धांत प्रतिपादन की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित प्रकार से भी संभव है :—

१. सगुणोपासना विषयक: ब्रज चरित, दान लीला, माखनचोरी लीला, कालीनथन-लीला, मटकी लीला, चीरहरण लीला, कुरुक्षेत्र लीला।

२. योग : अष्टांगयोग एवं योगसन्देहसागर, ज्ञानस्वरोदय।

३. भक्ति : भक्तिपदार्थ एवं भक्तिसागर।

४. वेदान्त : पंचोपनिषदसार।

५. वैराग्य : मनविरक्तकरण सार।

६. ज्ञान : ब्रह्मज्ञान सागर।

७. विविध : श्रीधर ब्राह्मण लीला, जागरण माहात्म्य, धर्म जहाज, नासकेत लीला, अमर लोक।

ब्रजचरित

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित' की दो प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुईं। प्रथम प्रति महन्त गुलाब दास के यहाँ प्राप्त हुई जो केवल दर्शन की वस्तु मात्र है। लेखक को भी इस प्रति के दर्शन मात्र करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है परन्तु अध्ययन करने का अवसर नहीं मिल सका। द्वितीय प्रति श्री गणेश दत्त मिश्र के संग्रहालय में उपलब्ध हुई। ब्रज-चरित की यह प्रति श्री मिश्र जी के संग्रह में 'दान लीला' 'माखन चोरी' 'काली नथन', 'मटकी लीला', 'चीर हरण', और 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ सम्बद्ध है।

ब्रज चरित तथा उसके साथ सम्बद्ध अन्य उपर्युक्त ६ ग्रन्थों के प्रतिलिपिकर्ता अजपादास जी थे, जैसा ग्रन्थ के अन्त में निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है :—

"इति श्रीस्वामी चरनदास लिखित ब्रजचरित सम्पूरन स्वपाठार्थ प्रस्तुत किया श्रीचरनदास के दास रामरूप जी महाराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते लिखित आशाढ़ संवत १८४२ विक्रमीय।"

प्रस्तुत उद्धरण से स्पष्ट है कि प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रतिलिपि आषाढ़ संवत १८४२ वि० में श्री अजपादास ने की थी। चरनदास जी का निधन संवत १८३९ वि० सिद्ध हो चुका है। अतएव इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि अजपादास ने चरनदास की मृत्यु के तीन वर्ष बाद प्रस्तुत की थी। अजपादास के विषय में श्री सरस माधुरीशरण ने अपने ग्रन्थ 'गुरू महिमा' में निम्नलिखित परिचयात्मक विवरण दिया है :—

"अजपादास जी श्री रामरूप जी महाराज के परम प्रिय शिष्य भये श्री गुरु महाराज की शरण में आके दिन रैन भजन स्मरण में व्यतीत करते श्री स्वामी जी की कृपा से प्रेम की लगन हृदय में अत्यन्त बढ़ी सो एक दिन हाथ जोड़ के दीनता से नम्रता युक्त श्री स्वामी जी से विनय करी प्रभु आप हमारे सामर्थ गुरु हो एक दफा श्रीकृष्ण के रास विलास के दर्शन करावो सो स्वामी जी तुरत ही दयाल होके अजपा दास जी को सन्मुख बिठा के आज्ञा करी कि नेत्रमूंद के ध्यान करो...."

इस उदाहरण से स्पष्ट है कि अजपादास जी चरनदास के प्रिय शिष्य रामरूप जी के निकट और विश्वास पात्र शिष्य थे। अतएव अजपादास के द्वारा प्रस्तुत की हुई यह प्रति सर्वथा प्रामाणिक निश्चित होती है।

'ब्रजचरित' की रचना २८१ छन्दों में हुई है। इस ग्रन्थ का आकार १०" x ६" है और रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

'ब्रजचरित' की इन अमुद्रित प्रतियों के अतिरिक्त नवल किशोर प्रेस, लखनऊ

की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका संकलन 'भक्तिसागर' शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है।

'ब्रजचरित' में श्रीकृष्ण की रासलीला, ब्रज में कृत अन्य लीला और चरितों का वर्णन हुआ है। इस ग्रन्थ में ब्रज और श्रीकृष्ण से सम्बन्धित उनके वैभव का सविस्तार वर्णन हुआ है। इस प्रकार वर्ण्य-विषय और ग्रन्थ के शीर्षक में पूर्णतया साम्य है। वर्णित विषय की दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक प्रतीत होता है।

ग्रन्थ के वर्ण्य विषय का विभाजन प्रकरण अथवा अध्याय में नहीं सम्पन्न हुआ है। 'ब्रज चरित' का वर्णन क्रमशः प्रसंगानुसार चलता रहता है। ग्रन्थ में वर्णित प्रसंगों के आधार पर प्रतिपादित विषय में क्रमशः परिवर्तन होता है।

आधार ग्रन्थ—प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना का आधार 'बाराह संहिता' है जैसा कि कवि के निम्नलिखित कथन से प्रकट होता है :—

अत्र ब्रज की गति गाय सुनाऊं। बुद्धि शुद्धि हरि भक्ति जु पाऊं॥
चिन्ता मेटन भूमि बखानी। रणजीत मीत जहं दुर्म बिनानी॥
कमलापति को चक्र सुदर्शन। चरणदास ताको करै बन्दन॥
मथुरामंडल तापर रहै। व्यासदेव मुनि ऐसे कहै॥
बाराह संहिता में जो गायो। सो मैं भाषा बीच बनायो॥

वर्ण्य-विषय—'ब्रज-चरित' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

'ब्रज-चरित' वर्णन की सफलतापूर्वक समाप्ति के लिए श्रीकृष्ण, गोविन्द गुरू, नारदमुनि, व्यास, शुकदेव आदि से कृपा एवं वर याचना—ब्रज की सुन्दर, गति और वहां के निवासियों की मति—मुक्त एवं भक्ति दाता गोवर्द्धन की स्तुति—वृन्दावन का विस्तृत क्षेत्र-फल और उसमें गोवर्द्धन का महत्व—अलख रूप से श्री कृष्ण को गोपियों के साथ इस विस्तृत क्षेत्र में भ्रमण—ब्रज के बारह बन एवं बारह उपवन—ब्रज के भिन्न-भिन्न प्रसिद्ध स्थानों का वर्णन—ब्रज के द्वादश बनों के नाम और परिचय—वृन्दावन का क्षेत्रफल और उसका वैभव—ब्रज में प्रकृति का अक्षय निवास--वृन्दावन का ऋतु वैभव—अमरलोक के मध्य वृन्दावन की स्थिति—वंशी वट का चबूतरा—राधा और कृष्ण के रास का वर्णन—राधा के शृंगार और सौंदर्य का वर्णन—राधाकृष्ण की कृपा से मुक्त होने वाले संतो की सूची—राधाकृष्ण की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय प्रतिपादन सरल और साधारण शैली में हुआ है। कवि ने समस्त पदार्थों, दृश्यों और व्यक्तियों का वर्णन या उल्लेख अत्यन्त सरल एवं पंडिताऊ शैली में किया है। विषय-प्रतिपादन शैली को देख कर प्रतीत होता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचना है। इसमें वह

काव्य कौशल या सहज चमत्कार जो चरनदास के अन्य ग्रन्थों में सर्वत्र उपलब्ध है, नहीं दृष्टिगत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस ग्रन्थ के रचनाकाल में कवि को अपनी काव्य-शक्ति पर अधिक भरोसा नहीं था, इसीलिए वह अपने प्रयत्न में सफली-भूत होने के लिए सभी शक्तियों से प्रार्थना करता हुआ दिखलाई पड़ता है। प्रस्तुत कथन का समर्थन निम्नलिखित पंक्तियों से होता है :—

नारद मुनि अरु व्यास जू, कृपा करहु दयाल।
अच्छर भूलौ जो कहीं, कहौ मोहि ततकाल ।।
श्री शुकदेव दयाल गुरु, मम मस्तक पर ईश।
ब्रज चरित्र कहत हौं, तुमहि नवाऊं शीश ।।
सब साधुन परणाम करि, कर जोरूं शिरनाय।
चरनदास विनती करै, वाणी द्योह बनाय ।।

रचना-काल—कवि चरनदास ने ग्रन्थ के अंत में इस कृति के रचना-काल का उल्लेख नहीं किया। ग्रन्थ का अंत श्री राधाकृष्ण बन्दना से हो जाता है; परन्तु विषयप्रतिपादन की दृष्टि से ज्ञात होता है कि यह कवि की प्रारम्भिक रचना है। इस ग्रन्थ में सगुण श्रीकृष्ण, तथा अन्य सगुण शक्तियों का उल्लेख आया है। इससे भी प्रतीत होता है कि यह कवि के साहित्यिक जीवन की प्रारम्भिक कृति है। श्री-रामरूप जी ने 'गुरू भक्ति प्रकाश' में 'ब्रज चरित' तथा अन्य दो ग्रन्थों की रचना का उल्लेख मात्र कर दिया है परन्तु उनके रचनाकाल का कोई उल्लेख नहीं किया है। रामरूप जी के मतानुसार चरनदास ने इस ग्रन्थ की रचना ब्रज-यात्रा से लौटने के अनन्तर दिल्ली के एक मुहल्ले 'परीक्षित पुर' में अपने भक्त नन्द राम की हवेली में की थी जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :—

आय गये दिन बीस में पहुचे माता पास।
माता को परसन्न कर और ठौर कियो वास ।।

... ...

भक्तिराज फिर यों कही कहीं टहल यक तोहि।
भाड़े की एक कोठड़ी अब ले दीजै मोहि ।।
मोकूं आछी ना लगे बहु मनुषन की भीड़।
ध्यान जो करूँ एकांत में मोहि सुहाव उछीड ।।
नन्दराम फिर यों कही सुनो श्री गुरुदेव।
मेरी हवेली के विषे एक कोड़ठी लेव ।।
भक्ति राज नीकी समझ जाय रहे वहिं ठांव।
हरि प्रसाद के कुटुम्ब सब आकर पूजे पांव ।।

महाराज कोठे विषे ध्यान करे चितलाय।
एक पहर जब दिन रहे बाहर बैठे आय ॥

जैसी ब्रज में लीला चीन्ही । ब्रज चरित्र की पोथी कीन्ही ॥
जो प्रभु ने निज धाम दिखायो । सो ह्यां भाषा मांहि बनायो ॥
दो पोथी बहु हित सों साजी । ग्रन्थ बीच रहे शिरे विराजी ।

अंतिम तीन पंक्तियों में 'ब्रजचरित' तथा एक अन्य ग्रन्थ (जिसका नाम नहीं दिया गया,) की रचना का उल्लेख है । प्रस्तुत ग्रन्थ के चरनदास का जीवन-चरित्र तथा चरित प्रकरण में 'यात्रा एवं भ्रमण' उप-शीर्षक में चरनदास की ब्रजयात्रा का समय सन् १७३६ निर्धारित किया गया है । अतएव 'ब्रजचरित' की रचना सन् १७४० के लगभग निश्चित होती है ।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ में भाव-सौंदर्य और अभिव्यंजना-शैली साधारण कोटि की है । 'रास वर्णन' में शब्द-चयन और भाषा का प्रवाह सुन्दर है । श्रीराधा और अन्य गोपिकाओं के आभूषणों का वर्णन कवि ने बड़ी रुचि और विस्तार के साथ किया है जिससे उस समय के सांस्कृतिक वातावरण का हमें ज्ञान प्राप्त हो जाता है ।

अमरलोक-वर्णन

उपलब्ध प्रतियाँ—लेखक को प्रस्तुत ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ और एक मुद्रित प्रति प्राप्त हुई है । हस्तलिखित प्रतियों में प्रथम वर्तमान महन्त श्री गुलाब दास के यहाँ उपलब्ध हुई और द्वितीय श्रीगणेशदत्त मिश्र की कृपा से । लेखक के अध्ययन का आधार मिश्रजी के यहाँ से प्राप्त द्वितीय प्रति है । यह उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि इन प्रतियों में वर्ण्य-विषय सम्बन्धी कोई विशेष भेद नहीं है ।

महन्त जी तथा मिश्र जी की प्रतियों में से किसी में भी प्रतिलिपिकर्ता अथवा प्रतिलिपि काल का उल्लेख नहीं हुआ है । मिश्र जी की प्रति के अन्त में केवल निम्नलिखित शब्द लिखे हुए हैं जिससे प्रकट होता है कि इसकी प्रतिलिपि श्री चरनदास जी के कश्चित् निकट और विश्वास-पात्र शिष्य के द्वारा हुई है । शब्द इस प्रकार है :—

"इति श्री महाराज चरणदास कृत अमरलोक अखंड धाम वर्णन सम्पूर्णम् । छर अछर का भेद जो देखै तहिं इह प्रापतम् ॥"

प्रस्तुत प्रति का आकार ८"×५½" है और इसकी रचना १९८ छन्दों में सम्पन्न हुई है । ग्रन्थ की रचना लिपि देवनागरी है ।

ग्रन्थ का शीर्षक—ग्रन्थ का शीर्षक 'अमर लोक वर्णन' है । नवलकिशोर प्रेस से प्रकाशित प्रति में इसका नाम 'अमरलोक अखंडधाम वर्णन' दिया हुआ

है। डाक्टर रामकुमार वर्मा ने अपने 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में इस शीर्षक को दो भागों—'अमर लोक' तथा 'अखंड धाम वर्णन' में विभाजित करके इसे दो पृथक ग्रन्थों का अस्तित्व प्रदान किया है। किंतु तथ्य यह है कि यह ग्रन्थ एक ही है। इस कथन के समर्थन में ग्रन्थ से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत करने योग्य हैं।

प्रणमों श्री शुकदेव को, सो है गुरु दयाल।
काम क्रोध मोह लोभ से, काढ़े मेरे साल॥
वाणी विमल प्रकाश दी, बुधि निर्मल की तात।
मोहि मूरख अज्ञान को, नहि आवत ही बात॥
अमर लोक वर्णन करौ, वेही करें सहाय।
दृष्टि हिये मम खोलि करि, सबही देहि देखाय॥

तथा

महाकठिन दुर्लभ हुता, अमरलोक का भेद।
ताको मैं बीजक कियो, भाषों भेद अभेद॥

इन दोनों उद्धरणों से प्रकट होता है कि ग्रन्थ का शीर्षक न तो 'अमर लोक अखंड धाम वर्णन' है और न 'अमर लोक' तथा 'अखंड धाम वर्णन'। ये दो भिन्न-भिन्न ग्रन्थ नहीं हैं वरन यह एक ही ग्रन्थ है और इसका शीर्षक 'अमर लोक' है।

इस ग्रन्थ में कवि ने माया, ब्रह्म, जीवात्मा की स्थिति, त्रिगुणों से परे अमरलोक की स्थिति, अमर लोक का सविस्तार वर्णन, अमर लोक के जीव, वन-उपवन, वाद्य, अमर लोक का ऋतु वैभव, अमर लोक के अमर अनादि अविनाशी युगल-मूर्ति श्रीकृष्ण और उनकी प्रेरक शक्ति राधा जी आदि का सविस्तार वर्णन हुआ है। ग्रन्थ के समस्त वर्णन का केन्द्र-विन्दु अमर-लोक और उसके अमर वैभव का वर्णन है। यह 'अमर लोक' कवि के शब्दों में वृन्दावन ही है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट है—

निज वृन्दावन है वह ठांही। सदा बसो मेरे मन मांही॥
दिव्य फूल फूले बहुरंगा। बिन ऋतु फूले रंगबिरंगा॥

अतएव ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय को देखने से ज्ञात हो जाता है कि यह शीर्षक सार्थक और उपयुक्त है।

ग्रन्थ का आधार—'अमर लोक' के वर्ण्य-विषय का आधार श्रीमद्भगवत् गीता है। कवि ने क्षर-अक्षर, निहअक्षर आदि का विवेचन, जीव, ब्रह्म, माया आदि की सत्ता और स्वरूप का प्रतिपादन गीता के ही आधार पर किया है। प्रमाण के रूप में कवि का निम्नलिखित कथन उल्लेखनीय है :—

माया जीव दोउ ते न्यारा । सो निज कहिये पीव हमारा ।।
क्षर अक्षर निहअक्षर तीनौ । गीता पढ़ि सुनि इनको चीन्हौ ।।
गीता अक्षर जीव बतावै । क्षर माया सोइ दृष्टि दिखावै ।।
आत्म चीन्ह परमातम चीन्हो । गीता मध्य कृष्ण कहि दीन्हो ।।

वर्ण्य-विषय—'अमर लोक' में कवि ने निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला है :—

अमर लोक के दर्शन योग्य मति प्रदान करनेवाले श्री शुकदेव जी का स्तवन-अमर लोक की दुर्गम सत्ता—गुरुदेव की कृपा और रहस्योद्‌घाटन माया एवं ब्रह्म का स्वरूप—निराकार ब्रह्म और साकार माया—क्षर अक्षर निहअक्षर का गीता के आधार पर विवेचना—आत्मा एवं परमात्मा का भेद और स्वरूप—अमर लोक के अधिनायक की सर्वव्यापकता—त्रयगुणों से परे अमर लोक की सत्ता-अमर लोक की तेज पुंजता-अमर लोक के अक्षय तत्व—पंचतत्वों से विहीन स्थिति अगम पुरी—अमर लोक की समस्त ब्रह्मांडों से भिन्नता—अमर लोक की निःसीमता अथवा बेहद स्थिति—अमर-लोक के कल्पवृक्षों की शोभा—उस बेहद देश के प्रासाद महल, रत्न जटित राजमार्ग, रत्नजटित पताकाएँ तथा कांति युक्त मंदिरों की शोभा—अगमपुरी में समस्त मनो-विकारों काम, क्रोध, लोभ, मोहादि, आलस्य, निद्रा, क्षुधा, पिपासा, मल आदि से रहित सुरम्य वातावरण—दिव्य देह धारी गोसांई ब्रह्म की नासिका, ग्रीवा कुंडल लटे तिलक, श्यामा के सुन्दर मुकुटादि का वर्णन-अमर लोक के सुरम्य वन, उपवन और बागों का उल्लेख—वृक्षों में न कुम्हलाने वाले पुष्पों का प्रस्फुटन—विविध प्रकार के पुष्पों का सौंदर्य—अमर लोक के रंग महल की अनिर्वचनीय शोभा—रंग महल के अन्तर्गत सुन्दर सिंहासन का वर्णन—उस पर विराजमान गोरी राधा श्यामघन कृष्ण का यशोगान और सौंदर्य वर्णन—नित्य किशोरीं गोरी सारी, पांच तत्व त्रैगुण ते न्यारी-राधा के अनुपम दिव्य सौंदर्य का वर्णन—चौसठ खम्भों से युक्त भवन में दिव्य रास और नृत्य श्री राधा और श्री कृष्ण की बन्दना ।

विषय प्रतिपादन—आलोच्य ग्रन्थ में कवि की विषय प्रतिपादन शैली सुन्दर है । ऊपर कहा जा चुका है कि ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का प्रसार १६८ छन्दों में हुआ है । परन्तु कवि ने ग्रन्थ का विभाजन परिच्छेदों अथवा अध्यायों या प्रकरणों में नहीं किया है । कवि ने बड़ी कुशलता पूर्वक एक विषय को समाप्त करके दूसरे विषय को अपेक्षित स्थान से प्रारम्भ कर दिया है । कवि ने अमर लोक के विविधतत्व, पदार्थ तथा व्यक्तित्व का सुन्दरता पूर्वक वर्णन किया है । विषय प्रतिपादन देख करके कवि की लेखन शैली की प्रौढ़ता का आभास मिल जाता है । 'अमर लोक' की रचना करते समय तक चरनदास का भाषा पर भला अधिकार स्थापित हो गया था । भाषा में

प्रवाह और परिमार्जन है। अपेक्षित विषय के सूक्ष्म एवं विस्तृत वर्णन में कवि को अच्छी सफलता मिली है। कवि की विषय प्रतिपादन प्रतिभा का प्रसार अमर-लोक के अक्षुण्ण वातावरण, वन-उपवन आदि के वर्णन में हुआ है। प्रतीत होता है कि कवि ने स्वतः इन सभी वस्तुओं को देखकर हृदय में अंकित कर लिया। विषय प्रतिपादन की एक और विशेषता है और वह है स्पष्ट एवं मस्तिष्क-ग्राही चित्रण। वर्णित दृश्यों को ग्रहण कर लेने में हमारी बुद्धि की सफलता कवि के काव्य-कौशल की परिचायिका है।

रचनाकाल—ग्रन्थ के रचनाकाल के विषय में किसी प्रकार का कोई साक्ष्य नहीं उपलब्ध होती है। इसके सम्बन्ध में न तो हमें 'गुरु भक्ति प्रकाश' से ही कोई सहायता प्राप्त होती है और न वतमान महन्त जी से ही। परन्तु कवि विरचित समस्त कृष्ण चरित्र काव्यों, 'ब्रज चरित', 'दान लीला', 'माखन चोरी लीला', 'काली नथन लीला', 'मटकी लीला', 'चीर हरण लीला' तथा 'कुरुक्षेत्र लीला' की तुलना में प्रस्तुत ग्रन्थ की भाषा-शैली, विषय-प्रतिपादन, अभिव्यंजना आदि प्रौढ़ और परिमार्जित हैं। विषय-प्रतिपादन इस बात का द्योतक है कि 'अमर लोक' में कवि की चिन्तन शक्ति और विवेचन पद्धति प्रौढ़ता प्राप्त कर चुकी है। यह ग्रन्थ 'कुरुक्षेत्र लीला' के बाद की रचना है। 'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना काल सन् १७५० निर्धारित किया गया था, अतः 'अमर लोक' की रचना भी लगभग सन् १७५५ निश्चित होती है।

इस ग्रन्थ में निर्गुण ब्रह्म की ओर संकेत है। इससे प्रकट होता है कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना निर्गुणोपासना के विकासावस्था में की थी।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से प्रस्तुत ग्रन्थ में निम्नलिखित प्रकरण पठनीय होंगे :—

१—श्री राधा सौंदर्य वर्णन
२—अमरलोक के वन-उपवन और पुष्पों का वर्णन
३—रास नृत्य का वर्णन
४—श्रीकृष्ण का सौंदर्य

ग्रन्थ-पाठ का माहात्म्य—कवि के शब्दों में ग्रन्थ-पाठ का माहात्म्य निम्नलिखित है :—

पढ़ै सुनै जो प्रीतिसो, पावै भक्ति हुलास।
नित उठि कर तू पाठ यह, चरनदास कहि मास ॥
प्रेम बढै अघ सब हरै कलह कल्पना जाय।
पाठ करै या लोक को, ध्यान करत दरशाय ॥

भक्ति सागर

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास कृत 'भक्ति सागर' की तीन प्रतियां उपलब्ध हुई है। इनमें से दो हस्त-लिखित हैं। शेष एक मुद्रित है। हस्तलिखित प्रतियों में से प्रथम श्री गणेशदत्त की प्रति है और द्वितीय उन्नाव जिला के जगदीशपुर ग्राम के निवासी श्री भगवानदास की। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से हो चुका है। भक्तिसागर के विषय में विवेचन श्री भगवान दास की प्रति के आधार पर हो रहा है।

इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता स्वामी महेशानन्द थे। इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल संवत् १८४९ है। यह ग्रन्थ चरनदास के स्वर्गवास के दस वर्ष अनन्तर प्रस्तुत किया गया था।

इस प्रति का आकार १०"×६" है। ग्रन्थ की रचना १५३ छन्दों में सम्पन्न हुई है।

ग्रन्थ में ब्रह्म की प्राप्ति के साधनों, साधना तथा योगादिक विषयों का प्रतिपादन हुआ है। प्रतिपादित विषय और ग्रन्थ के नाम में पूर्ण साम्य और सार्थकता प्रतीत होती है।

ग्रन्थ में साधना विषयक अनेक प्रसंगों पर प्रकाश डाला गया है, किन्तु लेखक ने ग्रन्थ के विषय का विभाजन प्रसंगों अथवा विश्रामों में नहीं किया है। एक विषय की समाप्ति हो जाने पर वह द्वितीय विषय की विवेचना करने लगता है। इस क्रम से ग्रन्थ का विषय समाप्त हो जाता है।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

श्री व्यास पुत्र शुकदेव की वन्दना—ब्रह्म या ईश्वर का मार्ग बताने वाले श्री सतगुरु की प्रार्थना—संतो का सर्वकल्याणकारी व्यक्तित्व—संतों की निष्काम भक्ति—इडा, पिंगला और सुषुम्णा को धारण करके बज्रासन में कुंडलिनी को जाग्रत करने की प्रक्रिया—खेचरी मुद्रा और त्रिकुटी के माध्यम से अमृत पान और बेहद प्रदेश में प्रवेश—बेहद प्रवेश का सूक्ष्म आभास—बेहद प्रदेश का सुहावना वर्णन—गुफा मध्यस्थ होकर पद्मासन में प्रणव का जप–आठ प्रकार के कुंभक में केवल कुम्भक की श्रेष्ठता–त्रिकुटी में स्थित त्रिवेणी और तीर्थ के स्नान और दर्शन—तीर्थ की महत्ता और श्रेष्ठ वर्णन-तीर्थ का आकर्षक वर्णन—अमरी वजरी साधना—साधक की रहनी—मन और पवन पर यथोचित नियंत्रण–मोह लोभादि का विसर्जन, तटस्थ भाव से जीवन यापन का प्रयत्न-सहस्त्र दल कमल में प्रवेश का प्रयत्न—"सोऽहं का जाप, नौ नाडी की खैंच पवन लै उरमें दीजै"—शून्य शिखर में प्रवेश, षटचक्र भेदन-प्राण, अपान, समान को मिलाकर

तथा ंक नालशुद्ध करके प्राणायाम साधना—इस विधि से आकाश में प्रवेश करके पूर्ण ब्रह्मत्व की प्राप्ति करना—अमरलोक का रोचक तथा संक्षिप्त वर्णन—ब्राह्मण की परिभाषा ब्रह्म की सर्वव्यापकता—भ्रामक द्वैत भावना की आलोचना—राम की सर्वव्यापकता तथा महत्ता—आत्म ज्ञान की महत्ता और अंध विश्वासों की आलोचना—वाह्याचारों की निःसारता—ग्रन्थ की रचना लिपि—शुकदेव तथा ब्रह्म की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन साधरण किन्तु स्पष्ट रीति से सम्पन्न हुआ है। विषय में कहीं-कहीं क्रमबद्धता नहीं है। ग्रन्थ में विषय-प्रतिपादन की शैली प्रभावशाली और परिष्कृत है। इन सबके होते हुए भी ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक प्रतीत होता है।

रचनाकाल—अन्तस्साक्ष्य के आधार पर ग्रन्थ का रचना काल चैत्र सुदी १५ सोमवार संवत् १७८१ है। कवि के शब्दों में ही :—

संवत सत्रह से इक्यासी। चैत्र सुदी तिथि पूरणमासी॥
शुक्ल पक्ष दिन सोमहिवारा। रचों ग्रन्थ यों कियो विचारा॥
तब ही सूं अस्थापन धरिया। कछु इक बानी वा दिन करिया॥

इस प्रकार प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना कवि ने इक्कीस वर्ष की अवस्था में की थी।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ में भाव सौंदर्य की दृष्टि से बेहद देश का एवं त्रिकुटी में स्थित तीर्थ तथा त्रिवेणी का वर्णन विशेष रूप से पठनीय है।

ग्रन्थ में काव्य-सौंदर्य के नाम पर यदि पाठकों को निराशा हो तो आश्चर्य नहीं, कारण कि यह कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है।

धर्म जहाज

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास जी के अन्य ग्रन्थों के समान इस ग्रन्थ की भी तीन प्रतियाँ लेखक को उपलब्ध है—दो हस्तलिखित और एक मुद्रित प्रति। अप्रकाशित प्रतियाँ जिन व्यक्तियों से उपलब्ध हुई है, वे हैं श्री गुलाब दास जी और श्री गणेश दत्त मिश्र। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से हुआ है। इन प्रतियों में न तो प्रतिलिपिकर्ता का नाम दिया हुआ है और न प्रतिलिपिकाल। श्री मिश्र की प्रति के अन्त में प्रतिलिपिकार ने लिखा है :—

"इति श्री गुरु शुकदेव महाराज तथा शिष्य चरनदास जी का सम्वाद धर्म जहाज के रूप में सम्पूरनम्। जो यहि मां बैठहि आय ताहिं भव दुःख स्पर्शे नांही।"

प्रत्यक्ष है कि यह ग्रन्थ किसी चरनदासी शिष्य के द्वारा प्रतिलिपि के रूप में

प्रस्तुत किया गया है। महन्त जी की प्रति के अन्त में इस प्रकार का कोई नोट नहीं दिया गया है।

इस प्रति का आकार ८" X ५, १/२" है। ग्रन्थ की रचना ५३१ छन्दों मे सम्पन्न हुई है। ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में धर्म को जहाज मान कर भवसागर पार उतरने के लिए मानव समाज को धर्म के आवश्यक तत्व, धर्म का रूप, मनुष्य की करनी कथनी और धर्म का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध आदि पर प्रकाश डाला गया है। धर्म को केन्द्रविन्दु मान कर उसके आवश्यक अंगों की अभिव्यक्ति ही ग्रन्थ का लक्ष्य रहा है। कवि ने ग्रन्थ में दो स्थलों पर ग्रन्थ के नाम की सार्थकता प्रमाणित करने के लिए कहा है :—

अब मैं वर्णन करत हौं, ए शिष धर्म जहाज।
तामें बैठे विधि सहित, रहनी गहनी साज ॥

तथा

यह तो धर्म्म जहाज है, मैं तोहिं दई निहार।
भवसागर मों डारियों, चढ़ै सो उतरै पार ॥
यादवान पुनि खेइयो, दीजो ताहि चलाय।
पानी पाप निकासिये, नेकहु ना मरि जाय ॥
चढ़ि उतरै तो पार ही, पावै सुख का धाम।
आनन्द ही आनन्द लहै, करै तहां विश्राम ॥

इन दोनों उद्धरणों एवं प्रतिपादित विषय के अध्ययन के आधार पर हम इस ग्रन्थ का नाम 'धर्म जहाज' सार्थक समझते हैं।

ग्रन्थ की रचना गुरु एवं शिष्य के सम्वाद के रूप में हुई है। ग्रन्थ का विषय अध्याय या प्रकरण में विभाजित नहीं किया गया है। केवल शिष्य के प्रश्नों से ही हम नवीन विषय में प्रवेश करते हैं। गुरु के उत्तर की समाप्ति के साथ उस विषय को हम समाप्त समझते हैं। ग्रन्थ में धर्म के अनेक पक्ष और समस्याओं पर इसी शैली से विचार किया गया है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

शिष्य द्वारा संसार में असमान वितरण, असमान सुविधाओं और असमान सामाजिक आधारों के विषय में शंका और जिज्ञासा—गुरु का उत्तर—"जिन जैसी करणी करी तैसे ही फल पाय, भुगतत हैं वे जगत में ताको बदला आय"—सुगत और कुगत करनी के विषय में शिष्य की जिज्ञासा— उत्तर में गुरु का करनी एवं कथनी

में ऐक्य स्थापित करने का उपदेश—बिन करणी थोथी एवं करनी के बिना कथनी निःसार—दुख, संताप, पश्चात्ताप सब कर्म फल या करनी के फल है—करनी बिगड़ने पर नरक का मार्ग प्रशस्त है–शुभ करणी और कुकरणी के विविध फल—पिछली जैसी करी कमाई तैसी तैसी ही निधि पाई—सुर, दानव, अप्सरा, मनुष्य, यक्ष, गण, प्रेत सभी इसी करणी के फल से तदनुसार नई योनि प्राप्त करते हैं—दया, धर्म, पुण्य और दान ही सत्य करनी है—उज्ज्वल कर्मों को करने के अनन्तर उन्हें श्री ब्रह्म के चरणों में अर्पित करने का उपदेश—ब्राह्मण सत्करणी से ब्राह्मण होता है—जाति, वर्ण, आश्रम सभी करनी के अनुसार प्राप्त होते हैं—यह जगत कर्मों से ही प्रकट होता है—खोटी करनी से नरक प्राप्त होता है, इसीलिए मन, वचन, कर्म से साधु होने की शिक्षा—विविध वचन और उनके भेद—मन की साधना—"खोटी चितवनि चितवै नांही, सदा रहै थिर ताके माही"—निन्दा, वैर, झूठ, हिंसा, पाप, अभिमान, गर्व आदि के विसर्जन और परित्याग का उपदेश—कथाओं द्वारा कथन का समर्थन—हरि और गुरु की महत्ता तथा उपयोगिता—करनी से ही ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, मनुष्यादि इतने उच्च पदों पर पहुँचते हैं—मानव देह की दुर्लभता इसमें करनी और कथनी की एकता की आवश्यकता—करनी होनहार को भी पलट देती है—"कोटि यही उपदेश है यही जु सगरी बात। करणी ही बलवंत है, यों शुकदेव दिखात···मन की करणी ज्ञान है"–बिना करनी कुछ भी सम्भव नहीं है—"विन करणी व्यवहार न चालै, नहीं तो बैठा रहजा ठालै"—करनी से ही मनुष्य खोता और पाता है—करनी ही सिद्ध, मुक्ति और भक्ति दात्री है—करनी ही जीवनमुक्ति दात्री है—करनी ही अष्टसिद्धि दात्री है—व्यास पुत्र शुकदेव की बन्दना और यशोगान।

विषय-प्रतिपादन—'धर्म जहाज' के विषय का प्रतिपादन गुरु शिष्य के सम्वाद में हुआ है। शिष्य गुरु से शंकाओं और जिज्ञासा के कारण प्रश्न पूछता है और गुरु तर्क तथा प्रमाणों से समर्थित अपने अभिमत को शिष्य की जिज्ञासा शांत करने के लिए उपस्थित करता है। इस प्रकार ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रश्नोत्तर में प्रतिपादित हुआ है। यदि ग्रन्थ को गुरु और पाठक को शिष्य मान लिया जाय तो पाठक की समस्या एवं शंकाएं ग्रन्थ से शांत हो जाती हैं।

प्रतिपादित विषय को अधिक प्रभावशाली बनाने के हेतु कवि ने दृष्टांतों उदाहरणों तथा कथाओं का सहारा ग्रहण किया है। इस प्रकार विषय में जहां एक ओर रोचकता का समावेश होता है वहां स्पष्टता भी आ जाती है।

कवि ने विषय के प्रतिपादन को स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कथाओं का समावेश करके अपनी मनोवैज्ञानिकता का परिचय दिया है। सभी को ज्ञात है कि दृष्टांतों से हमारे हृदय और मस्तिष्क की चिन्तन शक्तिको बल मिलता है।

'धर्म जहाज'में विषय को प्रभावशाली बनाने के लिए लेखक ने पुनरुक्तियों का समावेश भी किया है। अशिक्षित जनता को प्रभावित करने के लिए विषय को बारम्बार दोहराना अत्यन्त आवश्यक होता है।

संक्षेप में 'धर्म जहाज' के अन्तर्गत विषय का प्रतिपादन सुन्दर और मनोवैज्ञानिक ढंग से हुआ है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है। परन्तु वर्ण्य-विषय में कतिपय प्रसंग ऐसे आए हैं जिनसे ज्ञात होता है कि यह कवि की सगुणोपासना से सम्बन्धित रचना है। रचना में आए हुए ये प्रसंग हैं—१. सगुण उपासना का प्रतिपादन २. भाग्य-वाद का समर्थन ३. जाति पांति एवं वर्णव्यवस्था का समर्थन। रचना काल-क्रम से इसका स्थान 'अमर लोक' के अनन्तर आता है।

विषय प्रतिपादन शैली और भाषा की दृष्टि से यह रचना 'अमर लोक' से श्रेष्ठ है। करनी और कथनी पर प्रायः ५०० छन्दों की रचना हो जाने के बाद भी उसमें कहीं नीरसता और दुरूहता नहीं आने पाई है। 'धर्म जहाज' में लेखक के साथ विश्वास पूर्वक आगे बढ़ने की शक्ति परिलक्षित होती है। अतएव यह रचना निश्चय ही 'अमर लोक' के बाद की रचना है। 'अमर लोक' का रचनाकाल हमने सन् १७५५ माना है। 'धर्म जहाज' का इसके अनन्तर होना निश्चित है। अनुमानतः 'धर्म जहाज' का रचना काल सन् १७५७ है।

भाव सौंदर्य—भाव सौंदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ में निम्नलिखित स्थल पठनीय होंगे:—

१—करनी कथनी की एकता की अनिवार्यता। २—कर्म फलों का व्यापक भाव, ३—वचन भेद प्रकरण, ४—कथा प्रकरण।

अष्टांगयोग

उपलब्ध प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुई हैं। प्रथम प्रति महन्त गुलाब दास के यहाँ, द्वितीय श्री गणेशदत्त मिश्र के संग्रह में और तृतीय उन्नाव जिला के जगदीशपुर के निवासी श्री भगवान दास के यहाँ प्राप्त हुई है। श्री भगवान दास के प्रपितामह और कांथानिवासी श्री शिव सिंह सेंगर (सरोज के रचयिता) से अभिन्नता थी। सम्भव है कि यह प्रति इनके परिवार में उक्त संग्रह से ही आई हो। तृतीय प्रति के साथ एक ही जिल्द में 'ज्ञान स्वरोदय,' 'पंचोपनिषद्सार,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' एवं 'भक्ति सागर' भी सम्बद्ध है। स्मरण रखना चाहिए कि एक ही जिल्द में बंधी हुई ये चारों पुस्तकें निर्गुण ब्रह्म, हठयोग और निर्गुण साधना से सम्बन्धित हैं।

इस तृतीय प्रति के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ है :—

"श्री चरनदास महराज कृत भक्ति योग ग्रन्थ संग्रह । सकलग्रन्थ पाठ के लिए लिखा स्वामी महेशानन्द ने । संवत् १८४६ वि० में ।"

इस उद्धरण में तीन बातें ध्यान देने योग्य हैं । प्रथम यह कि स्वामी महेशानन्द जी इन चारों ग्रन्थों के प्रतिलिपि कर्ता थे । द्वितीय कि इन ग्रन्थों का प्रतिलिपि काल चरनदास के साकेतवास से ठीक दस वर्ष बाद है । तृतीय यह कि यद्यपि महेशानन्द ने प्रतिलिपि किया अवश्य परन्तु उपर्युक्त उद्धरण लिख देने वाला स्वामी महेशानन्द का कोई शिष्य था । स्वामी महेशानन्द कौन थे ? इसके विषय में कोई सूचना नहीं उपलब्ध होती है । सम्भव है कि ये चरनदास के प्रिय शिष्य श्री गुरुभक्तानन्द (रामरूप जी) के शिष्य सखा और गुरु भाई हों । इस प्रकार महेशानन्द जी द्वारा प्रस्तुत किया हुआ यह ग्रन्थ संग्रह कवि के 'अष्टांगयोग', 'पंचोपनिषदसार,' 'ज्ञान स्वरोदय,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' तथा 'भक्ति सागर' के अध्ययन का आधार है ।

इस संग्रह का अकार १०" × ६" है । 'अष्टांगयोग' की रचना ६० पृष्ठों और ७६६ छन्दों में हुई है । ग्रन्थ की रचना का माध्यम देवनागरी लिपि है ।

'अष्टांग योग' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है । जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है । प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन 'अथ श्री गुरु शिष्य संवाद 'अष्टांग योग प्रारम्भः' शीर्षक में हुआ है ।

ग्रन्थ में योग के विभिन्न आठ अंगों की विवेचना, उदाहरण और दृष्टांतों के सहित हुई है । ७६६ छन्दों में लेखक ने योग की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन किया है । इस दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक 'अष्टांग योग' सार्थक है ।

ग्रन्थ का आधार—अष्टांग योग का आधार ग्रन्थ क्या है, यह स्पष्ट रूप से नहीं ज्ञात होता है । इसके विषय में ग्रन्थ में कवि ने कोई उल्लेख नहीं किया है। वर्ण्य-विषय से ज्ञात होता है कि कवि के विषय का आधार 'पातंजलयोग दर्शन' है ।

सम्पूर्णग्रन्थ में योग का अध्ययन कवि ने विभिन्न शीर्षकों में किया है । विषय का विभाजन निम्नलिखित शीर्षकों में सम्पन्न हुआ है :—

१—अथ यम अंग वर्णन २—अथ नेम अंग वर्णन ३—अथ आसन वर्णन । १ । अथ पद्मासन विधि ।२। अथ सिद्धासन विधि ४—अथ प्राणायाम अंग वर्णन अथ अष्ट प्रकार के कुम्भक ।१। अथ सूर्य भेदन ।२। अथ उज्जाई ।३। अथ शीतकार ।४। अथ शीतली ।५। अथ मस्तिका । अथ कुम्भक अंग वर्णन ।१। अथ भ्रामरी ।२। अथ मूर्च्छा ।३। अथ केवल कुम्भक ५—अथ प्रत्याहार अंग वर्णन ६—अथ षष्ठ धारणा वर्णन ७—अथ ध्यान अंग वर्णन ।१। अथ पदस्थ ध्यान ।२। अथ पिंडस्थ

ध्यान ।३। अथ रूपस्थ ध्यान ।४। अथ रूपातीत ध्यान ८—अथ समाधि अंग वर्णन ६—अर्थ षटकर्म हठयोग वर्णन—अथ नेती कर्म-अथ धोती कर्म,अथ वर्मस्तीक,अथ गजकर्म, अथ न्योली कर्म, अथ त्राटक कर्म १०—अथ मुद्रा वर्णन, अथ भूचरी मुद्रा, अथ चाचरी मुद्रा,अथ अगोचरी मुद्रा,अथ उनमनी मुद्रा ११—अथ महाबन्ध साधन विधि, मूल बन्ध, जलन्धर बन्ध, उड्यान बन्ध ।

वर्ण्य-विषय—'अष्टांग योग' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

व्यास पुत्र शुकदेव जी की वन्दना—यम—यम के लिए आवश्यक तत्व—सूक्ष्म भोजन, अल्प निद्रा, दीनता, सन्तोष, ग्रहण तथा अहंकार, कपट, छल आदि का परित्याग—यम-यम के अंग अहिंसा,सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धैर्य, दया, आर्य्यव मिताहार, शौच तथा पवित्रता—नियम-नियम के अंग-तप संतोष, आस्त्यक, दान, ईश्वर पूजा, श्रवण, लज्जा, दृढ़ मति, जप होम, नियम की महत्ता और उपयोगिता-आसन--आसनों की चौरासी लक्ष संख्या–इनमें दो की प्रधानता सिद्धासन तथा पद्मासन की महत्ता—इनकी साधना के फल-पद्मासन साधना विधि-सिद्धासन साधना विधि-प्राणायाम वर्णन-प्राणायाम की महत्ता-दश वायु-दश वायु के स्थान-चक्र, चक्रों के स्थान वर्णन और रंग—उनके आकार और पटल, अक्षर अनहद नाद और उसकी उपयोगिता-नाद के प्रकार नाद की विधियां—अन्य नादों से अनहद नाद की तुलना-नाद साधना का शरीर पर प्रभाव-श्वास की संख्या—शरीरस्थ नाड़ियां—उनके दश भेद दश नाड़िवों के शरीर में स्थिति—बनमें से इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाड़ियों की महत्ता—इन तीनों की विशेषता—प्रणव जाप और प्राणायाम—विभिन्न प्रकार की प्राण वायु—कुम्भक—कुम्भक के भेद—कुम्भक की प्रक्रिया—अथ सूर्य भेदन—परम्परागत वर्णन-परम्परा से कवि की विशेषता—परम्परागत वर्णन से भिन्नता—उज्जाई शीतली मस्त्रिका—कुंडलिनी का स्थान-आकार, गुण, कुंडलिनी को जाग्रत करने की प्रक्रिया-फल सिद्ध होने पर साधक की दशा और अवस्था—भ्रामरी कुम्भक मूर्च्छा, कुम्भक—केवल कुम्भक—प्रत्याहार—प्रत्याहार की महत्ता—धारणा वर्णन—भूमि धारणा—अग्नि धारणा—व्योम तत्व धारणा—लकार, बकार थंरकार—मकार, हकार—थंभनी, द्रावण, भ्रामनी, शंखिनी, प्राणवायु धारणा—ध्यान प्रकरण—पदस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत—ध्यान वर्णन, समाधि—समाधि की विशेषता और उपयोगिता—निर्द्वन्द्व समाधि—शून्य समाधि—षटकर्म वर्णन, नेती कर्म, धोती कर्म, वर्मस्तीक, गजकर्म, न्योली कर्म, त्राटक कर्म वर्णन—खेचरी मुद्रा—इसकी महत्ता और उपयोगिता हठयोग साधना में—मुद्राओं के भेद मुद्रा—विधि—खेचरी मुद्रा उड्यान मुद्रा—भूचर मुद्रा—चांचरी मुद्रा—अगोचरी मुद्रा-उनमनी मुद्रा-महा बन्ध साधन विधि-मूलबन्ध-जलंधर बन्ध—उड्यान बन्ध—साधना के क्षेत्र में इनकी अनिवार्यता—साधना के क्षेत्र में लौकिक

सिद्धियां—साधक के लिये इनका महत्वहीन आकर्षण-अष्ट सिद्धियां—उनकी निःसारता—गुरु शुकदेव की बन्दना और स्तवन।

विषय-प्रतिपादन—ऊपर कहा जा चुका है कि 'अष्टांग-योग' की रचना ७६६ छन्दों में हुई है। अष्टांग योग के सीमित विषय को कवि ने सविस्तार स्पष्ट शैली में वर्णन करने का प्रयत्न किया है। वर्ण्य-विषय विवेचन से प्रकट होता है कि कवि ने 'अष्टांग योग' के प्रत्येक विषय, और उप-प्रसंग के प्रति उतने ही ध्यान से विचार प्रकट किया है जितना किसी भी महत्वपूर्ण प्रसंग के प्रति उसने अपने विचार अभिव्यक्त किये हैं। इसी कारण योग जैसे दुरूह और नीरस विषय में भी कवि इतनी सरसता एवं स्पष्टता का समावेश करने में सफलीभूत हुआ है। ग्रन्थ में सर्वत्र सरसता उपलब्ध होती है।

'अष्टांग योग' की प्रक्रिया और साधना विधि के वर्णन में भी रोचकता और स्पष्टता सर्वत्र उपलब्ध होती है।

ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन गुरु व शिष्य के सम्वाद में हुआ है। गुरु से शंकालु और जिज्ञासु शिष्य प्रश्न पूछता है और गुरु शिष्य की उत्सुकता को शांत करने का प्रयत्न करता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के योग प्रकरण को देखने से ज्ञात होता है कि कवि को सूक्ष्मातिसूक्ष्म विषयों को सफलता पूर्वक व्यक्त करने में सफलता प्राप्त हुई है। दृष्टांतों और उदाहरणों का चयन विषय को स्पष्ट और सुगम बनाने में सहायक सिद्ध हुआ है। विषय को सहज बनाने का प्रयत्न सम्पूर्ण ग्रन्थ में सर्वत्र दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ दो उद्धरण देखिये :—

१—रेचक पूरक ऐसे कीजे, बारंबार तजै अरु लीजै।
जैसे खाल लोहारा भरै, रेचक पूरक आतुर करै॥
हिरदै में अस्थान है, प्रान वायु का जान।
वाके रोके सब रुकै, वायुन में परधान॥
जैसे गंगा एक ही, घाट घाट के नांव।
ऐसे प्राणहिं बायु के, नांव कहे बहु ठांव॥

देखिये कवि ने पाठकों को समझाने के लिए सुगम उदाहरण देकर विषय को रोचक तथा स्पष्ट बना दिया है।

रचना काल—ग्रन्थकार ने 'अष्टांग योग' की रचना-तिथि का उल्लेख नहीं किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि का निम्नलिखित कथन समय निर्धारण में सहायक होता है।

व्यास पुत्र धनि धनि तुम्ही, धनि धनि यह अस्थान।
मम आशा पूरी करी, धनि धनि वह भगवान।

तुम दर्शन दुरलभ महा, भये जु मोको आज ।
चरण लगो आपा दियों, चरणन लियो लगाय ।।
बालपने दरशन दिये, तबहीं सब कछु दीन ।
बीज जु बोया भक्ति का, अब भया वृक्ष नवीन ।।
दिन दिन बढ़ता जायगा, तुम किरपा के नीर ।
जब लग माली ना मिला, तब लग हुता अधीर ।।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भक्ति का जो बीज किसी समय कवि के हृदय में आरोपित हुआ था वह कालांतर में योग वट-वृक्ष के रूप में विकसित हो गया । अतः योग साधना से सम्बन्धित यह ग्रन्थ कवि के जीवन में साधना की प्रौढ़ावस्था का द्योतक है । अष्टांगयोग की पूर्ण साधना कर लेने के अनन्तर कवि ने इस ग्रन्थ की रचना की है, ऐसा ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से प्रकट होता है । चरनदास जी ने जयपुर की यात्रा, साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठा और सिद्धि प्राप्त करने के अनन्तर संवत् १०४० में की थी । ग्रन्थ की परिमार्जित भाषा, प्रतिपाद्य विषय, प्रौढ़ चिन्तन देखने के अनन्तर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कवि ने इस ग्रन्थ की रचना जयपुर यात्रा के अनन्तर ही की थी । इस अनुमान के आधार पर प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना समय संवत् १८४० निर्धारित होता है ।

योग सन्देह सागर

उपलब्ध प्रतियाँ—लेखक को 'योग सन्देह सागर' की केवल दो प्रतियां प्राप्त हुई । इनमें से एक हस्तलिखित प्रति है जो मिश्र जी के संग्रह से प्राप्त हुई और द्वितीय मुद्रित है जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है ।

मिश्र जी की प्रति में प्रतिलिपि कर्ता अथवा समय का अन्त में उल्लेख नहीं हुआ है । ग्रन्थ का कागज, रोशनाई और लिखावट इस बात का द्योतक है कि यह प्रति आज से प्रायः १०० वर्ष पूर्व प्रस्तुत की गई थी । ग्रन्थ को आकर्षक और सुन्दर बनाने के लिए हाशिया के चारों ओर से लाल रोशनाई और हरे रंग की समानान्तर रेखाएँ अंकित है और इन रेखाओं के अन्दर पीला रंगा भरा हुआ है ।

अप्रकाशित प्रति का आकार ८"X५, १/२" और ग्रन्थ की रचना ६५ छन्दों में हुई है । रचना लिपि देवनागरी है ।

इस ग्रन्थ में लेखक ने पिंड, नाडी कुंडलिनी, शून्य आदि जैसी योग और ज्ञान के विषयों में प्रश्नावली प्रस्तुत की है । ये विषय पहेली के समान तत्वज्ञों और योग विशारदों के समक्ष रखे गये हैं । ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत में कवि ने ग्रन्थ के नाम की सार्थकता सिद्ध करते हुए लिखा है :—

१—अर्थ बताओ पंडिता, ज्ञानी गुणी महन्त।
जो तुम पूरे साधु हौ, भक्ता हरि के सन्त॥
चरणदास पूछें अरथ, भेदी होय कहौ।
समझौ तौ चर्चा करौ, नाहीं मौन गहौ॥
२—सो तुमसों पूछन करौ, हौं परषन के दाय।
या सागर सन्देह को, दीजै अर्थ बताय॥

इन दोनों उद्धरणों के आधार पर हम ग्रन्थ का नाम 'योगसन्देहसागर' सार्थक समझते हैं।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय प्रारम्भ से अंत तक एक समान ही चलता है। बीच में कहीं पर न तो वस्तु का विभाजन अध्याय में हुआ है और न प्रकरणों में ही।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

ब्रह्म की स्थिति घट घट में है—शरीरस्थ सात समुद्रों में कछुआ कौन है और कहां विराजमान है-शेष नाग कहाँ रहता है और वराह की छवि कैसी—षट्चक्र कौन कौन और कहां कहां है—कुंडलिनी का निवास स्थान कहां है और वह कैसे जाग्रत होती है—पवन और मन का वास कहाँ है—हृदय की आँख कहाँ है—प्राण पुरुष अन्तर्गत कैसे हैं—इडा, पिंगला सुषुम्ना नाड़ी क्रमशः कैसे परिवर्तित होती है—अजपा कितने प्रकार का होता है—श्वास का मापदंड कितने अंगुल में है—विष्णु के तीनों पद कहाँ है—कहाँ हैं इकीस काया में लोक—इन्द्र शरीर में नित्य कहाँ भोग करता है—ब्रह्मादिक त्रिदेव कहाँ है—षोडश चन्द्र कहाँ प्रकाशमान रहते हैं—त्रिकुटी संयम का स्पर्श कैसे हो—त्रिवेणी की प्राप्ति कहाँ से हो—टंकार शब्द कहाँ से जाग्रत होता है—ओंकार से संसार कैसे उत्पन्न हुआ—निर्गुण और सगुण का क्या भेद है—काया में विष और बिन्दु कुंड कहाँ है—ब्रह्म जीव में कितनी दूरी है—शरीरस्थ निम्न प्रबल शत्रु कौन कौन है—अमृत कुंड कहाँ है—बंकनाल की पहचान बताओ—ब्रह्म रंध्र का रहस्य बताओ—मान सरोवर ताल घट में कहाँ है—बिना सीप के मोती, बिना घी के दीपक, बिना सूर्य के प्रकाश कहाँ होता है—भँवर गुफा कैसी है—शून्य शिखर का द्वार किस ओर है—देह में काशी और मथुरा कहाँ है—अड़सठ तीर्थ घट में कहाँ कहाँ है—कपाट की कुंजी ताला कहाँ है—अमृत का स्वाद कितने प्रकार का है—कंठ कूप उलटा क्यों है—किस कमल पर गुरु विराजमान हैं—अनहद के कितने प्रकार है—तीसरा और चौथा शून्य कहाँ है—बहत्तर हजार आठ सौ चौसठ नाड़ियां कहाँ है—चौरासी वायु कौन कौन है—ब्रह्म ज्वाल कैसे जाग्रत होती है—किस आसन से वीर्य जीता जाता है—चौरासी आसन कौन कौन है—योग भक्ति कितने प्रकार की है—पंचभूमिका का क्या अर्थ

है—कौन काया नगरी का राजा है—कौन जीता और कौन मरता है—सब से बड़ा आहार क्या है—कौन वस्तु न घटती है न बढ़ती है—प्रणव का क्या अर्थ है—मन मनसा का साथ कैसे होता है—चौबीस शून्य का क्या अर्थ है—आठ महल का वर्णन करो—दीप मुद्रा और मुद्रा राज क्या है—पंचतत्व की दश इन्द्रियाँ कौन-कौन है—चन्द्र कला कैसे बढ़ती है और कहाँ से विकसित होती है—दीप की ज्योति क्योंकर बुझ जाती है—रात दिन कैसे होता है—तन के छूटने पर जीव कहाँ जाता है ?

विषय-प्रतिपादन—कवि ने कुशलता पूर्वक अपने विषय का प्रतिपादन 'योग-सन्देह सागर' में किया है। सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना आद्योपांत प्रश्नों में ही हुई है। इस छोटे से ग्रन्थ में कवि ने योग से सम्बन्धित प्रायः सभी सम्भव प्रश्नों को जिज्ञासुओं के समक्ष रख देने का प्रयत्न किया है। इस प्रकार प्रश्नों को पद्यात्मक स्वरूप प्रदान करने में कवि को सफलता प्राप्त हुई है। इन प्रश्नों में पहेलियों के सदृश रोचकता और मनोरंजकता है। इस ग्रन्थ के द्वारा किसी भी योग-शास्त्र के पंडित की योग्यता परखी जा सकती है। इस ग्रन्थ के विषय-प्रतिपादन में प्रौढ़ता और चिन्तन की गम्भीरता सर्वत्र उपलब्ध होती है। इसके आधार पर हम कवि के योग शास्त्र–विषयक ज्ञान का अनुमान सरलता से लगा सकते है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है। इसकी रचना कब हुई थी, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता। परन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ रचना है। इस ग्रन्थ में सिद्धांत—समन्वय और विषय—प्रतिपादन तथा भाषा-शैली आदि को देख कर हम कह सकते हैं कि यह कवि की प्रौढ़ रचना है। इसकी भाषा शैली और अभिव्यंजना-कौशल बहुत कुछ 'अष्टांग योग' के समकक्ष है। हमारा अनुमान था कि 'अष्टांग योग' की रचना संवत् १८४० में हुई थी, अतः इस ग्रन्थ की रचना भी लगभग संवत् १८४२ में सम्पन्न हुई है।

भाव-सौंदर्य और काव्य-सौन्दर्य—ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने योग, पिंड, ब्रह्म और नाड़ीविषयक प्रश्नावली प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। अतएव इस प्रश्नावली के मध्य भाव-सौंदर्य की खोज करना कवि के साथ अन्याय होगा। सच तो यह है कि भाव-सौंदर्य के लिए इस ग्रन्थ में कोई अवसर ही नहीं है। हाँ, काव्य-सौंदर्य अवश्य उपलब्ध होता है। ग्रन्थ में भाषा का प्रवाह, शब्द-चयन और प्रश्नावली का क्रम तथा तारतम्य सराहनीय है।

ज्ञानस्वरोदय

उपलब्ध प्रतियां— प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियां लेखक को प्राप्त हुई है। इनमें से प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के यहां, द्वितीय श्री गणेश दत्त

मिश्र के संग्रह में और तृतीय उन्नाव जिला के श्री भगवान दास के यहां प्राप्त हुई। श्री भगवान दास की यह प्रति चरनदास जी के अन्य चार ग्रन्थ 'अष्टांग योग,' 'पंचोपनिषद् सार,' 'ब्रह्म ज्ञान सागर' तथा 'भक्ति सागर' के साथ एक ही जिल्द में सम्बद्ध है।

इस तृतीय प्रति के प्रथम पृष्ठ पर लिखा हुआ है :—

"श्री चरनदास महाराज कृत भक्तियोग ग्रन्थ संग्रह। सकल ग्रन्थ पाठ के लिखा स्वामी महेशानन्द ने। संवत् १८४६ वि० में।"

'ज्ञान स्वरोदय' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका प्रकाशन नवल-किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है। ग्रन्थ का आकार १० " × ६" है। इसकी रचना २६७ छन्दों में हुई है। ग्रन्थ की रचना लिपि देवनागरी है।

'ज्ञान स्वरोदय' में कवि ने योग क्रिया के श्वास विभाग विषयक तत्व एवं माहात्म्य का सांगोपांग वर्णन किया है। श्वास के नियंत्रण, परख और पहचान के द्वारा शुभाशुभ कार्यों की विवेचना और पूर्वज्ञान प्राप्त कर लेना स्वर-साधना का लक्ष्य है। इस श्वास-प्रश्वास साधना में नाडी, सूर्य, चन्द्र कृष्ण पक्ष एवं शुक्लपक्ष आदि का भी विचार अपेक्षित होता है। इसके आधार पर सन्तानोत्पत्ति, एवं मृत्यु जैसे अज्ञात विषयों का भी ज्ञान किया जाता है। चरनदास ने इसी विषय के आधार पर समस्त ग्रन्थ की रचना की है। विषय को देखते हुए ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

वर्ण्य-विषय—श्री चरनदास कृत 'ज्ञान स्वरोदय' का वर्ण्य-विषय निम्न-लिखित है :—

श्री शुकदेव वन्दना—श्री शुक देव ज्ञानस्वरोदय के सूत्र और आधार—सतगुरु का सामर्थ्य—क्षर ॐ और अक्षर सोऽहं—निहअक्षर की शून्य की श्वासों से रहित स्थिति—शून्य में सुरति लगाने का उपदेश—अद्वैत शून्य की आराधना श्रेष्ठ—यह विचार और उपदेश वेद तथा शास्त्रों से सम्मत है—ॐ से काया एवं प्रकृति की उत्पति—सोऽहं से मन की उत्पति—निहअक्षर की निःश्वास स्थिति—निहअक्षर में चित्त को नियोजित करने का उपदेश—"क्षर अक्षर निहअक्षर एके दुविधा नाखौं"-अखिल सृष्टि उसी ब्रह्म की कृति है—श्वास से सोऽहं, सोऽहं से ऊंकार की उत्पत्ति, और ॐ से ररां का विकास—साधना का अन्तर्मुखी करने का उपदेश—"घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहां समावो"—आत्म ज्ञान और अनुभूति ही गीता वेदादि के उपदेशों का सारतत्व–स्वर विज्ञान का ज्ञान अत्यावश्यक–ब्रह्म ज्ञान का अनुभव एवं अजपा तथा सोऽहं की साधना ही परमहंसों की वास्तविक गति है–शरीरस्थ

नाड़ियों में इड़ा, पिंगला और सुषुम्णा की महत्ता—इनकी स्थिति शरीर में—इडा और पिंगला सूर्य और चन्द्र की प्रतीक इनकी साधना से बुद्धि की निर्मलता को प्राप्त होना—"थिरकारज को चन्द्रमा चरकारज को भान"—शुभ कार्य के लिए सूर्य के तीन दिन मंगल, इतवार और शनिवार, चन्द्र योग में शुभ कार्य के लिए सोमवार शुक्र-वार और बृहस्पति शुभ दिन—कृष्ण पक्ष आदि में तीन शुभ दिन–शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ में तीन शुभ दिन—शुक्ल पक्ष के प्रारम्भ के शुभ दिन—सूर्य के दिनों में सूर्य नाड़ी की गति से शुभ कार्य का प्रारम्भ—शुक्ल पक्ष में कार्य, यात्रा, प्रयत्न हानि लाभ, शुभ—अशुभ आदि का स्वरों की दृष्टि से विचार—चन्द्र योग में प्रश्न कर्ता की स्थिति,—गति स्वर और प्रश्न पूछने के ढंग के आधार पर स्वर विज्ञान की दृष्टि से सफलता-असफलता, हानि-लाभ आदि का विचार-तिथि और अक्षरों की गणना से साम्य स्थापित करते हुए शुभाशुभ विचार-राशि एवं नक्षत्रों की गणना का सूर्य से साम्य स्थापना करते हुए विचार गणना—पंच घड़ी तथा पंच तत्वों से शुभाशुभ विचार—धरती, जल, पावक, वायु, गगन आदि के रंग, वर्ण गति का श्वास प्रश्वास आदि की गणना से शुभाशुभ विचार—पंच तत्व की महिमा और उनकी उपयोगिता से शुभाशुभ विचार—रोगी के स्वास्थ्य और जीवन के विषय में प्रश्न तथा गणना विधि—वर्ष तथा प्रजा की दशा के विषय में गणना से उत्तर—अग्नितत्व के लगने से प्रजा की दुर्दशा का विचार—विवाह, तीर्थ, यात्रा, वस्त्र, भूषणादि बनवाने, ग्रन्थ रचना, योगाभ्यास, दीक्षा, मंत्र, औषधि, उपचार, बाग-उपवन लगाने के विषय में शुभाशुभ विचार—युद्ध प्रस्थान, भोजन, स्नान, मैथुन, ध्यान, गज, घोड़ा, वाहन, हथियार, विद्याध्ययन, मंत्र साधना, शत्रु से मिलने आदि के विषय में विचार—सुषुम्णा नाड़ी का विचार—सुषुम्णा के गतिमान होने पर विभिन्न कार्यों को करने का निषेध—दक्षिण एवं वाम स्वर में कार्यों को करने के फल कार्य सिद्धि करण विचार—मृत्यु विचार श्वासों की दृष्टि से—श्वास और प्रश्वास साधना से मृत्यु निवारण—स्वर ज्ञान और साधना से शून्य शिखर में प्रवेश पाने का विचार—योगियों की काया त्याग का विचार—दक्षिणायन और उत्तरायण में मृत्यु का विचार—युद्ध के विषय में स्वरों की दृष्टि से सविस्तार विचार—श्वासों का नियंत्रण, गर्भाधान विचार प्रकरण—पुत्र, पुत्री, उत्तम, मध्यम, निकृष्ट कोटि की सन्तान का विचार—स्वर साधना से मृत्यु का निवारण, पंच तत्व विचार—निरंजन ब्रह्म की प्रतिष्ठा—ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, का विचार षटकमल दल का रूपक—षटचक्रों के रंगों और पटलों का विचार—घंटा एव अनहद नाद और उसकी महत्ता, उपयोगिता—दश वायु और उनका विचार—निराकार देव से सृष्टि, उत्पत्ति स्वरोदय विज्ञान की महत्ता—आत्म परिचय।

विषय-प्रतिपादन—चरनदास को स्वरोदय ज्ञान उनके गुरु श्री शुकदेव से

मिला था। स्वरोदय ज्ञान अनेक कारणों से महत्वपूर्ण है। किसी श्वास के प्रबल होने को स्वर कहा गया है। समस्त स्वरोदय-विज्ञान का एक मात्र आधार प्रत्येक मानव के नासिका छिद्रों से संचालित श्वास-प्रश्वास की गति है। श्वास-प्रश्वासों की गति बड़ी ही रहस्यपूर्ण है। श्वासोच्छ्वास की शक्ति बड़ी प्रबल है। इन्हीं श्वासों का नियंत्रित क्रम मानव के जीवन और दीर्घायु का कारण होता है और इसी का अनियंत्रित प्रवाह मानव को काल का कौर बना देता है। चरनदास ने इसी विज्ञान का प्रतिपादन सुचारु ढङ्ग से अपने इस ग्रन्थ 'ज्ञान स्वरोदय' में किया है।

'स्वरोदय विज्ञान' दुरूह और नीरस विषय है। बिना किसी कुशल गुरु से शिक्षा प्राप्त किए हुए न तो साधना सम्भव है और न प्रक्रिया का समझना ही। कवि ने यथाशक्ति इस विज्ञान को सरल बनाने का प्रयत्न किया है। फिर भी इसे पूर्ण-तया समझ लेना उतना सरल कार्य नहीं है।

लेखक ने प्रतिपाद्य विषय को सरल और सुबोध बनाने का प्रयत्न किया है, परन्तु इतना होते हुए भी विषय की स्वाभाविक दुरूहता बनी हुई है। प्रतिपाद्य विषय के प्रत्येक प्रसंग का एक साथ विवेचना और उनके मूल्यांकन से पाठकों को विषय समझने में सरलता हो जाती है। इसे हम कवि की वैज्ञानिक विवेचना और शैलीगत विशेषता कह सकते हैं।

स्वर-विज्ञान साधना आज प्रायः विलुप्त हो गई है। परन्तु कवि को इस बात का श्रेय है कि साधना की प्राचीन दार्शनिक पृष्ठभूमि में इसे व्यक्त करके अप्राप्त साहित्य तथा दर्शन को सुलभ बना दिया है।

आधार ग्रन्थ—इसके विषय में 'ज्ञान स्वरोदय' में कोई स्वीकारोक्ति नहीं है। प्रस्तुत ग्रन्थ के 'साधना' शीर्षक में 'शिव स्वरोदय' तथा चरनदास लिखित 'ज्ञान स्वरोदय' का साम्य और भेद प्रदर्शित किया गया है। 'ज्ञान स्वरोदय' के आधार ग्रन्थ 'गणेश स्वरोदय' तथा 'शिव स्वरोदय' हैं। इन्हीं दोनों ग्रन्थों के आधार पर कवि ने अपने इस ग्रंथ की रचना की है।

ग्रन्थ का रचनाकाल—ग्रंथ का रचनाकाल अज्ञात है। परन्तु विषय प्रति-पादन शैली, भाषा आदि की प्रौढ़ता इस बात की द्योतक है कि यह 'अष्टांग योग' की समकक्ष रचना है। 'अष्टांग योग' का रचनाकाल संवत् १८४० है, अतः इसका समय भी लगभग सम्वत् १८४३ है।

पंचोपनिषद्सार

उपलब्ध प्रतियाँ—चरनदास कृत 'पंचोपनिषद् सार' की तीन प्रतियां लेखक को उपलब्ध हुई हैं। इन प्रतियों में दो हस्तलिखित हैं और एक मुद्रित। हस्त-

लिखित प्रतियों में सर्वप्रथम प्रति श्री गणेशदत्त मिश्र के संग्रह से प्राप्त हुई है और द्वितीय श्री भगवान दास उन्नाव जिले के निवासी से प्राप्त हुई। भगवान दास जी की इस प्रति के साथ चरनदास जी की अन्य चार रचनाएं 'अष्टाँग योग,' 'ब्रह्म-ज्ञान सागर,' 'ज्ञान स्वरोदय,' और 'भक्ति सागर' सम्बद्ध है।

कवि की इन पाँच पुस्तकों के एक साथ संग्रहकर्ता और प्रतिलिपिकर्ता थे स्वामी महेशानन्द जी जैसा कि संग्रह ग्रन्थ के ऊपर लिखे हुए प्रस्तुत वाक्य से ज्ञात होता है :—

"श्री चरनदास महराज कृत भक्ति योग ग्रन्थ संग्रह। सकल ग्रन्थ पाठ के लिए लिखा स्वामी महेशानन्द ने संवत् १८४६ वि० में।".

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि ग्रन्थ की प्रतिलिपि चरनदास की मृत्यु के १० वर्ष बाद संवत् १८४६ में हुई।

इस ग्रन्थ का आकार १०" × ६" है और ग्रन्थ के विषय की अभिव्यक्ति ३८ पृष्ठों में हुई है। ग्रन्थ की लिपि देवनागरी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच उपनिषदों 'हंसनाद उपनिषद्,' 'सर्वोपनिषद,' 'तत्व-योग उपनिषद,' 'योग शिखोपनिषद,' तथा 'तेजबिन्दु उपनिषद्' का भावानुवाद किया गया है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ का 'पंचोपनिषद् सार' नाम सार्थक है।

उपनिषदों से साम्य और भेद—कवि द्वारा निर्धारित ग्रन्थ के नाम से ज्ञात होता है कि प्रस्तुत रचना न तो भावानुवाद है और न स्वतंत्र रचना, वरन् उपनिषद् की वस्तु का सारतत्व भाषा में कर दिया गया है। कवि की रचना का आधार उपनिषद् ही है, परन्तु उसके विषय से कोई भेद नहीं। कवि के अनुसार भी यह स्वतंत्र रचना न होकर भावानुवाद और सार संग्रह ग्रन्थ है :—

संस्कृत था कूप सम, भाषा नीर निकास।
प्याऊ जिज्ञासन को तिनकी भगै पियास ॥
वेदहि की उपनिषद जुभै भाषा करी।
जो कुछ था वहि मांहि सोई वैसे धरी ॥

"जो कुछ था वहि मांहि सोई वैसे धरी" से स्पष्ट है कि ग्रन्थ उसी विषय तत्त्व को लेकर लिखा गया है जो उपनिषदों में विद्यमान है। अतएव यह कवि की स्वतंत्र रचना नहीं है।

वर्ण्य-विषय—पंचोपनिषद सार का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

अथर्वणवेद हंसनाद उपनिषद्—दार्शनिक एवं आध्यात्मिक क्षेत्रों के गुप्त एवं निहित रहस्यों के उद्घाटक श्री गुरुदेव शुकदेव की वन्दना—संस्कृत में

लिखित प्रस्तुत उपनिषद् का हिन्दी में सर्व लाभार्थ प्रस्तुत करना—जनता की भाषा में हंसनाद उपनिषद् को प्रस्तुत करने का लक्ष्य यह है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सभी इस जन सुलभ और बोधगम्य भाषा का आनन्द ले सकते हैं।

यह जग और उसकी सत्ता मृगतृष्णा के जल के समान है—निकट जाने पर किसी प्रकार पिपासा नहीं शांत होती है—जल के निकट जाने पर और भी पिपासा में अभिवृद्धि होती है—मनुष्य ज्ञान सुधा का परित्याग करके माया जल का पान करता है, जो हृदय में अशांति का बीजारोपण करता है—ज्ञान नीर पीकर भक्तों को तृप्ति होती है-इसके विरुद्ध संसारी सदैव अतृप्त और क्षुधार्त्त रहते हैं—

अतएव संस्कृत के कूप से निःसृत यह कल्याणकारी जल सर्वथा ग्रहणीय और पेय है।

वेदोक्त उपनिषद् के विषय को भाषा में व्यक्त करने का प्रयत्न-इसके श्रवण वा अध्ययन तथा तदनुकूल आचरण करने से भवबाधाओं एवं आवागमन का विनाश होता है-पाठक मुक्ति प्राप्त करके कृतकृत्य होता है—द्वैत की भ्रामक भावना छूट जाती है—द्वंद्व और भ्रम के विनष्ट हो जाने पर निर्मल ज्ञान एवं आनन्द का विकास—हरि की सर्वव्यापकता।

हंसनाम—हंसनाम अथर्वणवेद का गौतम ऋषीश्वर के पास ब्रह्म-ज्ञान प्राप्तार्थ गमन—संसार से मुक्त होने के लिए उपदेश ग्रहण—ऋषीश्वर का प्रसन्न होकर श्री शिव एवं शक्ति की चर्चा का वर्णन—जो उपनिषद महादेव जी ने श्री शक्ति को सुनाया था उसकी चर्चा—यह अत्यन्त गुप्त उपनिषद् है—इसके अधिकारी मूर्ख एवं जड़ व्यक्ति नहीं है—सतसंगी सत्यवादी और यती इसके वास्तविक अधिकारी है

मानव शरीरस्थ श्वास ही हंस है—इसी के आवागमन क्रम को जीवन कहा है—इसका भेद सतगुरु प्राप्त होने पर ज्ञात होता है—इसकी उत्पति होने पर ऋद्धि-सिद्धि सभी प्राप्त हो जाती है— अंततोगत्वा मुक्ति का अधिकारी हो जाता है-समस्त संशय विनष्ट हो जाते है—हंस और परमहंस के समझने से साधक ब्रह्मानन्द स्वरूप हो जाता है—हंस मंत्र का जप करता हुआ अपने को हंस ही अनुभव करे—हंस मंत्र श्रेष्ठ जप है—इसका जप करने वाला स्वयं परहंस स्वरूप हो जाता है—यह मंत्र सब के शरीरस्थ है परन्तु जानने वाला कोई कोई बिरला भाग्यवान होता है—जैसे काष्ट में अग्नि है और तिल में तेल, उसी प्रकार यह सब घटों में है-जिस प्रकार दूध से घृत प्रयत्न-पूर्वक निकाला जाता है उसी प्रकार यत्न-पूर्वक यह मंत्र शरीर से निकाला जाता है—विना मंथन यथा दूध से घृत नहीं निकलता है उसी प्रकार यह भी बिना यत्न नहीं निकल पाता है।

इसे जानने के लिए सर्वप्रथम मूलाधार चक्र को पहिचाना चाहिए—फिर पैरों

की एड़ी से बाँध देना चाहिए—फिर मूलाधार चक्र से खींचकर अपानवायु द्वितीय चक्र तृतीय चक्र और तदनन्तर चतुर्थ चक्र में लाना चाहिए। इसके अनन्तर पंचम चक्र की स्थिति से होता हुआ षष्टम चक्र में प्रवेश करें—इसके अनन्तर पवन को त्रिकुटी में रोकना चाहिए फिर षटचक्र को भेद कर वायु उठकर आगे बढ़ती है तो वह प्राण वायु हो जाती है—प्राणवायु को त्रिकुटी मध्य रोकने का अभ्यास अपेक्षित है—इसी अवस्था में प्रणव का जप अभीप्सित है—प्रणव का जप करता हुआ साधक स्वतः ब्रह्म स्वरूप हो जाता है—जप करते हुए क्रमशः साधक अजपाजाप की स्थिति में पहुँच जाता है—बिना प्रयास ही सोऽहं का जप करता हुआ साधक दिन रात में २१६०० मंत्रों का जप करले—इस प्रकार जीवात्मा परमात्मा की स्थिति पर पहुँच जाता है।

मन को वशीभूत किया हुआ साधक ब्रह्म पद को प्राप्त होता है—जो मनोजित नहीं है वह आशा के फेर में पड़ा है—मानव-शरीर के विशेष आठ अंगों में आठ पंखुरी है—पंखुरी के पूरब दिशा में मन के जाते ही पुण्य करने की इच्छा जाग्रत होती है—आग्नेय पंखुरी में मन के प्रवेश करते ही आलस्य तथा निद्रा, दक्षिण पंखुरी में मन प्रवेश करते ही क्रोध—नैऋत्य पंखुरी में मन प्रविष्ट होने पर पाप प्रवृति—पश्चिम पंखुरी में मन प्रवेश करते ही प्रसन्नता, वायु दिशा पंखुरी में मन के प्रवेश होने पर गतिशीलता का समावेश हो जाता है—इसी प्रकार उत्तर दिशा में प्रवेश करने पर मैथुन, ईशान पंखुरी में प्रवेश से दान, हृदय में प्रवेश होते ही त्याग की भावना जाग्रत होती है।

नाद दश प्रकार का है—प्रथम नाद चील के स्वर के समान—द्वितीय चील के स्वर का ही अभिवृद्ध रूप है—तृतीय क्षुद्र घंटिका—चतुर्थ शंख ध्वनि—पञ्चम वीन स्वर—षष्टम ताल समान—सप्तम वन्शीरव—अष्टम मृदंग—नवम नफीरी और दशम बादल के गर्जन का सा रव है—अभ्यास से ये नाद सिद्ध हो जाते हैं—नौ नादों का परित्याग कर दशम में रमना चाहिए।

इन अनहद नादों की परीक्षा निम्नलिखित प्रकार से हैं। प्रथम नाद के श्रवण से रोमांच—द्वितीय के श्रवण से आलस्य अनुभव—तृतीय से प्रेम वृद्धि, चतुर्थ से मादकता अनुभव—पञ्चम से अमृत स्वाद अनुभव—षष्टम से अमृत के स्वाद का विकसित अनुभव—सप्तम से अन्तर्यामी होता है—अष्टम से सर्वत्र की सभी बातें सुनने का अनुभव—नवम से सर्वत्र सूक्ष्म शरीरेण गमन की शक्ति प्राप्ति—दशम से सोऽहं अनुभव एवं पाप पुण्य विनाश और निर्विकार रूप धारण करना यही ॐकार की स्थिति है।

सर्वोपनिषद्—ग्रन्थ रचना का आधार और सूत्र—प्रजापति के शिष्य द्वारा

सात प्रश्न—बन्धन और मुक्ति का क्या रहस्य है, विद्या का क्या भेद है, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया में क्या अंतर है, पंच कोठे कौन-कौन हैं, आत्मा अकर्ता किस प्रकार है, जीव और देह में क्या अन्तर है, देह का साक्षी कौन है, बन्धन में बंधे हुए को निर्बन्ध और अन्तर्यामी कैसे कहा जाय, माया जीव से दूर है किस प्रकार ?

प्रजापति के उत्तर—जीवात्मा को देह मानना ही दुख का आगार है—यही अज्ञान का कारण है—शरीर की वाह्य उपाधियां और व्याधियां आत्मा से सम्बन्धित नहीं है—अपने को भूल जाना, अपनी स्थिति को विस्मृत कर जाना ही बन्धन है —देह का भाव मिट जाना ही विद्या है और भाव बना रहना अविद्या है—शरीरस्थ चतुर्दश इन्द्रियों का जीवात्मा में विलीन हो जाना ही सुषुप्ति है—तीनों अवस्थाओं के मिटते ही अहंकार मिट जाता है—इसके अनन्तर निर्लेप पुरुष परमात्मा की स्थिति रह जाती है।

प्रथम कोठा अन्नमय कोश है—द्वितीय प्राणमय कोश, इसी में प्राण शक्ति रहती है—तृतीय बुद्धिमय कोश है जिसमें मन, चित्त और अहंकार से पूर्ण बुद्धि का निवास है—चतुर्थ कोठा ज्ञानमय कोश है जो ज्ञान का स्थान निवासागार है—पांचवा आनन्दमय कोश है जहाँ आनन्द का ही साम्राज्य है।

आत्मा को कर्ता समझने वाले को बड़ा कष्ट होता है—इच्छा पूर्ण होने से सुख अपूर्ण रहने से दुःख होता है—श्रवण, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका आदि सुख दुःख अनुभव के मार्ग हैं—आत्मा और परमात्मा का ऐक्य आत्मा और शरीर का वैभिन्य—जीव, आत्मा और परमात्मा में भेद—देह सूक्ष्म और स्थूल है—आत्मा नहीं मनोविकार शरीर विकार, व्याधियां आदि शरीर की है आत्मा की नहीं—आत्मा और शरीर की भिन्नता—आत्मा विनाशशील नहीं है—शरीर क्षय शील है—द्वैत भाव का मिट जाना ही प्रकाश है—अपने ही प्रकाश में, "आप रहा परकाश सोई साक्षी जानिये कहै चरण ही दास"—अन्तर्यामी ही सर्वत्र विराजमान है—आत्मा ब्रह्म के रूप में सर्वत्र विद्यमान है—भ्रम मिट जाने पर ज्ञान प्रकाश का उदय-रूप, नाम और क्रिया के संसर्ग से जीव भ्रम और कष्ट का अनुभव करता है और जीवात्मा का भेद ही दुख का कारण है—अन्यथा तत्वमसि के अनुभव से परम सत्य का अनुभव।

ब्रह्म अविनाशी, सर्वज्ञ, अनन्त, अनादि है—वह वस्तु, काल और स्थानादि से परे है—समस्त भांड एक ही मृत्तिका विनिर्मित है—इसी प्रकार एक ही ब्रह्म सब में है इसीलिए वह अनन्त है—ब्रह्म सत्, आनन्द, अनन्त और ज्ञान स्वरूप है—वह सर्वत्र विद्यमान है—उसका अनुभव होते ही समस्त भ्रम विनष्ट हो जाता है—माया के प्रभाव से सत्य असत्य भासित होता है—ज्ञान होने पर रस्सी और सांप का भेद प्रकाशित हो जाता है—"झूठ जगत दीखत रहै, दीखै ना सत

ब्रह्म"—"यही जु माया जानिये, यही तिमिर यहि भर्म—माया याते कहै भरम अरु अन्त है"—"ज्ञान भये उठि नाय कछू न रहन्त है"—"सत सो लागै झूठ झूठ सच जान है"—"माया यही सुभाव भरम अज्ञान है"—"रसरी कू कहै सर्प्प जु अपने भरम सूं। "ऐसे ही जड़ कहत सनातन ब्रह्म कूं।'

तत्वयोग उपनिषद्—यह उपनिषद् भी प्रजापति ने अपने शिष्य से कहा था—इसके पठन से पापों से मुक्ति और ब्रह्म प्राप्ति होती है—विष्णु योगेश्वर है—उसकी माया अपरम्पार है—वह विष्णु रूप सब में विद्यमान है—उन मनुष्यों को धिक्कार है जो कामवासना के चेरे हैं—इन सभी विकारों का परित्याग करके जगत के आवागमन से मुक्ति प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बनना चाहिए—यहीं उसे आवागमन से छूट जाना चाहिये—यह पद ॐकार के जप से प्राप्त होता है—इस प्रणव के जाप से सभी पाप विनष्ट हो जाते हैं—इसकी व्युत्पत्ति अकार, उकार, मकार के सम्बद्ध रूप से हुई है—इन तीनों अक्षरों में तीन लोक है—प्रथम में भूलोक है—द्वितीय अक्षर में आकाश है—तृतीय अक्षर में बैकुण्ठ निवास है—इनमें तीनों देव ब्रह्मा, विष्णु, महेश का निवास है—इनमें तीन प्रकार की अग्नि समाहित है—प्रथम वह अग्नि है जो संसार में दृष्टिगत होती है—द्वितीय वह है जो सूर्य के रूप में सर्वत्र प्रचण्ड है—तीसरी अग्नि वह है जिसे हम जठराग्नि कहते हैं—तीनों गुण रज, सत् एवं तम का भी निवास ॐकार में है—यह महत्वपूर्ण मंत्र है।

प्रणव के जपकर्ता के लिए संसार में दुर्लभ क्या है-संसार के समस्त ऐश्वर्य इसी में सन्निहित है—ब्रह्म का निवास उसमें उसी प्रकार है यथा पुष्प में वास या दूध में घृत-इसके ध्यान से परम पद प्राप्त होता है—यही वेद पुराणों का भी मत है।

अकार के उच्चारण से हृदय की शुद्धि होती है—उकार के जप से हृदय कमल का विकास होता है और उसमें ब्रह्म का निवास हो जाता है—तृतीय मकार के जाप से नाद प्रकट हो जाता है—नाद मन में हुलास पैदा करने वाला है- नाद में प्रविष्ट और संलग्न हो जाने पर चित्त ज्योति स्वरूप हो जाता है—मन निर्मलता को प्राप्त होता है—वह ज्योति स्वरूप सब प्राणि मात्र में भरपूर व्याप्त है—जो उससे प्रेम करते हैं उसके वह निकट है और जो दूर रहते हैं उनसे वह दूर है।

प्रणव के जाप की विधि इस प्रकार है— नीचे के उभय द्वारों को अवरुद्ध करके हाथ के उभय अँगूठों से कानों को अवरुद्ध कर ले—दोनों तर्जनी को दृगों पर रखले—मध्यमा अँगुली से नासिका छिद्र अवरुद्ध करले—अनामिका और कनिष्ठा से होष्ठ को पुष्ट रूप से अवरुद्ध करे—इस प्रकार महाकुम्भक की साधना करना चाहिए—इस मुद्रा में ओंकार का जप करता हुआ दोनों भौंहों के मध्य ब्रह्म का ध्यान करे—इस क्रिया में संलग्न मनुष्य यदि इन्द्रियों के मार्ग को

अवरुद्ध करले तो घट में प्रकाश होता है और मनुष्य इन्द्रियजित बनता है—प्राणायाम की इस अवस्था में साधक के हृदय में अखंड ज्योति जाज्वल्यमान रहती है—इसी प्रकार चेतना शुद्ध परब्रह्म की प्राप्ति होती है और समस्त कर्म विनष्ट होकर मन निर्मल हो जाता है।

योगशिखाउपनिषद्—योगशिखा उपनिषद् का उपदेश प्रजापति ने अपने शिष्य को दिया—इस उपनिषद् में कथित ज्ञान और उपदिष्ट योग की बड़ी महत्ता है—इस ज्ञान और योग के जाग्रत होते ही तन मन का मोह भूल जाता है—काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ की भावना विनष्ट हो जाती है—इस योग को जाग्रत करने की विधि का वर्णन निम्नलिखित प्रकार से है :—

पद्मासन में स्थित होकर नेत्रों की ज्योति नासिका पर धारण करे और "दोउ पवन के साथ जु हाथ मिलाइये"—समस्त स्वादों की रुचि को रोक करके संसार के माया मोह से चित्त का निवारण करके प्रणव जाप करे—इसके अतिरिक्त अन्य सभी उपायों का परित्याग करके ॐ का जाप करे—इस प्रकार आठों प्रहर हाथ में तलवार ग्रहण किये बिना युद्ध करता रहे।

यह मानव-शरीर बड़ा भारी सदन है—इसमें एक दीर्घ खम्भ है, नौ द्वार है और तीन छोटे छोटे खम्भे हैं—इसके तीन देवता हैं—कोई विशेष साधु ही इसका अनुभव कर पाता है।

इस शरीर में जो बड़ा खंभ है वही मेरुदंड है—यह मेरुदंड ही पीठ की हड्डी है–इसके मध्य सुषुम्णा नाड़ी है, यह सब नाड़ियों में श्रेष्ठ है और योगियों के ध्यान का केन्द्र विन्दु है–योगियों ने इसे सब नाड़ियों में शिरमौर माना है—शरीरस्थ नौ द्वार इस प्रकार हैं—दो श्रवण, दो नेत्र, दो नासिका छिद्र, मुख, गुदा एवँ लिंग–शरीरस्थ वर्णित तीन खम्भ इस प्रकार हैं—सतोगुण, रजोगुण एवं तमोगुण–पंच देवता ही पंच प्राण वायु है–ये पंच वायु हैं प्राण, अपान, ब्यान, उदान, समान–इसमें सूर्य मंडल है जिसकी ज्योति किरण बड़ी प्रकाशमान है।

हृदय कमल में एक ज्योति मंडल है जिसमें दीपक की सी लौ जाज्वल्यमान है–यही ज्योति ब्रह्म है इसी का ध्यान करने वाला सफल योगी है—अंत समय में यह शरीर का परित्याग करके सूर्य मंडल में प्रविष्ट होती है—यदि इसका योगी हृदय में ध्यान करे तो वह सूर्य मंडल में प्रविष्ट होता है, और सुषुम्णा के मार्ग से शीश छेद कर ऊपर जाता है—इस प्रकार वह सायुज्य मुक्ति लाभ करता है।

इस उपनिषद् का पाठ प्रातः मध्याह्न और सायंकाल में करना चाहिए—इससे कर्मभ्रम कट जाते हैं—यम-दंड मिट जाते हैं और वह परम धाम को जाता है—जो निश्चल होकर ध्यान करता है उसका आपा मिट जाता है और वह निर्भ–

यता को प्राप्त होता है—इसके अध्ययन से जन्म-जन्मान्तर के पाप कट जाते हैं और मुक्ति प्राप्त होती है।

तेजबिन्दु उपनिषद्—"तेज विन्द के अर्थ यही हिय गूंध है बड़े ध्यान के तेजहि की यह बूंद है"—"उसका है यह ध्यान जो सबसे ऊंच है, सबसे पर निहरूप शुद्ध अरु शूर्च है"—हृदय में ही अत्यन्त सूक्ष्म रूप में आनन्द स्वरूप विद्यमान है—वह अनन्त शक्ति सम्पन्न सर्व यह व्यापी हैं—वह अलख है, पर योगाभ्यास से उसका दर्शन सुलभ है—वह अथाह सागर है—उसका प्रमाण ही नहीं है—ज्ञानी पंडित और बुद्धिमान् उसके आदि, अंत और मध्य नहीं जान सके हैं—उसे प्राप्त करने के लिए साधना आवश्यक है।

उसे प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम आहार, दूसरे क्रोध पर विजय प्राप्त करे और बहु मनुष्यों की संगति तथा विरोध और प्रीति का विसर्जन करे—प्रबल इंद्रियों को स्ववश करले—शीत, उष्ण, दुख, सुख, निन्दा और स्तुति को समान जाने—अहंकार और वासना का परित्याग करे—अपने अधिकार की वस्तुओं की संख्या न बढ़ावे—सकल मनोरथ और कामना को क्षीण कर दे-गुरु आज्ञाकारी बने-मनोरथ और कामनाओं का परित्याग करे—जिज्ञासु को त्याग उपाय और निश्चय का व्रत धारण करना चाहिए—इन तीनों के माध्यम से साधना का मार्ग परिष्कृत होता है—वही जीवात्मा हंस कहलाता है जिसके ये तीनों मार्ग शुद्ध हो प्रगट रूप से जाग्रत, स्वप्न, और सुषुप्ति मार्ग है परन्तु तुरीया गुप्त स्थान है—तुरीया पर ही साधना की सफलता निर्भर है।

ब्रह्म आकाशवत् सर्वत्र व्याप्त है—वह सूक्ष्मरूप में ही सर्वत्र उपस्थित है-उसी की सत्ता पर चेतन निर्भर है—तीन वेद उसके तीन नेत्र हैं—वह गुण (रज, तम, सत्) से अतीत है—वह सबका आधार और त्रिलोक-धारणकर्ता है—सबका आधार होते हुए भी स्वयं निराधार है—वह निरुपाधि और अखंड है—वह अडोल और अखंड है—वह उपाधि रहित और गुण कर्म रहित है—वह केवल ज्ञान द्वारा प्राप्त है—वह नाम रहित है—बावन अक्षरों से परे और ज्ञान द्वारा प्राप्त है—वह कठिनाई से प्राप्त है।

वह ज्ञान स्वरूप है—वह सत्य है और सब में प्रविष्ट और नित्य है—वह ज्ञान से वियुक्त नहीं है—वह स्वयं पूर्ण है—वह अविनाशी है—"वाकूं कहा नहि वही जाय जाप जापक कभी। अरु सारे हैं जाप उसी माहीं सभी"—और "जपा भी गया जाप जापक वही। सब कुछ उसकूं जान गुप्त परगट सही" —वह निर्गुण, निर्लिप्त और गुणातीत है—उससे ऊपर और किसी की सत्ता नहीं है—वह न जाग्रत है न स्वप्न है, वह इन दोनों से न्यारा है।

वह अविद्या, मोह, लोभ, इच्छा, क्षुधा, पिपासा, तथा समस्त मनोविकारों से परे है—वह कुल अभिमान और विद्या में सीमित और अनुरक्त नहीं है—वह मानापमान से परे है—वह सबसे निवृत है।

श्री गुरुदेव शुकदेव की महती कृपा से यह उपनिषद् ज्ञान प्राप्त हुआ—उन्हीं की सद्-शिक्षा ने बुद्धिहीन शिष्य को भी बुद्धि का आगार बना दिया—वे महती शक्ति हैं—उन्हीं की कृपा से जाति, वर्ण, कुल, देह का अभिमान सभी छूट गया, विनष्ट हो गया।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने वेदांत के निम्नलिखित विषयों का प्रतिपादन किया है :—

१. **हंसनाद उपनिषद् :—**

 १. अद्वैत-भावना
 २. हंस और सोऽहं
 ३. हंस की श्रेष्ठता और सर्वव्यापकता
 ४. अजपाजप
 ५. प्रणव ही ब्रह्म का प्रतिरूप है
 ६. अनहद नाद श्रवण विधि
 ७. दश प्रकार के नाद
 ८. इनकी पहचान
 ९. अनहद नाद पहचानने की विधि

२. **सर्वोपनिषद् :—**

 १. बन्धन मुक्ति का रहस्य, बन्धन का रहस्य
 २. विद्या और अविद्या का भेद-अहंकार का कारण
 ३. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया में अन्तर
 ४. पंचकोश
 ५. जीव, आत्मा, परमात्मा का भेद
 ६. आत्मा का कर्तृत्व
 ७. ब्रह्म, ज्ञानरूप ब्रह्म

३. **तत्वयोग उपनिषद् :—**

 १. परब्रह्म की सर्वव्यापकता
 २. प्रणव का जप, व्याख्या, श्रेष्ठता, व्यापकता और महत्व
 ३. प्रणव जप का प्रभाव और विधि
 ४. प्रणव महिमा

४. योगशिखा उपनिषद्—

१. शरीरस्थ नौ द्वार, पंच देवता, तीन छोटे खम्भे, नाड़ियाँ
२. शरीरस्थ ज्योति मंडल

५. तेजविन्दु उपनिषद्—

१. इन्द्रियाँ और उनकी प्रबलता
२. जीवात्मा की तीन अवस्थायें
३. ब्रह्म की सर्वव्यापकता, उसकी निरुपाधि और अखंडता
४. ब्रह्म की गुण, वर्ण, जाति, नाम विहीनता

उपर्युक्त सूची में सभी विषय आध्यात्मिकता और वेदांत से सम्बन्धित हैं। इन विषयों को व्यक्त करने में लेखक ने बड़ी सावधानी से काम लिया है। नीरसता और दुरूहता होने के साथ इन विषयों में अस्पष्टता सर्वत्र उपलब्ध होती है परन्तु कवि ने उन्हें भांति-भांति की उपमाओं से स्पष्ट और रोचक बना दिया है। प्रतिपादित विषय से स्पष्ट हो जाता है कि कवि को विषय हृदयंगम करने और तद्फलस्वरूप वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने में सफलता प्राप्त हुई है। कवि की चिन्तन शैली परिपक्व और प्रौढ़ता से सम्पन्न है।

रचनाकाल—ग्रन्थ का रचना-काल अज्ञात है परन्तु प्रदिपादित विषय और विषय-प्रतिपादन शैली से स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ 'अष्टांग योग', 'ज्ञान स्वरोदय', तथा 'ब्रह्मज्ञान सागर' की समकक्ष रचना है। चिन्तन गम्भीरता और दार्शनिक विचारधारा की गम्भीरता यह सिद्ध कर देती है कि प्रस्तुत ग्रन्थ कवि के जीवन के अंतिम वर्षों में लिखा गया था। इतना तो निश्चित है कि यह 'अष्टांग योग' के बाद की रचना है। हमने 'अष्टांग योग' का समय संवत् १८४० माना है, अतएव इसका रचनाकाल भी लगभग संवत् १८४४ निर्धारित होता है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से इस नाद उपनिषद् में हंस की व्याख्या, प्रणव और ब्रह्म, सर्वोपनिषद् में विद्या, अविद्या और माया का भेद, तत्वयोग उपनिषद् में ब्रह्म की सर्व-व्यापकता आदि प्रसंग पठनीय है।

भक्तिपदार्थ-वर्णन

उपलब्ध प्रतियाँ—'भक्तिपदार्थ' की दो प्रतियां उपलब्ध हुई हैं। प्रथम श्री गणेशदत्त के संग्रह से और द्वितीय मुद्रित प्रति जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है। मिश्र जी की इस प्रति के आधार पर ही 'भक्ति पदार्थ' की विवेचना की जा रही है। वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास 'भक्ति पदार्थ' को कवि चरनदास की प्रामाणिक रचना मानते हैं।

मिश्र जी की इस हस्तलिखित प्रति में ग्रन्थ के प्रतिलिपि काल और प्रतिलिपि-कर्ता का कोई उल्लेख नहीं मिलता है। ग्रन्थ की लेखन सामग्री उसके सौ वर्ष से अधिक प्राचीन होने की सूचना देती है।

'भक्तिपदार्थ' की प्रस्तुत प्रति का आकार १०"×६½" है और इसके विषय का प्रसार लगभग १०० पृष्ठों में हुआ है। प्रतीत होता है कि विषय—प्रसार की दृष्टि से यही ग्रन्थ कवि की सबसे बड़ी रचना है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में गुरु, मन, मायादि के अन्य प्रसंगों के अतिरिक्त हरि-भक्ति तथा सत्संग का माहात्म्य अंकित किया गया है, साथ ही पाखंड तथा वाह्याचारों की निन्दा की गई है। भक्ति के क्षेत्र में सहायक प्रवृत्तियाँ—नाम, सुरति, दया, शील, सत्यादि का इस ग्रन्थ में समर्थन किया गया है। इसी प्रकार भक्ति में सहायक और बाधक प्रवृत्तियों का स्पष्टतया उल्लेख इस ग्रन्थ में मिलता है। अतएव वर्ण्य-विषय से ग्रन्थ के शीर्षक का पूर्णतया ऐक्य और साम्य है।

'भक्तिपदार्थ वर्णन' का विषय निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित है :—

१. गुरुदेव—उनकी सामर्थ्य, हरि से अधिक गुरु की महत्ता, गुरु की शक्तिमत्ता
२. भक्ति—उपयोगिता और महत्ता
३. सन्त और साधु की महिमा
४. ब्रह्म—निर्गुण तथा सगुण से परे अनादिशक्ति
५. नवधा भक्ति—मुक्ति प्राप्ति सहायक
६. प्रेम और विरहानुभूति
७. चतुर्युग वर्णन
८. नाम महिमा, सुरति, पतिभक्ति, नारी, पंडित
९. मोह, लोभ, माया, इन्द्रिय आदि का दमन, शील, दया, सत्य आदि का उत्कर्ष
१०. मोह के आधार स्तम्भ, नारी, पुत्र कलत्रादि

इन्हीं विषयों के आधार पर ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का विभाजन किया गया है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

आत्मकथात्मक परिचय—श्री शुकदेव की वन्दना—गुरुदेव की सेवा, मुक्ति तथा भक्ति की दात्री है—गुरु की सेवा समस्त दैविक, भौतिक और दैहिक तापों की विनाशक—"गुरु की सेवा बिना काकी नाव बैठि करि तरि हौ" तथा "कैसे प्रकटै ज्ञान उजियारा"—"गुरु सेवा बिन बहु पछितैहौ"—"सद्‌गुरु के लक्षण आशा

तृष्णा कुबुधि जलाई"—वह शब्द की चोट करने वाला है—"वह मारै गोला प्रेम का ढहै भरम का कोट"—वह शब्द बाण का मारने वाला है—वह शब्दी तेग को चलाने वाला है—वह शब्दी सेल—"सत्गुरु के मारे मुए बहुरि न उपजै आय" उसके सम्मुख आत्म समर्पण परमावश्यक है—उसकी सेवा निष्काम-भाव से करनी चाहिए—"अंडा ज्यों आगे गिरै जब गुरु लेव सेइ"—वह माता और ब्रह्म से भी सौ गुना अधिक शिष्य का ध्यान रखता है—"हरि रूठै कुछ डर नहीं तू भी दे छुटकाय। गुरु को राखौं शीशपर सब विधि करै सहाय"—हरि और गुरु की एकता में सन्देह नहीं है—"गुरु को रामहि जान कृष्ण सम जानिये"—भक्तों के दर्शन की महिमा—"भक्त और संत दयावान दाता गुण पूरे। पैज धारणा वचनों शूरे" —"सत लगा को मान अपमान कछु नहि तिनके तथा लख चौरासी प्यारे सब ही"—"राव रंक को ना पहिचानै—कंचन कांच बराबर देखै"—भक्तों की पदवी इन्द्र से श्रेष्ठ,-संत सत्संग की महिमा, जहाँ साधु का जन्म होता है वह नगर देश और गांव धन्य है—संत संगति की महिमा स्मृति, वेद, पुराणों ने गाई है—ब्रह्म की सर्व-व्यापकता और सर्वसामर्थ्य—"वह चाहे गूंगे वेद पढ़ावे, अंधरे आंखे खोलि दिखावै"—"चाहे बिन बादल बरसावै, चाहे जल का थल करि डारै"—"रंकन कूं करै छत्तर धारी"—"छिन में सगरों सिन्धु सुखावै"—वह कोटिक ब्रह्मा, शम्भु नारद, वेदों द्वारा वन्दित है—"वह निराकार नहिं ना आकारा"—"वह निरगुण सरगुण ते नारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे"—वह समस्त आत्माओं में विद्यमान है—ज्ञान प्राप्त होने पर ही उसके दर्शन सम्भव है—ज्ञानी के लक्षण—नवधा भक्ति की महत्ता—प्रेम की सर्वश्रेष्ठता—"प्रेम भक्ति सूं उपजै ज्ञान—प्रेमहिं सूं उपजै वैराग"-प्रेम, योग वैराग आदि से भी श्रेष्ठ है—चतुर्युग वर्णन—नाम अंग वर्णन-नाम की महत्ता—ब्रह्म के प्रति पतिव्रता का सा प्रेम-पातिव्रत प्रेम की श्रेष्ठता—क्रोध साधना में बाधक—मोह साधना को भ्रष्ट करने वाला—लोभ का भक्ति में दुष्प्रभाव-अभिमान का दुष्प्रभाव—शील, दया, की महत्ता—माया साधना के क्षेत्र में श्रेष्ठ बाधक—गुरुमुख के लक्षण—ब्रह्म की स्तुति—श्री शुकदेव जी की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—'भक्ति पदार्थ' वर्णन में भक्ति से सम्बन्धित अनेक प्रसंगों का प्रतिपादन बड़े विस्तार के साथ हुआ है। सत्गुरु, ब्रह्म, सत्, दैवी और दानवीय प्रवृतियों आदि का उल्लेख और वर्णन कवि ने बड़े मनोयोग और विस्तार के साथ किया है। इनमें से एक भी विषय को ले लीजिए उसके सम्बन्ध में जो कुछ लिखना संभव हो सकता है वह सब कुछ वर्ण्य-विषय में आ गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय वर्णन में गम्भीरता के साथ प्रौढ़ता भी है।

विषय को प्रभावशाली और व्यापक बनाने के हेतु कवि ने उपमाओं

दृष्टान्तों तथा उदाहरणों का प्रयोग किया है और इस प्रकार इसमें सन्देह नहीं कि विषय पर्याप्त रोचक और प्रभावशाली बन गया है।

'भक्ति पदार्थ' के प्रतिपादित विषय का अध्ययन करने से ज्ञात हो जाता है कि इस ग्रन्थ के रचना काल तक कवि का अध्ययन और चिन्तन दोनों ही अपने में पूर्णता प्राप्त कर चुके थे। ब्रह्म-वर्णन पढ़ चुकने के बाद उसके विषय में और कोई जिज्ञासा और उत्सुकता का भाव शेष नहीं रह जाता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना विभिन्न एवं पृथक-पृथक विषयों के संग्रह के आधार पर हुई है। इन विषयों में पारस्परिक रूप से कोई तारतम्य और सम्बन्ध न होते हुए भी कवि ने तारतम्य स्थापित करके उसे ग्रन्थ का रूप प्रदान कर दिया।

अभिव्यंजना शैली, परिमार्जित भाषा और कला की दृष्टि से भी कवि की प्रस्तुत रचना पठनीय है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना काल ज्ञात नहीं है। इसके सम्बन्ध में किसी अन्य सूत्र से भी हमें कोई सहायता नहीं उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में कवि की ब्रह्म विषयक धारणा देख कर हम कह सकते हैं कि यह कवि की प्रौढ़ रचनाओं में से एक है। कला और भाषा शैली की दृष्टि से यह 'ब्रह्म ज्ञानसागर' से बाद का रचित ग्रंथ प्रतीत होता है। 'ब्रह्म ज्ञान सागर' का रचनाकाल हमने सन् १७५९ निर्धारित किया था, अतएव इसका रचनाकाल दो-एक वर्ष बाद सन् १७६० मान लेना असंगत न होगा।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य और काव्य सौंदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसके रचनाकाल तक कवि का काव्य-कौशल प्रौढ़ हो चुका था। भाषा पर कवि का अच्छा अधिकार स्थापित हो चुका था। भाव-सौंदर्य की दृष्टि से सत्गुरु तथा ब्रह्म प्रकरण पठनीय होंगे।

एक ही विषय पर अथवा एक ही भाव को लेकर कवि ने अनेक छन्दों की रचना कर डाली है परन्तु पुनरुक्ति होने पर भी उनमें अभिनवता और मौलिकता के दर्शन सुलभ है। उदाहरणार्थ सत्गुरु प्रकरण से निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं। इन सब में सत्गुरु को शब्द-बाण का संहारक कहा गया है परन्तु प्रत्येक बार एक अभिनव शैली में :—

> मैं मिरगा गुरु पारधी, शब्द लगायौ बाण।
> चरणदास घायल गिरे, तन मन बींधे प्राण॥
> शब्द बाण मोहि मारियो, लगी कलेजे माँहि।
> मार हँसे शुकदेव जी, बाकी छोड़ी नाँहि॥

सतगुरु शब्दी तेग है, लागत दो कर देहि।
पीठि फेरि कायर भजै, शूरा सन्मुख लेहि॥
सतगुरु शब्दी सेल है, सहै धमों का साध।
कायर ऊपर जो चले, तौ जावै बरबाद॥
सतगुरु शब्दी तीर है, तन मन कीयो छद।
बेदरदी समझै नहीं, विरही पावै भेद॥

संक्षेप में हमें इस ग्रन्थ में कवि की काव्य-प्रतिभा के सर्वत्र दर्शन होते हैं।

चीरहरण-लीला

उपलब्धप्रतियां—नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित प्रति के अतिरिक्त 'चीरहरण-लीला' की दो हस्तलिखित प्रतियां वर्तमान महन्त श्री गुलाब-दास तथा श्री गणेशदत्त मिश्रके संग्रह में प्राप्त हुईं।

श्री मिश्रजी से प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रति के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी थे जैसा कि निम्नलिखित कथन से स्पष्ट है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित चीरहरण लीला सम्पूरन प्रस्तुल किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

ग्रन्थ के अंत में इसका प्रतिलिपि काल नहीं लिखा गया। परन्तु हस्तलेखन और लेखन साम्रग्री इस बात का प्रमाण है कि इसका रचना-काल वही है जो 'ब्रज चरित', 'दान लीला,' 'मटकी लीला' आदि का है। अतः इस ग्रन्थ का लिपिकाल संवत् १८४२ ही निश्चित होता है।

'चीर हरण लीला' कवि की समस्त रचनाओं में सबसे अधिक संक्षिप्त अथवा लघु रचना है। इसके वर्ण्य-विषय का प्रसार केवल ५ छन्दों अथवा दस पंक्तियों में हुआ है। इस प्रति का आकार "१० × ६" हैं और रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

इस ग्रन्थ में श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के चीर हरण की कथा का वर्णन हुआ है, अतः ग्रन्थ का शीर्षक 'चीर हरण लीला' सार्थक और उपयुक्त प्रतीत होता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्णित विषय इस प्रकार हैं :—

हरण किये हुए चीर के लिए श्री गोपाल से गोपियों का निवेदन—चोरी के स्वभाव के प्रति गोपियों के व्यंग—लज्जा रक्षा करने की प्रार्थना—श्री कृष्ण द्वारा प्रेम की शिक्षा और वस्त्रों का लौटा देना—कृष्ण की महत्ता और लीला प्रियता।

विषय-प्रतिपादन—'चीर हरण लीला' एक विस्तृत उपाख्यान है। इसमें कृष्ण जी के चरित्र के साथ प्रेम माधुर्य एवं कथा की रोचकता सर्वत्र उपलब्ध होती हैं; परन्तु कवि ने इस तथ्य के प्रति विशेष ध्यान नहीं दिया है। चीर हरण की घटना का उसने सीधे-सादे शब्दों में वर्णन कर दिया है। वर्णित-प्रसंग में रोचकता का अभाव है।

रचना काल—'चीरहरण-लीला' कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक हैं। इसमें न तो चिन्तन की प्रौढ़ता है न शैलीगत परिमार्जन। 'दानलीला' और 'माखनचोरी लीला' की तुलना में भी यह नितांत अपरिष्कृत और अपरिपक्व रचना प्रतीत होता है। इसीलिए इस ग्रन्थ का रचना-काल सन् १७३५ (जो कि दान लीला और माखन चोरी लीला का रचना-काल है) से पूर्व प्रतीत होता है। यदि हम इसे सन् १७३० के लगभग विरचित मान लें तो असंगत न होगा।

मटकी-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी,' 'कालीनथन लीला,' 'चीरहरण लीला' और 'कुरुक्षेत्र लीला' के समान इस ग्रन्थ की भी दो प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। इन दोनों प्रतियों के सूत्र श्री महन्त गुलाबदास और श्री गणेश दत्त मिश्र है। लेखक की विवेचना और अध्ययन का आधार है मिश्र जी के संग्रह की उपलब्ध प्रति।

'मटकी लीला' के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी हैं जैसा कि निम्न-लिखित उद्धरण से स्पष्ट है:—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित मटकी लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस प्रति में प्रतिलिपि काल का उल्लेख नहीं है, पर यह ग्रन्थ भी 'ब्रज चरित', 'दान लीला,' 'माखन चोरी,' 'काली नथन' आदि के समान ही संवत् १८४२ वि० का प्रस्तुत किया हुआ प्रतीत होता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना १६ छन्दों में हुई है। इस प्रति का आकार १०" × ६" है तथा रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

'मटकी लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतियों के अतिरिक्त एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है, जिसका प्रकाशन 'भक्ति सागर' शीर्षक के अन्तर्गत नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है।

'मटकी-लीला' में दधि के आकांक्षी श्रीकृष्ण जी द्वारा गोपियों की मटकी फोड़ने का वृतान्त वर्णित है। अतएव वर्ण्य-विषय की दृष्टि से ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ एक अत्यन्त लघु रचना है जिसका समस्त प्रसार १६ छन्दों में हुआ है। अतएव इस विषय का प्रकरणों और अध्यायों में विभाजन के लिए कोई अवसर नहीं है।

वर्ण्य-विषय—प्रस्तुत रचना का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सुन्दर वस्त्रों एवं अलंकारों से सुसज्जित श्रीकृष्ण के द्वारा मुरली वादन—मुरली रव के मनमोहक प्रभाव से गोपियों और ग्वालिनों का लोकलाज और गृह त्याग कर श्रीकृष्ण के पास मुरली सुनने के हेतु पहुँच जाना–दर्शन होते ही ब्रज नारियों का बेसुध हो जाना–श्रीकृष्ण द्वारा उनका दधि हरण—दधिपान और तद-नन्तर दधि-मटकी को विनष्ट कर डालना—माता यशोदा से गोपिकाओं के उलाहने और पीड़ित किये जाने का वृतांत--माता यशोदा का आश्वासन और भविष्य में उसे रोकने का बचन देना।

विषय-प्रतिपादन—'मटकी-लीला' में विषय-प्रतिपादन की शैली अत्यन्त साधारण और कला-विहीन है। कृष्ण-साहित्य में 'मटकी लीला', 'दान लीला', 'चीर हरण लीला' आदि प्रसंग बड़े ही भाव-पूर्ण तथा सरस है, जिन पर प्रकाश डाल कर अपनी प्रतिभा के माध्यम से कोई भी कवि धन्य हो सकता है। कवि-हृदय इन स्थलों और प्रसंगों में इस प्रकार रम जाता है कि भावातिरेक में अपनी लेखनी पर ही उसे अधिकार नहीं रह जाता; परन्तु यह चरनदास के इस ग्रन्थ में कहीं नहीं है। कवि इस भाव पूर्ण स्थल को सम्यक् प्रकार से व्यक्त करने में सफलीभूत नहीं हुआ है। विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से मूल्यांकन करते समय प्रतीत होता है कि कवि ने अपनी बात को शीघ्रातिशीघ्र कह डालने के फेर में पड़ कर उसका साहित्यिक सौंदर्य नष्ट कर डाला है।

ग्वालिन और यशोदा के सम्भाषणों में वाक्चातुर्य का चमत्कार नहीं है और न उसमें नाटकीय-तत्व के दर्शन ही होते हैं।

रचना-काल—'मटकी लीला' के रचना-काल के सम्बन्ध में कोई अन्त-स्साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। विषय प्रतिपादन की शैली, तथा वर्ण्य-विषयादि की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'दान लीला' और 'माखनचोरी लीला' के समकक्ष रखा जा सकता है। इन दोनों ग्रन्थों का रचना काल अनुमानतः सन् १७३५ माना गया है, अतः इस ग्रन्थ की रचना-तिथि सन् १७३० लगभग निश्चित होती है।

भाव–सौंदर्य—'मटकी लीला' भाव-सौंदर्य की अभिव्यंजना के लिए बहुत ही अनुकूल विषय है। परन्तु कवि के काव्यजीवन के प्रारम्भिक बसंत का पुष्प होने के

कारण यह न तो अधिक विकसित ही है और न सुरभि संयुक्त। इसीलिए इसमें भाव-सौंदर्य का अभाव है।

दान-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'ब्रज चरित' की भाँति 'दान लीला' की भी दो प्रतियां उन्हीं दोनों सूत्रों से उपलब्ध हुई हैं। लेखक ने महन्त गुलाबदास की प्रति के केवल दर्शन किये हैं। चरनदास के साहित्य का अध्ययन करने में उसने श्री गणेशदत्त मिश्र के संग्रह से प्राप्त 'दान लीला' का उपयोग किया है। 'ब्रज चरित' की उपलब्ध प्रतियों का विवरण देते समय कहा जा चुका है कि मिश्र जी के संग्रह में 'ब्रज चरित,' 'दान-लीला', 'माखनचोरी लीला,' 'कालीनथन,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण' और 'कुरुक्षेत्र लीला' एक जिल्द में एक साथ सम्बद्ध मिले हैं। 'ब्रज चरित' के प्रतिलिपिकर्ता श्री रामरूप जी के प्रिय शिष्य अजपादास जी 'दान लीला' के भी प्रतिलिपिकर्ता हैं। 'दान लीला' के अंत में प्रतिलिपिकर्ता ने लिखा है कि—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित दान लीलासम्पूरन प्रस्तुत किया चरन दास के दास रामरूप जी महाराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस उद्धरण में अजपादास जी ने प्रतिलिपि सम्वत् का उल्लेख नहीं किया है। 'ब्रज चरित', की प्रतिलिपि तिथि आषाढ़ संवत् १८४२ है। 'ब्रज चरित' का कागज़ तथा रोशनाई और 'दान लीला', 'माखन चोरी', 'काली नथन', 'मटकी लीला', 'चीर हरण' तथा 'कुरुक्षेत्र लीला' के कागज तथा रोशनाई आदि में कोई अंतर नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अजपादास ने क्रमशः एक के बाद दूसरे ग्रन्थ की प्रतिलिपि प्रस्तुत की थी। अतः इसका और ब्रज-चरित का प्रतिलिपि काल प्रायः एक ही निश्चित होता है।

'दान-लीला' कवि की अत्यन्त संक्षिप्त एवं लघु रचनाओं में से एक है। इसकी रचना ४६ छन्दों में हुई है। इसका आकार 'ब्रज-चरित' के समान ही १०" × ६" है और रचना-लिपि देवनागरी है।

'दान लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतियों के अतिरिक्त नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध है जिसका संकलन 'भक्ति सागर' शीर्षक से हुआ है।

'दान-लीला' में श्रीकृष्ण तथा गोपियों के दधिदान विषयक वाद-विवाद और परम्परागत कथा का चित्रण हुआ है। श्रीकृष्ण की गोपियों से दधि-याचना और

उनका उत्तर-प्रत्युत्तर इस ग्रंथ का विषय है। इस प्रकार वर्ण्य-विषय और ग्रन्थ के शीर्षक में पूर्णतया साम्य है। वर्णित-विषय की दृष्टि से शीर्षक पूर्णतया सार्थक है।

ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का विभाजन प्रकरण, अध्याय अथवा शीर्षकों में नहीं हुआ है। प्रारम्भ से अंत तक कथा का एक ही क्रम चलता रहता है। इस ग्रन्थ की रचना श्रीकृष्ण एवं गोपियों के कथोपकथन में हुई है। कथोपकथन के द्वारा लेखक ने ग्रन्थ में नाटकीय तत्वों का समावेश करने का प्रयत्न किया है।

आधार-ग्रन्थ—'दान लीला' के वर्णन में कवि ने किस ग्रन्थ को आधार बनाया है इसका कहीं उल्लेख नहीं हुआ है। किन्तु ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने लिखा है कि :—

ब्रज बनिता और श्याम की लीला कही शुकदेव।
चरणदास जाके सुने, बढ़ै भक्त को भेव ॥
बाल चरित गोपाल के, पढ़त हियो हुलसाय।
चरणदास कहे सन्त जन, गावो मन चितलाय ॥

इस उद्धरण की प्रथम पंक्ति विशेष ध्यान देने योग्य है। "ब्रज वनिता और श्याम की लीला कही शुकदेव" से प्रकट है कि कवि ने भागवत में वर्णित दान-लीला प्रकरण के आधार पर ही अपने इस ग्रन्थ की रचना की है।

वर्ण्य-विषय—'दान-लीला' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

ब्रज भामिनियों का दधि विक्रय के हेतु बाहर जाना—श्रीकृष्ण का मिलन और दधि याचना—दोनों पक्षों से अपने अपने मत के समर्थन में तर्क व्यंजना—गोपिकाओं द्वारा दही न देने का संकल्प—श्रीकृष्ण का दही के लिए हठ और बार बार नवीन युक्ति तथा साम-दाम भय-भेद से स्वार्थ पूर्ति के लिए प्रयत्नशील रहना—गोपियों द्वारा कृष्ण की लकुटी, कम्बल, वंशी और गुंजमाला की सराहना और प्रशंसा—कृष्ण के सर्वव्यापकत्व में पूर्णास्था प्रकट करना—कृष्ण द्वारा बलात् दही लूट लेने की धमकी और प्रेम प्रीति की रीति का उपदेश—गोपियों की विविध प्रकार से विनय और क्षमा याचना—"काहू विधि छाड़ो हमें कर जोर करें परनाम" के उत्तर में श्रीकृष्ण का—"क्यों हूँ जान न पावहो अतो सयानी नार" कथन—गोपियों के द्वारा हास्य और मनोरंजन करने का प्रयत्न—कृष्ण और उनके बाल सखाओं के द्वारा दधि लूट लेना—बरतन भाड़े फोड़ डालना और अंत में ब्रज नागरियों तथा कृष्ण की रास और केलि लीला—गोपियों का प्रेम मग्न होकर श्रीकृष्ण के चरणों पर गिर पड़ना और प्रशंसा तथा स्तुति करना—दान लीला का महत्व और पाठ करने की उपादेयता।

विषय-प्रतिपादन—'दान लीला' की विषय-प्रतिपादन शैली अत्यन्त सरल और साधारण है। उसमें न तो कहीं चमत्कार का प्रदर्शन है, न रोचकता का समावेश। विषय-प्रतिपादन में मनोवैज्ञानिकता का अभाव भी खटकता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन प्रश्नोत्तर अथवा कथोपकथन के रूप में हुआ है। परन्तु इन प्रश्नोत्तर अथवा कथपकथनों में तर्क की दृष्टि के साथ ही वाग्वैदग्ध का भी अभाव है। कथोपकथन सामान्यरूपेण निर्जीव प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियां उद्धृत की जाती हैं :—

> मांगन लागे दान जब, मोहन वाकें छैल।
> हंस कर बोली ग्वालिनी, तू छांड़ हमारी गैल ॥
> अरे तू कैसो मागे दान, मोहन सांवरे।
> हम मांगे दधि को दान, गूजर बावरी ॥
> चल्यो जारे कृष्ण मुरार, गऊ चरावरे।
> तुम ठाढी रहो री गंवार, याही ठांव री ॥

इन संवादों में रोचकता, नाटकीयता, वाग्वैदग्ध और तर्कों का अभाव है। इसी प्रकार प्रायः सम्पूर्ण ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन हुआ है।

रचना-काल—'दान लीला' का रचना-काल अज्ञात है। इसके विषय में न तो कोई अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध है न वहिस्साक्ष्य। इसके विषय में 'गुरुभक्त प्रकाश' में भी कोई उल्लेख नहीं मिलता है। प्रस्तुत ग्रन्थ में सगुण श्रीकृष्ण की लीला का चित्रण हुआ है तथा इसकी रचना-शैली अत्यन्त अपरिपक्व और साधारण है। इसमें कहीं काव्य-कला या शैली-गत सौंदर्य नहीं दृष्टिगत होता है। इसलिए यह कवि के रचना काल की प्रारम्भिक अवस्था की कृति प्रतीत होती है। शैली और भाषा की दृष्टि से जब हम इसकी तुलना 'ब्रज चरित' ग्रन्थ से करते हैं तो यह प्रमाणित हो जाता है कि इसकी रचना ब्रज चरित से पूर्व हुई थी। अतएव इसका रचना-काल 'ब्रज चरित' के रचना-काल (सन् १७४०) से पूर्व निर्धारित होता है। संभवतः यह ग्रंथ सन् १७३५ के लगभग लिखा गया है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से भी प्रस्तुत रचना अपरिपक्व है। शब्द चयन और भाषा-सौंदर्य साधारण कोटि का है।

माखनचोरी-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—कवि चरनदास कृत 'माखन चोरी लीला' ग्रन्थ की दो हस्तलिखित प्रतियाँ लेखक को उपलब्ध हुई हैं। इनमें से प्रथम चरनदासी-सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास के यहाँ से और द्वितीय श्री गणेश दत्त मिश्र के संग्रह

से। लेखक के अध्ययन का आधार यही द्वितीय प्रति है। यह प्रति "ब्रज चरित' 'दानलीला,' 'काली नथन,' 'मटकी लीला,' 'चीरहरण' तथा 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ एक ही प्रति में सम्बद्ध है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिलिपिकर्ता का नाम श्री अजपादास था। अजपादास का परिचय और उनके समय का निर्धारण 'ब्रजचरित वर्णन' तथा 'दान लीला' के साथ हो चुका है। इस ग्रन्थ के अन्त में प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास ने लिखा है—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित माखनचोरी लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री स्वामी चरनदास के दास रामरूप महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

इस उद्धरण के अन्त में प्रतिलिपिकर्ता ने ग्रन्थ के प्रतिलिपि-काल का उल्लेख नहीं किया है। प्रस्तुत लेखन सामग्री और प्रतिलिपि हस्तलेखन से प्रकट है कि इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल वही है जो 'ब्रज चरित' अथवा 'दान लीला' का है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि संवत् १८४२ विक्रमीय निश्चित होता है।

'माखनचोरी लीला' का प्रणयन २० छन्दों में हुआ है। इस प्रति का आकार १०" × ६" है और रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

इन दो हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त 'माखनचोरी लीला' की एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध होती है जिसका प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति सागर' ग्रन्थ में हो चुका है।

'माखन चोरी लीला' में कवि ने श्रीकृष्ण की मक्खन प्रियता, उसे प्राप्त करने की लालसा, तथा माखन प्राप्त करने की आकांक्षा में ब्रज नागरियों के घर में घुसने तथा चोरी करने का वर्णन किया है। इस प्रकार ग्रन्थ के वर्णित विषय और शीर्षक से पूर्णतया साम्य एवं ऐक्य है। दूसरे शब्दों में ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है।

ऊपर कहा जा चुका है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रणयन ४० छन्दों में सम्पन्न हुआ है। इन ८० पंक्तियों में लेखक ने अत्यन्त संक्षेप में श्रीकृष्ण की माखनचोरी लीला का वर्णन कर दिया है। इसमें प्रसंग दो आए हैं। प्रथम प्रसंग है श्रीकृष्ण का एक गोपिका के गृह में माखन चुराने के लिए प्रवेश तथा द्वितीय प्रसंग है श्रीकृष्ण का पकड़ा जाना और गोपिका के द्वारा श्रीकृष्ण का माता यशोदा के पास पकड़ कर ले जाया जाना। परन्तु कवि ने इन दोनों प्रसंगों का विभाजन प्रकरण, प्रसंग, अध्याय अथवा अन्य किसी शीर्षक में नहीं किया है। कथावर्णन का क्रम प्रारम्भ से अंत तक एक समान चलता रहता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

श्रीगोपाल का मक्खन के लिए निज सखाओं के साहचर्य में भ्रमणार्थ निकलना—कश्चित् ग्वालिन के सूने घर में माखन प्राप्त करने की कामना से प्रवेश—कृष्ण द्वारा छीके पर से मक्खन उतारा जाना–ग्वालिन का गृह में प्रत्यागमन और चोर श्रीकृष्ण का रंगे हाथों पकड़ा जाना—ग्वालिनी का सखी सहेलियों के साथ कृष्ण को पकड़ कर माता यशोदा के पास जाना—ग्वालिनों के यशोदा के प्रति भांति-भांति के उलहने, व्यंग, शिकायत और उत्पीड़न का उल्लेख—कृष्ण द्वारा चीरहरण, मक्खन चोरी, मटकी फोड़ने, आभूषण तोड़ने, दधि दान मांगने आदि का सविस्तार उलहने के रूप में वर्णन—निज प्रबल माया के माध्यम से कृष्ण का रूप परिवर्तन–ग्वालिनों का यशोदा मैय्या के समक्ष लज्जित होना–यशोदा जी का गोपियों के साथ व्यंग और हास्य मिश्रित वार्तालाप—लज्जित गोपियों का स्वगृहार्थ प्रत्यागमन—कौतुक एवं लीला प्रिय श्रीकृष्ण का वन्दना और स्तवन।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत रचना में कवि के द्वारा विषय का प्रतिपादन अत्यन्त सरल और साधारण ढंग से हुआ है। दूसरे शब्दों में यह कथा अत्यन्त सीधे, सादे शब्दों में वर्णन मात्र है। इसमें लेखक का ध्यान प्रकृति वर्णन, वस्तु वर्णन, चरित्र-चित्रण, श्रीकृष्ण का सौंदर्य-वर्णन आदि विषयों पर बिलकुल नहीं गया है। विषय-प्रतिपादन शैली को देख कर ज्ञात होता है कि 'माखन चोरी लीला' कवि की प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है। इस ग्रन्थ के रचनाकाल में कवि की काव्य प्रतिभा अत्यन्त अपरिष्कृत और साधारण प्रतीत होती है। बीच-बीच में संभाषणों और वार्तालापों के द्वारा कवि ने ग्रन्थ में रोचकता का समावेश करने का प्रयत्न किया है, परन्तु वह निष्फल प्रयास है। इन संभाषणों में रोचकता वाक्चातुर्य, वाग्वैदग्ध और मनोरंजकता का सर्वथा अभाव है। उदाहरणार्थ कतिपय पंक्तियां यहां उद्धृत करना असंगत न होगा :—

> तब हंस यशोदा ने कह्यो कहो ग्वारिनी बात।
> किह कारण आई सबै है घर में कुसलात॥
> जो देखे कर और कहैं यह बालक काको।
> हम गहलाई कुंवर कान्ह भयो अचरज जाको॥
> सब मिलि खिसियानी भई कहन लगीं मुख मोर।
> ना जाने इन कहा कियो ढोटा चित के चोर॥

इन सम्बादों में न तो नाटकीयता है न सुन्दर भाषा और न हृदय-ग्राही संचय शब्द।

रचना-काल—'माखन चोरी लीला' का रचना-काल अज्ञात है। ग्रन्थ में

इसके सम्बन्ध में कोई अन्तस्साक्ष्य नहीं उपलब्ध होता है। परन्तु विषय प्रतिपादन की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'दान लीला' से पूर्व रचित प्रतीत होता है। 'दानलीला' का रचना-काल १३३५ निर्धारित हो चुका है, अतः 'माखनचोरी लीला' का रचना-काल लगभग सन् १७३२ सिद्ध होता है।

भाव-सौंदर्य—प्रस्तुत ग्रन्थ का भाव-सौंदर्य साधारण कोटि का है। तथ्य तो यह है कि इसमें भावाभिव्यंजना के लिए कोई अवसर और अवकाश ही नहीं है। अतः भाव-सौंदर्य की दृष्टि से यह ग्रन्थ निम्नकोटि का है।

कुरुक्षेत्र-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'कुरुक्षेत्र लीला' की तीन प्रतियाँ लेखक को प्राप्त हुई हैं। इनमें से दो तो हस्तलिखित प्रतियाँ और एक मुद्रित प्रति है। हस्तलिखित प्रतियों में से प्रथम तो वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास के पास उपलब्ध हुई और द्वितीय श्री गणेश दत्त मिश्र के संग्रह से प्राप्त हुई है। मुद्रित प्रति का प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुआ है। 'कुरुक्षेत्र लीला' की विवेचना और अध्ययन श्री मिश्र जी के प्रति के आधार पर हुआ है। नवलकिशोर प्रेस और मिश्र जी की प्रति में वर्ण्य-विषयक कोई भेद नहीं है।

मिश्र जी के संग्रह से प्राप्त प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास जी थे जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से ज्ञात होता है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित कुरुक्षेत्र लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री चरनदास के दास रामरूप जी महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख न दीयते।"

'कुरुक्षेत्र लीला' की प्रस्तुत प्रति 'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी,' 'काली नथन लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला' के साथ ही एक जिल्द में सम्बद्ध है। लेखन सामग्री रोशनाई, कागज़, हस्त लेखन आदि का उपर्युक्त ग्रन्थों से पूर्णतया साम्य है। 'ब्रज चरित' के अंत में अजपादास जी ने उसका प्रतिलिपि काल संवत् १८४२ अंकित किया है। अतः 'कुरुक्षेत्र लीला' का प्रतिलिपि-काल यही निश्चित होता है।

'कुरुक्षेत्र लीला' की रचना ५३८ छन्दों में सम्पन्न हुई है। इसका आकार १०" × ६" है और इस ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

'कुरुक्षेत्र-लीला' में सगुण श्रीकृष्ण की कुरुक्षेत्र लीला का सविस्तार वर्णन हुआ है। इसलिए ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय और शीर्षक में साम्य है। ग्रन्थ का 'कुरुक्षेत्र लीला' शीर्षक सार्थक है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में श्रीकृष्ण के जीवन और चरित्र से सम्बन्धित अनेक कथाओं और उपाख्यानों का वर्णन हुआ है। इन प्रसंगों और कथाओं, उपकथाओं में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है :—

१. सूर्य ग्रहण के अवसर पर श्रीकृष्ण का गंगा स्नानार्थ कुरुक्षेत्र गमन।
२. देवकी, वसुदेव तथा अन्य ब्रजवासियों का कृष्ण कुंवर के दर्शनार्थ आगमन।
३. श्रीकृष्ण के वियोग और संयोग में ब्रज के पशु और मानवसमाज की दशा का मार्मिक चित्रण, कृष्ण का सान्त्वना प्रवचन।
४. रास के हेतु श्रीकृष्ण का शृंगार, ब्रज के दर्शकों का जमाव।
५. मानिनी राधा की दशा का चित्रण।
६. रुक्मिणी के प्रयास से मानिनी राधा और कृष्ण का मिलन।
७. राधा का शृंगार।
८. कुन्ती का आगमन।
९. द्रौपदी और रुक्मिणी का सम्वाद-विवाह के विषय में।
१०. सत्यभामा के विवाह की वार्ता।
११. द्रौपदी के विवाह की वार्ता।
१२. हरिभक्तों के दर्शन की महिमा।
१३. श्रीकृष्ण की सर्वव्यापकता और सर्वसामर्थ्य।
१४. निष्काम-भक्ति और कर्म की महत्ता।
१५. कर्म-योग का उपदेश।
१६. द्वारिका गमन के लिए श्रीकृष्ण की चिन्ता। राधा का साथ जाने के लिए आग्रह, राधा की विजय।

५३८ छन्दों में कवि ने इन १६ प्रसंगों और कथाओं की अभिव्यक्ति की है, परन्तु ग्रन्थ का विभाजन न अध्यायों में हुआ है और न प्रकरणों में। कथा का क्रम आद्योपांत एक समान ही चलता रहता है।

ग्रन्थ का आधार—'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना आधार प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में निम्नलिखित शब्दों मे अंकित किया गया है :—

अपने गुरु शुकदेव कूं शीश निवाय कै।
साधो कहूँ कथा भागौत सुनो चितलाय कै॥
चरणदास के इष्ट कृष्ण गोपाल है।
दुख हरन सुख करन सु दीन दयाल है॥
दसम स्कन्ध विषै यह कथा सब गाई है।
राजा परीक्षित कूं शुकदेव सुनाई है॥

प्रस्तुत उद्धरण का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि 'कुरुक्षेत्र लीला' का आधार ग्रन्थ भागवत है। श्री शुकदेव ने राजा परीक्षित को भागवत के दशम स्कन्ध की जिस वार्ता को सुनाया था, वही इस ग्रन्थ का आधार है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में भागवत की परम्परागत कथा का चित्रण हुआ है।

वर्ण्य-विषय—'कुरुक्षेत्र लीला' का वर्ण्य विषय निम्नलिखित है :—

वर्ण्य-विषय का आधार ग्रन्थ श्रीमद्भागवत—सूर्य ग्रहण स्नानार्थ श्रीकृष्ण जी का साज़ सामान तथा वैभव के साथ गंगा स्नान के लिए कुरुक्षेत्र के लिए प्रस्थान—स्नान के अनन्तर यदुनाथ से ब्रज के वासियों के विषय में वार्तालाप—कृष्ण का आगमन सुनकर देवकी, वसुदेव तथा ब्रज के अन्य निवासियों का स्वकार्य बिसार कर दर्शनार्थ दौड़ आना—दर्शनार्थ नागरिकों का संकल्प विकल्प—निष्प्रभ कांति हीन पशुओं का दर्शनार्थ दौड़ पड़ना—ब्रज की जनता का श्रीकृष्ण से मिलन—सब का आनन्द विभोर हो जाना—मातृ-मिलन पर कृष्ण का आनन्दातिरेक हो जाना और अश्रुप्रवाह—रास के हेतु श्रीकृष्ण का दिव्य शृंगार—रास स्थल पर श्रीकृष्ण का यथायोग्य सबसे मिलना—दर्शकों की मुद्राओं का चित्रण—चन्द्रावली राधा तथा अन्य सखियों का दर्शन के लिए आगमन—राधा के हृदय में प्रेम पारावार की उत्तुंग तरंगे और अश्रुप्रवाह—लज्जा से आरक्त मुख और सौंदर्य का वर्णन—ब्रज की गायों की दशा का चित्रण—पशु जगत् का हर्षातिरेक से किलोल करना—ब्रज की जनता की अपार भीड़—रुक्मिणी के प्रयास से श्रीकृष्ण और मानिनी राधा का मिलन—सतभामा की सहायता से राधा के दर्शन—संकोच शीला, लज्जालु राधा के सौंदर्य का चित्रण—राधा को रुक्मिणी के द्वारा आभूषण पहनाया जाना—राधा और कृष्ण के संयोग और केलि का वर्णन—कुन्ती और कृष्ण का संवाद—द्रौपदी और रुक्मिणी का संवाद—रुक्मिणी के विवाह और शिशुपाल के विच्छेद की चर्चा—सतभामा के विवाह की कथा—बिन्दा, सीता, भद्रा, लछमना, राजकुमारी, आदि के विवाह और विच्छेद की चर्चा—रुक्मिणी से सतभामा के द्वारा द्रौपदी के विवाह के विषय में पूंछताछ—द्रौपदी द्वारा स्वविवाह और श्रीकृष्ण के प्रति अनुराग का वर्णन—हरि-दर्शन के लिए नारद, वेदव्यास, विश्वामित्र, पुलस्त, गौतम, परशुराम, अत्रि, अंगिरा, दत्तात्रेय, मारकंडे, सतानन्द, भारद्वाज, गर्ग आदि का आगमन—श्री हरि के दर्शन और स्तुतियां—हरि भक्तों के दर्शन की महिमा—ब्रह्म की सर्वव्यापकता—मानव की काया—ब्रह्म की सर्व सामर्थ्यता, उसकी माया और महत्ता का वर्णन—निष्काम भक्ति और कर्म की महत्ता—कर्मयोग का उपदेश—समस्त साधना को कृष्णार्पण कर देने का उपदेश—यज्ञ के हेतु श्रीवसुदेव को शिक्षा—वसुदेव जी द्वारा अपार सम्पत्ति का दान दिया जाना—यदुराज का द्वारिका गमन के लिए संकल्प, ब्रजवासियों में

व्याकुलता का प्रसार—ब्रजवासियों का श्रीकृष्ण को रोकने का आग्रह तथा श्रीकृष्ण के साथ द्वारिका गमन का आग्रह—यशोदा जी एवं नन्दराय का श्री देवकी और वसुदेव जी से मार्मिक निवेदन—अखिल ब्रह्मांड में श्रीकृष्ण की माया का विस्तार—राधा का श्रीकृष्ण के साथ चलने का आग्रह—सतभामा का उपदेश—प्रेम की महत्ता का बखान—राधा के आग्रह की विजय—'कुरुक्षेत्र लीला' ग्रन्थ के पाठ की महत्ता और विशेषता।

विषय-प्रतिपादन—'कुरुक्षेत्र लीला' के विषय-प्रतिपादन में कवि सफल हुआ है। वर्णित विषय में क्रमबद्धता और शृंखला उपलब्ध होती है। एक विषय के प्रकरण के समाप्त होते ही कवि ने कुशलतापूर्वक उससे सम्बन्धित अन्य प्रसंग को प्रारम्भ कर दिया है। कवि इस ग्रन्थ में मार्मिक स्थलों की अभिव्यंजना में सफलीभूत हुआ है। भाषा और शैली यद्यपि बहुत उत्कृष्ट कोटि की नहीं है फिर भी ग्रन्थ के विषयानुकूल है। उसमें प्रवाह और शब्दों का चयन सुन्दर है।

विषय-प्रतिपादन का मूल्यांकन करते समय हमारा ध्यान ग्रन्थ में मनोवैज्ञानिक चित्रण के प्रति आकर्षित हो जाता है। श्रीहरि के आगमन का समाचार सुनकर मानव समाज के हर्ष की सीमा तो नहीं ही रही परन्तु पशुजगत् का हृदय भी आनन्दातिरेक से नृत्य कर उठा। इस भाव से सम्बन्धित कवि का एक शब्द-चित्र देखिए :—

गौल बौल सुन गाय चकित सी हो रही।
श्रवन देके बैन थकित सब हो गई।
हरि बिन जोवे धन भई दुख पायसी।
दूध हीन तन छीन रही मुरझाय सी॥
कूदत फांदत चौकी सुन यह बात ही।
मन आनन्द बढ़ाय फूली न समात ही।
हरष मान बछरन कूं लाते मार ही।
मुख थन नहिं दै है जु झिझक बिड़ा रही॥
बछरा कहैं कहा भयो इन गाइयाँ।
भूखे राभंत फिरै और डकराइयां॥
धौरी धूमर साँवर और उजागरी।
कजरौटी और पीरी सबते आगरी॥

मानव जगत् के संकल्प-विकल्प, कृष्ण के मनोभावों तथा राधा के मान के सुन्दर चित्र इस ग्रन्थ में कवि ने व्यक्त किये हैं। ये चित्र मनोवैज्ञानिकता के आधार पर अंकित हुए हैं।

कृष्ण का श्री देवकी और वसुदेव जी के साथ द्वारिका लौट जाने का निश्चय सुन कर नन्द और यशोदा की मार्मिक विनय कवि के निम्नलिखित शब्दों में प्रस्फुटित हुई है। ये पंक्तियाँ मनोवैज्ञानिकता की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण हैं :—

नन्द कहैं घनश्याम हमें संग लेहु जू।
जसुमत को गृह काज जान किन देहु जू॥
जसुमत कहै नन्दराय सौ तुम गृह को चलो।
साजो घर और बार करो कारज भलो॥
लोक बंध की लाज सभी तज डार हूँ।
निशि दिन या ब्रज राज को नैन निहारहूँ॥
दूर करो मत मोहिं देवकी माइ जू।
हौं तुम्हरे ब्रज राज कुंवर की धाई जू॥

उद्धरण की अंतिम पंक्ति में वेदना, विनय और विवशता का सुन्दर चित्रण हुआ है।

रचनाकाल—'कुरुक्षेत्र लीला' का रचना-काल अज्ञात है। इसके सम्बन्ध में न तो हमें कोई अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होता है और न बहिस्साक्ष्य। किंवदन्तियाँ भी इसमें हमारी कोई सहायता नहीं करती हैं। इन सभी साधनों के अभाव में हमें अनुमान का आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। 'कुरुक्षेत्र लीला' में गुणधारी श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन हुआ है। साथ ही राधा तथा व्रज के अन्य नर-नारियों का भी स्थान-स्थान पर उल्लेख आया है। इससे स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना श्रीकृष्ण चरित्र से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थों 'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला,' 'माखन चोरी लीला,' तथा 'काली नथन लीला' के साथ ही हुई है। परन्तु विषय-प्रतिपादन, भाषा, शैली आदि पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि कवि कृत कृष्ण चरित्र सम्बन्धित समस्त ग्रन्थों से यह रचना श्रेष्ठ और प्रौढ़ है। केवल भाषा को ही लेकर जब हम इसकी तुलना कवि लिखित अन्य कृष्ण चरित काव्यों से करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि यह एक प्रौढ़ रचना है। कवि ने कौशल के साथ विषय का प्रतिपादन किया है और वर्ण्य-विषय की सफलतापूर्वक अभिव्यंजना की है। यह ग्रन्थ 'ब्रजचरित्' के अनन्तर लिखा हुआ प्रतीत होता है। 'ब्रज चरित' का रचना काल सन् १७४० निश्चित किया गया है, अतः इस ग्रन्थ की रचना तिथि सन् १७४२ के लगभग है।

भाव-सौंदर्य—ग्रन्थ में कवि ने अनेक भाव पूर्ण-स्थलों की अभिव्यंजना की है। इन भाव-पूर्ण स्थलों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—

१. श्री कृष्ण का आगमन सुनकर ब्रज के नर-नारियों का दर्शनार्थ आगमन।

२. श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ ब्रज के नागरिकों के मन में संकल्प-विकल्प।
३. श्रीकृष्ण के वियोग में पशुओं की दुर्दशा।
४. विरहिणी राधा की मार्मिक दशा।
५. देवकी जी से यशोदा जी का मार्मिक निवेदन।

इन विषयों को लेकर कवि ने भाव-पूर्ण स्थलों की रचना की है। इन स्थलों में कवि की काव्य-प्रतिभा का अच्छा प्रस्फुटन हुआ है। कवि इन मार्मिक घटनाओं को पहचानने में सफल हुआ है।

कालीनथन-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'कालीनथन लीला' की दो प्रतियाँ लेखक को उपलब्ध हुई हैं। जिनमें से प्रथम महन्त गुलाबदास के यहाँ प्राप्त हुई है और द्वितीय श्री गणेशदत्त मिश्र के यहाँ। लेखक के अध्ययन का आधार श्री गणेश दत्त मिश्र के यहाँ से प्राप्त 'कालीनथन लीला' की द्वितीय प्रति है। 'ब्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखन चोरी लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीर हरण लीला' और 'कुरुक्षेत्र लीला' के साथ यह प्रति भी एक ही जिल्द में सम्बद्ध है।

'कालीनथन लीला' के प्रतिलिपिकर्ता श्री अजपादास थे। अजपादास जी का परिचय 'ब्रज चरित' की विवेचना के साथ दिया जा चुका है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्त में कवि ने लिखा है :—

"इति श्री स्वामी चरनदास लिखित कालीनथन लीला सम्पूरन प्रस्तुत किया श्री स्वामी चरनदास के दास रामरूप महराज के दास अजपादास जैसा देखा वैसा लिखा मम दोख नींह·दीयते।"

प्रस्तुत उद्धरण के अन्त में प्रतिलिपि काल नहीं दिया गया है। परन्तु लेखन सामग्री और प्रतिलिपि हस्तलेखन यह सिद्ध करता है कि इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि काल वही है जो 'ब्रज चरित,' 'दान लीला' और 'माखन चोरी लीला' का है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का प्रतिलिपि संवत् भी संवत् १८४२ विक्रमीय सिद्ध होता है।

'कालीनथन लीला' की रचना ४४ छन्दों में हुई है। इस प्रति का आकार १०" × ६ है" और रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

'कालीनथन लीला' की इन दो हस्तलिखित प्रतियों के अतिरिक्त एक मुद्रित प्रति भी उपलब्ध होती है जिसका प्रकाशन लखनऊ के नवल किशोर प्रेस से 'भक्ति-सागर' ग्रन्थ में हो चुका है।

'कालीनथन लीला' में श्रीकृष्ण द्वारा विषधर सर्प कालिया के नथन का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण की सर्वसामर्थ्य और शक्ति सम्पन्नता का वर्णन और

कालिया सर्प के दमन का उल्लेख ग्रन्थ में सविस्तार हुआ है। वर्ण्य-विषय के दृष्टिकोण से ग्रन्थ के शीर्षक का पूर्ण साम्य है।

'काली नथन लीला' की रचना ४४ छन्दों में हुई है। इन छन्दों में कवि ने केवल एक ही कथा का आद्योपांत धाराप्रवाह चित्रण किया है। कथा का विभाजन विषय, प्रकरण तथा अध्याय आदि में नहीं किया गया है।

वर्ण्य-विषय—'कालीनथन लीला' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सत्गुरु वन्दना—ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का आधार—विषधर के उत्पीड़न से त्रस्त जनता के दुःख से कातर श्रीकृष्ण का दृढ़ संकल्प–काली सर्प के गर्व दमन का निश्चय—श्रीकृष्ण का गायों के साथ यमुना की ओर प्रस्थान–सुप्त काली को छेड़ कर कृष्ण द्वारा जाग्रत किया जाना—काली का प्रकोप और इस असाधारण साहस पर आश्चर्य—गोपाल का जलधारा में फांद पड़ना—काली का कृष्ण के शरीरमें लिपट जाना—नन्द यशोदा और ब्रज नर-नारियों की चिन्ता में विकास—ब्रज के निवासियों की दुःखावस्था—यशोदा का जल में कूदने का प्रयत्न–कृष्ण के द्वारा रोका जाना और अपनी शक्ति का परिचय देना—कालीनाग के फन पर त्रिभंगी मुद्रा में श्रीकृष्ण का मुरली-वादन और नृत्यविलास–काली नाग की व्यथा और पीड़ित अवस्था—उसका गर्व और अभिमान दमन, नाग की पत्नी नागिन का सुता सहित आगमन और श्रीकृष्ण के प्रति विनय निवेदन और स्वपति निन्दा—श्रीकृष्ण से दुःखमोचन के लिए निवेदन युक्त आग्रह—श्रीकृष्ण के आश्वासन और आशीर्वचन।

आधार ग्रन्थ—'कालीनथन लीला' के वर्ण्य-विषय का आधार कवि के शब्दों में निम्नलिखित है :—

> प्रेम कथा की बात अनोखी सुनो सन्त चितलाई।
> श्री शुकदेव कहैं राजा सो अद्भुत चरित बनाई॥
> मनमोहन प्यारे की बतियां चरणदास मनभाई।
> काली नथन श्याम जू कीनो ताकी मांझ बनाई॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि राजा परीक्षित को शुकदेव जी ने काली-नथन की जो वार्ता सुनाई थी, वही गाथा इस रचना का आधार है।

विषय-प्रतिपादन—'कालीनथन लीला' में विषय-प्रतिपादन बड़े सरल और सुगम ढंग से हुआ है। लेखक ने वर्णनात्मक शैली के माध्यम से ग्रन्थ की रचना की है। कवि का ध्यान जितना कथा के वर्णन में रहा है, उतना कला-पक्ष में नहीं और इसीलिए नागिन द्वारा पति दुर्दशा पर खेद, व्याकुलता, संकट-मोचन के लिए वन्दना, माता यशोदा की भयविह्वलता आदि भाव-पूर्ण स्थलों को पहचानने और उनका उचित मूल्यांकन करने में कवि को लेशमात्र सफलता नहीं प्राप्त हुई है।

इस प्रसंग में यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक है कि कालीनथन प्रक्रिया जैसे महत्वपूर्ण स्थल का वर्णन कवि ने केवल दो-चार पंक्तियों में करके विषय को चलता कर दिया है। श्रीकृष्ण के शरीर पर काली के लिपट जाने पर ब्रज के नर नारियों और माता यशोदा तथा पिता नन्द की व्यग्रता केवल रस्म अदायगी सी जान पड़ती है। वर्ण्य-विषय के प्रतिपादन में मनोवैज्ञानिक तत्वों के समावेश का ध्यान नहीं रखा गया। नागिन और श्रीकृष्ण तथा यशोदा और श्रीकृष्ण के संभाषण अधिकांश निर्जीव तथा तर्क रहित हैं।

रचनाकाल—'कालीनथन लीला' कवि की पूर्व आलोचित 'दान लीला' और 'माखनचोरी लीला' की तुलना में कुछ अधिक प्रौढ़ रचना है। कला की प्रौढ़ता के दृष्टिकोण से यह 'ब्रज चरित' के समकक्ष रचना है। 'ब्रज चरित' का प्रामाणिक रचना-काल सन् १७४० वि० है अतः 'कालीनथन लीला' का रचना काल भी इस समय के लगभग प्रतीत होता है। 'कालीनथन लीला' और 'ब्रज चरित' कवि की भावनाओं के एक ही प्रवेग में रचित ग्रन्थ हैं।

भाव-सौंदर्य—विषय प्रतिपादन के साथ कहा जा चुका है कि कवि भावपूर्ण स्थल और मार्मिक घटनाओं तथा चरित्रों को पहचानने में सफलीभूत नहीं हुआ है। इस ग्रन्थ का अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि कवि का ध्यान केवल अपनी बात करने में संलग्न रहा है। अन्य बातों की ओर से वह प्रायः विमुख ही रहा है। अतः भाव-सौंदर्य के उदाहरणों का प्रस्तुत ग्रन्थ में सर्वथा अभाव है।

ग्रन्थ का माहात्म्य—ग्रन्थ का माहात्म्य कवि के शब्दों में निम्नलिखित हैं :—

यह हरि कथा यथामति गाई जो सुन के मन लावे।
विषधर को भय नाहीं व्यापै अंत परमपद पावे ॥

नासकेत-लीला

उपलब्ध प्रतियाँ—'नासकेत लीला' की दो हस्तलिखित प्रतियां और एक मुद्रित प्रति उपलब्ध हुई है। हस्तलिखित प्रतियों में सर्वप्रथम श्री गणेशदत्त मिश्र के संग्रह से और द्वितीय उन्नाव जिला के निवासी श्री भगवान दास के यहाँ से उपलब्ध हुई है। मुद्रित प्रति का प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हुई है। श्री भगवानदास की प्रस्तुत प्रति खंडित है। इसके प्रथम के दो पृष्ठ और मध्य "चन्द्रावती विवाहो नामचतुर्थोध्याय" के चार पृष्ठ खोये हुए हैं, अतएव 'नासकेत लीला' के अध्ययन का आधार श्री गणेशदत्त मिश्र से प्राप्त प्रति है।

मिश्र जी की इस 'नासकेत लीला' की प्रति का प्रतिलिपिकर्ता कौन और प्रतिलिपि-काल क्या था, यह कहना कठिन है। कारण कि इसके आदि, अंत और मध्य में इस विषय का कोई उल्लेख नहीं है। इन साक्ष्यों के अभाव में हमें प्रतिलिपि-काल

के विषय में अनुमान का ही आश्रय ग्रहण करना पड़ता है। हस्तलेखन और सामग्री के आधार पर अनुमान होता है कि प्रतिलिपि १०० वर्ष से पूर्व प्रस्तुत की गई थी।

ग्रन्थ का आकार १०" × ६½" है। इस कथा का प्रसार १०० पृष्टों में पूरा हुआ है। रचना-लिपि देवनागरी है।

प्रस्तुत रचना में नासकेत के चरित्र और लीला का वर्णन हुआ है। अतएव वर्ण्य-विषय की दृष्टि से इस ग्रन्थ का शीर्षक पूर्णतया सार्थक है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

श्री व्यास पुत्र श्री शुकदेव की वन्दना और स्तवन-वैशम्पायन का गंगा जी के निकट साधनार्थ बैठना—राजा जन्मेजय का वहाँ पर स्नानार्थ आना—राजा जन्मेजय द्वारा सविनय जिज्ञासु भाव से नासकेत चरित्र के विषय में प्रश्न पूछना—वैशम्पायन द्वारा कथा का वर्णन–उद्दालक नामक एक इन्द्रियजित, तपस्वी योगी था–वह ब्रह्मा का पुत्र था—उद्दालक के तपोभूमि का मनोरम वर्णन—उद्दालक की उग्र तपस्या से इन्द्र का विचलित होना—इन्द्र का ब्रह्मा के पास चिंतित होकर जाना—ब्रह्मा का आश्वासन–ब्रह्मा द्वारा पिप्पलादि का उद्दालक के पास भेजा जाना–उद्दालक के पास पिप्पलादि का गमन और पुत्र प्राप्ति की महत्ता का वर्णन—उद्दालक की तपस्या में बाधा—पुत्र प्रप्ति की चिन्ता से व्यथा–उद्दालक का ब्रह्मा के पास गमन—ब्रह्मा द्वारा आश्वासन—पुत्र और तदनन्तर नारी प्राप्ति—उद्दालक की नारी चिन्ता में व्याकुलता—कामाधिक्य से वीर्य स्खलित हो जाना—कमल के पत्ते में वीर्य को कुशों से आच्छादित करके प्रवाहित करना–उसी समय रघुवंशी चन्द्रावती का सखियों सहित गंगा स्नानार्थ गमन—चन्द्रावती का उत्सुकता वश कमल को देखना और सूंघना—चन्द्रावती का गर्भ धारण करना–राजा एवं रानी को इस बात की सूचना—चन्द्रावती का गृह निष्कासन एवं वनवास—जंगल में याज्ञवल्क्य से भेंट–याज्ञवल्क्य से परिचय और उनके तपोभूमि में गमन—प्रसूत समय निकट आने पर चन्द्रावती का रुदन और विधाता से भाँति-भाँति के निवेदन–छींक के साथ बालक का जन्म—उसका नासकेत नामकरण होना—बालक की तेजस्विता—एक वर्ष का होने पर क्रोधवश बालक को गंगा में प्रवाहित कर देना—उद्दालक ऋषि द्वारा बालक को निकालना, पालन-पोषण—कालान्तर में माता के हृदय में प्रेम जाग्रत होना—पुत्र की खोज में गंगा के किनारे किनारे चलना-मार्ग में उद्दालक के प्रयत्न से रघुवंशी राजा के द्वारा चन्द्रावती का कन्यादान—दोनों का सुख-पूर्वक साथ-साथ रहना—एक दिन क्रोधवश नासकेत को उद्दालक का नरक भोग का श्राप—नासकेत का स्वर्ग, नरक आदि का भ्रमण और सभी प्रकार के दृश्य-दर्शन—नरक से लौटने पर सविस्तार वर्णन।

विषय-प्रतिपादन--'नासकेत लीला' के वर्ण्य-विषय का उल्लेख ऊपर अत्यन्त संक्षेप में किया जा चुका है। इस प्रतिपाद्य विषय का विभाजन कवि ने अष्टादश अध्यायों में निम्नलिखित प्रकार से किया है :—

१. उद्दालक चिन्तावर्णन नाम प्रथमोध्यायः ।
२. चन्द्रावती कन्यात्यागो नाम द्वितीयोध्यायः ।
३. पितापुत्र संयोगोनाम तृतीयोध्यायः ।
४. चन्द्रावतीविवाहो नाम चतुर्थोध्यायः ।
५. यमदर्शनो नाम पंचमोध्यायः ।
६. पितापुत्र संवादो नाम षष्ठोध्यायः ।
७. महामार्गस्थानंनाम सप्तमोध्यायः ।
८. नरकवर्णनोनाम अष्टमोध्यायः ।
९. नरकवर्णनोनाम नवमोध्यायः ।
१०. नरकवर्णनोनाम दशमोध्यायः ।
११. यमशासनो नाम एकादशोध्यायः ।
१२. स्वर्गमार्गवर्णनो नाम द्वादशोध्यायः ।
१३. स्वर्गवर्णनो नाम त्रयोदशोध्यायः ।
१४. स्वर्गवर्णनोनाम चतुर्दशोध्यायः ।
१५. विष्णु-भक्तिप्रभाव वर्णनोनाम पंचदशोध्यायः ।
१६. यमनारदसंवाद नाम षोडषोध्यायः ।
१७. कर्मानुसार योनिप्राप्तिवर्णन नाम सप्तदशोध्यायः ।
१८. शुभाशुभनिर्णय वर्णन नामाष्टादशोध्यायः ।

इन अठारह अध्यायों में कवि ने बड़ी सुन्दरता के साथ कथा का विभाजन किया है। कवि ने इन कथाओं को अनेक काव्य कौशल से, रोचक रूप प्रदान किया है, और साथ ही मनोवैज्ञानिक तत्वों की अभिव्यंजना से कथा में प्राण प्रतिष्ठा कर दी है।

कवि ने उद्दालक, चन्द्रावती के माता पिता, रानी एवं राजा इन्द्र, पिप्पलादि ऋषि, तथा नासकेत के चरित्र का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। इनके वर्णन में चरित्र के उतार चढ़ाव की स्पष्ट रेखायें दृष्टिगत होती है। इन ऋषियों और इन्द्रादि देवताओं के चरित्र भी मानव-चरित्र के सदृश दुर्बलताओं और अभावों से ग्रस्त हैं। लेखक को इन चरित्रों के चित्रण में अच्छी सफलता मिली है। प्रस्तुत रचना में कहानी की रोचकता और चमत्कार सर्वत्र विद्यमान है। इस ग्रन्थ के रचना काल तक कवि की वर्णन शक्ति पर्याप्त विकसित हो गई है। तपोवनों, स्वर्ग,

नरकादि का कवि ने बड़ा सूक्ष्म और विस्तृत वर्णन किया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि इन वर्णनों को व्यक्त करने में न अघाता है और न थकता है।

रचना-काल—'नासकेत लीला' का रचना-काल अज्ञात है। परन्तु वर्णित विषय की दृष्टि से यह सबसे अधिक परिपक्व रचना है। इस ग्रन्थ में ब्रह्मादिक कुछ सगुण देवताओं का वर्णन हुआ है। इस तथ्य से प्रकट होता है कि यह 'भक्ति-सागर' की समकक्ष रचना है। 'भक्ति-सागर' का अन्तस्साक्ष्य के अनुसार रचना-काल संवत् १७८१ है, अतएव इस ग्रन्थ का रचना-काल भी संवत् १७८३ के लगभग निश्चित होता है।

भाव-सौंदर्य—भाव-सौंदर्य की दृष्टि से प्रस्तुत रचना बड़ी महत्त्वपूर्ण है। चद्रावती परित्याग, चन्द्रावती गंगा-स्नान आदि प्रसंगों में भाव सौंदर्य से युक्त अनेक स्थल उपलब्ध होते हैं।

ब्रह्मज्ञान-सागर

उपलब्ध-प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की तीन हस्तलिखित प्रतियां लेखक को प्राप्त हुई है। प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के पास, द्वितीय श्री गणेश दत्त के संग्रह में और तृतीय भगवान दास के यहां उपलब्ध हुई। श्री भगवान दास की प्रति 'अष्टांग योग', 'पंचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान सागर' एवं 'भक्ति सागर' के साथ एक ही जिल्द में सम्बद्ध है। इस प्रति का सविस्तार परिचय 'अष्टांग योग' ग्रन्थ के साथ दिया जा चुका है। अतएव जो परिचयात्मक विवरण 'अष्टांग योग' का है प्रायः वही 'ब्रह्मज्ञान सागर' का है।

एक ही जिल्द में सम्बद्ध इन चारों पुस्तकों के प्रतिलिपि-कर्ता स्वामी महेशानन्द जी थे जिनका विस्तृत परिचय 'अष्टांग योग' में दिया जा चुका है। इस प्रति का प्रतिलिपि काल चरनदास के स्वर्गवास के दस वर्ष अनन्तर संवत् १८४६ विक्रमी है।

इस ग्रन्थ का आकार "१० × ६" है। कवि ने 'ब्रह्मज्ञान सागर' का प्रसार २५२ छन्दों में में किया गया है। ग्रन्थ की रचना का माध्यम देवनागरी लिपि है।

"ब्रह्मज्ञान सागर" की एक मुद्रित प्रति भी देखने में आई है। जिसका प्रकाशन नवल किशोर प्रेस, लखनऊ से 'भक्ति सागर' के अन्तर्गत हो चुका है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक ने ब्रह्म और मानव शरीर, ब्रह्म और संसार, ब्रह्म और आत्मा, ब्रह्म और मानव की इंद्रिया, ब्रह्म और माया, ब्रह्म का रूप-स्वरूप, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, ब्रह्म का देश, संसार की विनाशशीलता, ब्रह्म की अद्वैतसत्ता, ब्रह्म ज्ञानी ब्रह्मानन्द आदि विषयों पर प्रकाश डाला है। ये सभी विषय ब्रह्म की अखंड

सत्ता और अनादि रूप के द्योतक हैं। इनकी विवेचना इस ग्रन्थ में आद्योपांत हुई है। अतएव ग्रन्थ का नाम 'ब्रह्मज्ञान-सागर' उचित और सार्थक प्रतीत होता है।

ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय परिच्छेदों अथवा अध्यायों में न विभक्त होकर एक समान आद्योपांत चलता रहता है।

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

व्यास पुत्र श्री शुकदेव जी की वन्दना—मन की वासना विनष्ट करके निरंजन का ध्यान करने का उपदेश–इन्द्रिय निग्रह और स्वादु लोलुपता निग्रह–शरीर विनाशी है और अविनाशी मनुष्य ही ब्रह्म का रूप है–जाति, वर्ण, कुल देह के साथ क्षय शील—पंचतत्वों से विनिर्मित शरीर की विनाशशीलता—त्रिगुणात्मक सत्ता की विवेचना–डिंभ, कपट, छल, निन्दा आदि तामसिक गुणों के प्रसाद हैं–मान, बड़ाई, नाम आदि राजस गुण के फलस्वरूप जन्मते हैं—दया, क्षमा, अधीनता, शीतल हृदय और सत्य आदि धारण करना सात्विक गुणों के फलस्वरूप होता है—राजस से तामस की वृद्धि होती है—तामस से बुद्धि का विनाश होना है, अतएव इनका विसर्जन करके सतोगुण को धारण करना ही कल्याण है–"सतगुण में मन थिरकरो, करि आतम सों नेह, आतम निर्गुण जानिये, गुण इन्द्री संग देह—"संसार की सत्ता त्रिगुणात्मक है—अहं तत्व से ॐ का विकास—ॐ से तीन देवताओं की उत्पत्ति–"निराकार अद्वै अचल निर्वासी तू जीव, निरालम्ब निर्वैर सो अज अविनाशी सीव" इन्द्रियां—इडा, पिंगला, सुषुम्णा की विवेचना—प्राणायाम आदि योग युक्तियों से ब्रह्मोपासना—"काया माया जानिये जीव ब्रह्म है मित्त, काया छुटि सुरति मिटै, तू परमातम मित्त"—पाप, पुण्य, आशा का परित्याग करना चाहिए—कच्छप के समान समस्त चेतना को अन्तर्मुखी करके श्वास साधना—संसार निःसार और असत्य है—द्वैत भावना असत्य है–ब्रह्म की सर्वव्यापकता तिल में तेल और दूध में घी के समान—उसकी व्यापकता सर्वत्र है—"निर्विकार तौ ब्रह्म है अद्वै अचल अपार"—माया और ब्रह्म—माया क्षणिक और झूठी है–ब्रह्म सत्य है–ब्रह्म निराकार है—वह अवतार विहीन है—अवतार स्वप्न और ओले के समान क्षणिक है—वह न हद है न बेहद—ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या–संसार स्वप्न है—"जगत ब्रह्म में यो दीपै ज्यो धरती पर रेख, रेख मिटै धरती रहै ऐसे ही जग देख"–"अद्वै अचल अखंड है अगम अपार अथाह, नहीं दूर नहि निकट है सतगुरु दियो बताय"—"भूल हुती जब दो हुते अब नहि एक न दोय'—ब्रह्मज्ञान के बिना द्वैत भावना नहीं मिटती—ब्रह्मज्ञानी ब्रह्मानन्द शुकदेव जी की वन्दना।

विषय-प्रतिपादन—'ब्रह्मज्ञान सागर' में कवि ने विषय का प्रतिपादन और दार्शनिक सिद्धांतों का समन्वय गम्भीरता-पूर्वक किया है। संसार में त्रिगुणात्मक सत्ता,

इन्द्रियों द्वारा साधना में विघ्नोत्पादन, ब्रह्म की सर्वव्यापकता, शरीर की क्षयशीलता, माया और ब्रह्म, अवतारवाद की निःसारता आदि विषयों की विवेचना और प्रतिपादन गम्भीरता के साथ हुआ है। ब्रह्म की सर्वव्यापकता को सुगम और हृदयग्राही बनाने के लिए देखिये कवि ने किस सुबोध-शैली को ग्रहण किया है :—

एकै सबतन रमि रह्यो, चेतन जड़ के मांहि।
माया दर्शत है सभी, ब्रह्म लखत है नाहि॥
जैसे तिल में तेल है, फूल मध्य ज्यों बास।
दूध मध्य ज्यों घीव है, लकड़ी मध्य हुलास॥
थावर जंगम चर अचर, सब में एकै होय।
ज्यो मन को मैं डारि है, बाहर नाहीं कोय।

इसी प्रकार ब्रह्म और माया का भेद तथा ब्रह्म की व्यापकसत्ता की अभिव्यंजना निम्नलिखित पंक्तियो में कवि ने की है :—

झूठी माया सो कहै, ज्ञानी पंडित लोय।
मर्म मूल सांची लगै, समझै सांच न होय॥
सोने को गहनो गढ़ै, कहन सुनन को दोय।
गहना ना सोनो सबै, नेक जुदो नहि होय॥
झूठ सांच दो नाव है, झूठ मिटै इक सांच।
नाम मिटै सूरत मिटै, भूषण को लग आंच॥

इस उद्धरण से कवि के विषय-प्रतिपादन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने गम्भीर, दुरूह और नीरस विषयों के प्रतिपादन हेतु मनोवैज्ञानिकता का आश्रय ग्रहण किया है। मनोवैज्ञानिक शैली के कारण विषय में सर्वत्र रोचकता आ गई है, साथ ही उसमें सुगमता का समावेश भी हो गया है। इस प्रकार कवि को अपेक्षित विषय के प्रतिपादन और अपनी बात को कहने में पूर्णतया सफलता मिली है। कवि के सोचने और बात कहने की शैली प्रभावशाली है।

रचना-काल—ग्रन्थ के रचना-काल के विषय में न कोई अन्तस्साक्ष्य प्राप्त है और न वहिस्साक्ष्य। किंवदंतियाँ इस दृष्टि से निर्बल सूत्र होती हैं, परन्तु इसके विषय में कोई किंवदन्ती भी नहीं उपलब्ध है। अब समय-निर्धारण के लिए हमारे पास विषय प्रतिपादन और शैली का आधार ही रह गया है। इसी के द्वारा हम समय का अनुमान लगा सकते हैं।

'ब्रह्मज्ञान सागर' में अवतारवाद, माया और द्वैतउपासना की निन्दा की गई है। कवि ने इन विषयों की कटु आलोचना करने में कोई प्रयत्न शेष नहीं रखा है

ग्रन्थ की निर्गुण और सगुण सत्ता से परे ब्रह्म की कल्पना कवि ने कबीर के "निर्गुण सरगुण ते परा तहाँ हमारो राम" के आधार पर की है। ये सब बातें इसकी समर्थक हैं कि रचना लेखक ने सांसारिक-जीवन और आध्यात्मिक-क्षेत्र में प्रौढ़ता प्राप्त कर लेने के अनंतर की थी। पर 'अष्टांग योग,' 'पंचोपनिषद् सार,' 'योग सन्देह सागर', तथा 'स्वरोदय' की तुलना में यह ग्रन्थ शैली आदि की दृष्टि से उतना परिपक्व नहीं प्रतीत होता है। इन सभी ग्रन्थों में प्रस्तुत रचना 'सन्देह सागर' से पूर्व-रचित ग्रन्थ प्रतीत होता है। परन्तु निश्चय ही यह कवि के अन्य सभी ग्रन्थों के बाद की रचना है। यह 'भक्ति सागर,' 'भक्ति पदार्थ' और 'धर्म जहाज' के अनन्तर लिखित रचना है। 'धर्म जहाज' का रचना काल हमारी दृष्टि से सन् १७५७ है, अतएव 'ब्रह्मज्ञान-सागर' की रचना तिथि सन् १७५६ होना सम्भावित है।

भाव-सौंदर्य और काव्य-सौन्दर्य—भावसौंदर्य और काव्यसौंदर्य की दृष्टि से ग्रन्थ में अनेक प्रसंग उल्लेखनीय हैं। उदाहरणार्थ माया और ब्रह्म प्रकरण इस दृष्टि से पठनीय होगा। देखिए निम्नलिखित पंक्तियों में माया का तत्वविवेचन कवि ने कितनी सुन्दरता-पूर्वक व्यक्त किया है :—

जल समान तो ब्रह्म है, माया लहर समान।
लहर सबै वह नीर है, लहर कहै अज्ञान॥
खेल खिलौना खांड के, कीजे लाख पचास।
सकल खिलौना खांड है, ऐसे गहि विश्वास॥
चरणदास खिलौना खांड के, भाजन राखे खांड।
बिन बिनशे भी खांड, विनशि जाय तौ खांड॥
माटी के भांडे भवै, सूरति अरु बहु नाम।
बिगसि फूटि माटी भई, बासन कहु केहि ठाम॥
ऐसे ही माया नहीं, समझि देखु मन मांहि।
जो दीखै सो ब्रह्म है, रंचक माया नांहि॥
इच्छा मेटैं दुइ तजै, एकै मन विश्राम।
ब्रह्म ज्ञान विज्ञान है, समझ परमपद धाम॥

जागरण-माहात्म्य

उपलब्ध प्रतियाँ—'जागरण माहात्म्य' की केवल दो प्रतियाँ उपलब्ध हैं। एक हस्तलिखित प्रति और द्वितीय मुद्रित। हस्तलिखित प्रति श्री गणेश दत्त मिश्र के संग्रह में उपलब्ध हुई है और मुद्रित प्रति का प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से हुआ है।

मिश्र जी की प्रति में प्रतिलिपिकाल और प्रतिलिपिकर्ता के उल्लेख का अभाव है। इस ग्रन्थ के अंत में प्रतिलिपिकर्ता ने केवल इतना लिख दिया है :—

"इति श्री स्वामी चरणदास जी महराज कृत जागरण माहात्म्यं सम्पूर्णम् लिख्यतें जैसा देखा। जै श्री चरणदास जी महराज।"

इस उद्धरण से ज्ञात होता है कि ग्रन्थ का प्रतिलिपिकर्ता चरणदासी-सम्प्रदाय का कोई श्रद्धालु शिष्य था, जिसने स्वपाठार्थ ग्रन्थ को प्रस्तुत किया।

ग्रन्थ का आकार ६" × ५" है और इसकी रचना १०४ छन्दों में पूर्ण हुई हैं। ग्रन्थ के रचना का आधार देवनागरी लिपि है।

ग्रन्थ का विषय एकादशी-व्रत और जागरण-माहात्म्य है। इन्ही विषयों के आधार पर ग्रन्थ की रचना हुई है। अतएव ग्रन्थ के विषय का शीर्षक से साम्य है।

ग्रन्थ की रचना श्री युधिष्ठिर और श्रीकृष्ण के संवाद में हुई है। अतएव वर्ण्य-विषय का प्रकरणों में विभाजन के लिए यहाँ कोई अवसर नहीं है।

वर्ण्य-विषय का आधार—ग्रन्थ के वर्ण्य-विषय का आधार है 'भागवत' जैसा कि कवि के निम्नलिखित दो कथनों से स्पष्ट होता है :—

सुनो शिष्य अब कहत हूं, अद्भुत कथा पुनीत।
निहचे ताके सुने तं, बढ़े भक्ति और प्रीति॥
रास समय श्रीकृष्ण सो, कहत युधिष्ठिर राव।
हो हरि अपनी कृपा सो, कछु इक कथा सुनाव॥
राजासों श्रीकृष्ण ने, जो कुछ कह्यो बनाय।
सो अब तो सूं कहत है, सुनो शिष्य चितलाय॥

तथा,

श्री भागौत की कथा कूं, जो मन सूं सुन लेह।
कोटि जनम के पाप सब, हरिहौ निस्सन्देह॥

वर्ण्य-विषय—ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है :—

सत्गुरु वन्दना—एकादशी और जागरण का माहात्म्य—भक्ति के प्रसारक श्री गुरुदेव द्वारा श्रीकृष्ण के वचनों और कथा का सारांश सुनाया जाना—एकादशी का माहात्म्य—जागरण की विशेषता—जागरण और व्रत आवागमन के दुःख के निवारक—इससे मन एवं तन की शुद्धि—जागरण के उपाय और विधि—श्रीकृष्ण द्वारा एकादशी व्रत रखने वाले भक्त की कथा का वर्णन—एकादशी व्रतरखने वाले का जागरण के हेतु दूसरे स्थान पर गमन—मार्ग में राक्षस से भेंट—भक्त को खाने का प्रयत्न—भक्त द्वारा कीर्तन के लिए जाने की आज्ञा—लौटकर आने की प्रतिज्ञा—

राक्षस द्वारा एक दिनकी क्षमा याचना—भक्त का लौटकर आना—राक्षस के सद्-बुद्धि का जाग्रत होना—क्षुधार्त ब्राह्मण से क्षमा याचना और भक्तियाचना—भक्त का अपनी पुण्य का, राक्षस के लिए दान—व्रत की महिमा और उपयोगिता।

विषय-प्रतिपादन—ग्रन्थ में विषय का प्रतिपादन सरल और साधारण ढंग से हुआ है। कथा का वर्णन भी सरल शैली में हुआ है। ग्रन्थ में वर्णित कथा अत्यन्त संक्षिप्त और नीरस सी प्रतीत होती है। संवाद नीरस, निर्जीव और वाग्वैद-ग्धविहीन प्रतीत होते हैं। विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट है कि लेखक की शैली में न तो परिमार्जन है, न भाषा में प्रौढ़ता।

रचनाकाल—यह ग्रन्थ कवि की प्रारम्भिक रचना है। इसे हम रचनाकाल और कला की दृष्टि से 'दानलीला' अथवा 'माखन चोरी लीला' के समकक्ष रख सकते हैं। 'दानलीला' का समय सन् १७३५ माना गया है अतः इसका समय भी लगभग सन् १७३३ ... लगभग है।

मनविकृतकरणसार

उपलब्ध प्रतियाँ—प्रस्तुत ग्रन्थ की चार प्रतियाँ उपलब्ध हुई है। इन चार प्रतियों में से तीन हस्तलिखित प्रतियाँ हैं और एक मुद्रित। हस्तलिखित प्रतियों में से प्रथम प्रति महन्त गुलाबदास के यहाँ प्राप्त हुई है। द्वितीय प्रति श्री गणेशदत्त मिश्र के यहाँ से और तृतीय श्री भगवान दास के संग्रह से प्राप्त हुई है। इन प्रतियों में से लेखक के देखने में अंतिम दो प्रतियाँ आई हैं। श्री भगवान दास की प्रति एक खंडित प्रति है। मुदित प्रति का प्रकाशन नवल किशोर प्रेस से चरनदास जी के 'भक्ति सागर' ग्रन्थ में हुआ है। इन समस्त प्रतियों में से श्री गणेशदत्त मिश्र की प्रति लेखक के अध्ययन का आधार है।

इस प्रति के प्रतिलिपिकर्ता और प्रतिलिपिकाल का ज्ञान नहीं है। प्रति में इसके विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु प्रतिलिपि सामग्री आदि के देखने से ज्ञात होता है कि पुस्तक की प्रतिलिपि प्रायः सौ वर्ष पूर्व हुई थी।

इस ग्रन्थ का आकार १०" × ६३/४" है। विषय का प्रतिपादन ४५४ छन्दों में हुआ है। ग्रन्थ की रचना देवनागरी लिपि में हुई है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'श्रीमद्भागवत' के ११ वें स्कन्ध के आधार पर दत्तात्रेय की वैराग्य-परक कथा दी गई है। इस ग्रन्थ में जिस वर्ण्य–विषय का प्रतिपादन हुआ है वह मन को सांसारिक मायामोहादि के झिलमिले आवरण से दूर रखने तथा भौति-कता से अलग हटाने में सर्वथा समर्थ होता है। हमारा मन चरनदास की विचार धारा के साथ स्वतः बह चलता है और हम माया तथा वैभव परित्याग के साथ बह चलते हैं। इसलिए ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक और उपयुक्त प्रतीत होता है।

ग्रन्थ का आधार—प्रस्तुत रचना का मूल स्त्रोत है 'भागवत' का एकादश स्कन्ध। ग्रन्थ के प्रारम्भ और अंत में इस स्रोत की ओर लेखक ने इंगित किया है :—

१. एकादश भागवत में, जाकी यह मति जान।
दत्तात्रेयी ने कह्यो, राजा यदु सों ज्ञान॥
अब मैं भाषा कहत हौं, तुमहीं करौ सहाय।
ज्यों की त्यों मुख से निकसि, पूरी ही ह्वै जाय॥
सुनिये ज्ञानी संतजन, रहन गहन की चाल।
जो कोइ लै हिरदय धरै, होवै तुरत निहाल॥
चरणदास हौं कहत हौं, परमारथ के काज।
जो अंग श्रीभागवत में, साधु होन के साज॥
गुरु शुकदेव प्रताप सो, कहूँ विचार विवेक।
दत्तात्रेयी ने किये, चौबीसों गुरु देख॥

२. गुरु के चरणन में धरो, चित बुद्धि मन अहंकार।
जब कछु आपा ना रहै, उतरे सबही भार॥
मन विरक्त के करन को, कीन्हो गुटका सार।
पढ़ै सुनै चित में धरै, भवसागर हो पार॥

इन उद्धरणों से ग्रन्थ का आधार ज्ञात हो जाता है।

ग्रन्थ का विभाजन परिच्छेदों अथवा अध्यायों में नहीं हुआ है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में निम्नलिखित चौबीस विषयों पर लेखक ने अपने मत का प्रकाशन किया है। परन्तु ग्रन्थ का विषय आद्योपांत एक ही प्रवाह में चलता रहता है। कहीं कोई विराम या विश्राम नहीं है :—

१. पृथ्वी २. पवन ३. आकाश ४. नीर ५. अग्नि ६. चन्द्र ७. सूर्य ८. कपोत ९. अजगर १०. सिन्धु ११. पतंग १२. भंवरा १३. मक्षिका १४. हाथी १५ मृग १६. मीन १७. पिंगला १८. चील्ह १९. बालक २०. कन्या २१. तीरगर २२. सर्प २३. मकड़ी २४. भृंगी।

वर्ण्य-विषय—'मनविरक्तकरण गुटका सार' का वर्ण्य-विषय निम्नलिखित है:—

श्री व्यासपुत्र श्री शुकदेव की वन्दना—सत्गुरु स्तवन—ग्रन्थ का आधार—भूप का मृगयार्थ बन प्रस्थान—अवधूत दर्शन—दत्तात्रेय का २४ गुरु करना और उस प्रसंग का वर्णन—इन २४ गुरुओं से दत्तात्रेय का विभिन्न प्रकार से शिक्षा ग्रहण करना—सर्वप्रथम पृथ्वी को गुरु बनाना और उससे शिक्षा ग्रहण करना—पृथ्वी से सहिष्णुता, निश्चलता, स्थिरता, समदृष्टि और परोपकार की भावना का उपदेश ग्रहण करना-पवन को गुरु बनाना—पवन से जग को सुखी सुगंधित करना एवं परोपकार,

सन्तोष, विनम्रता आदि का उपदेश ग्रहण करना—तीसरा गुरु आकाश को बनाना, जिससे विशाल हृदयता, समव्यवहार, स्थिरता, निर्लिप्तता का उपदेश ग्रहण करना—चतुर्थ नीर को गुरु बनाना—नीर से निर्मलता, परसुख कातरता, निःसंगता—आत्मोत्सर्ग की भावना हृदयंगम करना—पंचम गुरु अग्नि—अग्नि से सर्वदोष दहन करने की प्रवृत्ति, सब को पवित्र करने की भावना, सर्व पापों को विनष्ट करने की क्षमता, समदृष्टि की भावना ग्रहण करना—षष्टगुरु चन्द्र—चन्द्र की क्षय और वृद्धि में तटस्थता, सर्वभूतों को आनंदित करने की भावना ग्रहण करना—सप्तम गुरु सूर्य—सूर्य की सर्वग्राहिता, निर्लोभता, मोह विहीनता को हृदयंगम करना—अष्टम् गुरु कपोत से निर्मोहिता, वैराग्य का भाव प्राप्त करना—नवम गुरु अजगर से निर्द्वन्द्वता, निश्चिंतता और ब्रह्म के प्रति पूर्ण आत्मसमर्पण धारण करना—दशम गुरु सिन्धु से एक रसता और गम्भीरता—एकादश गुरु पतंग से प्रेम तथा लगन की भावना ग्रहण करना—द्वादश गुरु भ्रमर से सर्वग्राहित और मधुकरी वृत्ति सीखना—त्रयोदश गुरु मधुमक्षिका से सारग्राहिता, संग्रहप्रवृत्ति प्राप्त करना—चतुर्दश गुरु हाथी से कामवृत्ति परित्याग—पंचदश गुरु मृग से इन्द्रिय लोलुपता, स्थिरता और माया विसर्जन का पाठ ग्रहण करना—सोलहवें गुरु मीन से जिह्वा स्वाद परित्याग का उपदेश ग्रहण करना—सत्रहवें गुरु पिंगला से निर्भरता, पर-आशा-परित्याग, सन्तोष और धैर्य का भाव ग्रहण करना—अठारहवें गुरु चील्ह से संयम और लोलुपता परित्याग—उन्नीसवें गुरु बालक से मानापमानहीनता, सरलता, तटस्थता—बीसवें गुरु कन्या से पुण्यपवित्रता और सन्तुलन—इक्कीसवें गुरु तीरगर से एकाग्रता—बाइसवें गुरु सांप से निर्लोभता, निर्मोहिता—तेईसवें गुरु मकड़ी से जग-जंजाल से उन्मुक्ति तथा चौबीसवें गुरु भृंगी से एकाग्रता और ध्यानस्थता का उपदेश ग्रहण करना—बाल्यावस्था तरुणावस्था तथा वृद्धावस्था सभी अवस्थाओं में शरीर की परवशता—गुरु के समान संसार में कोई महान नहीं है—गुरु के प्रसाद से भवबाधा का विनाश।

विषय-प्रतिपादन—प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि ने कथात्मक शैली में विषय का प्रतिपादन किया है। दार्शनिक तत्वों की अभिव्यंजना इतनी सुबोध और रोचक शैली में की गई है कि प्रत्येक व्यक्ति विषय को सरलता के साथ हृदयंगम कर सकता है। दत्तात्रेय के इन २४ गुरुओं से प्रत्येक मानव अपने जीवन को व्यवस्थित और संयमशील बना सकता है। जीवन की सार्थकता जीवन की गति नियंत्रित और संयमित करने में है। उसको निरुद्देश्य, निर्बोध बहने देने में क्षय और विनाश का चक्र तीव्रतम गति से हमारे शिर पर गतिमान् हो जाता है। इसी संयमशील और मर्यादित जीवन के लिये दत्तात्रेय ने जिन जन्तुओं को गुरु बनाया है, वे किसी भी व्यक्ति के लिए पथ-प्रदर्शक बन सकते हैं। इस ग्रंथ के विषय-प्रतिपादन से स्पष्ट है कि संसार की प्रत्येक वस्तु प्रकृति के समस्त तत्वगुणों से युक्त है और मानव समाज को उन्नत

बनाने में सहायक बन सकते हैं। उनके लिए बस एक बात की आवश्यता है और वह है उनको पहचानने की शक्ति। यह शक्ति हम सब में विद्यमान है। बस, उसे जाग्रत करने की आवश्यकता है।

विषय का प्रतिपादन ग्रन्थ में रोचक ढंग से सम्पादित हुआ है। इन चौबीसों गुरुओं का उल्लेख लघुकथाओं के रूप में हुआ है। ये कथायें मनोवैज्ञानिक तत्वों को लेकर आगे बढ़ती हैं, इसीलिये इनमें प्रभावित करने की शक्ति आद्योपांत है।

विषय-प्रतिपादन से लेखक की चिन्तन और अध्ययन की गम्भीरता का सम्यक ज्ञान होता है। भाषा में प्रवाह और प्रौढ़ता है।

रचना-काल—ग्रन्थ का रचना-काल ज्ञात नहीं है। विषय प्रतिपादन, भाषा, शैली, मनोवैज्ञानिक चित्रण और काव्य-कला की सुष्ठुता को देखकर हम इसे कवि की प्रौढ़ रचना मानते हैं। कला की दृष्टि से यह ग्रन्थ 'व्रज चरित,' 'दान लीला,' 'माखनचोरी लीला,' 'कालीनथन लीला,' 'मटकी लीला,' 'चीरहरण लीला,' 'कुरुक्षेत्र लीला,' 'जागरण माहात्म्य' और 'अमर लोक' ग्रन्थों के बाद की रचना प्रतीत होती है। कला की दृष्टि से यह 'ब्रह्मज्ञान सागर' की समकक्ष रचना है। 'ब्रह्मज्ञान सागर' का रचना काल सन् १७५६ माना गया है, अतः इसकी रचना तिथि भी सन् १७६० के लगभग निश्चित होती है।

भाव-सौंदर्य—दत्तात्रेय के २४ गुरुओं के स्वभाव और प्रकृति के चित्रण में हमें सुन्दर भाव-सौंदर्य और काव्य-सौंदर्य के उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

चतुर्थ अध्याय

चरनदास की साधना

योग

योग, हिन्दू-दर्शन और धर्म का गौरवपूर्ण अंग तथा हिन्दू-जाति की सर्वाधिक प्राचीन एवं समीचीन और साथ ही अति प्रसिद्ध थाती है। साधना का यही एक अंग है जिसकी साधना-शैली और लक्ष्य के विषय में कोई मत-मतान्तर नहीं है। इसके आधारभूत सिद्धांतों में वाद-विवाद के हेतु कोई स्थान भी नहीं है। योग, मोक्ष प्राप्ति का अद्वितीय साधन है, इस पर भी कोई दो मत नहीं है। भव-तापों से संतप्त साधक के सर्वसन्तापहारी परब्रह्म की दिव्य ज्योति के दर्शन प्राप्त कर, आनन्दोर्मियों में अवगाहन करने के हेतु जिन तीन साधनाओं (योग, भक्ति एवं ज्ञान) का उल्लेख होता है, उनमें योग सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वाधिक सफल साधन माना गया है। धर्म के प्रचारकों, दार्शनिकों, प्राचीन ऋषियों ने तथा तत्व-ज्ञानियों ने योग की उपयोगिता एक स्वर से मानी है। प्रत्येक धर्म की साधना में योग की क्रियाएं प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्षरूपेण वर्तमान है। योग भारतवर्ष का सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण आध्यात्मिक साधन है। शुक्ल यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में 'तस्य को मोहः वः शोक एकत्वमनुपश्यतः 'कथन इस बात का द्योतक है कि वेदों में भी योग विषयक आवश्यक विषयों एवं तत्वों का उल्लेख हुआ है। शुक्ल यजुर्वेद के ३३ वें एवं ४० वें अध्यायों में भी योग सम्बन्धी विशिष्ट विषयों का समावेश किया गया है। वेदों के अतिरिक्त उपनिषद्[१], श्रीमद्भागवत[२], श्रीमद्भगवद्गीता[३], योगवासिष्ठ[४], तथा तंत्र-ग्रन्थों[५] आदि में भी योग का स्पष्ट उल्लेख एवं साधना के विषय में विचार प्रकट किये गए हैं। भारतवर्ष के सभी प्राचीन धर्म—बौद्ध, जैन आदि योग की महत्ता के समर्थक हैं। बौद्धधर्म के पाली त्रिपिटकों में योग की प्रक्रिया का सुन्दर उल्लेख मिलता है। महावीर एवं जैन धर्म के अन्य साधकों ने योगाभ्यास किया और उस पर अपने विवेचनात्मक मत प्रकट किये हैं। उमास्वामी तथा हेमचन्द्र ने क्रमशः 'तत्वार्थ सूत्र' तथा 'योगशास्त्र' ग्रन्थों में स्वानुभूतियों का चित्रण किया है। तांत्रिकों ने तो अपनी साधना के हेतु योग को ही आधार बनाया। नाथ-सम्प्रदाय की साधना

---

१. कल्याण योगांक, पृष्ठ ६२ २. कल्याण योगांक, पृष्ठ १०६ ३. कल्याण योगांक, पृष्ठ १२२ ४. कल्याण योगांक, पृष्ठ ११७ ५. कल्याण योगांक, पृष्ठ १०५

में भी योग की प्रक्रियाओं का विशिष्ट स्थान रहा है और अन्ततोगत्वा वह 'योगी सम्प्रदाय' के नाम से ही प्रख्यात हुआ। गोरखनाथ एवं अन्यान्य सिद्धों के ग्रन्थों में अमृतनाद, अमृतबिन्दु, तेजोबिन्दु, नादबिन्दु, छुरिका, हंसकुंडलिनी आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध होता है। नाथ-पंथियों के पश्चात् हिन्दी के निर्गुण-वादी कवियों में भी योग का वर्णन उपलब्ध होता है। दैनिक जीवन में भी, प्राचीन भारत के नागरिक यम-नियमादिक का पालन करके किसी न किसी रूप में योग की साधना में रत थे।

महर्षि पतंजलि योगसूत्रों के सर्वप्रथम रचयिता हैं। 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के "हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः" के अनुसार हिरण्यगर्भ ही योग के आदि वक्ता थे। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार पतंजलि ने तो "शिष्टस्य शासनमनुशासनं" (त० वै० १।१) केवल अनुशासन वा प्रतिपादित का उपदेश मात्र किया है। श्री बलदेव उपाध्याय के मतानुसार "योग-सूत्र" की रचना विक्रम से पूर्व द्वितीय शतक में हुई। चतुर्थ पाद में विज्ञानवाद का खंडन सूत्रों (१।१४, १५) में मिलने पर भी इस सिद्धांत को धक्का नहीं लगता, क्योंकि विज्ञानवाद मैत्रेय और असंग से कहीं अधिक प्राचीन है" (भारतीय दर्शन, पृष्ठ ३४६)। 'पातंजल योग दर्शन' पर व्यासभाष्य सबसे प्रामाणिक रचना है। पर ये व्यास कौन थे, इस निष्कर्ष पर अभी तक कोई निश्चय पूर्वक नहीं पहुँच सका है। व्यासभाष्य की गूढ़ार्थता को सरल करने के लिए वाचस्पति मिश्र ने 'तत्ववैशारदी' तथा 'योगवार्तिक' की रचना की। राघवानन्द सरस्वती ने वाचस्पति मिश्र की 'तत्ववैशारदी' की टीका 'पातंजल-रहस्य' नाम से की। योगसूत्रों की अनेक टीकायें हुईं जिनमें भोज कृत 'राजमार्तंड,' 'भाव गणेश की वृत्ति' रामानन्द यति की 'मणिप्रभा' अनन्त पंडित की 'योग चद्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती की 'योग सुधाकर' उल्लेखनीय है।

'योग' शब्द 'युज्' धातु के पश्चात् करण एवं भाववाच्य में घञ् प्रत्यय लगाने से बनता है। 'युज्' धातु का अर्थ 'समाधि' है। अतः योग शब्द को हृदयंगम करने के लिए 'समाधि' शब्द का समझना अपेक्षित है। 'समाधि' का अर्थ पूर्णरूपेण परब्रह्म के साथ युक्त हो जाना है। समस्त वासनाओं एवं कामनाओं को परित्याग करके स्वरूप में मिल जाना। परब्रह्म से युक्त होने के सहज स्वाभाविक उपाय को भी 'समाधि' की संज्ञा दी जाती है। 'योग' शब्द के अन्तर्गत यही दोनों तत्व निहित हैं। जिस अवस्था में परब्रह्म की सत्ता, चैतन्य और आनन्द अपने आप ही हमारी वाणी, भाव और कार्य के द्वारा पूर्णरूप से प्रस्फुटित होकर प्रकट हो जाय, उसी का नाम 'योग' है। इसी अवस्था को लक्ष्य करके मनुष्य को भगवान का अवतार कहा जाता है। अतः योग शब्द का प्रधान अर्थ है "भाव वाच्य में साधित भगवत् मिलन

एवं गौण अर्थ है करण वाच्य साधित ब्रह्म के साथ एकात्मकता स्थापित करने के लिए आवश्यक समस्त साधन प्रणाली।" किसी भी काम की सुन्दर, सहज एवं स्वाभाविक साधना प्रणाली को 'योग' कहा जा सकता है। कहा भी गया है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्'। 'योग' शब्द का प्रयोग विभिन्न अर्थों में होता है। आत्मा और ब्रह्म की एकात्मकता 'योग' है। देहात्मबुद्धि त्याग कर आत्मभावापन्न होना भी 'योग' है, चित्तवृत्ति का निरोध भी 'योग' है। सुख, दुःख आदि पर विजय प्राप्त करना भी 'योग' ही कहा जाता है। गीता के अनुसार 'समत्वयोग उच्यते', आराधना के लिए भी योग का प्रयोग होता है, कर्म-बन्धन से उदासीन रहना भी योग है, भली प्रकार कृत कर्म भी योग ही है (योगः कर्मसु कौशलम्—गीता)। दो विभिन्न पदार्थों का निज स्वरूपों को खोकर एक ही रूप में परिणत हो जाना भी 'योग' है। योग फल, जोड़ भी 'योग' ही कहा जाता है। वैद्यक के नुसखे को भी 'योग' कहा जाता है। मारण, मोहन तथ उच्चाटन आदि को 'योग' की संज्ञा दी जाती है। पुराण काल में युद्ध के लिए सैनिकों को सन्नद्ध हो जाने के लिए 'योगो योगः' शब्दों में आज्ञा दी जाती थी। किसी विशिष्ट उपाय को भी 'योग' कहा जाता है। इस प्रकार कोषकारों ने योग शब्द के तीन चार दर्जन अर्थ दिये हैं। पर जब हम 'योग' शब्द का प्रयोग दर्शन शास्त्र में करते हैं तो उसका अभिप्राय होता है—वह विशिष्ट प्रणाली जिसके द्वारा आत्मा एवं परब्रह्म में एकात्मकता स्थापित की जा सके। इस दृष्टि से महर्षि पातंजलि के योग-सूत्रों का द्वितीय सूत्र विशेष रूप से विचारणीय एवं पठनीय है:—**'योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः'** अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध सर्वथा स्थगित हो जाना ही योग-है। 'योग वासिष्ठ' के अनुसार संसार सागर से उत्तीर्ण होने की युक्ति ही योग है....... (६।१।१३।३)। संक्षेप में वह आध्यात्मिक विद्या जो जीवात्मा एवं परमात्मा में संयोग स्थापना की प्रक्रिया का निर्देश करे वही 'योग' है। 'योग' वह परमार्थ विद्या है जो सद्, चित्, आनन्द स्वरूप के दिव्य रूप का दर्शन कराये। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "आत्मा जिस शारीरिक या मानसिक साधन से परमात्मा में जुड़ जावे, वही योग है" (कबीर का रहस्यवाद, पृष्ठ ६८)। यौगिक-क्रियाओं की साधना करने वाला साधक 'योगी' है। परन्तु गीता में योगी शब्द का प्रयोग भी प्रायः नौ विभिन्न अर्थों में हुआ है। गीता में ईश्वर[१], आत्मज्ञानी[२], ज्ञानीभक्त[३], निष्काम कर्मयोगी[४], सांख्य योगी[५], भक्त[६], साधक योगी[७], ध्यान योगी[८], सकाम कर्मयोग[९] आदि का प्रयोग योगी

---

१. गीता अध्याय १० श्लोक १७ २. गीता अध्याय ६ श्लोक ८ ३. गीता अध्याय १२ श्लोक १४ ४. गीता अध्याय ५ श्लोक ११ ५. गीता अध्याय ५ श्लोक २४ ६. गीता अध्याय ८ श्लोक १४ ७. गीता अध्याय ६ श्लोक ४५ ८. गीता अध्याय ६ श्लोक १० ९. गीता अध्याय ८ श्लोक २५

के अर्थ में ही हुआ है । इसके अतिरिक्त संयमी, तत्वज्ञानी, ध्यान धारण करने वालों के लिए भी आज 'योगी' शब्द का प्रयोग होता है ।

योग-शास्त्र में योग के तीन भेद मान्य हुए हैं :—

१. सविकल्प योगः—यह पूर्वावस्था है । इसमें विवेक ज्ञान नहीं होता ।

२. निर्विकल्प योगः—इसे निर्विचार समाधि भी कहते हैं ।

३. निर्बीजयोगः—इसमें चित्त की समस्त वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं । यही योग का अन्तिम लक्ष्य है । इसी से आत्मा का स्वरूप, प्रतिष्ठा और कैवल्य प्राप्ति होती है । इसी प्रकार योगी के चार भेद कहे गये हैं :—

१. प्रथम कल्पितः—योग मार्ग में सद्यः प्रविष्ट ।

२. मधुभूमिकः—अत्यन्त शुद्ध चित्तवाला साधक जिसे अप्सराएं प्रलोभन देकर योग भ्रष्ट करने का प्रयत्न करती हैं ।

३. प्रज्ञाज्योतिः—पंचभूत, पंच अवस्थाओं पर अधिकार प्राप्त भूतजयी योगी ।

४. अतिक्रांत माननीयः—भूतेन्द्रिय का अतिक्रमण करके आसक्ति में प्रविष्ट सर्वज्ञ योगी ।

योग के अनेक प्रकार होते हैं—प्रेमयोग, भक्तियोग, सांख्ययोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, हठयोग, राजयोग, मंत्रयोग आदि । योग के इन सभी प्रकारों में पर्याप्त भेद है । श्वास-प्रश्वास एवं शारीरिक अंगों पर अधिकार प्राप्त कर उनका उचित संचालन करते हुए मन को एकाग्र कर परब्रह्म में नियोजित करना हठयोग है, और मन को एकाग्र करके परब्रह्म के आनन्दस्वरूप का मनन करते हुए आत्म समाधिस्थ हो ब्रह्म से मिलन राजयोग है । शारीरिक अंगों को संयत करना हठयोग है और हृदय को संयत करना राजयोग है । हठयोग शरीर से होता है और राजयोग मन से । हठयोग में साधक यम, नियम, आसनादिक की साधना से वायु तथा श्वासों पर अधिकार करता है और राजयोग में साधक वेदांतवाद वा वेदांत के शून्यवाद में अपने मन को स्थित करता है । हठयोग में श्वास से मन को नियंत्रित किया जाता है, और राजयोग में मन के नियंत्रण से श्वास नियंत्रित होती है । अतः अंगों तथा इन्द्रियों को सयत तथा वशीभूत करके बलपूर्वक ब्रह्म से मिलाना ही हठयोग है । हठयोग में साधक को शारीरिक एवं मानसिक साधना एवं अध्यवसाय की विशेष आवश्यकता पड़ती है । इन्द्रियों एवं शरीर के अन्य विभिन्न तत्वों पर विजय प्राप्त करके परब्रह्म से मिलन ही हठयोग का लक्ष्य है । संसार की स्थिति एवं विनाश मन में टिका हुआ है । मन से कृत साधना को ही 'राजयोग' कहते हैं । हठयोग के साधक को अपने लक्ष्य पूर्ति के हेतु प्राणायाम, आसनादि का अभ्यास करना आवश्यक होता है ।

अष्टांगयोग

चरनदास ने अष्टांग योग विषयक अपने विचारों की अभिव्यक्ति 'अष्टांगयोग वर्णन' ग्रन्थ में की है। इस ग्रन्थ में कवि ने हठयोग का सविस्तार निरूपण किया है। कवि ने हठयोग के सभी भेदों की सविस्तार विवेचना प्रस्तुत की है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्रतिपादित विषय हठयोग की नीरस साधना से सम्बन्ध रखता हुआ भी कवि की शैली और लेखनी से निःसृत होकर सुगम तथा रोचक बन गया है। विषय को रोचक बनाने में कवि ने उपमा, रूपक आदि अलंकारों का सहारा लिया है। हिन्दी के संत कवि जनता के कलाकार थे। इन्होंने जनता के प्रबोधनार्थ हठयोग की वह दुरूह साधना, जो संस्कृत में योग ग्रन्थों तक ही सीमित रह गई थी, उसे भाषा के माध्यम से जनता के लिए सुगम एवं सुलभ बनाया। चरनदास इस सामान्य तथ्य के किसी प्रकार से अपवाद नहीं थे।

'अष्टांगयोग वर्णन' में कवि ने कहीं पर भी इस बात का उल्लेख नहीं किया कि उसके योग-दर्शन विषयक इस अध्ययन का आधार या सूत्र क्या है। इस विषय का प्रतिपदन गुरु एवं शिष्य के वार्तालाप के रूप में हुआ है। शिष्य जिज्ञासा से प्रेरित होकर हठयोग के विभिन्न विषयों तथा अंगों के विषय में प्रश्न पूछता है और गुरु उनका उत्तर देता हुआ शंका समाधान करता है। प्रश्नोत्तर के रूप में पूर्ण विषय का प्रतिपादन निम्नलिखित शैली में हुआ है :—

शिष्य-वचन

इक अभिलाषा और है, कहिं न सकूं सकुचाय।
हिये उठे मुख आयकरि, फिरि उलटी ही जाय॥

गुरु-वचन

सतगुरु से नहि सकुचिये, एहो चरणहिदास।
जो अभिलाषा मन विषे, खोलि कहो अब तास॥

शिष्य-वचन

सतगुरु तुम आज्ञा दई, कहूँ आपनी बात।
योग अष्टांग बुझाइये, जाते हियो सिरात॥

गुरु-वचन

योग अष्टांग बुझाइ है, भिन्न भिन्न सब अंग।
पहिले संयम सीखिये, जाते होय न भंग॥

अष्टांगयोग साधना अथवा हठयोग की साधना के पूर्व साधक के लिए संयम धारण करना अत्यन्त आवश्यक है। जैसा उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट होता है कि कवि

संयम को हठयोग का प्रवेश द्वार मानता है। बिना संयम धारण किये अष्टांग योग की साधना असम्भव है। कवि के मतानुसार साधक को अल्पाहारी, मिताहारी, अल्पभाषी तथा एकांतवासी होना आवश्यक है। साधक को जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में संयम धारण करना अपेक्षित है। निद्रा, स्वाद, इन्द्रिय, पुरुष एवं स्त्रियों के साथ व्यवहार आदि में संयम अत्यधिक आवश्यक है।[1] साधक को अपनी समस्त वहिर्मुखी वृत्तियों को समेटकर अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए, यही योगसाधना का सर्वश्रेष्ठ नियम है।

रुटा रहै जगत लोगन सों। न्यारा रहै सबही भोगन सों ॥
सिमिटि रहै हिय माहिं समावै। ऐसे योग सधे सिधि पावै ॥

'योग सूत्र' में महर्षि पतंजलि ने योग के आठ अंगों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।
'पातंजल योग दर्शन'—साधन पाद २, सूत्र २९

अर्थात् योग के आठ अंग हैं :—१. यम २. नियम ३. आसन ४. प्राणायाम ५. प्रत्याहार ६. धारणा ७. ध्यान तथा ८. समाधि।

साधक को समाधि की अवस्था तक पहुँचने के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि योग के समस्त अंगों की साधना करनी होती है। चरनदास ने

---

१. प्रथम सूक्ष्म भोजन खावै। क्षुधा मिटै नहि आलस आवै ॥
थोड़ा सा जल पीवन लीजै। सूक्ष्म बोलै वाद न कीजै ॥
बहुत नींद भरि सोवै नाहीं। दूजा पुरुष न राखै पाहीं ॥
खट्टा चरपरा खार न खावै। बीरज क्षीण होन नहि पावै ॥
करै न काहू वैरी भीता। जगत वस्तु की रखै न चीता ॥
निश्चल ह्वै मन को ठहरावै। इन्द्रिन के रस सब विसरावै ॥
तिरिया तेल नहि देह छुवावै। अष्ट सुगन्ध गंध नहि लावै ॥

काम क्रोध मद लोभ अरु, राखै ना अभिमान।
रहै दीनताई लिये, लगै न माया बान ॥

छल नहि करै न छल में आवै। दम्भ झूठ के निकट न आवै ॥
टोना यंत्र भूत नहि ध्यावै। झूठ जान के सब विसरावै ॥
धातु रसायनि मन नहि लीजै। झूठ जानि याहू तजि दीजै ॥
गहि सन्तोष क्षमा हिय धारै। संयम करि करि रोग निवारै ॥
अहंकार को छोटा करिये। कुटिल मनोरथ मन नहि धरिये ॥

जिस अष्टांगयोग का वर्णन अपने ग्रन्थ में किया है उसका 'पातंजल योग दर्शन' में वर्णित अष्टांगयोग से पूर्ण साम्य है। कवि के अनुसार योग के आठ अंग निम्न लिखित हैं :—

> यम के अंग प्रथम सुनि लीजे। दूजे नियम कहूँ चित दीजे॥
> तीजे आसन हित करि साधौ। प्राणायाम चौथे आराधौ॥
> प्रत्याहार पांचवां जानौ। छठे धारणा को पहिचानौ॥
> सतवें ध्यान मिटै सब बाधा। कहूँ आठवां अंग समाधा॥

हठयोग में सर्वप्रथम यम की साधना होती है। यम की साधना से विमुख तथा अन्य अंगों की साधना में रत साधक कभी भी सफलीभूत नहीं हो सकता है। अष्टांग-योग साधना में साधक क्रमशः अग्रसर होता है।[1] यमनियमादि दृढ़ नींव पर ही तपे साधन का सुदृढ़ प्रासाद निर्मित हो सकेगा। 'पातंजल योग-दर्शन' में यम के निम्नांकित पांच भेदों का उल्लेख मिलता है :—

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. अपरिग्रह[2]।

अहिंसा—मनसा, वाचा तथा कर्मणा किसी व्यक्ति के प्रति द्रोह न करना 'अहिंसा' है। इसके अन्तर्गत शुभाशुभ कर्मों से आत्मा का घात न करना भी सम्मिलित है। यह अहिंसा महाव्रत माना गया है। यह योगसाधन की आधार शिला है। सत्य—अपने मन की अथवा देखी सुनी बात को दूसरों से प्रवंचना एवं निरर्थक तथा भ्रांतजन्यता से रहित शब्दों में व्यक्त करना सत्य है। अस्तेय—निषिद्ध रीति से पराई वस्तु या द्रव्य को ग्रहण न करना अथवा ग्रहण करने की इच्छा न रखना अस्तेय है। ब्रह्मचर्य—आठप्रकार के मैथुन का सर्वथा परित्याग कर देना ही ब्रह्मचर्य है। उपस्थेन्द्रिय का संयम इसका प्राण है। अपरिग्रह—विषयों में अर्जन, रक्षण, क्षय, संग, हिंसा आदि दोषों को देखकर उनका परित्याग कर देना अपरिग्रह है।

चरनदास ने यम के दश भेदों का वर्णन किया है :—

१. अहिंसा २. सत्य ३. अस्तेय ४. ब्रह्मचर्य ५. क्षमा ६. धैर्य ७. दया ८. आर्ज्जव ९. मिताहार १०. शौच।

---

1. यमान् सेवते सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
   यमान् पतत्य कुर्वाणो नियमान् केवलान् भजन्॥ मनुस्मृति ४। २०४
2. अहिंसा सत्यास्त्येयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा॥
   पातंजल योगदर्शन—साधन पाद २, सूत्र ३०

कवि द्वारा वर्णित यम के उपर्युक्त दश भेदों का 'हठयोग प्रदीपिका' में उल्लिखित दश भेदों से पूर्ण साम्य है। 'हठयोग प्रदीपिका' में यम के निम्नलिखित दश भेद हैं :—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः।
दयार्ज्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश॥

अब कवि के शब्दों में यम के दश भेदों का परिचय और विवेचना पठनीय होगी। इन उद्धरणों से वर्ण्य-विषय के लक्षणों का भी ज्ञान हो जाता है।

अहिंसा—

प्रथम अहिंसा ही सुनि लीजै। मन करि काहू दोष न कीजै॥
कड़ुवा वचन कठोर न कहिये। जीव घात तन सो नहिं दहिये॥
तन मन वचन न कर्म लगावै। यही अहिंसा धर्म कहावै॥

प्रस्तुत उद्धरण की तृतीय एवं पंचम पंक्तियां विचारणीय है। कटुभाषण को भी कवि ने हिंसा माना है। कवि मनसा, वाचा तथा कर्मणा अहिंसा में रत रहना आवश्यक मानता है।

सत्य—

दूजे सत्य सत्य ही बोलै। हिरदै तौलि वचन मुख खोलै॥

अस्तेय—

अस्तेय का अर्थ है दूसरे के स्वत्व का अपहरण न करना। कवि ने दो प्रकार की चोरी मानी है। प्रथम दूसरे के पदार्थ का अपहरण करना तथा द्वितीय मन की चोरी जिसमें छल, कपट, मिथ्या, वासना आदि आते हैं :—

तीजे असते त्याग सुनीजै। तन मन सों कछु नाहि हरीजै॥
तन चोरी के लक्षण नाखै। मन की चोरी को नहिं राखै॥

ब्रह्मचर्य—

मैथुन आठ प्रकार का कहा गया है :—

श्रवणं स्मरणं चैव दर्शनं भाषणं तथा।
गुह्यवार्ताश्च हास्यं च स्पर्शनं चाष्ट मैथुनम्॥

इन सभी का परित्याग करना ब्रह्मचर्य है। कवि ने भी इन्हीं आठ प्रकार के मैथुनों का परित्याग आवश्यक माना है :—

यती होय दृढ़ कांछ गहीजै । वीर्य छीण नहि होने दीजै ॥
मैथुन कहूँ अष्ट परकारा । ब्रह्मचर्य रहै इनसे न्यारा ॥
सुमिरन तिरिया को नहि करिये । श्रवणन सुरति रूप नहि धरिये ॥
रस शृंगार पढ़ै नहि गावै । नारिन सों नहिं हंसै हंसावै ॥
दृष्टि न देखै विष नहिं दौरै । मुख देखै मन होजा औरै ॥
बात इकन्त करै नहि कबही । मिलन उपाय जु त्यागै सबही ॥
स्पर्श अष्टम निकट न जावै । काम जीति योगी सुख पावै ॥
अष्ट प्रकार के मैथुन जानों । इन्हैं तजे ब्रह्मचर्य पिछानों ॥

क्षमा—

पंचवी सुखदाई क्षमा, जलन बुझावै सोय ।
जो टुक आवै घट विषे, पातक डारै खोय ॥

कोई दुष्ट कछू कहिजावो । गाली देकर कोइ खिझावो ॥
कै कोइ शिर पर कूड़ा डारो । कै कोइ दुख देवो अरु मारो ॥
वाकी कछू न मन में लावै । उलटा उनको शीश नवावै ॥
ऐसी क्षमा हिये में लावो । बोलै शीतल अग्नि बुझावो ॥

इन पंक्तियों में क्षमा के अन्तर्गत सहनशीलता, मृदुभाषण, क्षोभ परित्याग तथा उदारता पर जोर दिया गया है ।

धैर्य—

कवि ने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धैर्य को आवश्यक माना है—[१]

छठा अंग धीरज का जानौ । धीरज ही हिरदय में आनौ ॥
योग युक्ति धीरज सो कीजै । सब कारज धीरज सो लीजै ॥
धीरज सो बैठे अरु डोलै । धीरज राखि समुझि कर बोलै ॥
आनि परे दुख ना अकुलावै । धीरज सो दृढता गहिलावै ॥

धीरज रहा तौ सब रहा, काहू से न डराय ।
सिंह प्रेत अरु बालका, धीरज सो डर जाय ॥

उद्धरण की पाचवीं पंक्ति पढ़ते ही मलिक मुहम्मद जायसी की "धीरज धरै तो उतरै पारा । नाहीं तो बूड़ै संसारा" उक्ति स्मरण हो आती है । योग के क्षेत्र में धैर्य धारण करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना गया है । दुःख को जीवन का क्षणिक परिवर्तन समझना चाहिए न कि दुःख आते ही जीवन भारस्वरूप प्रतीत होने लगे । इसी प्रकार कवि ने वार्तालाप तथा भाषण में भी धैर्यधारण करने पर जोर दिया है ।

---

१. तुलना कीजिए गीता १८।३३-३५ में वर्णित धृति के लक्षण ।

दया—

समस्त धर्मों का मूल दया है। इसका विकाश सर्वप्रथम हृदय में होता है तदनन्तर कर्म और वाणी में प्रसार होता है—

दया सातवां अब सुनि लीजै। सब जीवन की रक्षा कीजै ॥
लख चौरासी का सुखदाई। सबके हित को कहे बनाई ॥
रहिये तन मन वचन दयाला। सबहीं सों निर्वैर कृपाला ॥

आर्ज्जव—

आर्ज्जव के अन्तर्गत कवि ने कोमलता एवं दयालुता पर विशेष जोर दिया है। साधक को मनसा, वाचा, हृदय से तथा दृष्टि से कोमलता धारण करना चाहिये—

अठवैं करूँ आर्य्यवै खोलै। कोमल हृदय सो कोमल बोलै ॥
सबको कोमल दृष्टि निहारै। कोमलता तन मन में धारै ॥
कोमल धरती बीज बोवावै। बढ़ै बेगि फूलै फल लावै ॥
ऐसे कोमल हिया बनावै। योग सिद्धि करि पद पहुँचावै ॥

मिताहार—

शुद्ध, अल्प तथा पोषक भोजन करना ही मिताहार है। कवि के शब्दों में ही—

मिताहार जो नवें की, समझ लेहु मन मांहि।
सतगुन भोजन खाइये, ऐसा वैसा नाहि ॥
खावै अन्न विचारिकै, खोटा खरा संभार।
जैसा ही मन होत है, तैसा करै अहार ॥

सूक्ष्म चिकना हलका खावै। चौथा भाग छोड़ि करि पावै ॥
वानप्रस्थ कै हो सन्यासै। भोजन सोलह ग्रास गिरासै ॥
अरु गृहस्थ बत्तीस गिरासा। आवनीय न बहुत न श्वासा ॥
ब्रह्मचारी भोजन करै इतना। बदनमांह बीरज रहै जितना ॥

प्रस्तुत उद्धरण में कवि ने सन्यासी, वानप्रस्थी तथा गृहस्थ के लिये क्रमशः सोलह एवं बत्तीस ग्रास भोजन हितकर बताया है।

शौच—

शुद्धि दो प्रकार की होती है—आभ्यन्तरिक तथा वाह्य। सद्भावनाओं से आन्तरिक शुद्धि तथा मज्जन, स्नानादि से वाह्य शुद्धि होती है। इन्हीं दोनों प्रकार की शुद्धियों का उल्लेख कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :—

दशवां शौच पवित्तर रहिये। कर दातौन हमेश नहइये ॥
जो शरीर में होवै रोगा। रहै न तन जल छूवन योगा।
तौ तन माटी से शुधि कीजै। अब अंतर की शुधि सुन लीजै ॥
राग द्वेष हिरदय सों टारै। मन सों खोटे कर्म निवारै ॥

यम के पश्चात् साधक नियम की साधना करता है। जन्म के हेतु भूतकाम्य धर्म से निवृत्ति कराके मोक्ष के हेतुभूत निष्काम धर्म में प्रेरणा कराने वाले तपादि नियम कहलाते हैं। कितने ही सिद्धों के मत में एकांतवास, निःसंगता, औदासीन्य, यथा प्राप्ति में संतोष, विषय में नीरसता और गुरु के प्रति दृढ़ अनुराग द्वारा मनोवृत्ति को नियम में लाना नियम कहलाता है। 'पातंजल योग दर्शन' के अनुसार नियम के निम्नलिखित पांच भेद हैं :—

१. शौच २. सन्तोष ३. तप ४. स्वाध्याय ५. ईश्वर प्रणिधान।[1]

शौच—

शारीरिक अन्तर्वाह्य शुद्धता, जिससे रोगादि का निवारण हो और आत्मा का प्रकाश प्रसारित हो सके, शौच है। वाह्य शौच सिद्ध हो जाने पर ग्लानि आदि से साधक मुक्त हो जाता है और आभ्यंतर शौच से सत्त्व की शुद्धि होती है।

संतोष—

प्रारब्ध कर्मानुसार प्राप्त अन्न-वस्त्रादि में तृप्ति रखना सन्तोष है। इससे तृष्णा का विलय हो जाता है।

तप—

ऋतुओं तथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों का सहन करते हुए नियमित जीवन व्यतीत करना तप है।

स्वाध्याय—

पठन, पाठन, श्रवण, मनन द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त करना तथा ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान—

समस्त कर्मों तथा उनके फलों को ईश्वर में समर्पित करके निष्काम हो जाना कर्मक्षेत्र में व्यक्तिगत प्रणिधान है। परन्तु समस्त शारीरिक, मानसिक व्यापारों को ईश्वर में समर्पित करके ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त कर लेने के अनन्तर समाधिस्थ होना

---

[1]. शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।
पातंजल योग-दर्शन, साधन पाद २, सूत्र ३२

ईश्वर प्रणिधान है। 'हठयोग प्रदीपिका' में निम्नलिखित दश नियमों का उल्लेख हुआ है :—

तप : संतोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धांतवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपोहुतम् ॥

चरनदास ने भी नियम के दश भेद माने हैं :—

१. तप २. संतोष ३. आस्तिक्य ४. दान ५. ईश्वरपूजा ६. सिद्धांतश्रवण ७. लज्जा, ह्री ८. मति ९. जप १०. होम।

संत सुन्दरदास[1] तथा मलूक दास[2] ने भी अपने ग्रन्थों में नियम के दश भेदों का उल्लेख किया है। चरनदास उल्लिखित नियम के भेदों का 'हठयोग प्रदीपिका' कृत नियम के प्रकारों से पूरा साम्य है। अब यहाँ नियम के उन भेदों के विषय में विचार कर लेना आवश्यक है।

तप—पहला तप इन्द्री वश कीजै। इनके स्वाद सभी तजि दीजै ॥
खाते पीते सोवत जागत। योगी इन्द्रिन को वश राखत ॥
तिनकूं वश कर मन कूं मारै। ऐसी विधि तपका अंगधारै ॥

ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि ने तप के अन्तर्गत इन्द्रिय-निग्रह तथा मनके दमन पर विशेष ज़ोर दिया है।

सन्तोष—कवि के अनुसार हानि-लाभ, हर्ष-विषाद को एक ही भाव से देखना सन्तोष है।

दूजा अंग कहूं सन्तोषा। हानि भये नहि भाने शोका ॥
लाभ भये नाहीं हरषावै। ऐसी समुझ हिये में लावै ॥
परारब्ध तन हीय सु होई। संकलप विकलप रखै न कोई ॥

---

[1]. तप संतोष हि ग्रहै बुद्धि आस्तिक्य सु आनय।
दान संमुक्ति करि देइ मानसी पूजा ठानय ॥
वचन सिद्धांत सु सुनय लाज मति दृढ़ करि राषय।
जाय करय मुख मौन तहाँ लग वचन न भाषय ॥
पुनि होम करै इहि विधि तहाँ जैसी विधि सद्गुरु कहै।
ये दश प्रकार के नियम है भाग्य बिना कैसे लहै ॥

ज्ञानसमुद्र, तृतीयोल्लास

[2]. ईश्वर पूजा आस्तीक जप सन्तोष तप दान।
चहव कर्म सुभ असुभ होम अरु सुनिवो ज्ञान ॥

आस्तिक्य—तीजा आस्तिक अंग है, जाको सुनो विचार ॥
समझ समझ मन में धरो, ताको गहो संसार ॥

शास्त्र सुने परतीत जो कीजै । सत्तब्रह्म निश्चय करि लीजै ॥
बुध निश्चय आतम के मांहीं । जगत सांच करि मानै नाहीं ॥

दान—चौथा दान अंग विधि होई । पात्र कुपात्र विचारे सोई ॥
एक दान उपदेश जु दीजै । भव सागर सों पार करीजै ॥
दूजा दान अन्न अरु पानी । दीजै कीजै बहु सनमानी ॥
और पराये दुख की बूझै । सुख दानी परमारथ सूझै ॥

परम्परा से वस्त्र, धन, दान, अन्न आदि का दान प्रसिद्ध रहा है । परन्तु कवि ने यहां अन्न और पानी के दान के अतिरिक्त उपदेश दान को भी महत्त्व प्रदान किया है ।

पूजा—पूजा अर्चना निष्काम होकर करनी चाहिए—

पंचम ईश्वर पूजा करिये । तन मन बुद्धि जहां लै धरिये ॥
ह्वै निष्काम तजै सब आसा । सेवा करै होय निजदासा ॥

पान फूल जु भाव सों, सह सुगंध करि धूप ।
शुकदेव कहै यों कीजिए, पूजा अधिक अनूप ॥

सिद्धांत-श्रवण—साधक को शास्त्रवचन एवं धर्म के सिद्धांतों को सुनना चाहिए । सिद्धांत-श्रवण से मनुष्य को सद्-असद् का विवेक होता है । उसे हंस की-सी मति प्राप्त होती है :—

छठे सिद्धांत श्रवण सुन बानी । करि विचार गहिये मन मानी ॥
सार असार विचार जु कीजै । पानी को तजि पय को पीजै ॥
अरु सतगुरु सों निश्चय करिये । परखि संभारि हिये में धरिये ॥
करणी करै तिन्हों से मिलना । वचन अयोगी के नहि सुनना ॥

लज्जा (ह्री)—लज्जा साधक का आवश्यक गुण है । लज्जा का लक्षण निम्नलिखित है :—

सतवां ह्री जु कहिये लाजा । सो वह सकल संवारन काजा ॥
साधु गुरू से लाज करीजै । तन मन डोलन नाही दीजै ॥
कर्म विपर्यय सब परिहरिये । हिय आंखिन में लज्जा भरिये ॥
शुकदेव कहै सुनि चरणहिदासा । लज्जा भवन माहि करि वासा ॥

कुटुम्ब मित्र जग लोग ही, सबसूं कीजै लाज।
बड़ी लाज हरि सूं करो, नीके सुधरैं काज॥

मति—सुख-दुख, मानापमान, प्रशंसा-आलोचना से विमुख रहना, स्वर्गादि की कामना करना, प्रलोभनों में न पड़ना—यही निश्चल मति के लक्षण हैं।

अष्टम हूँ मति दृढ़ जो कहिये। सो विशेष साध कूं चहिये॥
शुभ करमन की इच्छा करनी। हो न सकै तौभी हिय धरनी॥
बहकैं ना काहू बहकाये। कैसेहू नहि हलै हलाये॥
जग सुख देखि न मन में आनै। स्वर्ग आदि सुख तुच्छहि जानै॥
कोइ अस्तुति आदर करि सेवै। कोइ कुभाव करि गाली देवै॥
दोनों में निश्चल रहै जोई। शुकदेव कहै दृढ़ मति है सोई॥

जप—जप का परिचय एवं लक्षण निम्नलिखित है :—

नवयें जाप करै गहिं मौना। मन जिह्वा सूं कीजै जौना॥
होय सके मन पवन गहीजै। गुरुमन्तर जप तामे कीजै॥

हरिगुरु की अस्तुति पढ़ै, सो भी कहिये जाप॥
शुकदेव कहै रणजीत सुनि, त्रैविधि नाशै ताप॥

होम—कवि के अनुसार होम दो प्रकार के हैं। प्रथम है साकल्ययज्ञ एवं द्वितीय ज्ञानयज्ञ। ज्ञानयज्ञ का उल्लेख उपनिषदों एवं गीता में भी मिलता है।[1]

दशवें समझौ होम ही, कीजै दोय प्रकार।
अंगन माहि साकिल्ल कूं, वेद कहै ज्यों डार॥
दूजे पावक ज्ञान की, तामे इन्द्री होम।
वाकू परगट भूमि है, याकू हिरदा भौम॥

आसन

यम एवं नियम की साधना के अनन्तर आसन की साधना अपेक्षित होती है। हठयोग की साधना में आसन की साधना तीसरी मंजिल है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में :—

"स्थिरसुखमासनम्"—
'पातंजल योग-सूत्र', साधना पाद २, सूत्र ४६

अर्थात् "निश्चल होकर एक ही स्थिति में चिरकाल तक बैठने का अभ्यास ही आसन है।" शरीर को सीधा एवं स्थिर करके सुखपूर्वक बैठ जाने के अनन्तर

१. देखिये, गीता अध्याय ४।१६, २३ तथा ३२

शरीर विषयक समस्त चेष्टाओं का परित्याग कर देना ही प्रयत्न शैथिल्य है। इस साधन से एवं परब्रह्म में मन नियोजित करने से आसन की सिद्धि होती है।[1] आसन सिद्धि अधिक से अधिक ४ घंटा ४८ मिनट तक एक ही स्थिति में बैठने पर तथा कम से कम ३ घंटा ३६ मिनट अभ्यास करने पर होती है। आसन सिद्धि हो जाने के अनन्तर साधक का शरीर शीतोष्णादिक द्वन्द्वों से प्रभावित नहीं होता है। शरीर में सब प्रकार की पीड़ा सहने की शक्ति का विकास हो जाता है। अन्त में ये द्वन्द्व चित्त को चंचल बनाकर साधना में विघ्न नहीं डालते हैं।[2] शिवसंहिता में चौरासी आसनों का उल्लेख हुआ है।[3] इनमें से प्रमुख आसन हैं—सिद्धासन, पद्मासन, उग्रासन एवं स्वस्ति आसन। प्रत्येक आसन शरीर को निरोग एवं शक्तियुक्त बनाता है तथा आसनसिद्ध साधक का हृदय सदैव ब्रह्मकी आराधना में संलग्न रहता है। घेरंड ऋषि के अनुसार संसार में जितने जीवजन्तु हैं उतने ही आसन हैं। सर्वप्रथम देव-शंकर ने चौरासी लक्ष आसन बताये हैं। उनमें ८४ आसन श्रेष्ठ है। मनुष्य लोक में उन ८४ आसनों में बत्तीस ही मंगल प्रद हैं।[4] ये बत्तीस आसन निम्नलिखित हैं :–

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च॥
मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
गोरक्षं पश्चिमोत्तानं उत्कटं संकटं तथा॥
मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
उत्तानमंडुकं वृक्षं मंडकं गरुडं वृषभम्॥
शलभं मकरं उष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके च सिद्धिदम्॥

घे० सं०, द्वितीयोपदेशः ३ – ६

---

[1]. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। पा०यो० द०, साधन पाद २, सूत्र ४६

[2]. ततो द्वन्द्वानभिघातः। वही, सूत्र ४८

[3]. चतुरशीत्यासनानि संति नानाविधानि च। शिवसंहिता, तृतीय पटल, श्लोक ८४

[4]. आसनानि समस्तानि यावतोजीवजन्तवः।
चतुरशीति लक्षाणि शिवेन कथितं पुरा॥
तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनं शतं कृतम्।
तेषां मध्ये मर्त्यलोके द्वात्रिंशदासनं शुभम्॥

घेरंड संहिता, द्वितीयोपदेशः, १ तथा २

चरनदास के अनुसार योग का आधार आसन है। आसनों के दृढ़ हो जाने पर ही योग की सिद्धि हो जाती है। आसन चौरासी लक्ष हैं परन्तु इनमें चौरासी आसन साधना के लिए विशेष उपयोगी हैं। इन चौरासी आसनों में दो योग साधना के लिए विशेष उपयोगी हैं—ये हैं सिद्ध आसन तथा पद्मासन। इनकी साधना से समस्त रोग, विकार, ताप आदि विनष्ट हो जाते हैं। ये ध्यान समाधि की साधना में विशेष सहायक एवं उपयोगी होते है।[1] संत सुन्दरदास ने इन्हीं दोंनों आसनों को अष्टांगयोग साधना के लिए विशेष उपयोगी माना है।[2] 'गोरक्ष पद्धति' में भी सिद्धासन एवं पद्मासन को विशेष महत्व प्रदान किया गया है।

आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥१०॥

'हठयोग प्रदीपिका' में उपर्युक्त इन दोनों आसनों को बड़ा महत्व प्रदान किया गया है। सिद्धासन, के लिए तो यहाँ तक कहा गया है कि 'नासनं सिद्धसदृशं'। 'हठयोग प्रदीपिका' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है :—

सिद्धं पद्मं तथा सिहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ।
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठे सिद्धासने सदा ॥

इसी प्रकार दूसरे शास्त्रों में भी इन दोनों आसनों की महत्ता का उल्लेख मिलता है।[3]

अब सिद्धासन एवं पद्मासन की पृथक्-पृथक् विवेचना करना अपेक्षित है। उभय आसनों में सिद्धासन प्रथम है।

---

1. चौरासी लख आसन जानौ। योनिन की बैठक पहिचानौं ॥
तिनमें चौरासी चुगलीन्हें। दुरलभ भेद सुगम सो कीन्हें ॥
सो तुमकूं पहिले बतलाये। तिनकूं साधौगे चितलाये ॥
तिनमें दोय अधिक परधानै। तिनकूं सब योगेश्वर जानै ॥
आसन सिद्धपद्म कहलावै। इनकूं करि निश्चय ठहरावै ॥
अरु आसन सब रोग भजावै। ये दो आसन योग सधावैं ॥
इनकूं साधै जो जन कोई। ध्यान समाधि लगावै सोई ॥

2. चतुरासी आसननि में, सारभूत द्वै जानि ॥
सिद्धासन पद्मासनहिं, नीके कहौ बखानि ॥

3. चतुरशीत्यासनानि संति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुष्कमादाय मयोक्तानि ब्रवीम्यहम् ॥
सिद्धासन पद्मासनं चोग्रकं चैव स्वस्तिकम् ।........

घेरंड ऋषि के अनुसार सिद्धासन का परिचय निम्नलिखित है :—

योनिस्थानकमंघ्रिमूलघटिकं सम्पीड्यगुल्फेतरम् ।
मेढ्रे सं प्रणिधायतं तु चिबुकं कृत्वा हृदि स्थानिनम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियो चलदृशा पश्यन्भ्रुवोरन्तरम् ।
मोक्षं चैव विधीयते फलकरं सिद्धासनम् प्रोच्यते ॥[१]

अर्थात् "जितेन्द्रिय साधक पैर की एड़ी को योनि स्थान अंडकोश एवं गुदा के मध्य में भिड़ावे तथा दूसरी एड़ी को लिंग के ऊपर रख कर ठोढ़ी को हृदय में लगावे, फिर स्थिर और सीधा रह कर अचल दृष्टि से दोनों भौं के मध्य स्थान को देखे। इसे सिद्धासन कहते हैं। इसके अभ्यास से साधक को मोक्ष प्राप्त होता है।" 'तत्रांतर' में उल्लेख किया गया है कि योगज्ञ साधक एक पैर की एड़ी से यत्नपूर्वक योनिस्थान को दबाये तथा दूसरे पैर की एड़ी को लिंग के ऊपर रख कर ऊपर को दोनों भौं के मध्य स्थान को देखे। इस समय उद्वेग शून्य, नियतेन्द्रिय तथा सरल देह होकर विचरण करे, इसी का नाम सिद्धासन है।[२] सिद्धासन के अभ्यास से शीघ्र ही सिद्धि मिलती है। यह मोक्षप्रद आसन है। पवनाभ्यासी को इसका आश्रय लेना चाहिए[३]। संत चरनदास ने सिद्धासन का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

दूजा आसन सिद्ध जु कीजै। बावां पांव गुदा ढिग लीजै ॥
दाहिन पांव लिंग पर आवै। दृष्टि सु भृकुटी पै ठहरावै ॥
अचरज जहां अधिक दरशावै। खुले कपाट मोक्ष गति पावै ॥
आसन साधि व्याधि परिहरै। भूख नींद जो पै वश करै ॥

---

१. घेरंड संहिता, द्वितीयोपदेशः, श्लोक ७

२. योनिं संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरि पादमूलं विन्यसेद्योगवित्सदा ॥
उर्ध्वं निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलो नियतेन्द्रियः ।
विशेदवक्रकायश्च रंहस्युद्वेगवर्जितः ॥
एतत् सिद्धासनं प्रोक्तं सिद्धानां च शुभप्रदम् ॥
शि० सं०, तृतीय पटल १०७

३. येनाभ्यासवशाच्छीघ्रं योगनिष्पत्तिमाप्नुयात् ।
सिद्धासनं तदा सेव्यं पवनाभ्यासिभिः परम् ॥
येन संसारमुत्सृज्य लभ्यते परमागतिः ।
नातः परतरं गुह्यमासनं विद्यते भुवि ॥

एडी पावै पांव की, सीवन मध्ये राख ।
लिंग गुदा के मध्य में, मूल बोलिये साख ॥
संयम सूं इन्द्री गहै, राखै सरल शरीर ।
दृष्टि उठा भृकुटी धरै, मिटै जु दोनों पीर ॥
दहिनी लावै लिंग पर, भाग बराबर राखि ।
बारी बारी कीजियै, शुकदेवा कहै भाखि ॥

कवि द्वारा वर्णित सिद्धासन के वर्ण्य-विषय का 'घेरंड संहिता' तथा 'शिव संहिता' द्वारा प्रतिपादित विषय से पूर्ण साम्य है। कवि द्वारा वर्णित विषय परम्परागत है।

चरनदास ने सिद्धासन के अनन्तर पद्मासन का वर्णन किया है। पद्मासन का वर्णन 'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

वामोरूपरि दक्षिणं हि चरणं संस्थाप्य वामं तथा ।
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना कृत्वा कराभ्यां दृढम् ॥
अंगुष्ठे हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत् ।
एतद्व्याधिनाशकारणपरं पद्मासनं चोच्यते ॥[1]

अर्थात् दाहिना चरण बांये जंघा पर तथा बाम चरण दक्षिण जंघा पर रख कर हाथों को पीठ की ओर ले जाकर दाये हाथ से बाये पैर का अंगूठा और बांये हाथ से दक्षिण पैर का अंगूठा दृढता से पकड़ कर ठोढी को हृदय पर रख कर नासिका के अग्रभाग को देखता रहे, इस आसन का नाम है पद्मासन। पद्मासन का अभ्यास करने से समस्त रोगों का विनाश हो जाता है तथा साधक समस्त, तापों से उन्मुक्त होकर संसार में परमहंस के रूप में विचरण करता है। 'शिव संहिता' के अनुसार उभय चरणों को उत्तान करके यत्नपूर्वक ऊरू (जंघा) पर रखे, उसी प्रकार उभय हाथों को सीधा करके ऊरू के मध्य में रखे तथा नासिका के अग्रभाग में दृष्टि तथा दाँत के मूल में जिह्वा स्थित करे तथा वक्ष अर्थात् हृदयस्थान में चिबुक स्थापन करे और अपानवायु को उठा के प्राण शनैः-शनैः रेचक करे। इसको पद्मासन कहते हैं। यह आसन समस्त व्याधियों का विनाशक है और बुद्धिमान् साधकों द्वारा प्राप्त होता है।[2] उपर्युक्त अनुष्ठान करने से उसी समय प्राण सम होके सुषुम्णा में प्रवेश करेगा।

---

1. घेरंड संहिता, द्वितीयोपदेशः ७ तथा ८
2. उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा तु तादृशौ ॥
नासाग्रे विन्यसेद्दृष्टिं दन्तमूलं च जिह्वायाः ॥

इसके अभ्यास से साधक का वायु सम हो जाता है।[१] पद्मासन स्थित योगी प्राण, अपान के विधान से वायु पूर्ण करता है और वह संसार बन्धन से मुक्त हो जाता है।[२] चरनदास ने पद्मासन की प्रक्रिया का वर्णन 'शिव संहिता' के समान विस्तार के साथ नहीं किया है। परन्तु कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का वर्ण्य-विषय बहुत कुछ 'घेरंड संहिता' से साम्य रखता है। कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का परिचय निम्नलिखित है :—

पहिले आसन पदम बताऊं। ज्यों की त्यों मूरति दिखलाऊं ॥
पहिले बाँवा पाँव उठावै। दहिनी जंघा ऊपर लावै ॥
दहिना पाँव फेरि यों लावै। बाँवी साथल ऊपर राखै ॥
बाँवर कर पीछे सों लावै। बाम अंगूठा गहितन लावै ॥
ऐसे हाथ दाहिना लावै। दहिन अंगूठा पकड़ दृढ़ावै ॥
ग्रीवालटक चिबुक हिये आवै। नासा आगे दीठि लगावै ॥
दिव्य दृष्टि हो कौतुक दरशै। कहै शुकदेव अभै पद परशै ॥

कै हिरदै राखै चिबुक, कै सम राखै देह ।
कै घोंटों दोउ हाथ रखि, कै अंगुठा रखि लेह ॥

कवि द्वारा वर्णित पद्मासन का यह विषय 'घेरंड संहिता' के आधार पर लिखित प्रतीत होता है।

उत्तोल्य चिबुकं वक्षे उत्थाप्य पवनं शनैः।
यथाशक्त्या समाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
यथाशक्त्यवपश्चात्तु रेचयेदविरोधतः।
इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमतालभ्यते परम्।

शि० सं०, तृतीय पटल १०५-१०८

१. अनुष्ठाने कृते प्राणः समश्चलति तत्क्षणात्।
भवेदभ्यासने सम्यक् साधकस्य न संशयः ॥

वही, १०६

२. पद्मासने स्थितो योगी प्राणापानविधानतः।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात्सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ॥

वही, ११०

प्राणायाम

हठयोग में आसन सिद्ध हो जाने के अनन्तर प्राणायाम की साधना का विधान है। महर्षि पातंजल के शब्दों में :—

"तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः"
'पातंजल योग दर्शन'—साधन पाद २, सूत्र ४६

अर्थात् आसन सिद्ध हो जाने के अनन्तर श्वास एवं प्रश्वास की गति का स्थगित हो जाना ही प्राणायाम है। प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश व ज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है और तभी साधक का ज्ञान स्वतः सूर्य के समान प्रकाशित हो जाता है।

'ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्'
'पा० यो० द०'—साधनपाद २, सूत्र ५२

प्राणायाम की साधना से मन में धारणा की योग्यता आ जाती है अर्थात् उसे अपेक्षित समय एवं स्थान पर स्थिर किया जा सकता है :—

"धारणासु च योग्यता मनसः"
'पा० यो० द०'—साधन पाद २, सूत्र ५३

'बोधसार' के मतानुसार प्राणायाम ही मन को स्वाधीन करने का सबसे अधिक शक्ति सम्पन्न अस्त्र है :—

"प्राणद्वारा मनः साध्यं मतं हि हठयोगिनाम् ।
मनसैव मनः साध्यमिति विज्ञानयोगिनाम् ॥"
'बोध सार'—पृष्ठ १८६ श्लोक ७

प्राणायाम की साधना से मन तो नियंत्रित होता ही है परन्तु साथ ही जिस प्रकार धातुओं को अग्नि में तपाने से उनका मैल विनष्ट हो जाता है उसी प्रकार प्राणों को अवरुद्ध करने से इन्द्रियों के दोष भी दग्ध हो जाते हैं। मनु के अनुसार :—

"दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः ।
तथेन्द्रियाणाम् दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य संक्षयात् ॥"

मल से भरी हुई नाड़ियों में पवन भलीभांति प्रवाहित नहीं हो पाता है फिर प्राणायाम की साधना किस प्रकार हो सकती है और तत्वज्ञान की उपलब्धि कैसे

संभव है। अतएव साधक सर्वप्रथम नाड़ी-शोधन कर ले तदनन्तर प्राणायाम का अभ्यास करे।[1]

प्राणायाम के श्वास-प्रश्वासादि की वायु के निम्नांकित तीन भेद माने गए हैं :—

१. पूरक—अपान वायु को नासिका द्वारा भरने की क्रिया।
२. कुम्भक—भरी हुई वायु को यथा साध्य रोकने की क्रिया।
३. रेचक—भरी हुई वायु को नासिका द्वारा शनैः शनैः निकालने की क्रिया।

'शिव संहिता' के अनुसार दाहिने हाथ से पिंगला को रोक करके, इडा से वायु पूरक करे अर्थात् ग्राह्य करे तथा यथाशक्ति वायु को अवरुद्ध करे। तदनन्तर पिंगला से शनैः शनैः रेचक करे। इसी प्रकार पुनः पिंगला से पूरक करके यथा शक्ति कुम्भक के और फिर इडा से शनैः शनैः रेचक करे। इस योग विधान से बीस कुम्भक करे तथा सर्वद्वन्द्वों से मुक्त होकर एकाकार वृत्ति धारण करे।

ततश्च दक्षाङ्गुष्ठेन निरुद्धय पिंगलां सुधीः।
इडया पूरयेद्वायुं यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥
ततस्त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिंगलयापूर्य यथाशक्ति तु कुम्भयेत्॥
इडया रेचयेद्वायुं न वेगेन शनैः शनैः।
इदं योगविधानेन कुर्याद्विंशति कुम्भकान्॥
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः प्रत्ययं विगतालसः॥

'शि० सं०'—तृतीय पटल २४—२६

चरनदास विरचित निम्नलिखित पंक्तियों में प्राणायाम की उसी विधि का प्रतिपादन हुआ है जो 'शिव संहिता' की उपर्युक्त पंक्तियों में उपदिष्ट है :—

बाये खैचना पूरक जानौ। ठहरावन को कुम्भक जानौ।
फेरि उतारै रेचक वोई। प्राणायाम कहावै सोई॥

इडा पवन पूरक करै, कुम्भक राखै रोक।
रेचक पिंगल सों करै, मिटै पाप के थोक॥

---

१. मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव गच्छति।
प्राणयामः कथं सिद्धस्तत्त्वज्ञानं कथं भवेत्।
तस्मादादौ नाडीशुद्धिं प्राणायामं ततोऽभ्यसेत्॥

घे० सं०—पंचमोपदेशः, ३४

समस्त प्राणायाम में मात्राओं का विशेष ध्यान रखना आवश्यक होता है। इन मात्राओं के विषय में कवि का निम्नलिखित कथन विशेष रूप से पठनीय होगा :—

पिंगल रोकै पवन न जावै। इडा ओर सों वायु चढ़ावै॥
कुम्भक करि हिय चिबुक लगावै। जित का तित मन को ठहरावै॥
सोलह मात्रा पूरक लीजै। चौसठ कुम्भक में जप कीजै॥
रेचक फिरि बत्तीस उतारे। धीरे धीरे ताहि निवारै॥
पहिल पहिल ही कीजै आधे। तीनि महीने ऐसे साधे॥
यासे आगे फेरि बढ़ावै। दोय आठ अरु चारि चढ़ावै॥
बढ़त बढ़त ऐसे ही बढ़ै। योही चौसठि ताहीं चढ़ै॥
इडा वायु सों पूरक कीजै। पिंगला सों रेचक तजि दीजै॥
फिरि पिंगल सों पूरक धारै। बहुरि इडा ही सों निरबारै॥
ऐसे वारी वारी करिये। जीते प्राण वायु अघ हरिये॥
होय सकै कुम्भक सरकावै। चौसठि से भी परै बढ़ावै॥

कवि द्वारा वर्णित प्राणायाम की मात्राओं का स्पष्टीकरण निम्नलिखित तालिका से होगा :—

	पूरक की मात्रा	कुम्भक की मात्रा	रेचक की मात्रा
निकृष्ट प्राणायाम में	४	१६	८[1]
मध्यम प्राणायाम में	८	३२	१६
उत्तम प्राणायाम में	१६	६४	३२

प्राणायाम की इस वैज्ञानिक साधना से कुंडलिनी महाशक्ति जागरित होती है।

नाड़ी एवं षट्चक्र

प्राणायाम के अभ्यास एवं सतत साधना से शरीरस्थ नाड़ियाँ सक्रिय एवं चक्र उत्तेजित हो जाते हैं। प्रणायाम का सर्व प्रथम शरीर पर पड़ने वाला महत्व-पूर्ण प्रभाव है, नाड़ियों का विशुद्धीकरण। इन चक्रों एवं नाड़ियों में उत्तेजना एवं नव जीवन का समावेश हो जाने के अनन्तर साधक में यौगिक-शक्तियों का विकाश शनैः-शनैः होता है।

---

१. मात्रा के काल का निर्णय ॐ अथवा गणना द्वारा किया जा सकता है।

शिव संहिता के अनुसार मानव शरीर में ३,५०,००० नाडियाँ हैं। हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार इन नाड़ियों की संख्या ७,२०,००० है।

"द्वासप्तति सहस्राणि द्वाराणि पंजरे"
'ह० यो० प्र०'—उप० ४ श्लोक १८

चरनदास ने इन नाड़ियों की संख्या ७२८६४ मानी है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है :—

बहत्तर हजार आठ सौ चौसठ नारी।
सब की जड़ है नाभि मंझारी॥

परन्तु

तिनमेंह दश नाड़ी शिरमौरी। पंच बायें पंच दाहिनी ओरी॥
दश नाड़ी अस्थान बताऊँ। ठौर ठौर तेहि कहि समझाऊँ॥

चरनदास ने शरीर में दश नाड़ियों को प्रधानता दी है।[1] इन में से पाँच शरीर के दाहिनी ओर है और पाँच बाई ओर। इन दश नाड़ियों के स्थान (ठौर) निम्न लिखित हैं :—

संख्या	नाड़ियाँ	शरीरस्थ स्थान
१.	शंखिनी	गुदा में
२.	किरकल	लिंग में
३.	पोषा	दाहिने कान में
४.	जसनी। यशस्विनी।	बांये कान में
५.	गंधारी	बांये नेत्र में
६.	हस्तिनी	दाहिने नेत्र में
७.	लम्बका	जिह्वा में
८.	पिंगला	शरीर के दाहिनी ओर
९.	इड़ा	शरीर के बाई ओर

---

१. सुन्दरदास ने भी ३५०,००० या ७२०,००० नाड़ियों में दश को प्रमुख माना है—

नाड़ी कही अनेक विधि, है दश मुख्य विचार।
इड़ा पिंगला सुषुमना, सब मति ये त्रय सार॥

देखिए, मेरे ग्रन्थ "सुन्दर दर्शन" में प्राणायाम प्रकरण।

१०. सुषुम्णा शरीर के मध्य में ।[1]

उपर्युक्त दश नाड़ियों में कवि ने निम्नलिखित तीन को प्रधान माना है। कवि ने इन तीन नाड़ियों को ब्रह्म नाड़ी कहा है :—

१. इड़ा २. पिंगला ३. सुषुम्णा ।

इन प्रमुखतम तीन नाड़ियों की विस्तृत विवेचना अपेक्षित है। 'शिव संहिता' के अनुसार मानव शरीर में इड़ा नाड़ी मेरुदंड को बांई ओर रहती है तथा सुषुम्णा से लिपटती हुई नाक के दक्षिण ओर जाती है।[2] पिंगला नाड़ी की स्थिति मेरुदंड के दक्षिण की ओर है और यह सुषुम्णा से लिपटती हुई नासिका के वाम ओर जाती है।[3] इन उभय नाड़ियों के मध्य सुषुम्णा नाड़ी की स्थिति है। इन नाड़ी की ६ स्थितियां है, ६ शक्तियां है तथा उसमें षट् कमल है।[4] सुषुम्णा, नाभि-प्रदेश से

---

१. नाड़ी शंखिनी गुदा में किरकल लिंग स्थान ।
पोषा सरवन दाहिने जसनी बांये कान ॥
गंधारी दृग बामहीं हस्तिनी दाहने नैन ।
नारि लम्बका जीभ में सब सवाद सुख दैन ॥
नासा दहिने अंग है पिंगल सूरज वास ।
इडा सु बायें ओर है जहं ससियर परकास ॥
दोऊ मध्य में सुषमना अद्भुत वाको भेव ।
ब्रह्म नाडि हू कहत है यो कह सो शुकदेव ॥

डा० रामकुमार वर्मा के अनुसार प्रमुख दश नाडियाँ है :—इडा (शरीर की बाई ओर), पिंगला (शरीर के दाहिनी ओर), सुषुम्णा (शरीर के मध्यस्थ), गंधारी (बांई आँख में), हस्त जिह्वा (दाहिनी आँख में), पुष्प (दाहिने कान में), यशस्विनी (बांये कान में), अलमवुश (मुख में), कुहू (लिंग स्थान में) तथा शंखिनी (मूल स्थान में) ।

२. इडा नाम्नी तु या नाड़ी वाममार्गे व्यवस्थिता ।
सुषुम्णायां समाश्लिष्य दक्ष नासापुटे गता ॥
शि० स०—द्वितीय पटल, श्लोक २५

३. पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता ।
मध्यनाडी समाश्लिष्य वामनासापुटे गता ॥
शि० स०—द्वितीय पटल, श्लोक २६

४. इडा पिंगलयोर्मध्ये सुषुम्णा या भवेत्खलु ।
षट् स्थानेषु च षट् शक्ति षट्पथं योगिनोविदुः ॥
शि० स०—द्वितीय पटल, श्लोक २७

निःसृत होकर मेरुदंड से होती हुई ब्रह्म-चक्र में प्रवेश करती है। कंठ के समीप आने पर इसके दो भाग हो जाते हैं। एक भाग त्रिकुटी में जाकर ब्रह्मरन्ध्र से मिल जाता है और द्वितीय भाग शिर के पृष्ठ भाग से आता हुआ ब्रह्मरन्ध्र में मिल जाता है। साधक को इस द्वितीय भाग की शक्ति को बढ़ाना आवश्यक होता है। इन तीनों नाड़ियों में सुषुम्णा ही योगियों को सिद्धि प्रदान कराती है। चरनदास के शब्दों में अब सुषुम्णा का महत्व पठनीय होगा :—

इड़ा ब्रह्मा जमुना जहाँ, सुषमन विष्णु निवास।
और सरस्वति जानिये, ये हो चरणहि दास॥
शिव पिंगल गंगा सहित, सो वह दहिने अंग।
तिरवेणी याते भई, मिली जु तीनौ संग॥
कबहु इड़ा स्वर चलत है, कबहूं पिंगल माहिं।
मध्य सुषमना बहत है, गुरु बिन जानै नाहिं॥
सो वह अग्नि स्वरूप है, बड़ी योग सरदार।
याही ते कारज सरे, ऐसी सुषमन नार॥

ये तीनों नाड़ियाँ प्राणायाम की साधना में विशेष सहायक होती हैं। सुषुम्णा की सबसे बड़ी महत्ता यह है कि इसी की साधना एवं प्रयत्न से महा शक्ति कुंडलिनी जाग्रत होती है और जाग्रत होने के अनन्तर वह सहस्रारचक्र में प्रविष्ट होती है। चरनदास जी के मतानुसार इन तीनों नाड़ियों की सहायता से साधक प्राणायाम के तीन विशेष अंगों पूरक, कुम्भक एवं रेचक को धारण कर सकता है। जब इड़ा एवं पिंगला प्राणायाम की साधना करते थक जाती हैं अथवा कार्य पूरा कर देती हैं तो सुषुम्णा सक्रिय एवं गतिमान् बनती है और प्राणायाम की शेष साधना को सम्पन्न करती है। प्राणायाम की समस्त क्रिया वायु को खींचने (पूरक करने), रोकने (कुम्भक करने) तथा विसर्जित (रेचक करने) करने में सीमित है। इस पूरक और रेचक की क्रिया को क्रमशः इड़ा और पिंगला नाड़ियां सम्पन्न करती हैं।[1]

सुषुम्णा नाड़ी के अधोभाग में एक सर्पाकार दिव्य शक्ति निवास करती है

---

१. इनसों प्राणायाम करीजै। पूरक कुम्भक रेचक हीजै॥
इडा पिंगला मारग थकै। उलटि सुषमना चालन लगै॥
बायें खैचना पूरक जानौ। ठहरावन को कुम्भक मानौ॥
फेरि उतारे रेचक बोई। प्राणायाम कहावै सोई॥
इड़ा पवन पूरक करै, कुम्भक राखै रोक।
रेचक पिंगल सों करै, मिटैं पाप के थोक॥

जिसे योग शास्त्रियों ने कुंडलिनी कहा है। शिव संहिता में इस कुंडलिनी महाशक्ति का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता।
सार्धत्रिकरा कुटिला सुषुम्णा मार्ग संस्थिता॥

शि० सं०—द्वितीय पटल, श्लोक २३

कुंडलिनी के स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, स्थिति एवं महत्व के विषय में 'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं :—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुंडली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धत्रिवलयान्विता॥
यावत्सा निद्रिता देहे तावज्जीवं पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत्कोटियोगं समभ्यसेत्॥
उद्धाट्येत्कपाटंच यथा कुंचक्रिया हठात्।
कुंडलिन्याप्रबोधेन ब्रह्मद्वारं प्रभेदयेत्॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः ४६-५१

अर्थात् परमदेवता कुंडलिनी शक्ति साढ़े तीन लपेट वाली सर्पिणी के समान मूलाधार कमल में सोई हुई पड़ी है। जब तक यह कुंडलिनी शक्ति सुप्तावस्था में रहेगी तब तक करोड़ों योगाभ्यास करने पर भी जीव को ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता है और तब तक यह जीव पशुवत् अज्ञान से परिवेष्ठित रहेगा। यथा ताली से ताला खोल कर द्वार को हठात् खोला जा सकता है, उसी प्रकार कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करके ब्रह्म द्वार को उद्घाटित किया जा सकता है। इस प्रकार जीव को ज्ञान का संचार होता है। चरनदास के शब्दों में कुंडलिनी का परिचय निम्नलिखित है :—

ब्रह्म नाडिका के छिद्रं माहीं। रोकि रही मुख दे रही ह्वाहीं॥
लाय लपेटै नाभी ठाही। दृढ़ ह्वै बैठी सरकै नाहीं॥
सवा विलस्त की जाकी देही। तामें अस्थित जीव सनेही॥
शक्तिनागिनी यही जु कहिये। याके भेद गुरू सों लहिये॥
महा अपरबल जागै नाहीं। ताते नर सब मरि मरि जाहीं॥
कोइ इक योगी ताहि डुलावै। सुषमन बाट गगन लै जावै॥
ब्रह्म रन्ध्र में जाय समावै। लगै समाधि बहुत सुख पावै॥
जो कछु होय सो कहा न जावै। चरण दास शुकदेव सुनावै॥

शिव शक्ति में लाभ वंय, रहै न द्वितीया भाव।
कुंडलिनी परबोध का, जो कोइ करै उपाव॥

ऊपर उल्लेख हो चुका है कि सुषुम्णा नाड़ी के निम्न मुख में कुंडलिनी का निवास स्थान है। प्राणायाम के अभ्यास से जाग्रत होकर यह दिव्य शक्ति सुषुम्णा के सहारे आगे बढ़ती है और विभिन्न चक्रों (सुषुम्णा के अंगों) से होती हुई कुंडलिनी ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। कुंडलिनी की गति के साथ-साथ मन को भिन्न-भिन्न शक्तियां प्राप्त होती चलती है और सहस्त्र दल कमल में प्रविष्ट हो जाने के अनन्तर साधक मन और शरीर से पूर्णतया अलग हो जाता है। कुंडलिनी के निवास स्थान एवं शक्तिमत्ता का वर्णन अब कवि के शब्दों में सुनिये :—

नाभि स्थान नागिनि रहै, कुंडल शशी अकार।
प्राण पियारा वही है, आगे सुनौ विचार॥
कुंभक कर्म्म कोई करै, देवै शक्ति जगाय।
जैसे लागी लष्टिका नागन शीश उठाय॥

सीखी गुरु सों कुम्भक साधै। नीकी विधि ताको अवराधै॥
पवन ठवकलग ताहि जगावै। तब ऊरध को शीश उठावै॥
नाभि ठौर ताका है बासा। पद्म पराग मणि ज्यों परकासा॥
सात लपेट वाई जानौ। ताते शुक्र कुंडली मानौं॥
नाड़ी सहस लगी हैं वाको। सो पर छुटी जानिको ताको॥
जिनमें तीन नारि अधिकाई। इडा पिंगला सुषमन गाई॥
तिनके माहिं शिरोमणि सुषमन। नाल कमल जानत योगी जन॥
जाय पहुँचि ब्रह्मरंधर ताही। ऊरध कमल सातवें माहीं॥
आवन जो न पवन की बाटा। सकत चढ़न ऊरध का घाटा॥

नागिनि सूक्षम जानिये, बाल सहस वा भाग।
शुकदेव कहैं अकारही, रक्त बरण ज्यों नाग॥
कुंभक हो अत्यन्त जब, तब ऊरध को जाय।
ब्रह्मरन्ध्र में आयकर, घड़ी दोय ठहराय॥
अमृत का करि पान ही, पूरण हो अभ्यास।
उड़ते देखै सिद्धि तब, वाको माहि अकास॥

कुंडलिनी प्रबुद्ध हो जाने के अनन्तर साधक को अनेक शक्तियाँ और सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती है।[1]

कुंडलिनी के प्रबुद्ध होने की रीति को अधिक स्पष्ट एवं बोधगम्य बनाने के हेतु विभिन्न प्राणों का ज्ञान परम आवश्यक है। इन प्राणों को वायु भी कहते हैं। इसी तत्व के आधार पर हमारे शरीर का जीवन निर्भर है। वायु दश प्रकार की मानी गई है—पंच शरीरस्थ एवं पंच वाह्य। घेरंड संहिता के अनुसार प्राण, अपान, समान, उदान तथा व्यान—ये पंच वायु अन्तःस्थ हैं तथा नाग कूर्म, कृकर, देवदत्त तथा धनंजय ये पंच वहिःस्थ हैं।[2] इनकी स्थिति निम्न लिखित है :—[3]

---

१. पर देखत है नैन बिना ही। चहै करै लीला उन माहीं ॥
खेचर मिलि खेचर ह्वै जावै। यह भी शक्ति उड़न की पावै ॥
अधिकी ठहरै लगै समाधा। यह तौ कहिए खेल अगाधा ॥
शिवशक्ती जहं मेला होई। होय लीन मन उनमन सोई ॥
योग युक्ति करि याको पावै। परासक्त अपने बल लावै ॥
चाहै अर्द्ध ठौर लै आवै। जब चाहै ऊरध लै जावै ॥
कबहू हिरदय के मधि आनै। याही को आपन पौ जानै ॥
इच्छा करै सिद्धि की जैसी। होय प्राप्ति सो वेगिहि तैसी ॥
चहै अस्थूल सूक्ष्म तन धारू। वैसा ही होय जाय सबारू ॥
कुंडलिनी परकाश ही, भौरा एक अनूप।
सोउ प्रकाशत है तहां, सुवरण को सो रूप ॥
हिरदय में उजियार ही, होत चपल यहि भांति।
जैसे धूमर मेघ में, बिजली ही दमकाति ॥

२. प्राणोपानः समानश्च व्यानोदानौ तथैव च।
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तो धनंजयः ॥
घे० सं०—पचमोपदेशः ५६

३. हृदि प्राणो बहेन्नित्यं अपानो गुदमंडले।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कंठमध्यमः ॥
व्यानो व्याप्त शरीरे तु प्रधानाः पंचवायवः।
प्राणाद्याः पंच विख्याता नागद्याः पंचवायवः ॥
तेषामपि च पंचानां स्थानानि च वदाम्यहम्।
उदगारे नाग आख्यातः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः ॥
कृकरः क्षुत्कृते ज्ञेयो देवदत्तो विजृंभणे।
न जहाति मृते क्वापि सर्वव्यापी धनंजयः ॥
घे० सं०—पंचमोल्लासः ६०-६३

संख्या	वायु	स्थान
१.	प्राण	हृदय देश में
२.	अपान	गुह्य में
३.	समान	नाभि में
४.	उदान	कंठ में
५.	व्यान	समस्त देह में
६.	नाग वायु	डकार में
७.	कूर्म वायु	नेत्रों में
८.	कृकर वायु	छींक में
९.	देवदत्त	जभाई में
१०.	धनंजय	मृत्यु हो जाने पर शरीर में व्याप्त रह जाती है।

संत कवि सुन्दरदास ने भी उपर्युक्त दश पवनों का उल्लेख (ज्ञान समुद्र) में किया है।[1] परन्तु चरनदास ने केवल दो वायु, प्राण तथा अपान का उल्लेख किया है। यह उल्लेख भी प्राणायाम के सम्बन्ध में है। इससे यह स्पष्ट है कि कवि ने प्राणायाम के लिए तो इन दो वायु को महत्व प्रदान किया है, शेष कवि की दृष्टि में उपेक्षणीय है। संत कवि सुन्दरदास ने भी उपर्युक्त दश पवनों का उल्लेख ज्ञान समुद्र में किया है। इस प्रकार चरनदास ने दश पवनों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

> चौरासी अस्थान पर, चौरासी ही वायु।
> ता में दश ये मुख्य है, वरणौ सुनिये ताय ॥
> प्राण अपान समान ही, और व्यानि उदान।
> नाम धनंजय देव दत्त, कूरम किरकल जान ॥
> दश वायू जो एक ही, तिन में दीरघ दोय।
> सोवै प्राण अपान है, तिन्है पिछानै कोइ ॥

---

१. प्राणापानं समानहिं जानौ। व्यानोदमि पंचमन मानै ॥
नागमु कूर्म कृकल सो कहिये देवदत्त सुधनंजय लहिये ॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ४७

कवि के अनुसार इन प्राणों के स्थान निम्नलिखित है :—

प्राणवायु हिरदै के ठाहीं। बसै अपान गुदा के माहीं ॥
वायु समान नाभि अस्थाना। कंठ माहि बाई उद्याना ॥
व्यान जु व्यापक है तन सारे। नाग वायु सों उठै डकारै ॥
पलक उघाड़ कूरमबाई। देवदत्त सूं होय जंभाई ॥
किरकल वायु जु भूख लगावै। मुवै धनंजय देह फुलावै ॥
सब में प्राण वायु मुख जानौ। सो हिरदय के मध्य पिछानौ ॥

प्रस्तुत वायु तथा वायु स्थान वर्णन परम्परा-गत वर्णन से पूर्णरूपेण साम्य रखता है।

कवि द्वारा वर्णित वायु प्रसंग न तो शिव संहिता से मत साम्य रखता है और न घेरंड संहिता से ही। योगी प्राणायाम के द्वारा सब प्रकार के प्राणों को नाभि के मूल से ऊपर उठाता है और उन्हें यथा सम्भव अवरुद्ध करता है। इस प्रक्रिया से साधक को कुंडलिनी शक्ति जाग्रत करने में सफलता प्राप्त होती है। इस सूर्य भेद कुम्भक की क्रिया का योग शास्त्र में बड़ा माहात्म्य वर्णित है।[1]

कुंडलिनी महाशक्ति मेरुदंड के अधोभाग तथा गुदा एवं लिंग के मध्यस्थ मूलाधार चक्र में स्थित है।[2] यह चक्र षट्चक्रों में से सर्व प्रथम है। यह चक्र चार दल युक्त तथा पीतवर्णवान् है। व श ष स इस दल की मातृकाएँ हैं। इस चक्र में गणेश का स्वरूप आराधना का प्रतीक माना गया है। इसके मंडल का आकार चतुष्कोण के अन्तर्गत एक त्रिकोण है, जो कुंडलिनी का निवास स्थान है। त्रिकोण कृत अग्नि चक्र में अवस्थित कुन्डलिनी स्वयम्भू लिंग से साढ़े तीन वलयों में लिपटी अपने मुख से अपनी पूंछ दबाये सुषुम्णा के छिद्र के पास सुप्तावस्था में पड़ी रहती है।[3] मूलाधार चक्र पर मनन करने से साधक को दर्दुरी शक्ति प्राप्त होती है।[4]

---

१. कुम्भकः सूर्यभेदस्तु जरा मृत्यु विनाशकः।
बोधयेत् कुंडली शक्तिं देहानलं विवर्धयेत् ॥
घे० सं०—पंचमोपदेशः श्लोक ६७

२. गुदा द्व्यंगुल्लश्चोर्ध्वं मेढैकांगुलस्त्वधः।
एवं चास्ति समं कंदं समत्वांच तुरंगुलम् ॥
शि० सं०—पंचमपटल ५

३. मुखे निवेश्य सा पुच्छं सुषुम्णा विवरे स्थिता ॥
शि० सं०—पंचमपटल २७

४. यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य स्याद्दर्दुरी सिद्धि र्भूमि त्यागक्रमेण वै ॥
शि० सं०—पंचमपटल ६४-७६

इस चक्र का चित्र इस प्रकार है।
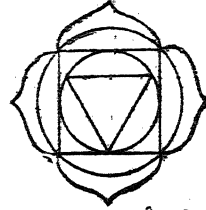
चरनदास जी ने मूलाधार चक्र का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

लाल रङ्ग पहिला कहूँ चक्रधार तिहि नांव।
चार पैखरी तासु की हैं जु गुदा के ठांव॥
है जु गुदा के ठांव देह ताही पर राजै।
चारौं अच्छर तहाँ देव गन्नेस विराजै॥

पहिला कमल अधार सुनाऊँ। व श ष स अक्षर वरण बताऊँ।

इस उद्धरण में मूलाधार का रङ्ग लाल बताया गया है पर 'शिव संहिता' में इसका पीत वर्ण बताया गया है। शेष समस्त वर्णन, मातृकाओं के अच्छर आदि पूर्णतया शुद्ध हैं।

स्वाधिष्ठान द्वितीय चक्र है। इसकी स्थिति लिंग मूल में मानी गई है। इस चक्र के षट् दल हैं एवं दल की मातृकाएं व भ म य र ल हैं। यह शुभ्रवर्ण है।[1] इस चक्र पर विचार करने वाला साधक मृत्युंजय एवं समस्त सिद्धियों का स्वामी और मन बन्धन से रहित हो जाता है, स्वाधिष्ठान चक्र का रेखा-चित्र निम्नांकित है :—
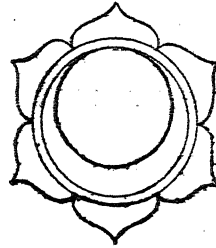
चरनदास ने स्वाधिष्ठान का निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है :—

पवन सुरत ह्वां लै धरै खोलि कहै शुकदेव।
दूजा लिंग स्थान ही जाको सुन अब भेव॥
पीत वरण षट् पैखरी नाम जु स्वाधिष्ठान।
षट् अच्छर जापै दिये ब्रह्मा दैवत जान॥

---

१. द्वितीयं तु सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।
वादिलांतं च षड् वर्णं परिभास्वर षड्दलम्॥
शि० सं०—पंचम पटल, श्लोक ७५

ब्रह्मा दैवत जान संग सावित्री दासा।
इन्द्र सहित सब देव तहाँ सबही का वासा॥
दूजा कमल जु स्वाधिष्ठाना। बा भा मा या र ल जु बखाना॥

इस वर्णन में भी चक्र के रंग भेद के अतिरिक्त समस्त उल्लेख 'शिव संहिता' से साम्य रखता है।

तृतीय चक्र है मणि पूरक। प्रस्तुत चक्र की स्थिति नाभि के समीप है। इसे योगियों ने नाभि चक्र भी कहा है। इसके दश दल होते हैं। इस दल की मातृकाएँ ड ढ ण त थ द ध न प फ हैं। यह हेम वर्ण का है।[1] इस चक्र पर ध्यान करने से साधक अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हो जाता है। मणिपूरक का चित्र निम्नाङ्कित है। कवि ने मणिपूरक का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है:—
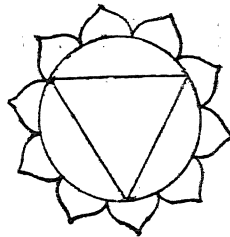
मणिपूरक चक्कर कहूँ तीजा नाभि स्थान।
नील वरण दश पैखरी दश अच्छर परमान॥
विष्णु तहाँ का देवता महा लच्छिमी संग।
तृतिये मणिपूरक जो कहिये। डा ढा णा ता था ही लहिये॥
दा धा ना पा फा जो गाये। ये दश अच्छर वरण बताये॥

मणिपूरक का 'शिव संहिता' में हेम वर्ण माना गया है पर चरनदास ने उसका वर्ण नील लिखा है। शेष दोनों के दृष्टिकोण में साम्य है।

चतुर्थ चक्र अनाहत है। इसका स्थान हृदय में है।[2] इसे हृत्पद्म भी कहते हैं। इसका वर्ण रक्त वर्ण है। इसमें १२ दल होते हैं। इसकी मातृकाएं क ख ग घ ङ छ ज झ ञ ट ठ है। इस चक्र पर ध्यान करने वाले साधक को खेचरी शक्ति की प्राप्ति होती है और साधक त्रिकालज्ञ हो जाता है। चक्र निम्नांकित है:—

---

१. तृतीयं पंकजं नामौ मणिपूरक संज्ञकम्।
दशारंडाभिकांतार्णं शोभितं हेमवर्णकम्॥
वही, ७६

२. हृदये नाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत्।
कादिठार्थसंस्थानं द्वादशा रसमन्वितम्॥
वही, ८३

चरनदास के शब्दों में अनाहत चक्र का वर्णन सुनिये :—
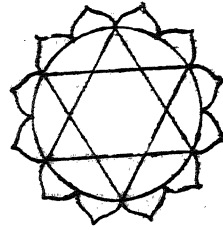
अनहद चक्र हिरदय विषे, द्वादशदल अरु श्वेत।
शिव शक्ति जहाँ देवत', द्वादश अच्छर भेद॥

चौथे चक्र अनाहद माही। द्वादश अक्षर वरण बताहीं॥
का खा गा घा ङा जो जान। चा छा जा झा ञ ट ठ जु मान॥

'शिव संहिता' में अनाहत का रक्त वर्ण माना गया है और हमारे कवि के अनुसार इसका रंग श्वेत है।

पंचम चक्र विशुद्ध चक्र है।[1] इसका वर्ण हेमवत् है और यह सोलह दलों से सम्पन्न है। यह स्वर ध्वनि का स्थान हैं। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः इसकी मातृकाएँ हैं। जीव यहाँ भ्रूमध्य स्थित परब्रह्म का दर्शन पाकर वासनाओं से उन्मुक्त हो जाता है। इसीलिए इसे विशुद्ध चक्र कहा गया है। अर्ध नारी नटेश्वर इसके देवता हैं। यही मोक्ष का द्वार हैं। विशुद्ध चक्र का रूप इस प्रकार है :—
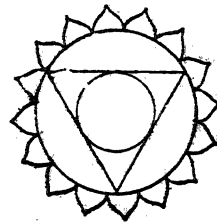
कवि के अनुसार विशुद्ध चक्र का स्वरूप प्रस्तुत उद्धरण से ज्ञात होगा :—

पंचवा चक्कर कंठ में, विशुद्ध नाम जिहि केर।
षोडश दल जीव देवता, षोडश अच्छर हेर॥

---

१. कंठस्थान स्थितं पद्मं विशुद्धानाम पंचमम्।
सुहेमाभं स्वरोमेतं षोडशस्वर संयुतम्॥
वही, ६०

पंचवां षोडश विशुद्ध जो आछे। आदि अकार अकार सुपाछे ॥

अंतिम चक्र आज्ञा है जिसकी स्थिति त्रिकुटी में मानी गई है। यह शुभ्रवर्ण एवं दो दलों से सम्पन्न है।[1] सहस्त्रार में स्थित गुरु से इसी स्थान में आज्ञा मिलती है और इसलिए इसे आज्ञा चक्र कहते हैं। इसकी मातृकाएँ 'ह' 'क्ष' हैं। यह इड़ा एवं पिंगला के मध्यस्थ है। इसका चित्र इस प्रकार है :—
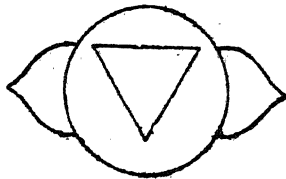
अब चरनदास के शब्दों में इसका वर्णन पढ़िये :—

छठयों मोहन बीच में अज्ञा चक्कर सोय।
ज्योति देवता जानिये दो दल अक्षर दोय ॥

छठा जो अज्ञा चक्कर मानौ। हंस बरण दो अक्षर जानौ ॥

सहस्त्रार चक्र की स्थिति मूर्धा में हैं।[2] इसकी मातृकाएँ अ से क्ष तक है। इसमें सहस्त्र दल होते हैं। इसके देवता कामेश्वरी कामनाथ है। यह तत्वातीत है। इसमें पूर्णचन्द्र निराकार वर्तमान है। इसमें ध्यान करने से साधक अमर तथा भव-बन्धनों से मुक्त हो जाता है। यही ब्रह्म रन्ध्र है। तालु मूल से सुषुम्णा का निम्नाभिमुख विस्तार है[3] तथा मूलाधार चक्र में इसका अंत है। यहीं से कुंडलिनी प्रबुद्ध होकर सुषुम्णा में ऊपर की ओर अग्रसर होती है और अंततः ब्रह्मरन्ध्र में पहुँच जाती है। इसी ब्रह्मरन्ध्र में ब्रह्म का निवास है। इस रन्ध्र के षट् द्वार हैं जिन्हें कुंडलिनी खोलती है। इस रन्ध्र का स्वरूप विन्दु (०) है। प्राणायाम की चरम स्थिति में इसी विन्दु में आत्मा लाई जाती है और आत्मा भय बन्धनों से उन्मुक्त होकर इसी विन्दु में सोऽहम् का अनुभव करती है।

---

१. अज्ञा पद्मं भ्रवोर्मध्येहक्षोपेतं द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं त महाकालः सिद्धो देव्यत्र हाकिनी ॥
वही, ९६

२. अतः उर्ध्वं तालुमूले सहस्त्रारंसरोरुहम्
अस्ति यत्र सुषुम्णाया मूलं सविवरं स्थितम् ॥
वही, १२०

३. तालु मूले सुषुम्णा सा आद्योवक्त्रया प्रवर्तते।
वही, १२१

कुम्भक

प्राणायाम के चार भेद माने गये हैं :—

१. पूरक २. रेचक ३. आन्तर कुम्भक ४. वाह्य कुम्भक

बाहर से श्वास लेना पूरक है। वायु का परित्याग करना रेचक है। वायु को बाहर त्याग कर श्वास न लेना अर्थात् ठहरना वाह्य कुम्भक है। इन तीनों शब्दों को वाह्यान्तर स्तम्भवृत्ति भी कहा गया है। वाह्य से रेचक, आभ्यंतर से पूरक तथा स्तम्भ से कुम्भक का अभिप्राय है। प्राणायाम, देश (यहाँ देश से अभिप्राय है श्वास के लेने और त्यागने में जितना लम्बा भीतर प्रवेश करे उतना ही लम्बा बाहर जाय। यह दीर्घता देश है), काल (यहाँ काल से तात्पर्य यह है कि पूरक में जितना समय लगे उससे चतुर्गुण समय तक कुम्भक करना चाहिए) एवं संख्या के अनुसार दीर्घ एवं सूक्ष्म होता है। योगी को प्राणायाम में देश, काल एवं संख्या का विशेष ध्यान रखना अपेक्षित है। योगियों ने कुम्भक के दो भेद माने हैं— प्रथम वाह्य कुम्भक तथा द्वितीय आभ्यन्तर कुम्भक। 'हठयोग प्रदीपिका' में कुम्भक के आठ भेद मान्य हुए हैं। कथन के समर्थन हेतु प्रस्तुत श्लोक पठनीय होगा :—

सूर्य भेदनमुज्जायी सीत्कारी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छाप्लाविनीत्यष्ट कुंभकाः ॥

ह० यो० प्र०—उपदेश २ श्लोक ४४

संत कवियों में चरनदास तथा सुन्दरदास[1] ने अपने ग्रन्थों में बड़ी स्पष्टता के साथ इन्हीं आठ कुम्भकों का उल्लेख किया है। चरनदास के शब्दों में कुम्भक के अष्ट भेद निम्नलिखित हैं :—

अब आठौ कुम्भक कहूँ, नावं भेद गुण रूप।
शुकदेव कहैं परसिद्ध हैं, योगहि माहिं अनूप ॥
प्रथमें कुम्भक ही कहूँ, नावं जु सूरज भेद।
दूजे ऊजाई सुनो, साधे छूटे खेद ॥
शीत कार अरु शीतली, पंचवीं भस्त्रक जान।
छठीं जु भ्रमरी नाम है, नीके समझ पिछान ॥
नावं मूर्छा सातवीं, अठवीं केवल होय।
रणजीता सबसे बड़ी, आयु बढ़ावै सोय ॥

---

१ सूर्य भेदन प्रथम द्वितीय उज्जाई कहिये।
शीतकार पुनि त्रितिय शीतली चतुरथ ग्रहिये ॥
पंचम है भस्त्रिका भ्रामरी षष्टसु जानहु।
मूरछना सप्तमं अष्टमं केवल मानहुं ॥

'घेरंड संहिता' में भी इन्हीं आठ प्रकार के कुम्भक को मान्यता दी गई है :—

संहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी, शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्ट कुम्भिकाः ॥
घे० सं०—पंचमोपदेशः श्लोक ४५

अर्थात् सहित, सूर्यभेद, उज्जायी, शीतली भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और केवली भेद से कुम्भक आठ प्रकार के हैं ।

कवि ने सर्वप्रथम कुम्भक की परिभाषा एवं प्रक्रिया अथवा साधना का वर्णन किया है, तदनन्तर कुम्भक के विभिन्न अष्ट भेदों का परिचय दिया है । कुम्भक की प्रक्रिया और परिचय से सम्बन्धित निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करने योग्य हैं :—

पवन पूर पूरक ही कीजै । पाछे बन्ध जलन्धर दीजै ॥
कुंभक रेचक के मांध जानै । ह्याई बन्ध उड्यान पिछानै ॥
पवन जोर ही सूं गहि लीजै । अर्ध ऊर्ध्व संकोच न कीजै ॥
मध्यम कीजै पश्चिम तानै । व्रह्म नारिके माहि समानै ॥
नाड़ी पवन खैचिये ऐसे । भरिये सब संध्यान जु जैसे ॥
अपान वायु कूं ऊपर लावै । प्राण वायु नीचे लै जावै ॥
जोपै यह साधन बनि आवै । योगी बूढ़ा होन न पावै ॥
तरुण अवस्था देखे ऐसी । नितही रहै जानिये जैसी ॥

कुम्भक की प्रक्रिया, लक्षण, स्वभाव तथा गुण आदि का वर्णन करने के अनन्तर कवि ने कुम्भक के अष्ट भेद का प्रारम्भ किया है । इस वर्णन में सर्वप्रथम प्रक्रिया का वर्णन किया है, तदनन्तर उसके लक्षण और महत्त्व का उल्लेख किया है । प्रायः यही क्रम आद्योपांत कुम्भक के समस्त भेदों का वर्णन करने में रखा गया है । कवि के मत से सूर्यभेद कुम्भक का सर्वप्रथम भेद है । योगशास्त्र के कुशल आचार्य घेरंड के मत से कुम्भक करते समय प्राणादि समस्त वायुओं को पिंगला नाड़ी से विभिन्न कर नाभिमूल देश से समान वायु को उठावे, पुनः धैर्य के साथ वेग पूर्वक वाम नासिकापुट से रेचन करे । तदनन्तर दक्षिण नासापुट से वायु भर कर सुषुम्णा से कुम्भक कर बाम नासा से रेचन करे । इस क्रिया को बारम्बार करना सूर्यभेद कुम्भक कहा जाता है ।[1] दूसरे शब्दों में सावधानी पूर्वक सुगम आरामदेह आसन

---

१. सर्वे ते सूर्यसंभिन्ना नाभिमूलात्समुद्धरेत् ।
इडया रेचयेत्पश्चाद्धैर्येणाखंडवेगतः ॥
पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ।
रेचयित्वा साधयेत् क्रमेण च पुनः पुनः ॥
घे० स०—पंचमोपदेशः ६५-६६

में बैठकर साधक दक्षिण नासिका से पूरक करे और यथाशक्ति कुम्भक करके वाम नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। यह क्रिया साधक बारम्बार करता रहे। इसकी साधना से शरीर में उष्णता बढ़ती है और शिरोरोग तथा कृमिरोग नष्ट होते हैं। चरनदास जी के मतानुसार सूर्यभेद की साधना के लिए साधक सुखासन या वज्रासन में बैठकर दाहिने नासिका पुट से पूरक करे। इस प्रकार यथाशक्ति वायु को शरीर में रोकता हुआ साधना से वायु विकार एवं कृमिरोग विनष्ट हो जाते हैं —

कुम्भक सूरज भेद ही, पहिले देहुँ सुनाय।
सुख आसन कै कीजिये, अथवा वज्र लगाय॥
अथवा वज्र लगाय, पूरक दहिने स्वर कीजै।
नख शिख सेती रोकि, वायु कूं बन्ध करीजै॥
बाये सेती रेचिये, हौरे हौरे जान।
कपाल शौकनी जानिये, चरणदास पहिचान॥
वायु किरन पीड़ा हरै, कीजै बारम्बार।
कुम्भक सूरज भेदनी, सुकदेव कहै हियधार॥

सूर्यभेद कुम्भक का यह वर्णन परम्परा गत वर्णन से बहुत कुछ साम्य रखता है।

कुंभक का द्वितीय भेद है उज्जायी। साधक उभय नासिकाओं से पूरक भर के यथाशक्ति कुंभक करे। तदनन्तर बाम नासिका से शनैः शनैः रेचक करे। इसकी साधना से क्षय, श्वास रोग तथा जालन्धर रोग का नाश होता है। घेरंड ऋषि के मत्यानुसार वहिःस्थित वायु को नासिकाद्वय से और अंतःस्थ वायु को हृदय एवं गले से खींचकर कुंभक योग से मुख के भीतर धारण करे। फिर मुख प्रक्षालन कर जालन्धर मुद्रा का अनुष्ठान करके शक्ति के अनुसार कुंभक करता हुआ निर्विघ्न रीति से वायु को धारण करे। इसको उज्जायी कुंभक कहते हैं। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण कर्म सिद्ध हो जाते हैं और अजीर्ण, क्षय, आमवात आदि अनेक रोग विनष्ट हो जाते हैं।[1] चरनदास द्वारा उपदिष्टित 'उज्जाई' का वर्णन पूर्णरूप से परम्परागत होते हुए

---

१. नासाभ्यां वायुमाकृष्य वायुं वक्त्रेण धारयेत्।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत्॥
मुखं प्रक्षाल्य संवन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्तिकुंभकं कृत्वा धारयेदविरोधतः॥
उज्जायी कुंभकं कृत्वा सर्वकार्याणि साधयेत्।
न भवेत्कफरोगं च क्रूरवायुरजीर्णकम्॥
आमवातं क्षयं कासं ज्वरप्लीहा न विद्यते।
जरामृत्यु विनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः॥
घे० सं०—पंचमोपदेशः ६८-७१

भी 'घेरंड संहिता' द्वारा प्रतिपादित वर्ण्य विषय के समान विस्तृत नहीं है। कवि ने समस्त क्रिया का संक्षेप में वर्णन कर दिया है। अब कवि के शब्दों में ही उज्जायी क्रिया पढ़िये :—

अब ऊजाई कुम्भक सुनिये। समझ सीख मन माहीं गुनिये ॥
दोउ सुर समकर पवन चढ़ावै। पेट कंठ लौ ताहि भरावै ॥
ताको रोकै दृढ़ करि राखै। सहज इडा सों रेचक नाखै ॥
ऐसे जो कोई साधन करै। रोग सलेषम के सब हरै ॥
हृदय कंठ माहि जो होई। कफ का रोग रहै नहि कोई ॥
रोग जलंधर ही का भागै। मजै वायु दुख पावक जागै ॥
बैठत चलत पवन को भरै। यही उजाई कुंभक करै ॥
चरणदास शुकदेव बतावै। तीजी शीतकार समुझावै ॥

तृतीय कुंभक शीतकारी है। उभय नासिका रन्ध्र बन्द करके ओष्ठों एवं जिह्वा के द्वारा वायु का पूरक भरे। तदनन्तर यथाशक्ति कुंभक करके दोनों नासिकारन्ध्रों से धीरे-धीरे करे। यह प्राणायाम शीतल है। इसकी साधना से साधक में किसी प्रकार का विष नहीं व्याप्त होता है। यह प्रत्येक ताप का विनाशक है। चरनदास द्वारा वर्णित शीतकारी कुंभक परम्परागत होते हुए भी इसमें स्पष्टता अधिक है। उभयनासा-पुट बन्द करके ओठों एवं जिह्वा के द्वारा वायु के पूरक की क्रिया को धीरे-धीरे खैंचिये,—"सी सी शब्द उचार के" इस रूप में अभिव्यक्त किया है। कवि के शब्दों में शीतकारी निम्नलिखित है :—

ओड़ जंभाई नासिका, लीजै खिंचै जु पौन।
ताहि कछू ठहराव कै, छोड़ै मुख सों जौन ॥
धीरे धीरे खैंचिये, सी सी शब्द उचार।
सुन्दर होवे तेजवन्त, अधिक रूप को धार ॥
भूख प्यास ब्यापे नहीं, आलस नींद न होय।
तन चेतन ही होत है, रहै उपाधि न कोय ॥
यहि विधि साधत ही रहै, होय योगिन में भूप।
चरणदास शुकदेव कहि, कुम्भक यही अनूप ॥

चतुर्थ कुम्भक शीतली है। साधक उभय नासिकारन्ध्रों को अवरुद्ध करके जिह्वा को कौवे की चोंच की बल देकर, जिह्वा द्वारा वायु का पूरक भरे। अभ्यास एवं शक्ति के अनुसार कुम्भक करके उभय नासिकारन्ध्रों से शनैः-शनैः रेचक करे। यही शीतली की साधना है। घेरंड ऋषि के शब्दों में शीतली कुम्भक निम्नलिखित है :—

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुंभकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ॥

घे० सं०—पंचमोपदेशः श्लोक ७२

अर्थात् जिह्वा द्वारा वायु को खींच कर धीरे-धीरे पेट को वायु से भर दे, फिर कुछ समय तक कुम्भक योग से वायु को धारण करके दोनों नासापुटों से बाहर निकाल दे। इसको 'शीतलीकुम्भक' कहते हैं।

संत चरनदास का निम्नलिखित 'शीतली वर्णन' भी परम्परागत वर्णन से साम्य रखता है :—

कहूँ शीतली कुम्भक आगे। जो कोइ करै भाग तिहि जागे ॥
तालु मूल जिह्वा बल सेती। प्राण वायु पीवै कर हेती ॥
कुंभक राखै सबतन मांही। ढीला गात रमावै ह्वाही ॥
नासा सेती रेचक कीजै। एक मास सिधि हो सुखलीजै ॥
पीजै पवन जीभ को मोड़े। सहजै छोड़े नासा ओड़े ॥
दोनों स्वर से तजि दीजै। यों अभ्यास पूर करि लीजै ॥

शीतली साधना का प्रभाव कवि के शब्दों में निम्नलिखित है :—

ताप तिली गोला ज्वर होई। वाके तन में रहै न कोई ॥
देह पुरानी नूतन होय। तीनि वरष साधै जो कोय ॥
जैसे सांप कैंचुली मौहि। श्वेत बाल तजि काले होहिं।
काहू भांति का दुख नहिं व्यापै। भूख प्यास तिस भाजै आपै ॥

प्रस्तुत उद्धरण में यह अंश विचारणीय है—पीजै पवन जीभ को मोड़े में जिह्वा को कौए की चोंच की भांति बल देकर कवि ने केवल विषय को ही परम्परागत बनाने का प्रयत्न नहीं किया वरन् उस अभिव्यंजना शैली का भी अनुसरण करने का प्रयत्न किया है।

शीतली कुम्भक के पश्चात् कवि ने भस्त्रिका कुंभक का वर्णन किया है। यथा लोहार की धौंकनी में वायु भरी जाती है उसी प्रकार उभय नासिका द्वारा वायु को पेट में भरके धीरे-धीरे पेट में परिचालित करे। इस प्रकार बीस बार कुम्भक करके वायु को धारण करे, फिर भस्त्रिका से जैसे वायु निकलती है उसी प्रकार नासिका से वायु निकाल दे। इसे भस्त्रिका कुम्भक कहते हैं। इस प्रकार यथा नियम तीन बार आचरण करे।[1] भस्त्रिका दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम वाम नासारन्ध्र से कम से

१. भस्त्रैव लौहकाराणां यथा क्रमेण संभ्रमत्।
तती वायुश्च नासाभ्यामुभाभ्यां चालयेच्छनैः ॥
एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिका कुंभकं सुधीः।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ॥
घे० सं०—पंचमोपदेशः श्लोक ७४-७

कम दश घर्षण करने के पश्चात् ग्यारहवीं बार उसी नासिका से पूरक करे। साधक यथाशक्ति कुम्भक करने के अनन्तर दक्षिण नासिका से शनैः-शनैः रेचक करे और फिर दक्षिण नासिका से दश घर्षण करके उसी से पूरक भर ले। यथाशक्ति साधक कुंभक करके धीरे-धीरे वाम नासिका से रेचक करे। द्वितीय दक्षिण नासिका से वाम नासिका की ओर कम से कम दश घर्षण करके बाम नासिका से पूरक भरे। योगी यथाशक्ति कुम्भक करके दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। चरनदास का भस्त्रिका वर्णन परम्परागत है। इसका वर्ण्य विषय योगदर्शन के आचार्यों के मत से साम्य रखता है परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने भस्त्रिका की प्रक्रिया और साधना का सविस्तार वर्णन किया है। साथ ही इसमें आसनादि का जो उल्लेख हुआ है उसका योग ग्रन्थों में उल्लेख नहीं हुआ :—

अब कहुँ कुम्भक भस्त्रिका, पित कफ वायु नशाय।
अगिनि बढ़ै अभ्यास सो, तीनि गांठि खुलि जाय॥
आसन पद्म सु या विधि करै। बाम जंघ दहिनो पग धरै॥
बावों पग दहिनी पर लावै। जांघन सो दोउ हाथ मिलावै॥
ग्रीवा पेट बराबर राखै। आगे सुनु शुक देवा भाखै॥
मुख मूंदै रेचै नासा सूं। पूरक चपल करै श्वासा सूं॥
रेचक पूरक ऐसे कीजै। बारम्बार तजै अरु लीजै॥
जैसे खाल लगे हार भरै। रेचक पूरक आतुर करै॥
करत करत जबहि थकि जावै। नेक ठहरि दूजी विधि लावै॥
फिरि पूरक सूरज सों करै। पवन उदर के माहीं भरै॥
तर्जनि अंगुली सों दृढ़ रोकै। नासामध्य धार करि जोखै॥

कुंभक पिछली भाँति करि, रेच इड़ा सों बाय।
कफ पित वायु नशाय के लेवै अग्नि बढ़ाय॥
कुंडलिनी देवै जगा, यह कुम्भक सुखदाय।
करै जु हित व्रत धारिकै, चरनदास चित लाय॥
कुंडलिनी सरकाय कै, वेधै तीनों गाँठ।
ऐसी पंचवी भस्त्रिका, रहै न कोई आँठ॥

इसके अनन्तर कवि ने भ्रामरी कुंभक का उपदेश दिया है। यह भ्रामरी कुंभक की साधना लोम विलोम की तरह होती है। अंतर यह है कि साधक वाम नासिका से पूरक भरते समय भ्रामरी का-सा नाद स्वर में उत्पन्न करे तथा दक्षिण नासिका से रेचक करते हुए भ्रमर का-सा नाद करै। यही क्रिया योगी विपरीत क्रम

में भी करता रहे। 'घेरंड संहिता' में भ्रामरी कुंभक का वर्णन बड़े रोचक ढंग से हुआ है। कतिपय पंक्तियाँ पठनीय होंगी :—

> शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं शुभम्।
> प्रथमं झिञ्झिनादं च वंशीनादं ततः परम्॥
> मेघ झर्झरभ्रमरी घंटा कांस्यं ततः परम्।
> तूरीभेरीमृदंगादि निनादानकदुदुंभिः॥
> एवं नानाविधं नादं जायते नित्यमभ्यसात्।
> अनाहतस्य शब्दस्य तस्यशब्दस्य यो ध्वनि॥
> ध्वनरेन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतेरंतर्गतं मनः।
> तन्मनोविलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।
> एवं च भ्रामरी सिद्धिः समाधिसिद्धिमाप्नुयात्॥

घे० सं०—पंचमोपदेशः ७८-८१

अर्थात् इस प्रकार कुम्भक का अनुष्ठान करने पर साधक को दाहिने कान में नाना प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं। ये सब शब्द देह के भीतरी भाग में उदित होते हैं। पहले झींगुर का शब्द सुनाई देता है, तदनन्तर वंशी ध्वनि, फिर मेघ शब्द, फिर झर्झर नानक वाद्य, तदनन्तर भ्रमर का सा भनभनाहट शब्द सुनाई देता है, तदनन्तर क्रमशः घंटा, कांसे के पात्र, तुरही, भेरी, मृदंग और नगाड़े जैसा शब्द सुनाई देता है। इस प्रकार नाना ध्वनियां सुनाई देती हैं। अन्त में हृदय स्थित अनाहद नामक बारह कली वाले कमल में होने वाले शब्द की प्रतिध्वनि प्रतिश्रुत होती है। तदनन्तर साधक निर्मीलित नेत्रों से हृदय के उस द्वादश दल कमल की प्रतिध्वनि के अन्तर्गत ज्योति का निरीक्षण करता है। यह ज्योति ही परब्रह्म है। योगी का मन उस ब्रह्म में लगकर ब्रह्मरूपी विष्णु के परमपद में लय को प्राप्त होता है। इस प्रकार भ्रामरी कुंभक सिद्ध होने पर समाधि स्वतः सिद्ध हो जाती है। चरनदास ने भ्रामरी का जो उल्लेख किया है वह न तो इतना विस्तृत है और न इतना रोचक। कवि ने 'घेरंड संहिता' में वर्णित विभिन्न स्वरों एवं ध्वनियों का वर्णन नहीं किया है, फिर भी भ्रामरी साधना के आवश्यक अंगों पर लेखक ने उचित प्रकाश अवश्य डाला है। भ्रामरी कुंभक का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

> छठी जु कुम्भक भ्रामरी सुनिये चरणहिदास।
> शब्द देवा हौं कहतहूँ तामें करो बिलास॥
> जैसे भृंगी धुनि करै यों उपजै हियमांहि।
> दोनों स्वर सों कीजिए परगट सुनिये नाहिं॥

वलसेती पूरक करै यही शब्द लै साथ।
भृंगी की सी धुनि सहत रेचै मन्द सुहात ॥
या अभ्यास के किये से चित चंचश रहै नाहि।
योगीश्वर लीला करै चिदानन्द के मांहि ॥

प्रस्तुत उद्धरण में भ्रामरी कुंभक के केवल आवश्यक तत्वों का उल्लेख हुआ है।

भ्रामरी के पश्चात् कवि ने मूर्छा कुंभक का वर्णन किया है। भ्रामरी कुंभक का अभ्यास पूर्ण हो जाने के अनन्तर साधक सिद्ध आसन से बैठकर उभय नासा रन्ध्रों से पूरक करके जालन्धर बन्ध लगाये। तत्पश्चात् दोनों कान, नेत्र, नासिका एवं मुंह पर क्रमशः अंगुष्ठ, तर्जनी, मध्यमा, अनामिका एवं कनिष्ठिका को स्थिर कर ६ सेकेंड कुंभक करे। इसके अनन्तर नासिका के रन्ध्र से अनामिका को शिथिल करके जालन्धर बन्ध रखते हुए शनैः-शनैः दोनों नासापुटों से रेचक करे। अन्य प्राणायामों के साथ मूर्च्छा प्राणायाम करने से कुंभक अधिक होता है। परन्तु रेचक उभय नासापुटों से होता है। यदि अधिक कुंभक अपेलित हों तो उड्डीयान बन्ध का लगाना अपेक्षित होता है एवं रेचक के समय जालन्धर बन्ध खोल दिया जाता है। मूर्च्छा में रेचक करते समय वन्द नेत्रों से भूमध्य में प्राणतत्व का श्वेत, नीला, काला और लाल प्रकाश दृष्टिगत होता है। अब घेरंड ऋषि का मत पठनीय होगा—

सुखेन कुंभकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरम्।
संत्यज्य विषायास्सर्वान् मनोमूर्छासुखप्रदम् ॥
आत्मनि मनसो योगादानन्दो जायते ध्रुवम् ॥[1]

अर्थात् पहले सुख से पूर्वकथित (भ्रामरी) कुंभक करके सम्पूर्ण विषयों से मन को लौटा कर भ्रू-युगुल के मध्यस्थल में स्थित आज्ञा पर शुभ्र द्विदल नामक कमल में मन को लगाकर, इस पद्म में स्थित परमात्मा में लीन कर दे। इसको मूर्छाकुंभक कहते हैं। इस कुंभक से साधक को बड़ा आनन्द प्राप्त होता है। 'घेरंड संहिता' से चरनदास का इस विषय पर पूर्ण मत साम्य है। इस दृष्टि से कवि ने मूर्छाकुंभक का परम्परागत वर्णन किया है। अब कवि के शब्दों में ही मूर्छा कुंभक पठनीय होगा :—

सतवीं कुंभक मूरछा, पूरक ऐसे होय।
खैंचत हौवै सोरसा, मेत्रधार ज्यों जोय ॥
बन्ध जलन्धर दीजिए, सहज कंठ तल ताज।

---

१. घे० सं०—पंचमोपदेशः श्लोक ८२

रेचत बांई मूरछित, होय यही पहिचान।
सुखदायी सुख की करन, कही सोइ शुकदेव ।।

कुंभक प्रकरण में अन्तिम भेद है, केवली कुंभक। श्वास के निकलने (पूरक) एवं प्रवेश (रेचक) के समय हं और सः का उच्चारण होता है। अर्थात् जिस समय श्वास निकलता है उस समय हंकार और जिस समय श्वास वायु प्रविष्ट होता है उस समय सःकार उच्चारित होता है। 'हंकार' को शिव स्वरूप और 'सःकार' को शक्तिरूप समझना चाहिए। 'हंसः' एवं 'सोऽहं' ये दोनों एक शब्द है। ये दोनों शब्द परम पुरुष एवं प्रकृतिमय शब्द ही अजपा गायत्री के नाम से विख्यात हैं। मूलाधार के मध्यस्थल में, हृदय में एवं नासापुटद्वय में हंसः स्वरूप अजपाजाप होता है। कर्मरूप शरीर का परिमाण छियानबे अंगुलि का है। वायु की स्वाभाविक वहिर्देश गति का परिमाण बारह अंगुल का है। गायन में सोलह अंगुल का होता है। श्वासवायु की स्वाभाविक वहिर्देशगति बारह अंगुल की होती है। यदि यह बारह अंगुल से न्यून हो जावे तो परमायु बढ़ सकती है। जीव का शरीर जब तक रहे, केवली करके परिमित संख्या में अजपा मंत्र को जपे। केवली करने पर पहले निर्णय की हुई संख्या में कमी हो जाती है। अतः केवला करना आवश्यक होता है। अजपा की संख्या से केवली को दुगुनी करे तो चित्त में बड़ा आनन्द होता है। नासापुटों से वायु को खींचकर केवली कुंभक का अनुष्ठान करे। पहले दिन इस कुंभक का साधन करने पर एक बार से चौसठ बार तक श्वासवायु को धारण करे। इस कुंभक की साधना प्रतिदिन आठ प्रहर में आठ बार साधन करे।[1] चरनदास के मत से केवली कुंभक निम्नलिखित है :—

पूरक रेचक ही सहित ये कुंभक करि लेहि।
केवल कुंभक नामध्यै जब लग ह्यां चित देहि ।।
केवल कुंभक आशधरि येहू साधत लोग।
बलयावै वशपौन हो और भजे तन रोग ।।

---

१. हंकारेण वहिर्याति सकारेण विशत्पुनः।
षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशति ।।
अजपां नाम गायत्रीं जीवो जपति सर्वदा।
मूलाधारे यथा हंसस्तथाहि हृदि पंकजे।
तथा नासापुटे द्वन्द्वौ त्रिविधं संगमागमम् ।।
षण्णवत्यगुलीमानं शरीरं कर्मरूपकम्।
देहाद् वहिर्गतो वायुः स्वभावो द्वादशांगुलिः ।।

आयु बढ़ावै सिद्धि दे लागै और समाधि।
केवल कुम्भक गुणभरी विन परमाण अगाधि ॥
केवल कुम्भक जब सधै तब ये सब रहि जाहि।
जैसे सूरज उदय ते तारे सब लुकि जाहि ॥
केवल कुम्भक योग में ज्यो नगरी में भूप।
रेचक पूरक के बिना जैसे बंधा जु कूप ॥

अनहद नाद

कुम्भक की अष्टांग साधना के अनन्तर अनहद नाद स्वतः सिद्ध हो जाता है। मन के लय होने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है नादानुसंधान। शंकराचार्य के मतानुसारः—

सदाशिवोक्तानि सपादलक्षलयाऽवधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहेमान्यतमं लयानाम् ॥

—योगतारावली

अर्थात् "योग शास्त्र के प्रवर्तक भगवान शिव ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बताये हैं, उन सब में नादानुसंधान सुलभ एवं श्रेष्ठ है।" 'शिव संहिता' में भी इस नाद-साधना को सर्वोत्कृष्ट साधन माना गया है :—

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भकसमं बलम्।
न खेचरी सदृशा मुद्रा न नाद सदृशो लयः ॥

गायेन षोडशांगुल्यं भोजने विंशतिस्तथा।
चतुर्विंशांगुलिर्मार्गे निद्रायां त्रिंशदंगुलिः।
मैथुने षट्त्रिंशदुक्तं व्यायामे च ततोऽधिकम् ॥
यावज्जीवो जपेन्मंत्रमजपा संख्य केवलम्।
अद्यावधि धृतं संख्याविभ्रमं केवलीकृते ॥
अतएव हि कर्तव्यः केवली कुम्भको नरैः।
केवली चाजपा संख्या द्विगुणा च मनोन्मनी ॥
नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत्।
एकादिक चतुःषष्टिं धारयेत्प्रथमे दिने ॥
केवलीमष्टधा कुर्याद्यामे यामे दिने दिने।
अथवा पंचधा कुर्याद् यथा तत् कथयामि ते ॥
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्ये रात्रिचतुर्थके।
त्रिसंध्यमथवा कुर्यात्सममाने दिने दिने ॥

घे० सं०—पंचमोपदेशः, ८३-९३

अर्थात् "सिद्धासन के सदृश कोई आसन नहीं है, केवल कुम्भक के समान कोई बल नहीं हैं, खेचरी के तुल्य कोई मुद्रा नहीं है तथा मन लय करने वाले साधनों में अनहद नाद की तुलना करने वाला कोई भी अन्य साधन नहीं है।"

चरनदास जी के निम्नलिखित छन्दों में शिव संहिता की विचारधारा पूर्ण रूप से लहरें ले रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने 'शिव संहिता' का 'नाद-महत्व' निम्नलिखित पंक्तियों में अनूदित कर दिया है।—

अनहद के सम और ना फल बरणों नहिं जाहिं।
पटतर कछू न दे सकू सब कछु है वा माहिं॥
पाँच थकै आनन्द बढ़ै अरु मनुआ वश होय।
शुकदेव कहि चरनदास सुनि आप अपन जा खोय॥
नाडिन में सुषमन बड़ी सो अनहद की मात।
कुम्भक में केवल बड़ा सो वाही का भ्रात॥
मुद्रा बड़ी जु खेचरी वाकी बहिनी जान।
अनहद सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान॥
सेवक से स्वामी भवै सुनै जु अनहद नाद।
जीव ब्रह्म ह्वै जात है पावै अपनी आद॥

मानव के शरीर में साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि नाम जप कर लेता है तभी अनहद नाद प्रकट होता है। यह विधि वायुप्रकृति वालों के लिए है। जिनकी पित्त प्रकृति है उनकी नाड़ी शुद्ध रहती है, अतएव सवा कोटि नाम जप करने से ही उन्हें अनहद नाद प्रतिश्रुत हो जाता है। योग शास्त्र में नाद दश प्रकार का कहा गया है।[1] अंतिम प्रकार का नाद है, बादल का गर्जन। इस अंतिम अवस्था में साधक के प्राण वायु एवं मन दोनों ही लय हो जाते हैं। सुषुम्ना ब्रह्मनाडी के अन्तर्गत प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना प्रारम्भ हो जाता है। अनहद नाद को सुरत के आधार पर दक्षिण कान से सुनने का प्रयत्न करना चाहिए। नाद मानसिक लय का कारण है। 'त्रिपुरसार समुच्चय' में नाद के पांच भेद वर्णित हुए हैं।[2]

---

१. आदौ जलधि जीमूल भेरी झर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शाखोत्था घंटा काहलजास्तथा॥८५॥
अन्ते तु किंकिणी वंश वीणा भ्रमर निःस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देह मध्यगाः॥८६॥
हठ यो० प्र०—३ पृ० ४

२ भ्रमर, वंशी, घंटा, समुद्र गर्जन तथा मेघ गर्जन॥

चरनदास के मतानुसार साधक अपानवायु की साधना करता हुआ जब उसे मोड़कर ऊपर ले आता है, तब कमल उलटा होकर आकाश की ओर मुख कर लेता है। ज्यों-ज्यों अपान वायु विभिन्न चक्रों से होती हुई अग्रसर होती है, त्यों-त्यों समस्त साधना सिद्ध होती जाती है। जब अपानवायु अनहद चक्र में प्रवेश करती है उस समय दश प्रकार के नाद प्रकट होते हैं।[1], ये नाद निम्नलिखित हैं :—

१. पक्षी रव (चीं) २. पक्षी रव (चीं चीं) ३. क्षुद्र घंटा ४. शंख नाद ५. वीणा ध्वनि ६. ताल ध्वनि ७. मुरली ध्वनि ८. पखावज ध्वनि ९. नफीरि ध्वनि १०. सिंह गर्जन।[2]

सुन्दरदास ने भी नाद के दश ही भेद माने हैं।[3] चरनदास वर्णित नाद के प्रकारों का 'हठयोग प्रदीपिका' में वर्णित प्रकारों से भेद है। इसी प्रकार सुन्दरदास और 'हठयोग प्रदीपिका' द्वारा वर्णित प्रकारों में भी भेद है। तथ्य यह है कि जिस

---

१. अपान वायु कूं साधि करि ऊपर लावै मोड़।
जब होवै उलटे कमल मुख आकाश को ओड़॥
अपान वायु ज्यों ज्यों बढ़ै चक्र चक्र के पास।
त्यों त्यों सीधे होय सब पूरा जान अभ्यास॥
अपान वायु आवै जबै चक्र अनाहद मांहि।
दश प्रकार के नाद ही शनैः शनैः खुलि जाहिं॥

२. पहिले नाद सुने जो ऐसा। चिड़ी चीक्ला बोलै जैसा।
एकहि बार कहै यो चिन्न। दूजी बार कहे चिन चिन्न॥
क्षुद्र घंट ज्यों तीजी जानौ। चौथी नाद शसं पहिचानौ॥
पंचवी नाद बीन ज्यों गावै। छठवीं उपज ताल ज्यों बाजै॥
सतवीं नाद मुरलिया ऐसी। अठवीं उठै पखावज जैसी॥
नवै नफीरी नाद सुनावै। दशवैं सिंह गरज उपजावै॥
नौ तजि दशवै सू हितलावै। अनहद हनि अनहद हो जावै॥
सोय जीव सों ब्रह्म अगाधा। जो कोइ सुनै सो अनहद नादा॥

३. प्रथम भ्रमर गुंजार शंख धुनि दुतिय कहिज्जै।
त्रितिये वजहि मृदंग चतुर्थे ताल सुनिज्जै॥
पंचम घंटा नाद षष्ट बीणा धुनि होई।
सप्तम बज्जहिं भेरि अष्टम दुंदुभि दोई॥
अब न वमै गज्जै समुद्र की दशम मेघ घोषहि सुनै।
कहि सुन्दर अनहद नाद कौ दश प्रकार योगी सुनै॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ६७

प्रकार के नाद का अनुभव साधक को होता है, उसी की वह अभिव्यक्ति कर देता है। नाद श्रवण के विषय में कोई विशेष नियम निर्धारित नहीं किया जा सकता है।

यह तो हुआ अपान वायु और नाद को जाग्रत करने का उपाय। अब कवि के मुख से अनहद नाद जाग्रत करने की विधि सुन लीजिये। कवि द्वारा वर्णित यह विधि सरल एवं स्पष्ट है अतएव उसे यहाँ अविकल उद्धृत किया जाता है :—

खुलै जो अनहद नाद ज्यों सो साधन सुनि लेहु।
जासों पहुँचे सिद्धि को या करणी चित देहु॥
चक्राधार सौं खैंचि करि अपान वायु सजलेहु।
स्वाधिष्ठान के पास ही तीन लये है देह।

याकी विधि सब तोहि सुनाऊँ। जैसे है तैसे समझाऊँ॥
पहले मूल द्वार को शोधै। बंध लगाय अपान निरोधै॥
पहिले चक्कर में ठहरावै। खैचि दूसरे के ठिक लावै॥
वाके आसौ पास फिरावै। दहिने तीनि लपेट लगावै॥
फिरि मणिपूरक में पहुँचावै। फेरि अनाहद में ले जावै॥
अनहद खुलै सुनै सुख पावै। फिरि ह्वां प्राण अपान गिलावै॥
हिरदय कंठ मध्य ठहरावै। संयम सों ताको पर चावै॥
बन्ध दूसरो तहाँ लगावै। चरणदास शुकदेव बतावै॥

पहिलें अनहद नाद खुलै हिय ऊपरै।
कंठ सु नीचे रोंकि ध्यान ह्वाई धरै॥
जहां अपरबल होय जु अनहद शब्द ही।
फिरियों जानो जाय कंठ के मध्य ही॥
तहां किये अभ्यास ध्यान राखै घना।
होवै अधिकीनाद सुनै साधू जना॥
केतक द्योसन मांहिं ब्रह्मरन्धर कने।
जाय खुलै जहं नाद सुरति दे ह्वा सुनै॥
शनै शनै यों होय जानें कोइ साध ही।
हिरदय अरु ब्रह्म लोकलों एकै नाद ही॥
मीठी और सवाद बहुत ही पाइये।
सतगुरु के परताप जहां मन लाइये॥
ब्रह्म लोक की बात सुनै होवै जुहां।
सब ही सूझै वस्तु जु कछु होवैं तहां॥

षट्कर्म

हठयोग की साधना में षट्कर्मों के प्रति बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है। हठयोग के ग्रन्थों में षट्कर्मों के कर्तव्याकर्तव्य पर सविस्तार विचार किया गया है। हठयोग की साधना में षट्कर्म एवं प्राणायाम का महत्व समान रूप से माना गया है, परन्तु अन्तर केवल समय या काल का है। प्राणायाम से शारीरिक विकार या आन्तरिक दोष विलम्ब से दूर होते हैं परन्तु षट्कर्म के द्वारा यही कार्य अल्प समय में सुसाध्य बन जाता है, इसीलिए हठयोगी के लिए षट्कर्म विशेष प्रिय होता है। 'हठयोग प्रदीपिका' के मतानुसार जिस व्यक्ति के मेद और श्लेष्मा अधिक हों, उस पुरुष को प्राणायाम से पूर्व षट्कर्म की साधना अपेक्षित रहती है। परन्तु इसके समुपस्थित न रहने पर दोषों की समानता के कारण षट्कर्म की साधना न करनी चाहिए :—

मेदःश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥

—हठयोग प्रदीपिका

योग दर्शन के अन्तर्गत षट्कर्मों को 'घटशोधनकारकम्' अर्थात् शरीर को शुद्ध करने वाला एवं 'विचित्रगुणसंधायि' अर्थात् विचित्र गुणों का संधान करने वाला भी कहा गया है।

'घेरंड संहिता' में षट्कर्म को शरीर के सप्तसाधनों की संज्ञा दी गई है।[1] योगाभ्यास करने की वासना होने पर सबसे पहले सप्त साधनों के माध्यम से शरीर को विशुद्ध करना होता है। इन कर्मों का साधक निश्चय ही मोक्ष का अधिकारी होता है।[2]

'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार षट्कर्म निम्नलिखित है :—

१. धौति २. बस्ति ३. नेति ४. नौलि ५. कपालभाति ६. त्राटक ।

---

१. शोधनं दृढतां चैव स्थैर्यं धैर्यं च लाघवम् ।
प्रत्यक्षं निर्लिप्तंच घटस्थं सप्तसाधनम् ॥

घे॰ सं॰—प्रथमोपदेशः, श्लोक ९

२. षट्कर्मणा शोधनंच आसनेन भवेद् दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहार धीरता ॥
प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः ॥

वही, श्लोक १० तथा ११

'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित षट्कर्मों का उल्लेख मिलता है :[1]—

१. धौति २. बस्ति ३. नेति ४. लौलिकी ५. त्राटक ६. कपालभाति।

'ब्रह्मयामल के' अनुसार षट्कर्म निम्नांकित हैं :[2]—

१. धौति २. गजकरिणी ३. बस्ति ४. लौलिकी ५. नेति ६. कपालभाति।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरंड संहिता' तथा 'ब्रह्मयामल' के षट्कर्म विषयक दृष्टिकोण में पर्याप्त भेद है। प्रथम दो ग्रन्थों में 'बस्ति' को द्वितीय कर्म माना गया है परन्तु 'ब्रह्मयामल' में द्वितीय कर्म 'गजकरिणी' और तृतीय कर्म 'बस्ति' माना गया है। दूसरा भेद यह है कि प्रथम दो ग्रन्थों में 'नेति' को तृतीय कर्म माना गया है और 'ब्रह्मयामल में' नेति पंचम कर्म है। तीसरा भेद यह है कि प्रथम ग्रन्थ में चतुर्थ कर्म का नाम 'नौलि' है और अंतिम दो ग्रन्थों के अन्तर्गत चतुर्थ कर्म 'लौलिकी' माना गया है। तथ्य यह है कि नौलि और लौलिकी में केवल शाब्दिक भेद है परन्तु आत्मा में पूर्ण साम्य है। चौथा भेद यह है कि प्रथम दो ग्रन्थों में पंचम कर्म 'त्राटक' माना गया है और 'ब्रह्मयामल' में नेति है। अंतिम उल्लेखनीय बात यह है कि 'कपालभाति' कर्म को प्रथम ग्रन्थ में पंचम कर्म का स्थान दिया गया है और शेष दो में षष्टम् कर्म का। संक्षेपतः षट्कर्मों की दृष्टि में प्रथम दो में पूर्ण साम्य है। अब यहाँ पर चरनदास का षट्कर्म-विषयक मत उल्लेखनीय है। चरनदास के ही शब्दों में :—

अरु साधा षट्कर्म बताऊँ। तिनके तोको नाम सुनाऊँ ॥
नेती धोती बसती करिये। कुंजर करम रोग सब हरिये ॥
न्योलो किये भजै तन बाधा। देखि देखि जिन गुरु सों साधा ॥
त्राटक कर्म दृष्टि ठहरावैं। पलक पलक सर लगन न पावै ॥

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि चरनदास के मत से षट्कर्म निम्नलिखित है :-

१. नेति २. धौति ३. बस्ति ४. गजकर्म ५. न्योलो ६. त्राटक।

---

१. धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्।
वही, श्लोक १०

२. धौतिश्च गजकरिणी नबस्तिर्लौलिकिस्तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि महेश्वरि।
कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारणम् ॥
मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यथा नाचरेत्तानि दोषाणामप्यभावतः।

चरनदास ने षट्कर्मों के अन्तर्गत चार कर्म और माने हैं। ये चार कर्म हैं, कपाल-भाति, धौकनी, बाघी तथा शंखपखाल। यहाँ पर कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ उद्धृत करना असंगत न होगा :—

कपाल भाँति अरु धौकनी बाघी शंख पखाल ।
चारि कर्म ये और हैं इनहिं छहौं के नाल ॥

प्रस्तुत उद्धरण की द्वितीय पंक्ति विशेष रूप से विचारणीय है। कवि के कथन, 'चारि कर्म ये और हैं इनहिं छहौं के नाल' से स्पष्ट है कि इन चार कर्मों का अस्तित्व कवि ने स्वतंत्र रूप से न मानकर उपर्युक्त षट्कर्मों के अन्तर्गत ही माना है। इन चार कर्मों की स्थिति की कल्पना करना कवि की मौलिकता है। इन दोनों में गजकर्म एवं कपालभाति को षट्कर्म के अन्तर्गत रखने में अन्तर पड़ता है। परन्तु ये षट्कर्म के शाखामात्र हैं, अतएव इस विभेद का कोई वास्तविक अर्थ नहीं है।

इस विवेचन के अनंतर अब चरनदास द्वारा वर्णित षट्कर्मों का विवेचन तथा व्याख्या आवश्यक है। यहाँ पर हम इस बात का भी अध्ययन करेंगे कि चरनदास द्वारा वर्णित षट्कर्म के प्रत्येक अंग में परम्परागत शास्त्रीय वर्णन से कहाँ तक साम्य एवं भेद है।

चरनदास ने सर्वप्रथम नेति कर्म का वर्णन किया है। अतः नेति कर्म के परम्परागत पक्ष का अध्ययन कर लेना आवश्यक होगा। नेति कर्म दो प्रकार का होता है, प्रथम जलनेति तथा द्वितीय सूत्रनेति। साधक को सर्व प्रथम जलनेति करनी चाहिए। प्रातःकाल दन्त धावन के अनन्तर जो भी सांस चलती हो उसी से चुल्लू में जल लेकर तथा दूसरी सांस बन्द करके उस जल को नासिका के माध्यम से खींचा जाय। तदनन्तर यही जल दूसरे नासापुट से बाहर निकाल देना चाहिए। इससे नेत्रज्योति, मुख कांति और बौद्धिक कुशाग्रता की वृद्धि प्राप्त होती है। नासापुट से जल पीने की क्रिया को नेतिकर्म नहीं कहा जायगा। यह क्रिया साधक के लिए अहितकर है, कारण कि नासिका में संचित मल आमाशय में प्रविष्ट होगा जिससे नये नये विकारों की उत्पत्ति होगी। जलनेति के पश्चात् सूत्रनेति करना चाहिए। स्वच्छ महीन सूत के दस पन्द्रह तारों को एक में बट कर पतला बना लेने के बाद मोम से चिकना बना ले और फिर जल में भिगो दे। फिर जिस नासा छिद्र से प्राणवायु का संचार होता हो उसमें सूत की रस्सी लगाना चाहिए। इसी समय दूसरे नासिका पुट को अंगुली से बन्द करके जोर से पूरक करने से सूत मुख में आ जाता है। इस सूत को तर्जनी और अंगुष्ठ से ग्रहण कर बाहर कर लेना चाहिए। इस सूत को धोकर पुनः द्वितीय नासिका पुट में डालकर यही क्रिया करनी चाहिए। 'हठयोग प्रदीपिका' में लिखा है कि नेतिकर्म कपाल को शुद्ध करती है, दिव्य ज्योति प्रदान

करती है, स्कन्ध, भुजा तथा शिर-सम्बन्धी समस्त रोग एवं विकारों को विनष्ट करती है।[1] 'घेरंड संहिता' में नेति कर्म की क्रिया तथा महत्त्व का उल्लेख इस प्रकार हुआ है कि आधा हाथ का सूक्ष्म सूत नासिका में डाले और उसको मुख के मार्ग से निकाले। इस क्रिया को 'नेतिकर्म' कहते हैं। नेतिकर्म की साधना से खेचरी सिद्धि प्राप्त हो जाती है, कफ दोष नष्ट होता है और दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।[2] 'ग्रहयामल' में लिखा है कि एक बालिश्ता डोरा नासिका के छिद्र में डालकर मुख के मार्ग से निकालने को नेतिकर्म कहते हैं। इस कर्म के साधन से शिर के रोग नष्ट हो जाते हैं और दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है।[3] चरनदास के शब्दों में अब नेतिकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

मिहीं जु सूत मंगाय कै, मोटी बाटै डोर।
ऊपर मोम रमाय कै, साधै उठकर भोर॥
साधै उठकर भोर, डेढ़ बालिश्त की कीजै।
ताके सीधी करै, हाथ अपने में लीजै॥
नासा रन्ध्र में मेल कर, खींचै अंगुली दोय।
फेरि बिलोवन कीजिए, नेती कहिये सोय॥

उपर्युक्त उद्धरण में नेति कर्म की जिस प्रक्रिया का वर्णन चरनदास ने किया है वह 'हठयोग प्रदीपिका', 'घेरंड संहिता' तथा 'ग्रहयामल' में वर्णित प्रक्रिया से पूर्ण साम्य रखती है। अंतर केवल सूत की रस्सी की लम्बाई पर है। 'हठयोग प्रदीपिका' में सूत की लम्बाई एक हाथ, 'घेरंड संहिता' में आधा हाथ तथा 'ग्रहयामल' में एक

---

१. कपाल शोधिनी चैव दिव्यदृष्टि-प्रदायिनी।
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च॥
—हठ योग प्रदीपिका

२. वितस्तिमानं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात्प्रोच्यते नेतिकर्मकम्॥
साधनान्नेति कर्माणि खेचरीसिद्धिमाप्नुयात्।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, श्लोक ५०,५१

३. सूत्रं वितस्तिमात्रं तु नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखेन गमयेच्चैषो नेतिः स्यात् परमेश्वरि॥
कपालवेधिनी कंठा दिव्यदृष्टि प्रदायिनी।
य ऊर्ध्वं जायते रोगोनवत्याशु च तं नेतिः॥

बालिश्त का उल्लेख मिलता है। परन्तु चरनदास ने इस रस्सी की लम्बाई डेढ़ बालिश्त मानी है, जैसा कि उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है। चरनदास द्वारा वर्णित नेति कर्म का निम्नलिखित सद् प्रभाव भी 'हठयोग प्रदीपिका' से पूर्ण साम्य रखता है :—

नाक कान अरु दांत को, रोग न व्यापै कोय।
उज्ज्वल होवै नैनही नित नेती करि सोय॥

इन पंक्तियों में भी 'हठयोग प्रदीपिका' का "कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी जत्रूर्ध्वजात रोगौघं नेतिराशु निहन्ति च" भाव अभिव्यक्त हुआ है।

नेति के पश्चात् चरनदास ने षट्कर्म वर्णन में धौति कर्म का उल्लेख किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार चार अंगुल चौड़े तथा पन्द्रह हाथ लम्बे महीन वस्त्र को गरम जल में भिगो कर निचोड़ ले। तदनन्तर गुरु प्रदिष्ट मार्ग से नित्य-प्रति यह वस्त्र एक-एक हाथ उत्तरोत्तर निकालने का अभ्यास किया जाय।[1] प्रायः आठ दश दिन में पूरी धौती निगलने का अभ्यास किया जा सकता है। यह वस्त्र एक हाथ बाहर रखा जाय और दाढ़ों से भली भाँति दबा कर धौतिकर्म किया जाय। वस्त्र निगलने के पूर्व पूर्णतया जल पी लेना आवश्यक हैं। जल पी लेने से वस्त्र को निगलने में सरलता रहती है। 'घेरंड संहिता' में धौति चार प्रकार की मानी गई है :—

अन्तर्धौतिदन्तधौतिहृद्धौतिर्मूलशोधनम्।
धौतिं चतुर्विधां कृत्वा घटं कुर्वन्ति निर्मलम्॥[2]

अर्थात् धौति चार प्रकार की है—अन्तर्धौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूल-शोधन। इन चार प्रकार की धौतियों को करके शरीर को निर्मल करना चाहिए। अन्तर्धौति के चार भेद है—वातसार, वारिसार, वह्निसार तथा वहिष्कृत।[3] दन्त धौति के पांच भेद माने गये है—दन्तमूल धौति, जिह्वामूल धौति, कर्णरन्ध्र धौति तथा कपालरन्ध्र धौति।[4] हृद्धौति के तीन भेद है—दंडधौति, वमन धौति तथा

---

१. चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम्।
गुरुपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत्।

२. घेरंड संहिता—प्रथमोपदेशः, श्लोक १३

३. वातसारं वारिसारं वह्निसारं बहिष्कृतम्।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा॥
वही, १४

४. दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रतं कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रं पंचैते दन्तधौतिं विधीयते॥
वही, २६

वासधौति।[1] इसके अनन्तर चौथे प्रकार की धौति है, मूल शोधन। जब तक मूल शोधन नहीं होता है तब तक अपानक्रूरता विद्यमान रहती है अर्थात् गुह्यवायु कुटिल रूप में रहती है, अतएव यह गुह्यशोधन यत्नपूर्वक करना चाहिए। मूल शोधन से कोष्ठ काठिन्य और आमाजीर्ण दूर हो जाता है, शरीर कांतिमान् और पुष्ट हो जाता है तथा जठरानल बढ़ जाती है।[2] धौतिकर्म के विषय में 'रुद्र यामल' में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है :—

सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरं वस्त्रं द्वात्रिंशद्धस्तमानतः।
एकहस्तक्रमेणैव यः करोति शनैः शनैः॥
यावद् द्वात्रिंशद्धस्तं च तावत्कालं क्रियां चरेत।
एतत् क्रिया-प्रयोगेन योगी भवति तत्क्षणाम्॥
क्रमेण मंत्र सिद्धिः स्यात्कालजालवशं नयेत्॥

अर्थात् बत्तीस हाथ लम्बे अति सूक्ष्म वस्त्र को एक-एक हाथ करके धीरे-धीरे पूरा निगल जाने पर शनैः शनैः पुनः निकाले। इस प्रक्रिया का नाम वासधौति है। इस धौति के द्वारा योगित्व की प्राप्ति हो जाती है और मंत्र सिद्धि प्राप्त हो सकती है। मृत्यु उस पर आक्रमण करने की हिम्मत नहीं कर सकती है। चरनदास के मत में धौतिकर्म की क्रिया निम्नलिखित है :—

धौती कर्म यासेन करै, पट्टी सोलह हाथ।
कोठ अठारह नाभवैं, करे जुनित परभात॥
चौड़ी अंगुल चारिकी, मिही वस्त्र की होय।
जल में भेय निचोय करि, निगल कंठ सों सोय॥
निगल कंठ सों सोय, सिरा बाहर रहि जावै।
फेरि निकासे ताहि, पित्त कफ दोऊ लावै॥
काया होवै शुद्ध ही, भजे पित्त कफ रोग।
शुकदेव कहै धौती करम, साकै योगी लोग॥

---

१. हृद्धौतिं त्रिविधां कुर्याद् दंडवमनवाससा॥
वही, ३६

२. अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत्॥
वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत्।
कारणं कान्तिपुष्ट्योश्च दीपनं वह्निमंडलम्॥
वही, श्लोक ४२तथा ४४

चरनदास के अनुसार वस्त्र १६ हाथ लम्बा तथा चार अंगुल चौड़ा होना चाहिए। इसके अतिरिक्त उसके निगलने की क्रिया वही है जो संस्कृत के उपर्युक्त ग्रन्थों में वर्णित हुई है। कवि के मत से धौति साधना से काया निर्मल होती है, पित्त कफ आदि रोग एवं विकार विनष्ट हो जाते हैं तथा शरीर को विनष्ट करने वाले अठारह प्रकार के कुष्टादि क्षीण हो जाते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में भी धौतिकर्म के चमत्कारी प्रभाव को निम्नलिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया गया है :—

कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः ॥

'घेरंड संहिता' में इसे गुल्म, ज्वर, प्लीहा, कुष्ट, कफ, तथा पित्त आदि का विनाशक तथा आरोग्य, बल एवं पुष्टि का बढ़ाने वाला कहा गया है।[1] इस दृष्टि-कोण से भी चरनदास का मत 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'घेरंड संहिता' से पूर्ण साम्य रखता है।

चरनदास ने धौतिकर्म के पश्चात् वस्तिकर्म का उल्लेख षट्कर्म वर्णन प्रकरण में किया है। 'घेरंड संहिता' के अनुसार नाभि पर्यन्त जल में उत्कटासन से बैठकर गुह्य देश के संकुचन एवं प्रसारण को जलवस्ति कहते है।[2] 'ब्रह्मामल के' अनुसार नाभिपर्यन्त जल में उत्कटासन बैठकर गुह्यक्षालन और हस्तद्वारा आकुंचन और प्रसारण की प्रक्रिया को वस्तिकर्म कहते हैं।[3] वस्ति की स्थिति मूलाधार के निकट है। इसका रंग लाल है और इसके देवता गणेश है। वस्ति को साफ करने वाले कर्म को वस्ति कर्म कहा जाता है। वस्ति कर्म दो प्रकार का होता है। प्रथम जलवस्ति है और द्वितीय पवनवस्ति जिसे शुष्कवस्ति भी कहा जाता है। जलवस्ति को जल में और शुष्कबस्ति को सदा स्थल में करना चाहिए।[4] जल में पश्चिमोत्तान आसन

---

१. गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति ।
आरोग्यबलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, श्लोक ४१

२. नाभिमग्नजले पायुं न्यस्तवानुत्कटासनम् ।
आकुंचन प्रसारंच जलवस्तिं समाचरेत् ॥
घे सं०—प्रथमोपदेशः, ४६

३. नाभिनिम्नजले वायुं न्यस्तनालोत्कटासनम् ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्तिकर्म तत् ॥
ह० यो० प्रदीपिका

४. जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधा स्मृता ।
जलवस्तिं जले कुर्यात् शुष्कवस्तिं सदा क्षितौ ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ४५

से बैठकर क्रमशः अधोभाग में वस्ति का संचालन तथा अश्विनी मुद्रा से गुह्य स्थान को संकुचित और प्रसारित करना चाहिए। इस प्रकार कर्म करने से जलवस्ति सिद्ध हो जाती है।[1] जलवस्ति के प्रयोग से प्रमेह, उदावर्त्त तथा क्रूरवायु ध्वंस हो जाता है और साधक स्वस्थ्य देह वाला होकर कामदेव के समान हो जाता है। इसकी साधना से कोष्ठदोष और आमवात नष्ट हो जाते हैं और जठराग्नि बढ़ जाती है।[2] वस्तिकर्म के परम्परागत शास्त्रीय विवेचन के अनन्तर चरनदास के शब्दों में वस्ति-कर्म की प्रक्रिया पठनीय होगी :—

तीजे बस्ती कर्महीं, कहौ सुनौ चितलाय।
क्रिया करै गन्ने सही, कुंजी तहाँ लगाय॥
कुंजी तहाँ लगाय मूल को धोवन कीजै।
पसारन संकोच सुरति दै यह करि लीजै॥
नीर गुदा सों खैंच करि, थांभै उदर मंझार।
कछू डोल अस बैठकर फिरि दै ताहि उतार॥
यही जु बस्ती कर्म है, गुरु बिन पावै नाहिं।
लिंग गुदा के रोग जो, गर्मी के नशि जाहिं॥

इन पंक्तियों में कवि ने केवल जलवस्ति की प्रक्रिया का उल्लेख किया है। ध्यान देने की बात यह है कि प्रस्तुत प्रक्रिया वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त होते हुए भी 'हठयोग प्रदीपिका' तथा घेरंड संहिता' से पूर्ण साम्य रखती है। कवि ने शुष्कवस्ति अथवा पवनवस्ति का वर्णन वस्तिकर्म के अन्तर्गत नहीं किया है।

षट्कर्म वर्णन प्रकरण के अन्तर्गत चरनदास ने वस्ति वर्णन के अनन्तर गजकर्म का उल्लेख किया है। यह गजकर्म विषयक वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। कवि ने केवल दो पंक्तियों में गजकर्म की प्रक्रिया और महत्ता का वर्णन कर दिया है। जिस प्रकार हाथी सूड़ से जल को खींचता है और फिर बाहर फेंक देता है उसी प्रकार गजकर्म की साधना होती है। इसी कारण इसका नाम गजकर्म या गजकरणी रखा

---

१. वस्तिं पश्चिमोत्तानेन चालयित्वा शनैरधः।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुंचयेत्प्रसारयेत्॥
वही, ४८

२. प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत्॥
एवमम्भासयोगेने कोष्ठदोषं न विद्यते।
विवर्धयेज्जठराग्निं आमवातं विनाशयेत्॥
वही, ४७ तथा ४६

गया है। इसकी साधना भोजन से पूर्व होती है। दन्तधावन के अनन्तर इच्छा भर जल पीकर अंगुली से उलटी कर दे। अभ्यास हो जाने पर यह जल इच्छा मात्र से बाहर निकाला जा सकता है। पेट में प्रविष्ट जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर फेंकना और भी श्रेष्ठ होता है। पित्त प्रधान पुरुषों के हेतु यह क्रिया बड़ी हितकर होती है। चरनदास के शब्दों में गजकर्म की प्रक्रिया पढ़िये :—

गजकर्म याही जानिये, पिये पेट भरि नीर।
फेरि युक्ति सो काढ़िये, रोग न होय शरीर॥

इस उद्धरण की द्वितीय पंक्ति में ध्यान देने योग्य शब्द हैं 'फेरि युक्ति सों काढ़िये'। युक्ति से यहाँ पर कवि का तात्पर्य है भीतर गए हुए जल को न्योली कर्म के द्वारा भ्रमाकर बाहर निकालना।

चरनदास ने गजकर्म के पश्चात् न्योली कर्म का उल्लेख किया है। न्योली को नल क्रिया, नौलिक, नौलि आदि नामों से भी जाना जाता है हठयोग प्रदीपिका के मतानुसार —

अमन्दावर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते॥

अर्थात् कन्धों को नवाये हुए बड़ी तेज गति से जल भ्रमरवत् अपनी तुन्द को दक्षिण वाम भागों से भ्रमाने को सिद्धों ने नौलि कर्म कहा है। पेट को दायें बायें घुमाने की प्रक्रिया ग्रन्थों से नहीं सीखी जा सकती है। इसके लिए गुरु का मार्ग-प्रदर्शन प्रत्येक क्षण पर परमावश्यक है जैसा कि चरनदास के अनुभव से ज्ञात होता है :—

जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्योली कर्म सुगम करि पावै॥

शौचादि से प्रातःकाल निवृत्त हो जाने पर पद्मासन धारण करके साधक रेचक के द्वारा वायु को बाहर रोके और बिना देह हिलाए हुए मनोबल से पेट को दायें से बायें और बायें से दायें चलाने का प्रयत्न करे। प्रातः एवं सायं यह प्रयत्न और अभ्यास करने से पेट की स्थूलता समाप्त हो जाती है। तदनन्तर साधक को सोचना चाहिए कि दोनों कुक्षियों के दब जाने से बीच में दोनों ओर से नल जुट कर मूलाधार से हृदय तक एक गोलाकार खंभ खड़ा हो गया है। इस खंभ के बँध जाने पर नौलि सुगम हो जाती है। अभ्यास से यह न्यौली दायें बायें घूमने लगती है। इसके संचालित हो जाने पर वक्षस्थल के समीप कंठ पर तथा ललाट पर नाड़ियों का द्वन्द्व अनुभव होता है। विस्तार के साथ वर्णित इस प्रक्रिया का उल्लेख चरनदास ने अत्यन्त संक्षेप में सूत्र रूप में किया है।

न्योली पदमासन सों करै। दोनों कर घुटनों पर धरै ॥
पेटरु पीट बराबर होय। दहने बायें नले बिलोय ॥
जो गुरु करके ताहिं दिखावै। न्यौली कर्म सुगम करि पावै ॥

कवि के शब्दों में न्यौली साधना का प्रभाव सुनिये :—

मैल पेट में रहन न पावै। अपान वायु तासों वश आवै ॥
ताप तिलो अरु गोला शूल। होन न पावै नेक न मूल ॥
और उदर के रोग कहावै। सो भी वै रहने नहि पावै ॥

'हठयोग प्रदीपिका' में इसकी साधना का सत्प्रभाव इस प्रकार वर्णित हुआ है:-

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥

नौलि साधना से मन्दाग्नि का उद्दीपन होता है और अन्नादि का पाचन होता है। इससे समस्त वातादि दोष नष्ट होते हैं और रोग का शोषण होता है। यह नौलि हठयोग की समस्त क्रियाओं में उत्तम है।

न्यौली की आवश्यकता धौति और वस्ति साधना में भी पड़ती है। यह प्राणायाम का महत्वपूर्ण स्तर है। इसकी सिद्धि हो जाने पर तीनों बन्ध सुगम हो जाते हैं।

न्यौली कर्म के अनन्तर त्राटक कर्म आता है। चरनदास ने त्राटक का वर्णन न्यौली के अनन्तर ही किया है। 'हठयोग प्रदीपिका' के मतानुसार एकाग्रचित साधक निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म लक्ष्य पर तब तक दृष्टिपात करे जब तक अश्रुपात न होने लगे। आचार्यों ने इसे त्राटक कर्म कहा है।[1] सफेद दीवाल पर सूक्ष्म काला चिह्न अंकित करके उसी पर दृष्टि नियोजित करते-करते चित्त समाहित हो जाता है और शक्ति सम्पन्न हो जाती है। उपनिषदों में त्राटक के निम्लिखित तीन भेद माने गए हैं :—

१. आन्तर त्राटक—नेत्र बन्द करके हृदय या भ्रूमध्य में एकाग्रता स्थापित करने की भावना को आन्तर त्राटक कहते हैं।

२. बाह्य त्राटक—चन्द्र, प्रकाशवान् नक्षत्र, पर्वत की शिखर वा किसी अन्य दूरवर्ती लक्ष्य पर दृष्टि को स्थिर करने की क्रिया को बाह्य त्राटक कहते हैं। उल्लेखनीय बात यह है कि सूर्य पर त्राटक नहीं किया जाता है।

---

१. निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥

३. मध्य त्राटक—बिन्दु, किसी देवमूर्ति, भगवान के चित्र, नासिका के अग्र-भाग या समीपवर्ती किसी अन्य लक्ष्य पर दृष्टि केन्द्रित करने की क्रिया को मध्य त्राटक कहते हैं।

'घेरंड संहिता' में लिखा है कि जब तक आँसू न गिरे तब तक पलक मारे बिना किसी सूक्ष्म वस्तु पर दृष्टिपात करते रहने का नाम त्राटक है।[1]

त्राटक के इस शास्त्रीय और परम्परागत विवेचन के अनन्तर अब संत चरन-दास के त्राटक विषयक अनुभव पठनीय होंगे। कवि के शब्दों में—

त्राटक कर्म टकटकी लागै। पलक पलक सों मिलै न ताकै ॥
नैन उघारे ही नित रहै। होय दृष्टि थिर शुकदेव कहै ॥
आँखि उलटि त्रिकुटी में आनो। यह भी त्राटक कर्म्म पिछानो ॥
जेते ध्यान नैन के होई। चरनदास पूरण हो होई ॥

उपर्युक्त उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि ने त्राटक के विषय में स्थूल रूप से अपने विचारों को व्यक्त कर दिया है। फिर भी इन पंक्तियों से त्राटक के विषय में विचार स्पष्ट होता है।

योगियों का कथन है कि त्राटक के अभ्यास से शांभवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है, नेत्रों के रोग नष्ट हो जाते हैं और दृष्टि दिव्य हो जाती है।[2] त्राटक नेत्ररोग-नाशक होता है। तन्द्रा, आलस्यादि शरीर में नहीं ठहरने पाते हैं।[3]

चरनदास ने जिन षट्कर्मों का वर्णन किया है उनका सविस्तार विवेचन यहां समाप्त होता है। इन षटकर्मों के अतिरिक्त कवि ने कपालभाँति, धौकनी, बाधी तथा शंखपषाल को भी कर्मों की संज्ञा दी है परन्तु कवि ने इन्हें उपर्युक्त षट्कर्मों के अन्तर्गत ही माना है जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से प्रकट होता है :—

कपाल भाँति अरु धौकनी बाधी शंख पखाल।
चारि कर्म ये और हैं इनहिं छहौ के नाल ॥

---

१. निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५३

२. एवमभ्यासयोगेन शांभवी जायते ध्रुवम्।
नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥
घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५४

३. मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥
ह० यो० प्रदीपिका

इनमें से कपालभाँति का अध्ययन तथा विवेचन आवश्यक है। कारण कि कपाल भाँति को अनेक विद्वानों एवं हठयोगियों ने षट्कर्म का एक अंग और महत्वपूर्ण साधना माना है।

'हठयोग प्रदीपिका' के अनुसार लोहार की भट्ठी के सदृश्य तीव्रता के साथ क्रमशः रेचक, पूरक, प्राणायाम को शांतिपूर्वक करना योग शास्त्र में कफ दोष का विनाशक माना गया है और यह क्रिया कपालभाँति नाम से ज्ञात है।[1] जिस समय सुषुम्ना नाड़ी से वा फुफ्फुस में से श्वासनालिका के द्वारा कफ बारम्बार ऊपर आता हो या प्रतिश्याय (जुकाम) हो गया हो उस समय सूत्रनेति अथवा धौतिक्रिया से शोधन नहीं सम्भव हो पाता है। ऐसी दशा में इसी कपालभाँति साधना से कफवाहा नाड़ियों एवं फुफ्फुस में इकट्ठा हुआ कफ जल विनष्ट हो जाता है। सुषुम्ना, मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होने से पाचन शक्ति प्रदीप्त होती है। इस क्रिया को अधिक तीव्रगति से नहीं करना चाहिए अन्यथा नाड़ी को आघात पहुँचता है और फुफ्फुसों में शिथिलता आती है। कपालभाँति तीन प्रकार की है—वातक्रमकपालभांति, व्युत्क्रम कपालभाँति तथा शीत्क्रम कपालभाँति।[2] इडा अर्थात् बायें नासिकारन्ध्र से वायु को भरे और पिंगला अर्थात् दाहिने नासारन्ध्र द्वारा उसका रेचन करे, एवं दाहिने नासारन्ध्र से वायु को खींचे और बांये निकाल दे। वायु के खींचने या छोड़ने में वेग नहीं धारण करना चाहिए। इस योग साधना से कफ दोष विनष्ट हो जाता है। इसका नाम वातक्रम कपालभाँत्ति कहते हैं।[3] नाक के दोनों रन्ध्रों से जल खींचे और उसे मुख से निकाल दे। इसी प्रकार मुख से जल ग्रहण कर नासिका छिद्रों से निकाल दे। इस क्रिया को वातक्रम कपालभांति कहते हैं।[4] मुख द्वारा शीत करके

---

१. भस्त्रावल्लोकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ।
   कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी॥
   ह० यो० प्रदीपिका

२. वातक्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
   भालभाँति त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत्॥
   घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५५

३. इडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिंगला पुनः।
   पिंगलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्॥
   पूरकम् रेचकं कृत्वा वेगेन नतु चालयेत्।
   एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत्॥
   घे० सं० प्रथमोदेशः, ५६-५७

४. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
   पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत्॥
   घे० सं०—प्रथमोपदेशः, ५८

जल ले और नासिका रन्ध्र से निकाल दे। इस क्रिया को 'शीत्क्रम कपाल भाँति' कहते हैं। इस योग का अभ्यास करने से मनुष्य कामदेव के समान कांतिमान् हो सकता है। इसके अभ्यास से वार्धक्य और जरा के हाथ से परित्राण प्राप्त कर सकता है।[1]

मुद्राएँ

'हठयोग प्रदीपिका' में मुद्राओं का बड़ा महत्त्व वर्णित हुआ है।[2] इन मुद्राओं को योग दर्शन में "जरामरणनाशक्तम्, अष्टैश्वर्य प्रदायकम् चीयन्तेमरणादयः" आदि कहा गया है। प्रत्केक साधक को इन मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है तभी कुंडलिनी जाग्रत होती है। जाग्रत होने के अनन्तर कुंडलिनी षट्चक्रों का भेदन करके सहस्रार में प्रवेश करती है। ये मुद्रायें दस मानी गई है :—

१. महामुद्रा २. महाबन्ध ३. खेचरी ४. मूलबन्ध ५. उड्डीयान ६. जालन्धर-बंध ७. विपरीतकरणी ८. वज्रोली ६. शक्तिचालिनी १०. महावेध।

घेरंड ऋषि ने अपनी पुस्तक 'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित मुद्राओं को मान्यता प्रदान की है :—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी॥
विपरीतकारिणी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।
ताडागी मांडवी मुद्रा शाम्भवी पंचधारणा।
अश्विनी पाशिनी काकी मातंगी च भुजंगिनी।
पंचविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चैव योगिनाम्॥

अर्थात् निम्नलिखित पच्चीस मुद्रायें योगियों को सिद्धि देने वाली है :—

१. महामुद्रा २. नभोमुद्रा ३. उड्डीयान ४. जलन्धर ५. मूलबन्ध ६. महाबन्ध ७. खेचरी ८. विपरीकरिणी ६. योनि १०. बज्रोली ११. शक्तिचालिनी १२. ताडागी १३. मांडवी १४. शाम्भवी १५. पंचधारणा अधोधारणा १६. आम्भसीधारणा १७. वैश्वनिरीधारणा १८. वायवीधारणा १९.नभोधारणा २०. अश्विनी २१.पाशिनी २२. काकी २३. मांतगी तथा २४. भुजंगिनी।

---

१. शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासनालैर्विवर्जयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत्॥
न जायते च वार्धक्यं जरा नैव प्रजायते।
भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत्॥
वही, ५६ तथा ६०

२. हठयोग प्रदीपिका—उप० ३।६.१४

'ब्रह्मामल' के मत से शरीर के अन्दर कुंडलिनी महाशक्ति निद्रावस्था में पड़ी हुई है। सर्पराज शेषनाग यथा वन, पहाड़ आदि से संयुक्त पृथ्वी के एकमात्र आधार है उसी प्रकार यह कुंडलिनी शक्ति भी समस्त योग दर्शन का आधार है। इस महाशक्ति के जाग्रत होने पर देहस्थ षट्चक्र में सकल पद्म एवं ग्रंथियों का भेद खुल जाता है और तभी प्राणवायु सुषुम्नारन्ध्र में प्रविष्ट होकर आनन्दपूर्वक विचर सकती है। जब मन अवलम्ब के बिना भी स्थिर रहने लगता है, तब अमरत्व या मुक्ति प्राप्त होती है। अतः इस कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करना उचित और आवश्यक है।[1]

चरनदास ने 'अष्टांगयोग-वर्णन' प्रकरण में निम्नलिखित पाँच मुद्राओं का प्रतिपादन किया है :—

१. खेचरी मुद्रा २. भूचरी मुद्रा ३. चाचरी मुद्रा ४. अगोचरी मुद्रा ५. उनमनी मुद्रा।

इन उपर्युक्त पाँच मुद्राओं में से प्रथम खेचरी मुद्रा का विवेचन एवं प्रतिपादन करने में कवि का ध्यान विशेष रहा है। कवि ने प्रायः २७ छन्दों में खेचरी मुद्रा धारण करने की विधि, क्रिया और महत्व का वर्णन किया है। शेष चार मुद्राओं का वर्णन केवल १८ छन्दों में समाप्त हो गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि कवि ने खेचरी मुद्रा को योग साधना में विशेष महत्वपूर्ण और सहायक माना है।[2]

---

१. सशैलवनधात्रीणां यथाधारो हि नायकः।
सर्वेषां हठतंत्राणां तथा धाराहि कुंडली॥
सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुंडली।
तदा पद्मानि सर्वाणि भिद्यन्ते ग्रन्थयोपि च॥
प्राणस्य शून्यपदवी तदा राजपथायते।
यदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य बन्धनम्॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्॥

२. संत सुन्दर दास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है। उक्त ग्रन्थ से कवि का मुद्रावर्णन छन्द यहाँ उद्धृत किया जाता है :—
सुनि महामुद्रा महाबन्धः महावेध च खेचरी।
उड्यान बंध सु मूल बंधहि बन्ध जालंधर करी॥
विपरीत करणी पुनि वज्रोली शक्ति चालन कीजिये।
इमि होइ योगी अमर काया शशि कला मित पीजिए॥

चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का विवेचन करने के पूर्व इसके शास्त्रीय पक्ष की विवेचना आवश्यक है। खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में 'घेरंड संहिता' का निम्नलिखित श्लोक पठनीय है :—

जिह्वाधो नाड़ीं संछिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवतीतेन लोहयंत्रेण कर्षयेत्॥
एवं नित्यं समभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद् गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी॥
रसनां तालुमध्ये तु शनैश्शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा॥
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥[1]

अर्थात् जिह्वा के निम्न प्रदेश में जिह्वा और जिह्वा की जड़ को मिलाने वाली नाड़ी है। उसका भेदन करता हुआ सतत रसना के नीचे रसना के अग्रभाग को परिचालित करे तथा रसना को मक्खन से मल कर चिमटे से खींचा करे। नित्य प्रति यह क्रिया करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रमशः अभ्यास के द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी कर ले कि वह भ्रू-मध्य तक पहुँच जाय। पुनः जिह्वा को क्रमशः तालु के मध्य में ले जाय। तालु के मध्यस्थ गढ्ढे को कपाल कुहर के मध्य में ऊपर को उलटी करके ले जाय और उभय भ्रू-मध्य अपनी दृष्टि को स्थिर करे। इसको खेचरी मुद्रा कहा गया है।

शास्त्रान्तर में खेचरी मुद्रा का वर्णन इस प्रकार हुआ है :—

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः॥
लम्बिकोर्ध्वंस्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः॥
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरागतः॥

अर्थात् वज्रासन से निरुपद्रव शांत स्थान में बैठकर भ्रू- द्वय के मध्य दृष्टि दृढ़ता से लगाने तथा जिह्वा के ऊपर जो तालुकुहर है वहाँ पर रसना को उलटी उठाकर लगाने की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं।

अब चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी मुद्रा का वर्णन पठनीय होगा। निम्नलिखित पंक्तियों में कवि ने जिह्वा का छीलन, छेदन तथा दोहन बताया है। जिह्वा दोहन मक्खन से होता है। जिह्वा-दोहन छेदन के अनन्तर होता है। जिह्वा सामा-

---

१ घे० सं०—तृतीयोपदेशः, २५-२७

न्यतया तीन प्रकार की होती है—नाग जिह्वा, हस्ति जिह्वा तथा धेनु जिह्वा। नाग-जिह्वा निसर्गतः बड़ी होती है। शेष दो का छेदन, छीलन तथा दोहन करना पड़ता है। चरनदास के मत से सर्वप्रथम क्रिया इस सम्बन्ध में है जल कुल्ला करना। इसके अनन्तर जिह्वा में चौबस्त चूर्ण की मालिश करनी चाहिए। इसके बाद साधक जिह्वा का दोहन, तानन (तानना या खींचना) करे और उसे दाँतों के नीचे दबाये। इन सब के पश्चात् उसका छीलन और छेदन करे। इस क्रिया के पश्चात् तोतू के कट जाने पर ब्रह्मरन्ध्र को धोकर उसका मैल निकाल डाले और जिह्वा को दो अंगुली की कूची से पकड़ कर (उसे उलट कर) उसी ब्रह्मरन्ध्र में नियोजित करे। इस क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं। कवि के ही शब्दों में पूरा वर्णन पठनीय होगा। अतएव यहाँ एक अष्टपदी उद्धृत की जाती है :—

पहिले मुद्रा खेचरी को साधन मनूं।
जैसे आगे करी सबी ऋषि मुनि जनूं॥
ताते जल के कुरले करि जुबगाइये।
ता पाछे चौबस्त को चूरण लगाइये॥
जिह्वा हाथ में पकरि मर्दन छीलन करै।
दोहन तानन करै बहुरि दशनन धरै॥
फिरि करि छीलन ताहि छेदनहिं कीजिए।
तोतू ज्यों कटि जाय यत्न सोइ लीजिए॥
ब्रह्मरन्ध्र को धोय कै मैल निवारिये।
बाये अंगूठे ऊपर काग को धारिये॥
सहज सहज सरकाय कै आगे लाइये।
यह सब साधन कठिन गुरु से पाइये॥
दो अंगुली कूंची सूं करि मेलना।
जिह्वा उलटि राख जु नितप्रति खेलना॥
यह उपाय षट मास करै तजिभान ही।
रसना यों बंधि जाय चढै अस्थान ही॥

प्रस्तुत उद्धरण में तीन बातें विशेष ध्यान देने योग्य है। प्रथम यह कि संत चरनदास इस खेचरी वर्णन को पम्परागत सैद्धांतिक खेचरी वर्णन की शृंखला की एक कड़ी मानते हैं जैसा कि उद्धरण की प्रथम दो पंक्तियों से प्रकट होता है। कवि ऋषियों एवं मुनियों द्वारा वर्णित परम्परा में ही अपनी रचना को रखता है। अब इस प्रस्तुत कथन का परीक्षण आवश्यक है। कवि का खेचरी मुद्रा वर्णन पूर्ण रूप से शास्त्रीय वर्णन से साम्य न रखता हुआ भी उससे बहुत अंश में मिलता-जुलता है।

इसका कारण यह है कि इन संतों ने हठयोग की दुरूह और दुःसाध्य प्रक्रिया को सरल तथा रोचक बनाने के लिए उसमें यत्र-तत्र परिवर्तन कर दिया है, परन्तु इतना होते हुए भी वर्ण्य विषय की आत्मा में क्रांतिकारी परिवर्तन नहीं समुपस्थित हुआ है। दूसरे हठयोग के विशिष्ट ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा साधना के लिए प्रत्येक स्तर पर गुरु का निर्देश अतीव आवश्यक माना गया है। प्रायः गुरुपदेश अभाव में साधक अपनी वाणी खो बैठता है तथा नाड़ियों पर भाँति-भाँति के व्याघात समुत्पन्न हो जाते हैं। इसलिए गुरु का निर्देशन अनिवार्य माना गया है। संत चरनदास ने भी इस परम्परा का निर्वाह किया है। तीसरी बात यह है कि कवि ने इस प्रक्रिया का वर्णन बड़ी ही स्पष्ट और सुगम शैली में किया है जिसमें कि अल्पज्ञ भी उसके सन्देश को हृदयंगम कर सके।

योग-ग्रन्थों में खेचरी मुद्रा साधना का बड़ा माहात्म्य गाया गया है। 'घेरंड संहिता' में उल्लेख हुआ है कि जो खेचरी मुद्रा का अभ्यास करते हैं उनको मूर्च्छा, क्षुधा और पिपासा कुछ भी कष्ट नहीं देती है। आलस्य, रोग, बुढ़ापा, एवं मृत्यु का उसे डर नहीं रह जाता। उसका शरीर देवशरीरवत् हो जाता है।[1] खेचरी साधक को अग्नि नहीं जला सकती, पवन शुष्क नहीं कर सकता, जल उसे गीला नहीं कर सकता और सर्प उसे काट नहीं सकता है।[2] इस मुद्रा के साधक के शरीर में अपूर्व लावण्य विकसित हो उठता है और उसे समाधि की प्राप्ति होती है। कपाल और मुख के मिलन से उसकी रसना से नाना प्रकार के श्रेष्ठ रस उत्पन्न होते हैं।[3] जो साधक इसका अभ्यास करते हैं उनकी जिह्वा से दिन प्रतिदिन अद्भुत रस संचार हुआ करता है और मन नित्य प्रति नये आनन्द में निमग्न रहता है। साधक की जिह्वा में क्रमशः लवण, क्षार, तिक्त, कषाय, नवनीत, घृत, क्षीर, दही, मट्ठा, मधु, द्राक्षा और अमृत आदि नाना प्रकार के रसों का आविर्भाव होता

---

१. न च मूर्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।
न च रोगो जरा मृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक २८

२. नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।
न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजंगमः॥
वही, श्लोक २९

३ लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।
कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्॥
घे० सं—तृतीयपदेशः, श्लोक ३०

है।[1] संत चरनदास के शब्दों में खेचरी साधना का महत्व निम्नलिखित है। 'घेरंड संहिता' तथा चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी साधना का महत्व प्रायः एक-सा है। कवि की रचना से कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत कर देना असंगत न होगा :—

एक जु प्राणायाम जीमसूं कीजिये।
दूजे बन्ध उड्यान यहीं सं दीजिये॥
तीजे करि करि ध्यान निरखि जहूँ ज्योति ही।
चोथे अमृत पिवै खुलै तहं सोत ही॥
खैंचे त्रिकुटी पाट सहज अरु फेरिये।
द्रवै सुधा रसनीर जहां मन घेरिये॥
अमृत ही के स्वाद को कौन बखानई।
जो कोइ अंचवै हंस सोइ पुनि जानई।
दिन दिन पलटै देह रक्त दूधाभवै।
बीस बरस अरु चारि माहिं ऐसा ह्वै॥
इच्छा चारी होय बरस छत्तीस में।
सब लोकन में जाय अपनी शक्ति तें॥
जेते विषय व्यापै नहिं, रोग न दहै शरीर।
जो कोइ पीवै युक्ति सूं, काम धेनु को छीर॥
भूख प्यास अरु नीं कै, रहै न तीनौ लेव।
नाद बिन्दु गुटका बंधै, कहै यही शुकदेव॥
तीन महीने चार का बालक गोदी माय।
ना वह पीवै नीर ही अन्न नही वह खाय॥
वह तो जीवै दूध सूं वाकू वही जुकाम।
लगो रहै माताकुचन निसरे एक न याम॥
अमृत पीवै योगिया ऐसे चरणहिदास।
पहरहु यह छाडै नहीं कामधेनु को पास॥
ऐसे धारै तौ बनै, सुधा रसाला संत।
दिवि काया हो जाय जब धनि कहै कमलाकंत॥

---

१. नानारससमुद्भूमानन्दं च दिने दिने।
आदौ लवणक्षार-तिक्तकषायकम्॥
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम्॥
घे० सं०—तृतीयपदेशः, श्लोक ३१ तथा ३२

आठ पहर लागा रहै पीवै कै कै ध्यान।
मैं कहा जैसा ही, परसै पद निरवान॥
भेद गुरु से ये लहै, और छिपावै वाहि।
जो जो फल याके अधिक, होय परापति ताहि॥
योगेश्वर अरु देवता, मुनी ऋषीश्वर जान।
रखवारे वाके घने, करन न देवैं ध्यान॥
टेक गहै सो जापिये और करै ह्यां ध्यान।
यती सती अरु गुरुमुखी, जाकी ऐसी आन॥
बड़ी जु मुद्रा खेचरी, मुख में याका वास।
जो कहि मैं शुकदेव जी, जानलेहु चरणदास॥

उपर्युक्त उद्धरण के वर्ण्य विषय की तुलना 'घेरंड संहिता' में वर्णित खेचरी मुद्रा के माहात्म्य वर्णन से करने पर ज्ञात होता है कि चरनदास ने खेचरी साधना का माहात्म्य बड़े विस्तार के साथ वर्णित किया है। योग दर्शन के किसी भी ग्रन्थ में इस मुद्रा साधना का महत्व इतने विस्तार के साथ नहीं उपलब्ध होता है। इस उद्धरण की प्रथम बारह पंक्तियों में कवि ने खेचरी साधना से हठयोग साधना में जो सहायता प्राप्त होती है उसका उल्लेख किया है। शेष अंश में उसके महत्व या माहात्म्य की अभिव्यक्ति हुई है।

कवि द्वारा वर्णित द्वितीय मुद्रा भूचरी है। शास्त्रकारों का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अंगुल दूर रहे हुए अवकाश में मन को स्थिर करना भूचरी है। अष्टांग योग की साधना में धारणा के सिद्धि के हेतु प्रस्तुत मुद्रा का अभ्यास श्रेयस्कर हैं। इसकी साधना से योगी को अलौकिक सुख प्राप्त होता है। उसे दैहिक, दैविक तथा भौतिक संताप दग्ध नहीं करते। सांसारिक कष्ट उसे व्यथित और पीड़ित नहीं करते। 'घेरंड संहिता' में इस मुद्रा के विषय में कोई भी उल्लेख नहीं मिलता है। चरनदास के शब्दों में अब भूचरी मुद्रा की प्रक्रिया पढ़िये :—

दूजी मुद्रा भूचरी, नासा जाको वास।
प्राण अपान जुदी जुदी, एक करै चरणदास॥
जितकी तित रख प्राण को, वा घर लाय अपान।
ताहि मिलावै युक्ति सूं, करि करि संयम ध्यान॥
जब वह जीतै पवन कूं, मन चंचल ठहराय।
गगन चढ़न की आश हो, कहै शुकदेव सुनाय॥
गुदा द्वार बंध दीजिए, एंडी पांव लगाय।
आसन सिद्ध जु कीजिए, मन पवनावश लाय॥

अपान वायु जब वशभवै, ऊरध खैंच लचाय।
सनई सनई जाचढै, प्राण वायु ह्वै जाय॥

चांचरी मुद्रा का वर्णन कवि ने भूचरी के अनन्तर किया है। आज्ञा चक्र में भव को अवरुद्ध करना चांचरी मुद्रा है। शास्त्रकारों के मत्यानुसार पक्षान्तर में इसको खेचरी मुद्रा भी कहते हैं, परन्तु चरनदास द्वारा वर्णित खेचरी और चांचरी की साधना, प्रक्रिया और महत्व एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं, अतः इससे स्पष्ट है कि कवि योगशास्त्रकारों की भाँति पक्षान्तर मे इसको खेचरी नहीं मानता है। कवि के शब्दों में चांचरी मुद्रा निम्नलिखित है :—

तीजी मुद्रा चांचरी जाको नैनन वास।
नासा आगे दृष्टि कूं राखै मन धर आस॥

अंगुल चार नासिका आगे। चित अस्थिर करि देखन लागे॥
खुले पाँच तत करै जु कोई। मन अरु पवन जहाँ थिर होई॥
फिरि ह्वासूं नासा परि आवै। अचल टकटकी तहाँ लगावै॥
जहं बहुतक अचरज दरसावै। विभव स्वर्ग के आगे आवै॥
जित सूं पलट तिरकुटी मांहीं। ध्यान करै कहुं अन्त न जाहीं॥
दीरघ तारा सा परकासै। उदय होय सूरज ज्यों भासै॥
चित चेतन दोउ मेला करै। लै उपजै अरु दुविधा हरै॥
यही चांचरी मुद्रा जानै। चरनदास याकूं पहिचानै॥

विगत पृष्ठों में भूचरी की विवेचना करते हुए लिखा गया है कि शास्त्रकारों का कथन है कि नासिका के अग्रभाग से चार अंगुल दूर रहे हुए अवकाश में मन को स्थिर करना भूचरी है। अब प्रस्तुत उद्धरण के निम्नलिखित शब्द विचारणीय है :—

"नासा आगे दृष्टि कूं राखै मन धर आस।
अंगुल चारि नासिका आगे॥
चित अस्थिर करि देखन लागै।
खुलै पाँच तत करै जु कोई॥
मन अरु पवन जहाँ थिर होई।
फिरि ह्वासूं नासा परि आवै॥
अचल टकटकी तहाँ लगावै॥"

स्पष्ट है शास्त्रकार नासिका के अग्रभाग में चार अंगुल पर दृष्टि लगाने को भूचरी मानते हैं और चरनदास इसी क्रिया को चांचरी मुद्रा मानते हैं। 'घेरंड-संहिता' में इस मुद्रा का उल्लेख नहीं मिलता है।

चांचरी मुद्रा के अनन्तर कवि ने 'अगोचरी मुद्रा' का वर्णन किया है। योग दर्शन के विद्वानों के मतानुसार नासिका के अग्रभाग पर मन को रोक कर स्थिर करना अगोचरी मुद्रा है। इसकी साधना से मन के समस्त विकार, भ्रम और मायादि बन्धन विच्छिन्न हो जाते हैं। 'घेरंड संहिता' में जिन पचीस प्रमुख मुद्राओं का उल्लेख हुआ है उसमें अगोचरी को मान्यता नहीं दी गई है। चरनदास ने अगोचरी मुद्रा का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

कहूं अगोचरि चौथी मुद्रा। तामें सुख पावै योगीन्द्रा ॥
या मुद्रा का संखन बासा। शुकदेव कहैं सुन चरणहि दास।
ज्ञान सुरति दोउ एक ह्वै पलट अगोचर जाय।
शब्द अनाहद में रतैं मन इन्द्री थिरपाय ॥

मुद्रा प्रकरण के अन्तर्गत कवि द्वारा वर्णित अंतिम मुद्रा है उनमनी मुद्रा। इसकी स्थिति दशवें द्वार में मानी गई है। इसकी साधना से समाधि सिद्ध होती है और समस्त वासनाएँ विनष्ट हो जाती हैं। इसके द्वारा द्वैत की भावना विनष्ट होती है तथा साधक और साध्य, ध्याता और ध्येय में एकात्मकता स्थापित होती है। इस स्थिति में समस्त क्रियाएं विनष्ट हो जाती हैं और योगी परमहंस के रूप में विचरण करता है। उनमनी मुद्रा का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

पंचवीं मुद्रा उनमनी दशवें द्वारे वास।
सिद्धि समाधि मिलै जहां दग्धहोय सब आस ॥
आनंदहि आनन्द जहां तहां न काल कलेश।
तीनो गुन नहिं पाइये ह्यांनहि माया लेश ॥
जीवातम परमात्मा होय जाय वा ठौर।
ध्याता ध्यानन ध्येह जहं तहां न किरिया और ॥

बंध

'अष्टांग योग वर्णन' के अन्तर्गत कवि ने चार बंध—महाबंध, मूलबंध, जलंधर बंध तथा उड्यान बंध, का वर्णन किया है। प्राणायाम साधना में बंधों का बड़ा महत्व है। बंधों के बिना प्राणायाम करना लाभप्रद नहीं है। बंधों के बिना प्राणायाम में साधक सफल भी नहीं हो सकता। बंधों के प्रयोग की विधि निम्नलिखित है:—

१. पूरक के समय—मूलबंध तथा उड्डियान बंध।

२. कुम्भक के समय—मूल बंध तथा जालन्धर बंध।

३. रेचक के समय : मूलबंध तथा उड्डियान बंध।

मूलबंध प्राणायाम के प्रारम्भ से अंत तक रहता है। इसके अतिरिक्त एक और बंध का रहना आवश्यक होता है। गुदा के दृढ़तापूर्वक संकोच को मूलबंध, ठुड्डी के कंठकूप में दृढ़तापूर्वक स्थापन को जालंधर बंध और पेट के नाभि से

नीचे एवं ऊपर के आठ अंगुल भाग को पश्चिमोत्तान करना उड्डियान बंध है। इन बन्धों को मुद्रा भी कहा जाता है।

चरनदास द्वारा वर्णित विविध बंधों में महाबन्ध सर्वप्रथम है। महाबंध में योगी अपने वाम पाद को सीवन में तथा दक्षिण पाद को वाम पाद की जंघा के मूल में ऊपर की ओर रखे। तदनन्तर पाँच घर्षण करके वाम नासिका से पूरक करे। कुंभक करते समय उभय हस्तों से दक्षिण पैर के घुटने को ग्रहण किये रहे तथा मन को सुषुम्णा नाड़ी में नियोजित करके अपने हृदय में कुंडलिनी शक्ति को जाग्रत करके ब्रह्म रन्ध्र में ले जाने की भावना को दृढ़ करे। योगी स्वशक्ति तथा अभ्यासानुसार कुंभक करके दक्षिण नासिका से शनैः-शनैः रेचक करे। वाम अंग में उसे (योगी को) जितनी मुद्राएं करनी अपेक्षित हों, इसी प्रकार करे। बाम अंग की मुद्राएं कर लेने के अनन्तर फिर उतनी ही (जितनी वामांग में हुई हैं) मुद्राएं दक्षिणांग में करे। इस क्रिया से वही फल प्राप्त होता है जो कि महामुद्रा से प्राप्त होता है। महाबंध दो प्रकार का माना गया है। प्रथम में योगी सिद्धासन से बैठकर मूलबन्ध को बराबर दृढता से लगा के दोनों हाथ चूतड़ों के समीप स्थित करके पांच घर्षण करे। इसके अनन्तर वह दोनों नासिकाओं से पूरक करे। कुंभक करता हुआ योगी मन में यह भावना दृढ़ करे कि वह कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा है। ऐसी भावना को दृढ़ करता हुआ योगी शिरासना सहित ऊपर उठकर कन्द स्थान को रगड़े। अपनी इच्छा के अनुसार कुंभक करके दोनों नासिकाओं से धीरे-धीरे रेचक करे। महाबन्ध के दूसरे प्रकार में योगी पद्मासन से बैठकर वाम नासिका से पंच घर्षण करे। तदनन्तर उसी नासिका से पूरक को भरे। कुंभक के समय लीलासन से स्थित होकर अपने मन में यह भावना दृढ़ करे कि मैं कुंडलिनी महाशक्ति को जाग्रत कर रहा हूँ। इसके पश्चात् योगी यथाशक्ति कुंभक कर लेने के अनन्तर दक्षिण नासिका से धीरे-धीरे रेचक करे। योगी वामांग में जितनी मुद्राएं करनी हो उन्हें करके फिर दक्षिणांग में इसके विपरीत क्रम से उतनी ही मुद्राएं करे जितनी चन्द्रांग में की हैं।

महाबंध की उपर्युक्त क्रिया जिसका इतने विस्तार में वर्णन हुआ है, वही 'घेरंड संहिता' में अत्यन्त संक्षिप्त शब्दों में वर्णित है। ऋषि घेरंड के अनुसार बाईं एड़ी से पायुमूल (गुदा) का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बाईं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्य देश को चलावे और धीरे-धीरे गुह्य देश को सिकोड़े और जालंधर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसका नाम महाबंध है :—

> वामपादस्य गुल्फे तु पायुमूलं निरोधयेत्।
> दक्षपादेन तद् गुल्फं संपीड्य यत्नतः सुधीः॥
> शनैःशनैश्चालयेत् पार्ष्णिं योनिमाकुंचयेच्छनैः।
> जालन्धरे धारयेत्प्राणं महाबन्धो निगद्यते॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १८ तथा १९

महाबंध का जो सविस्तार विवेचन ऊपर भिन्न-भिन्न योगदर्शन के ग्रन्थों में हुआ है, उसको सूत्र रूप में चरनदास के निम्नलिखित पद्यांश में पढ़िये। ध्यान देने योग्य बात यह है कि कवि की महाबंध विषयक धारणा और शास्त्रीय-मत में कोई अन्तर नहीं है। अतः कवि की इस रचना में परम्परागत सैद्धांतिक विचार-धारा ही प्रमुख है। अब कवि के शब्दों में इस वर्णन को सुनिये :—

महाबन्ध तोहि पहल बताऊं। पाछे मूलबन्ध सम झाऊं॥
बायां पांव सिवन गहि दीजै। मूलद्वार एड़ी बंध कीजै॥
दहिनी जंघ जंघ पर लावै। गउमुख आसन नाम कहावै॥
राखै चिबुक हृदय पर लाय। पवनराह पूरब को जाय॥
ध्यान त्रिकुटी संयम करै। प्राणवायु हिरदे में धरै॥
महाबन्ध ऐसे करि साधै। गुरु प्रताप याहीं आराधै॥
बिना पुरुष तिरिया कूं जानो। बन्ध बिना मुद्रा पहिचानो॥
निरफल जाय पुरुष बिन नारी। महाबन्ध बिनु मुद्रा धारी॥
मांहि कंठ के ध्यान लगावै। सुरत निरत होई ठहरावै॥
महाबन्ध अस्थत करै, सो योगी ह्वै जाय।
पवन पंथ मुंदित करै, ध्यान कंठ में लाय॥

शशियरकूं सूरज पर लावै। रेचक पूरक पवन फिरावै॥
पहर-पहर भर पवन भरीजै। प्रथम अल्प अभ्यास करीजै॥

महाबंध की साधना का बड़ा चमत्कारी प्रभाव होता है। कवि के मत से जो योगी इसकी साधना करता है वह जरा, मृत्यु, मन्दाग्नि आदि पर विजयी होकर अमरत्व प्राप्त करता है।[1]

---

१. महाबन्ध करै अभ्यासा। अमृत अच पियासा॥
जरा मृत्यु देही नहिं आवै। महाबन्ध तीनौ गुन पावै॥
जठर अग्नि परचै बहुभारी। निशिदिन मांहि करै अठवारी॥

'घेरंड संहिता' में इसे जरामरणविनाशिनी तथा सकलसिद्धिप्रदायिनी मुद्रा कहा गया है :—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत्सर्ववांछितम्॥
—तृतीयोपदेशः, श्लोक २०

महाबंध के पश्चात् कवि ने मूलबंध का वर्णन किया है। गुह्य प्रदेश को एंडी से दबाकर भली-भाँति बंधे हुए अपान वायु को बल के साथ शनैः-शनैः ऊपर को खींचे। इस क्रिया का नाम मूलबंध है। यह बुढ़ापे और मृत्यु को दूर करती है।[1] 'घेरंड संहिता' के अनुसार वाम एंडी से गुह्यप्रदेश को संकुचित करे तथा यत्न के साथ मेरुदंड में नाभिग्रंथि को लगाकर दबावे तथा दक्षिण एंडी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाबकर रखे, इसको मूलबन्ध कहते हैं। इस मुद्रा से बुढ़ापा निकट नहीं आता है।[2] मूलबन्ध के इस शास्त्रीय विवेचन से चरनदास का पूर्ण मतैक्य है। कवि ने परम्परागत विचार धारा के अनुसार बांई एड़ी से गुदा-प्रदेश के संकुचन और यत्न के साथ मेरुदंड नाभिग्रन्थ को लगाकर दबाने तथा दाहिनी एड़ी से उपस्थ को दृढ़ता के साथ दाबकर रखने की क्रिया का वर्णन तो किया ही है परन्तु विशेषता यह है कि कवि ने कपड़े की एक गेंद को गुदा के मध्य कस कर वायु को अवरुद्ध करने के उपाय का भी उपदेश दिया है। इस उपाय से भी नीचे की पवन ऊपर जाती है और सहज ही प्राण तथा अपानवायु मिलकर एक हो जाती है। कवि द्वारा वर्णित मूलबन्ध प्रकरण से कतिपय महत्वपूर्ण पंक्तियों को यहाँ उद्धृत करना असंगत नहीं होगा :—

अब मैं मूलबन्ध बतलाऊँ। ज्यों का त्यों साधन दिखलाऊँ॥
गुदा बास याका तुम जानो। गुदा द्वार बन्धन है ठानो॥
बायें पांव की एंडी सेती। मूल द्वार रोकै करि हेती॥
ऊरध ही कूं खैंचन कीजै। शुकदेव कहै नीके सुन लीजै॥
अरु कबहू मन ऐसी धरै। आसन पदम करन कूं करे॥
कपड़े की इक गेंद बनावै। गुदा मध्य कसबंध लगावै॥
यों भी वायु सधै वा भांती। जोपै लाग रहै दिन राती॥
पवन तले की ऊपर जावै। प्राण अपान सहज मिल जावै॥
नाद बिंद रल मिलजा दोई। एक वर्ण साधै जो कोई॥

---

१. पादमूलेन सम्पीड्य गुदामार्गं सुयंत्रितम्।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥
कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।

२. पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुंचयेत्ततः।
नाभिग्रंथिं मेरुदंडे संपीड्य यत्नतः सुधीः॥
मेढ्रं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते॥

घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १४-१५

मूलबन्ध की साधना का महत्व निम्नलिखित है :—

मूलबन्ध गुण ऐसा होई। वायु अधोगति जाय न कोई ॥
रेता ऊरध यासूं सधै। दिन दिन आयु सवाई बंधै ॥
यासूं कारज सब बनि आवै। रोगरक्त को सभी नशावै ॥
योग माहिं यह भी परधान। बूढ़ी देह पलट को ज्वान ॥
जटर अगन बाढ़ै अधिकाय। जो चाहै तौ बहुतै खाय ॥

'घेरंड संहिता' के अनुसार जो साधक भवसागर के पार जाने के आकांक्षी हैं, वे एकांत वा निर्जन स्थान में इस मुद्रा का अभ्यास करें। इस मूलबन्ध का अभ्यास करने से निश्चय ही मरुसिद्धि हो सकती है। अतएव साधक आलस्य को त्याग, मौनधारण करके, यत्न के साथ इसकी साधना करे।[1]

महाबन्ध तथा मूलबन्ध के अनन्तर कवि ने जालन्धर बंध का वर्णन किया है। कंठ को संकुचित कर के हृदय पर ठोढ़ी को रखने की क्रिया का नाम जालंधर बन्ध है। इससे सोलह प्रकार का आधारबन्ध हो सकता है और यह मृत्यु को पराजित करता है।[2] 'ब्रह्यामल' में लिखा है कि कंठ को सिकोड़ कर ठोढ़ी को दृढता के साथ हृदय पर रखे, इसको जालन्धर बन्ध कहते हैं। इसके द्वारा शरीरस्थ अमृत निरंतर परिपूर्ण रहता है।[3] एक अन्य संहिता में उल्लेख हुआ है कि गले की नसों को बांधकर ठोढ़ी को हृदय पर रखकर कुंभक करने की क्रिया को जालंधर बन्ध कहते हैं। यह देवताओं को भी दुर्लभ है।[4] संत चरनदास के शब्दों में जालंधर बन्ध निम्नलिखित है :—

तीजा बंध जलंधर जानौ। कंठ वास ताका पहिचानौ ॥
ग्रीवा लटक चिबुक हिय लावै। कंठ पवन रोके परचावै ॥

---

१. संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विरले सुगुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत् ॥
अभ्यासाद्बन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद्यत्नतो तर्हि मौनीतु विजितालसः ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १६–१७

२. कंठसंकोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालंधरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी ॥

३. कंठमाकुंच्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः ॥

४. बद्ध्वा गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरो प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥

हिरदै प्राण पूरकरि रहिये। बंध जलंधर यासूं कहिये ॥
अरध पवन नीचे को जाय। अरध पवन ऊरध कूं लाय ॥
उदर.मध्य लै ताहि विलोय। ब्रह्म रन्ध्र जा पहुंचै सोय ॥
इह विधि ब्रह्म पंथ कूं धावै। सहजै सहजै मध्य समावै ॥
जरामरण जहं भय नहि ब्यापै। लहै अमर पद होरह आपै ॥
चरणदास शुकदेव बतावै। जोपै बंध उड्यान लगावै ॥

प्रस्तुत उद्धरण की पंक्तियों में वर्णित जालंधर बन्ध का विषय 'ग्रहयामल' एवं 'घेरंड संहिता' से पूर्णरूपेण साम्य रखता है। इसके अतिरिक्त कवि ने वायु संचार और नियंत्रण पर विचार व्यक्त करके विषय को और भी अधिक बोधगम्य बना दिया है। शैली की दृष्टि से दुरूह विषय को कवि ने सरल एवं स्पष्ट बनाने का प्रयत्न किया है।

जालंधर बन्ध के पश्चात् कवि ने उड्डीयानबन्ध का उल्लेख 'अष्टांगयोग' प्रकरण में किया है। शास्त्रकारों के मत से नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के समभाव में सिकोड़े अर्थात् उदर के अधोभाग में स्थित गुह्यादिचक्र स्थित समस्त नाड़ियों को नाभि के ऊपर को उठावे। इसी का नाम उड्डीयानबन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के हेतु सिंह सदृश्य है।[1] योगयुक्त व्यक्ति प्रतिदिन चार बार इस उड्डीयान बन्ध का आचरण करे तो उसकी नाभि शुद्ध और मरुत् शुद्धि हो जाती है। षट्मास तक इस बन्ध का अभ्यास करने मात्र से योगी मृत्युंजय हो सकता है। इसका आचरण करने वाले व्यक्ति की जठराग्नि प्रदीप्त हो जाती है एवं शरीर में पुष्टि करने वाला रस संचालित होता है। इसके प्रसाद से योगियों के रोग नष्ट हो जाते हैं।[2] 'दत्तात्रेयसंहिता' में भी उल्लेख मिलता है कि उड्डीयानबन्ध का

---

१. उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वन्तु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यत्तदविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं त्वसौ मृत्युमातंगकेसरी इव ॥
घे० सं०—तृतीयोपदेशः, श्लोक १०

२. नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिःस्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत् ॥
षण्मासमभ्यसेद्योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते ॥
रोगाणां संक्षेपश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः ॥
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम्।

अभ्यास करने पर वृद्ध पुरुष भी तरुण बन जाता है। जो इसका षट् मास पर्यन्त अभ्यास कर लेता है वह साधक मृत्यु को पराजित कर देता है।[1] अब चरनदास के उड्डीयान-बन्ध विषयक विचार अध्ययनीय है। कवि के शब्दों में प्रस्तुत बन्ध निम्नांकित है :—

बंध उड्यान आगे कहा, जिह्वा उलट लगाय।
कान आँख मुख नाक के, स्वर सब बंध कराय॥
इह सुबन्ध महिमा अधिक, लागै बजर किवांर।
सात द्वार की बाट ही, निकसै नांहि बयार॥
पांचौ मुद्रा बंध सब, दिखलाया यह देश।
शुकदेव कहै रणजीत सुन, और कहूँ उपदेश॥

उड्डीयानबन्ध विषयक उपर्युक्त शास्त्रीय विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्राणायाम में रेचक के समय नाभि को पीछे खींचकर मेरुदंड से मिलाए। इससे वायु सुषुम्णा में प्रवेश करेगा। अभ्यास से वायु का ब्रह्म रन्ध्र में लय हो जाना उड्डीयान बन्ध है। परन्तु चरनदास के मत से जिह्वा को उलट कर तालु प्रदेश में लगाए। साधक कान, आँख, मुँह, नाक के समस्त स्वरों को अवरुद्ध करे और वायु को किसी मार्ग से बाहर निकलने न दे। यह क्रिया उड्डीयान बन्ध है। इस प्रकार से दोनों के चिन्तन और प्रक्रिया वर्णन में जो अंतर है वह पूर्णतया स्पष्ट है।

प्रत्याहार

विषयों से असम्बद्ध होकर इन्द्रियाँ जब चित्त के स्वरूप का अनुकरण करती है, तो उस अवस्था का नाम प्रत्याहार है। जितेन्द्रिय साधक अथवा योगी की इन्द्रियाँ ध्येयवस्तु में अनुरक्त अथवा संलग्न चित्त के सदृश्य हो जाती हैं। चित्त के निरुद्ध हो जाने पर वे स्वतः बिना परिश्रम निरुद्ध हो जाती हैं। इस दशा में इन्द्रियाँ चित्तानुगामिनी समझी जाती हैं। संक्षेप में विषयासम्प्रयोगकाल में चित्तानुगमन प्रत्याहार है। प्रत्याहार में इन्द्रियों का स्वरागद्वेषात्मक विषयों से विवेक रूपी बल के द्वारा निवृत्त करके उनको चित्त के आधीन करना परमावश्यक है। 'योगदर्शन' के अनुसार :—

"स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः"

—योगदर्शन २-५४

अर्थात् "अपने विषयों के संग से रहित होने पर, चित्त के सदृश्य रूप में अपरिश्रुत हो जाना प्रत्याहार है।" प्रत्याहार के सिद्ध हो जाने पर साधक बाह्यज्ञान शून्य हो जाता है। यदि किसी अन्य साधन से मन का निरोध हो जाता है तो इन्द्रियों का

---

१. अभ्यसेद्यस्तु सत्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥

निरोध रूप प्रत्याहार अपने आप ही उसके अन्तर्गत आ जाता है। 'घेरंड संहिता' के मत से प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर काम, क्रोध, लोभ मोह एवं मद तथा मात्सर्य विनष्ट हो जाते हैं। चित्त जिस विषय में चंचल होकर भ्रमण करे, प्रत्याहार के द्वारा उस विषय से मन को हटाकर आत्मा को वश में करे। चाहे सम्मान हो, चाहे अपमान, कर्णप्रिय हो अथवा कर्ण कटु, किसी में भी चित्त को न लगाकर आत्मा में लगाए। साधक सुगंधि-दुर्गन्धि आदि पर विजय प्राप्त कर मन को आत्मा में नियोजित करे। मन को विभिन्न स्वादों, रसों और चंचल विषयों से हटाकर आत्मा में लगाना ही प्रत्याहार है।[1] 'योग दर्शन' के एक अन्य आचार्य का मत है कि यदि अठारहों मर्म स्थानों में से प्रत्येक स्थान में मन से परमात्मा को धारण कर सके तो उसको प्रत्याहार कहते हैं।[2] 'विष्णु-पुराण' में प्रत्याहार के महत्त्व एवं उपयोगिता के विषय में अनेक श्लोकों की रचना हुई है। उक्त ग्रन्थ में उल्लेख हुआ है कि योग के साधक के हेतु यह आवश्यक है कि वह प्रत्याहार परायण होकर शब्द आदि विषयों में अनुरक्त इन्द्रियों का निरोध करके उन्हें चित्तानुगामिनी बना ले। इससे जितेन्द्रियता में दृढ़ता आती है।[3]

---

१. अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारमनुत्तमम्।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम्॥
ततस्ततो नियम्य तदात्मन्येव वशंनयेत्।
पुरस्कारं तिरस्कारं सुश्राव्यं भावमानकम्॥
मनस्तस्मान्नियम्येत्तदात्मन्येव वशं नयेत्।
सुगन्धो वापिकदुर्गन्धो घ्राणेषु जायते मनः॥
तस्मात्प्रत्याहरे देतदात्मन्येव वशं नयेत्।
मधुराम्लकतिक्तादि रसान्याति यदा मनः॥
तदा प्रत्याहरेत्तेभ्य आत्मन्येय वशं नयेत्॥
घे० सं०—चतुर्थोपदेशः, श्लोक १-५

२. यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते॥
अठारह मर्म स्थान निम्नलिखित हैं :—
पादांगुष्ठ, गुल्फ, जघांमध्य, अरुमध्य, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकर्पूर, तालुमूल, घ्राणमूल, नेत्र मंडल, भ्रूमध्य, ललाट, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय एवं करमूल।

३. शब्दादिष्वनुरक्तानि निगृह्याक्षाणि योगवित्।
कुर्याच्चित्तानुकारीणि प्रत्याहार परायणः॥
वश्यता परमातेन जायते निष्कलात्मनाम्।
इन्द्रियाणाम वश्यैस्तैर्न योगी योग साधकः॥
विष्णुपुराण

प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर इन्द्रियां चित्त के अनुरूप हो जाती हैं। यदि साधक बाह्य जगत् से विमुख है और उसे नहीं देखना चाहता है तो भी पूर्णरूपेण खुले रहने पर भी उसके नेत्र वाह्य संसार के चित्र को नहीं ग्रहण करते। इसी प्रकार स्वादेन्द्रिय, कर्णेन्द्रिय आदि अपने-अपने कार्य को भूल जाती हैं और मन के अनुरूप बन जाती हैं। ये इन्द्रियां मन के इतनी वशीभूत हो जाती हैं कि स्वतः मनोवांछित पदार्थ मन के समक्ष प्रस्तुत करती हैं। डा० रामकुमार वर्मा के शब्दों में "यदि मन संगीत सुनना चाहता है तो कर्णेन्द्रिय, मधुर से मधुर शब्द-तरंगों को ग्रहण कर मन के समीप उपस्थित कर देती है। यदि मन सुन्दर दृश्य देखना चाहता है तो नेत्र, चित्र तरंगों को ग्रहण कर मन के पटल पर परम सुन्दर चित्र अंकित कर देता है"।[1] प्राणायाम मन को नियंत्रित कर देता है और प्रत्याहार इन्द्रियों को।

चरनदास के मतानुसार प्रत्याहार की परिभाषा निम्नलिखित है :—

प्रत्याहार पाचवां कहिये। सो योगी को निश्चय चहिये॥
विषय ओर इन्द्री जो जावै। अपने स्वादन को ललचावै॥
तिनकी ओर न जाने देई। प्रत्याहार कहावै सोई॥

संत चरनदास ने इन्द्रिय-निग्रह पर बहुत जोर दिया है। जिस प्रकार कछुआ अपने हाथ, पैर एवं सर को अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार साधक को अपनी सब इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी कर लेना चाहिए। जिस प्रकार माता अपनी संतान को विषधर, अग्नि तथा घातक शस्त्रों से दूर रखती है, उसी प्रकार बुद्धिमान् साधक को अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर लेना परमावश्यक है। कवि के शब्दों में :—

रोकि रोकि इन्द्रिन को लावै। ध्यान आतमा माहिं लगावै॥
जैसे कछुआ अंग समेटै। रंक सीत काला में लेटै॥
जैसे माता पूत खिलावै। बालक वस्तू को ललचावै॥
सरप आग अरु शस्तर कोई। कछू और दुखदायी होई॥
तिनको बालक नाहीं जानै। पकड़न को दौड़ मन आनै॥

बालक जानत है नहीं, दुखदायी सब एह।
जो पकरैगा हाथ से, दुख पावैगी देह॥
माता जानत है सबै, खोटी खरी विकार।
राखै सुत को खैंचि करि, बारंबार निहार॥
ऐसे ही बुधि ज्ञान सों, पांचौ इन्द्री रोक।
विषय ओर सों फेरिये, लहै न अपना भोग॥

---

१. 'कबीर का रहस्यवाद', चतुर्थ संस्करण, पृष्ठ ७२

इन पंक्तियों में कवि ने सुन्दर उपमाओं एवं उदाहरणों के द्वारा विषय को रोचक एवं बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार की उपमाओं का प्रयोग संत सुन्दरदास ने भी 'ज्ञान-समुद्र' ग्रन्थ में प्रत्याहार-प्रकरण के अन्तर्गत किया है।[1]

इन्द्रियाँ भोग्य सामग्री पाने से और भी प्रबल पड़ती हैं। नैन रूप का भोग करते हैं, नासिका सुगन्ध का, त्वचा स्पर्श का, कर्ण शब्द का एवं जिह्वा षट्रस का। इन्द्रियाँ आहार मिलते रहने से बिगड़ जाती हैं। इन्द्रियों के निरोध से मन का निरोध होता है और समस्त विषय विनष्ट हो जाता है। कवि के मतानुसार :—

ज्यों-ज्यों इनको भोग है, परबल होती जाहिं।
बिना भोग होहीं नहीं, वह बल रहै जु नाहि॥
नैन जू भोगैं रूप को, और गन्ध को घ्रान।
षटरस भोगै जीभ ही, शब्दहि भोगै कान॥
त्वचा भोगि अस्पर्श को, बाढ़ै अधिक विकार।
पांचौ इन्द्री जानि ले, इनका यही अहार॥
इनसे मिलि मिलि मन बिगड़ि, होय गया कछु और।
इन्द्री रोकै मन रुकै, रहै जु अपनी ठौर॥
ज्यों ज्यों इन्द्री थिर रहै, विषय जाय सब खोय॥

ध्यान

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने उपदेश दिया है कि जिन व्यक्तियों के मन वश में नहीं हैं उनके लिए योग-साधना अत्यन्त दुरूह वा दुःसाध्य कार्य है, परन्तु मन को वश में किये हुए प्रयत्नशील साधक साधन के द्वारा योग प्राप्त कर लेते हैं:-

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्यो वाप्तुमुपायतः॥—गीता ६।३६

---

१. श्रवण शब्द को ग्रहत है नयन ग्रहत है रूप।
गंध ग्रहत है नासिका रसना रस की चूप॥
रसना रस की चूप तुचा सु स्पर्श हिं चाहै।
इनि पंचनि कौ फेरि आतमा नित्याराहै॥
कूर्म अंगहि ग्रहै प्रभा रवि कर्षय द्रवणं।
इम करि प्रत्याहार विषय शब्दादिक श्रवणं॥
ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास ६६

इतने चंचल मन का निग्रह करना बड़ा ही कठिन काम है परन्तु फिर भी अभ्यास और वैराग्य से यह वश में हो सकता है।[1] यह मत आत्म एवं अनात्म-तत्वों के मध्य विकसित होने वाली विलक्षण वस्तु है। मन स्वतः अनात्म तथा जड़ है, फिर भी समस्त बन्धन एवं मोक्ष इसी के आधीन है।[2] मन ही जगत् है और जगत् का कारण है। यही संकल्प-विकल्पों का जनक है। यह ग्रहीत पदार्थों के आकार को धारण करके तदाकार बन जाता है। अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा ही इस चित्त वा मन का निरोध सम्भव है। महर्षि पतंजलि के अनुसार—

"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"—पातंजल योगसूत्र, समाधिपाद, १२

यह चंचल और अस्थिर मन जहाँ-जहाँ जाय वहाँ-वहाँ से हटाकर बारंबार परब्रह्म में नियोजित करना चाहिए।[3] मन को समस्त शरीर का राजा कहा गया है। शरीर की समस्त इन्द्रियाँ इसी मन की अनुगामिनी हैं। मन समस्त क्लेशों और आपदाओं का कारण है। ध्यान, मन का ही परिवर्तित स्वरूप है। किसी वस्तु विशेष में अनुस्यूत रूप से मन धारणा धारण करना चाहिए। प्रत्यय की एकतानता को ध्यान कहते हैं।

एकाग्रचित्त होकर अभीष्ट शक्ति व स्वकीया ब्रह्म मूर्ति के चिन्तन करने का नाम ही ध्यान है। ध्येय वस्तु में चित्तवृत्ति की एकतानता का नाम ही ध्यान है। चित्त-वृत्ति का गंगा के प्रवाह की भांति या तैलधारावत् अविच्छिन्नरूप से निरन्तर ध्येय वस्तु में ही अनवरत रूप से लगा रहना ही ध्यान है।

'अष्टांगयोग' में 'ध्यान' का सप्तम स्थान है। यम, नियमादि प्रथम छः साधन ध्यान में विशेष सहायक होते हैं। अष्टांग योग के इन प्रथम छः की साधना करते-करते ध्यान की योग्यता साधक को स्वयमेव प्राप्त हो जाती है। 'ध्यान' के अनेक प्रकार हैं। परन्तु योगी वा साधक स्वरुचि एवं सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी एक की साधना कर सकता है। सत्य तत्त्व परब्रह्म एक ही है, परन्तु उस तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं। मार्ग भिन्न-भिन्न होते हुए भी सब एक ही लक्ष्य की ओर इंगित करते हैं। ध्यान अभेद या भेद अथवा अद्वैत या द्वैत उभय भेदों से किया जाता है। अभेद के अन्तर्गत ब्रह्म के ध्यान के निम्नलिखित चार भेद माने गये हैं :—

---

१. असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलं।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ —गीता ६।३५

२. मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः —गीता

३. यतो यतो निश्चरति मनश्चंचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्॥ —गीता ६।२६

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

इसी प्रकार भेद में भी भगवान् के 'ध्यान' के निम्नलिखित चार भेद माने गए हैं :—

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

'ध्यान योग' के तीन प्रकार माने गये हैं :—

१. स्थूल ध्यान २. ज्योतिर्ध्यान ३. सूक्ष्म ध्यान।

'घेरंड संहिता' में इन तीनों प्रकार के ध्यान का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

> स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
> स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
> सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्म कुंडली परदेवता॥
>
> घे० स० —षष्ठोपदेशः, १

अर्थात् ध्यान तीन प्रकार का है—स्थूल, ध्यान ज्योतिर्ध्यान तथा सूक्ष्म ध्यान। जिसमें मूर्तिमान् अभीष्ट देवता का अथवा गुरु का चिन्तवन किया जाता है, उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। जिसमें तेजोमय ब्रह्म या प्रकृति की भावना की जाती है, उसे ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और जिस 'ध्यान' के द्वारा विन्दुमय ब्रह्म और कुन्डलिनी शक्ति का दर्शन लाभ हो उसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

चरनदास जी के मतानुसार 'ध्यान' चार प्रकार का होता है। इस दृष्टिकोण से कवि की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय होंगी :—

> चरणदास अब ध्यान सुन, कहूँ तोहि समुझाय।
> कहि शुकदेव सो सुनि समुझि, करौ ताहि चितलाय॥
> ध्यानजु चारि प्रकार के, कहूँ जु उनकी रीत।
> पदस्थ पिंड रूपस्थ है, चौथा रूपातीत॥

स्पष्ट है कि कवि ने पदस्थ ध्यान, पिंडस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान तथा रूपातीत ध्यान को मान्यता दी है।

अब यहां पर योगशास्त्र के प्रतिपादित ध्यान के विभिन्न अंग विचारणीय होंगे। घेरंड ऋषि के मतानुसार साधक नेत्र मूंद कर अपने मन में ऐसा ध्यान करे कि एक अनुत्तम सागर बह रहा है। उस समुद्र के बीच में एक रत्नमय द्वीप है। वह पद्वी

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

इसी प्रकार भेद में भी भगवान् के 'ध्यान' के निम्नलिखित चार भेद माने गए हैं :—

१. निर्गुण निराकार २. सगुण निराकार ३. निर्गुण साकार ४. सगुण साकार।

'ध्यान योग' के तीन प्रकार माने गये हैं :—

१. स्थूल ध्यान २. ज्योतिर्ध्यान ३. सूक्ष्म ध्यान।

'घेरंड संहिता' में इन तीनों प्रकार के ध्यान का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्म कुंडली परदेवता॥

घे० स० —षष्ठोपदेशः, १

अर्थात् ध्यान तीन प्रकार का है—स्थूल, ध्यान ज्योतिर्ध्यान तथा सूक्ष्म ध्यान। जिसमें मूर्तिमान् अभीष्ट देवता का अथवा गुरु का चिन्तवन किया जाता है, उसे स्थूल ध्यान कहते हैं। जिसमें तेजोमय ब्रह्म या प्रकृति की भावना की जाती है, उसे ज्योतिर्ध्यान कहते हैं और जिस 'ध्यान' के द्वारा विन्दुमय ब्रह्म और कुन्डलिनी शक्ति का दर्शन लाभ हो उसको सूक्ष्म ध्यान कहते हैं।

चरनदास जी के मतानुसार 'ध्यान' चार प्रकार का होता है। इस दृष्टिकोण से कवि की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय होंगी :—

चरणदास अब ध्यान सुन, कहूँ तोहि समुझाय।
कहि शुकदेव सो सुनि समुझि, करौ ताहि चितलाय॥
ध्यानजु चारि प्रकार के, कहूँ जु उनकी रीत।
पदस्थ पिंड रूपस्थ है, चौथा रूपातीत॥

स्पष्ट है कि कवि ने पदस्थ ध्यान, पिंडस्थ ध्यान, रूपस्थ ध्यान तथा रूपातीत ध्यान को मान्यता दी है।

अब यहां पर योगशास्त्र के प्रतिपादित ध्यान के विभिन्न अंग विचारणीय होंगे। घेरंड ऋषि के मतानुसार साधक नेत्र मूंद कर अपने मन में ऐसा ध्यान करे कि एक अनुत्तम सागर बह रहा है। उस समुद्र के बीच में एक रत्नमय द्वीप है। वह पद्मी

रत्नमयी बालुका वाला होने से चारों ओर शोभा पा रहे हैं। बहुत से पुष्पों के प्रफुल्लित होने से वृक्षों की शोभा असीम होती है। कदम्ब वन के चारों ओर मालती, मल्लिका, केसर, चम्पा तथा स्थल पद्मों के अनेक वृक्ष इस द्वीप की खाई के समान प्रतीत होते हैं। इन समस्त वृक्षों के पुष्प-सौरभ से दिशाएं सुरभित हैं। योगी मन में चिन्तवन करे कि उस सुन्दर वन के मध्य में एक सुन्दर कल्पवृक्ष विद्यमान है। उस कल्पवृक्ष में चतुर्वेदमय शाखायें हैं जो कमनीय कुसुमों से लदी हुई हैं। इस वृक्ष की शाखाओं पर भ्रमर गुंजार एवं कोकिलाएं कुहू-कुहू शब्द कर रही हैं। इस कल्पतरु के नीचे महामाणिक्य जटित एक रत्नमंडप शोभायमान है जिसके नीचे एक मनोहर पलंग बिछा है और इसी पर अभीष्ट देव बिराजमान हैं। सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट अभीष्ट देव के रूप, भूषण, वाहन आदि का ध्यान करे। इसे ही स्थूल ध्यान कहते हैं।[1]

स्थूल ध्यान के अनन्तर तेजोध्यान या ज्योतिर्मय ध्यान है। इस ध्यान से योग सिद्धि और आत्मप्रत्यक्षताशक्ति उत्पन्न होती है। मूलाधार में कुंडलिनी सर्पाकार विद्यमान है। इस स्थान में जीवात्मा दीपशिखा के समान अवस्थित है। इस स्थान पर ज्योतिब्रह्म का ध्यान करे। इसको तेजोध्यान या ज्योतिर्ध्यान कहते हैं। एक और प्रकार का नाम है तेजोध्यान। उभय भ्रू के मध्य में और मन के ऊर्ध्व भाग में जो

१. स्वकीय हृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम्।
तन्मध्ये रत्नद्वीपं तु सुरत्नवालुकामयम्॥
चतुर्दिक्षु नीपतरुर्बहुपुष्प समन्वितः।
नीपो पवनसंकूले वेष्टितं परिखा इव॥
मालतीर्मल्लिका जाती केशरैश्चंपकैस्तथा।
पारिजातैः स्थलैः पद्मैर्गंधामोदितदिङ्मुखैः॥
तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम्।
चतुःशाखचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम्॥
भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुंजन्ति निगदन्ति च।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्य मंडपम्॥
तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यंकं सुमनोहरम्।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम्॥
यस्य देवस्य यद्रूपं यथाभूषणवाहनम्।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः॥

घे० सं० —षष्ठोपदेशः २८

ॐकारमय और शिखामाला समन्वित ज्योति विद्यमान है, उसी ज्योति का साधक ध्यान करे। इसे भी ज्योतिर्ध्यान कहते हैं।[1]

'ध्यान' का तृतीय भेद है 'सूक्ष्म ध्यान' साधक को शरीरस्थ कुंडलिनी बड़े प्रारब्ध का उदय होने पर जाग्रत होती है। यह आत्मा के साथ मिलकर नेत्ररन्ध मार्ग से निकल ऊर्ध्वभागस्थ राजमार्ग नामक स्थल में परिभ्रमण करती है। भ्रमण करते समय सूक्ष्मत्व और चंचलता के कारण ध्यानयोग में कुंडलिनी को देखना कठिन होता है। योगी शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ कुंडलिनी का ध्यान करे। इसी का नाम सूक्ष्म ध्यान है। यह ध्यान अति गोपनीय और देवताओं को भी दुर्लभ है। स्थूल ध्यान से ज्योतिर्ध्यान सौ गुना श्रेष्ठ है और ज्योतिर्ध्यान से सूक्ष्म ध्यान लाख गुना श्रेष्ठ है।[2]

ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास के ध्यान के निम्नलिखित चार भेद हैं :—

१. पदस्थ ध्यान २. पिंडस्थ ध्यान ३. रूपस्थ ध्यान ४. रूपातीत ध्यान।

कवि का यह ध्यानभेद योगशास्त्र-प्रतिपादित ध्यान भेद से पृथक है। 'घेरंड-संहिता' में ध्यान के तीन भेद माने गये हैं जिनका उल्लेख ऊपर सविस्तार हो-

---

१. कथितं स्थूलध्यानस्तु तेजोध्यानं श्रृणुष्व मे।
यद्‌ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च॥
मूलाधारे कुंडलिनी भुजगाकाररूपिणी।
जीवात्मा तिष्ठति तत्र प्रदीपकलिकाकृतिः॥
ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानात्परात्परम्।
भ्रुवोर्मध्ये मनोर्ध्वे च यत्तेजः प्रणवात्मकम्॥
ध्यायेज्ज्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि।

घे० सं० —षष्ठोपदेशः, १६ तथा १७

२. तेजोध्यानं श्रुतं सूक्ष्मध्यानं वदाम्यहम्।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुंडली जाग्रता भवेत्॥
आत्मनः सहयोगेन नेत्ररंध्राद्विनिर्गता।
विहरेद् राजमार्गे च चंचलत्वान्न दृश्यते॥
शाम्भवी मुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिद्ध्यति।
सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्॥
स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं विशिष्यते॥

घे० सं० —षष्ठोपदेशः, १८-२१

चुका है। यह ज्ञात नहीं है कि प्रस्तुत ध्यान भेद कवि ने किन ग्रन्थों के आधार पर किया है। इस सूत्र का उल्लेख स्वतः कवि ने भी नहीं किया है।

अब कवि द्वारा वर्णित 'ध्यान भेद प्रकरण' विचारणीय है। कवि के अनुसार सर्वप्रथम ध्यान भेद है पदस्थ ध्यान। साधक, हृदय में ब्रह्म के चरण कमल का ध्यान करने के अनन्तर उसके समस्त अंगों पर ध्यान दे। ब्रह्म की मूर्ति का नखशिख पर्यन्त ध्यान करके पुनः उसके चरणों में ध्यान नियोजित करे। इसके अनन्तर वह कुम्भक को धारण करता हुआ प्रणव का जप करे। इसको करने से ब्रह्म में मन नियोजित होता है और त्रिविध ताप विनष्ट हो जाते हैं। कवि ने पदस्थ ध्यान का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

हिय पद पंकज ध्यानकरि, फिरि करि सारी देह।
नखशिख लौं छवि निरखि के, चरणन में चितदेह॥
कै कुम्भक ही कीजिए, हां प्रणव का जाप।
मन निश्चल हो सहज में, भाजै त्रैविधि ताप॥
पदस्थ ध्यान याको कहै, करै सो जानै भेद।
पिंडस्थ ध्यान वर्णन करै, खोलि खोलि शुकदेव॥

उपर्युक्त उद्धरण को देखने से ज्ञात होता है कि ध्यान का यह अंग परम्परागत न होकर कवि की मौलिक उद्‌भावना है। कवि के पदस्थध्यान विषयक विचार पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है कि यह नवधा भक्ति का पाद सेवन वर्णित हो रहा है।

'पदस्थ ध्यान' के अनन्तर कवि ने पिंडस्थ ध्यान का वर्णन किया है। पिंडस्थ-ध्यान का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

ब्रह्म सोई यह पिंड है, यामें करि करि वास।
कमलन के लखि देवता, लहो परायत तास॥
सोधे सिगरे पिंड को, षट् चक्रहु को ध्यान।
शोधत शोधत आचढ़ै, भंवर गुफा अस्थान॥
तिरवेणी संगम बहै, ज्योति जहाँ दरशाय।
सातजन्म सुधि होय जब, ध्यान करै मन लाय॥
आगे कमल हजार दल, सतगुरु ध्यान प्रधान।
अमृत द्रवै बहि चलै, हंस करै जहँ न्हान॥
ऊपर तेजहिं पुंज है, कोटि भानु परकास।
शून्य शिखर ता ऊपरै, योगी करै विलास॥

सहस्र दल कमल में कोटिशः सूर्य से भी अधिक प्रकाशवान् परब्रह्म का निवास है। उसके दर्शन या प्राप्ति विभिन्न (ऊपर वर्णित) योग तथा क्रियाओं और

साधनाओं से होती है । संक्षेप में शरीर को विभिन्न मुद्राओं एवं बन्धों द्वारा शुद्ध करने के अनन्तर साधक षट्चक्र का ध्यान करे और भँवर गुफा में प्रवेश करे। यहीं वह त्रिवेणी विद्यमान है जहाँ दिव्य ज्योति के दर्शन उपलब्ध होते हैं । इससे आगे सहस्र दल कमल है जहाँ तेजपुंज ब्रह्म का निवास है। इस शून्य शिखर पर चढ़ कर योगी विलास करे। कवि के मतानुसार यही पिंडस्थ ध्यान है। कवि द्वारा उल्लिखित इस ध्यान भेद का समर्थन 'घेरंड संहिता', तथा 'पातंजल योग दर्शन' से किसी प्रकार नहीं होता है।

इसके अनन्तर रूपस्थ ध्यान का वर्णन है। कवि द्वारा वर्णित रूपस्थ ध्यान बहुत कुछ 'घेरंड संहिता' में वर्णित स्थूल ध्यान से साम्य रखता है जैसा कि निम्न-लिखित उद्धरण से प्रमाणित होगा :—

रूपस्थ ध्यान को भेद सुनि, कीजै मन ठहराय।
देखै त्रिकुटी मध्य है, निश्चल दृष्टि लगाय॥
ध्यान किये पहिले जहाँ, अगन फूल दृष्टाय।
केते द्योसन माँहिहीं, दीप ज्योति प्रकटाय॥
शनै शनै आगे जहाँ, दीप माल दरशाय।
फिरि तारो की मालसी, दामिनि बहु दमकाय॥
बहुत चन्द सूर घने, देखे कोटि अनन्त।
अणुज्योकरि सूमर भरे, ध्यान माहिं दरशन्त॥
झिलमिल झिलमिल तेजमय, भासै सब संसार।
तन मन उपजै सुख घना, आनन्द अधिक अपार॥
जल अथाह में डूब ज्यों, देखै दृष्टि उघार।
जो दीखै तौ नीर ही, दश दिशि अपरम्पार॥
यही ध्यान प्रत्यक्ष है, गुरु कृपा सो होय।
कहि शुकदेव चरणदास करि, तन मन आलस खोय॥

'घेरंड संहिता' द्वारा प्रतिपादित स्थूल ध्यान में भी एक विशिष्ट द्वीप का वर्णन हुआ है जिसमें असीम पुष्प, कदम्ब, मालती, मल्लिका, केसर, चम्पा, पारिजात आदि वृक्ष । तथा कल्पतरु का उल्लेख हुआ है। चरनदास ने उपर्युक्त छन्द में प्रायः ऐसे ही लोक या द्वीप का वर्णन किया है। अन्तर यह है कि 'घेरंड संहिता' में वर्णित स्थलों में मंडप, मनोहर पलंग, और उसके ऊपर विराजमान ब्रह्म की कल्पना की गई है जो चरनदास के इस प्रकरण में कहीं नहीं उपलब्ध होती। चरनदास ने पलंग और उस पर विराजमान ब्रह्म की कल्पना सम्भवतः इसलिए नहीं की कि उनका ब्रह्म निर्गुण, निराकार, निर्विकार अलख, अनाम, अनादि और

अजन्मा है। अतः उसे रूप एवं आकार की सीमाओं में बांधना उपयुक्त नहीं प्रतीत हुआ है।

इसके अनन्तर कवि ने 'रूपातीत ध्यान' का उल्लेख किया है। इसको कवि ने 'ध्यान' के समस्त भेदों में श्रेष्ठ माना है, जैसा कि निम्नलिखित पंक्तियों से स्पष्ट है :—

इस परम शून्य का अधिकी ध्यान।
सब ध्यानन में है परधान॥

अब इसके लक्षण, परिचय तथा महत्व कवि के शब्दों में पढ़िये:—

रूपातित शून्य ध्यानहि जानो। शून्यहि को परब्रह्म पिछानो॥
त्रिकुटी परे शून्य अस्थान। सो वह कहिये पद निर्वान॥
चिदानन्द ताकी हिय आनो। वाही के मन ही को सांनो॥
आठ पहर जहं चित्त लगावो। याके कीन्हे सो लय पावो॥
ज्यों अकाश में पक्षी धावै। धावत धावत दृष्टि न आवै॥
बहुरि अचानक दीखै आई। वह ध्यानी ऐसा ह्वै जाई॥
सो योगी यह लहै ठिकाना। सायुज्य मुक्ति होइ जाय निदाना॥

कवि द्वारा उल्लिखित इस 'रूपातीत ध्यान' का समर्थन योग शास्त्र के ग्रन्थों से नहीं होता है। यह कवि की मौलिक उद्भावना है।

धारणा

योगशास्त्र में प्रत्याहार के पश्चात् 'धारणा' की साधना का विधान है। आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक आदि देशों में से किसी उपयुक्त ध्येय देश के विषय में चित्त को एकाग्र करना ही 'धारणा' है। 'धारणा' में मन को किसी स्थान या वस्तु विशेष पर केन्द्रीभूत किया जाता है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में :—

"देश बन्धश्चित्तस्य धारणा" —विभूति पाद ३, सूत्र १

अर्थात् ध्येय के आश्रय भूत स्थान पर चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके नियोजित करना ही 'धारणा' है। इस पांच भौतिक देह के पंचभूतों में यमादि से युक्त मन की वृत्तियों का 'धारण' करना ही 'धारणा' है। यह 'धारणा' संसारसागर से तारने वाली है।[1] 'गरुण पुराण' में ध्यान लगाने के हेतु शरीर में दश स्थान निर्धारित किये गये हैं :—

---

१. पंचभूतये देहे भूतेष्वेतेषु पंचसु।
मनसो धारणं यत्तद् युक्तस्य च यमादिभिः॥
धारणा सा च संसारसागरोत्तार कारणम्॥

१. नाभि २. हृदय ३. वक्षःस्थल ४. कंठ ५. मुख ६. नासिकाग्र ७. नेत्र ८. भ्रूमध्य ६. मूर्धस्थान १० प्राड़[1] ।

ये समस्त मिलाकर 'दशविध धारणा' कही गयी हैं। 'धारणा' में केवल चित्त की वृत्तियों को एकाग्र करके ध्येय स्थान पर बांधा जाता है, ध्येय से इसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है। 'धारणा' सिद्धि के हेतु निम्नलिखित चार मुद्राओं का अभ्यास परमावश्यक है :—

१. अगोचरी २. भूचरी ३. चाचरी ४. शाम्भवी[2] ।

चरनदास जी ने 'धारणा' प्रकरण को निम्नलिखित पंचतत्वों में विभाजित किया है :—

१. पृथ्वीतत्व की धारणा । २. जलतत्व की धारणा । ३. पावकतत्व की धारणा । ४. वायुतत्व की धारणा । ५. व्योमतत्व की धारणा ।

कवि ने 'धारणा' पर स्वमत की अभिव्यक्ति चार खंडों में की है। प्रथम खंड में कवि ने धारणा के विभिन्न पंच तत्वों के लक्षण, विशेषता, महत्व और स्वरूप का उल्लेख किया है। द्वितीय खंड में इन तत्वों के आकार का वर्णन है, तृतीय में तत्वों की प्रकृति की अभिव्यक्ति हुई है और अन्तिम में तत्वों के चमत्कारी प्रभाव का उल्लेख हुआ है।

प्रत्येक तत्व की 'धारणा' के विषय में कवि के विचारों को अविकल्प यहां उद्धृत किया जाता है :—

भूमितत्व की धारणा

पहिले भूमि धारणा कीजै। ठौर काल जे में चित्त दीजै ॥
पीताम्बर चौकोर अकारो। विधि दैवत है तहाँ विचारो ॥
प्राणलीन कर पांच घड़ी ही। चित अस्थिर होवैगा जब ही ॥
यासों पृथिवी को वश कीजै। यही धारणा जो चित दीजै ॥

सुन्दरदास ने 'भूमितत्व धारणा' का वर्णन निम्नलिखित शब्दों में किया है। पाठक दोनों कवियों द्वारा वर्णित इन तत्वों की तुलना करने पर इस निष्कर्ष पर

---

१. प्राड़ नाभ्याम हृदये चाथ तृतीय तथोरसि ।
कंठे मुखे नासिकाग्रे नेत्र भ्रूमध्य मूर्ध्यं सु ॥
किंचित् समासरस्मिंश्च धारणे दश कीर्तिकः ॥ —गरुड़ पुराण

२. इन चारों मुद्राओं का सविस्तार परिचय, लक्षण एवं महत्व इस ग्रन्थ के मुद्रा प्रकरण में देखिये। पुनरुक्ति दोष से बचने के कारण यहां परिचय देना अपेक्षित नहीं है।

पहुँचेगें कि दोनों की शैली, वर्ण्य विषय में विचित्र साम्य है। अब सुन्दरदास द्वारा वर्णित भूमि अथवा 'पृथ्वीतत्व की धारणा' पढ़िये :—

यह चारे कोण लकार हि युक्तं जानहुँ पृथ्वी रूपं।
पुनि पीत वर्ण हृदि मंडल कहिये विधि अंकित सु अनूपं॥
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं चित्त स्थम्भन होई।
सुनि शिष्य अवनि जय करै नित्य ही भूमि धारणा सोई॥

'जलतत्व की धारणा'

हिरदे से ऊपर जल जानो। कंठतई ताको पहिचानो॥
चन्द फांक अरु श्वेत अकारो। हृषीकेश तहँ देव निहारो॥
ह्यां हूँ पाँच घरी अस्थापै। प्राणलीन करि चितदै आपै॥
व्यापै ना विष काहू विधिको। शुकदेव कहै फल जलके सिधिको॥[1]

'पावकतत्व की धारणा'

कंठ से ऊपर तालुका, लों पावक अस्थान।
लाल रंग तिरकोन है, रुद्र देवता मान॥
तेहां लीन करि प्राण को, पांच घड़ी परमान।
भय व्यापै नहिं ज्वाल को, अग्नि धारणा जान॥

सुन्दरदास ने इस 'धारणा' का नामकरण तेज तत्व की धारणा किया है। दोनों कवियों का विषय साम्य पठनीय है।[2]

'वायुतत्व की धारणा'

जाके आगे वायु है, भृकुटी लौं मर्य्याद।
मेघ वरण षटकोण है, ईश्वर देवत साध॥

---

१. सुन्दरदास द्वारा वर्णित जलतत्व की धारणा :—
अक्षर वकार संयुक्त जानि जल चन्द्र खंड निद्धारं।
पुनि ऋषीकेश अंकित अतिशोभित कंठ परदाकारं॥
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं चित्त धारिकै रहिये।
विष कालकूट व्यापै नहिं कबहूँ वारि धारणा कहिये॥

२. यह अग्नि त्रिकोण रेफ संयुक्तं पद्मपराग आभासं॥
पुनि इन्द्र गोपु दुति मध्य तालुका कहिये रुद्र निवासं॥
तहं घटिका पंच प्राणं करि लीनं ग्रन्थ हि उक्त बषानं।
सुनि शिष्य अग्नि भय हन्ता कहिये तेज धारणा जानं॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास

प्राणलीन तहं कीजिए पांच घड़ी रे तात।
पैहै खेचर सिद्धि ही तत पदही है जात॥

यह भाव सुन्दरदास के 'वायुतत्व की धारणा' में लहरें ले रहे हैं। पाठकों को तुलनात्मक अध्ययन करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो जायगा।[1]

'व्योमतत्व की धारणा'

ब्रह्म रन्ध्र आकाश है, बड़ा जु तत्वन मांहि।
श्याम बरण ब्रह्मदेवता, योगी जहां सिराहिं॥
प्राणलीन घटि पांच करि, पावै मुक्ति अनूप।
व्योमतत्व की धारणा, जहां छांह नहिं धूप॥

प्रस्तुत उद्धरण की तुलना कीजिए सुन्दरदास कृत 'आकाशतत्व की धारणा' से।[2]

विभिन्न तत्वों का परिचयात्मक विवरण देने के अनन्तर कवि ने इनके साथ संयुक्त अक्षरों का उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :

पृथ्वी संग लकार ही, जल के संग बकार।
पावक संग रकार है, मारुत संग मकार॥
पंच तत्व आकाश ही, सबके ऊपर जान।
अच्छर जहां हकार है, शुकदेव कहे बखान॥

उपर्युक्त इन पंच तत्वों की पाँच धारणाएं हैं जिनका वर्णन कवि ने निम्नलिखित छन्द में किया है।

पहिली धारणा थंभनी, दूजी द्रावण होय!
तीजी दहनी जानिये, चौथी भ्रामनी सोय॥
पंचवीं नाम जु शंखिनी, इनको लैवो जान।
शुकदेवा अब कहत है आगे और विधान॥

---

१. भ्रुव मध्य यकार सहित षट् कोणं ऐसी लक्षविचार।
पुनि मेघ वर्ण ईश्वर करि अंकित बारम्बार निहार॥
तह घटिका पंच प्राण करि लीनं खेचर सिद्धिहि पावै।
सुनि शिष्य धारणा वायु तत्व जो नीकै करि आनै॥

२. अब ब्रह्म रंध्र आकाश तत्व है सुभ्र बत्तुलाकारं।
जहं निश्चय जानि सदाशिव तिष्ठति अच्छर सहित हकारं॥
तहं घटिका पंच प्राण करि लीनं परम मुक्ति की दाता।
सुनि शिष्य धारणा व्योम तत्व की योग ग्रन्थ विख्याता॥
—ज्ञान समुद्र तृतीयोल्लास

पंचतत्वों की 'धारणा' की तालिका निम्नलिखित होगी :—

पृथ्वीतत्व की धारणा थंभिनी ।

जलतत्व की धारणा द्रावण ।

तेजतत्व की धारणा दहनी ।

वायुतत्व की धारणा भ्रामनी ।

आकाशतत्व की धारणा शंखिनी ।

इन पंच तत्वों की पंच धारणाओं का वर्णन सुन्दरदास ने भी बड़ी रोचकता के साथ निम्नलिखित छन्द में किया है :—

यह येक थंभिनी एक द्राविणी एक सु दहनी कहिये ।
पुनि येक भ्रामिणी येक शोषिणी सद्गुरु बिना न लहिये ।।
ये पंच तत्व की पंच धारणा तिनके भेद सुनाये ।
अब आगे ध्यान कहौं बहुविधि करि जो ग्रन्थनि महि गाये ।।

—'ज्ञान समुद्र' तृतीयोल्लास

योग की अष्टसिद्धियाँ

योग साधना का चरम लक्ष्य या सिद्धि है, ज्ञाता एवं ज्ञेय की एकता । साधक जीवनपर्यन्त इसी शुभ क्षण के लिए अष्टांग योग की दुःसाध्य प्रक्रिया की साधना करता रहता है । योगशास्त्र के आचार्यों ने साधना की चरम सिद्धि ध्याता एवं ध्येय की एकता मानी है । परन्तु इस सिद्धि प्राप्ति के पूर्व साधक को अन्य सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जो सामान्यतया लौकिक सिद्धियाँ कही जाती हैं । चरनदास जी ने 'अष्टांग योग वर्णन' के अन्त में योग की अष्ट सिद्धियों का उल्लेख किया है । ये सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं ।

१. अणिमा २. महिमा ३. लघिमा ४. गरिमा ५. प्राप्ति ६. पराकाम्य ७. ईशता सिद्धि ८. वशीकरण ।

अणिमा सिद्धि के प्रभाव से मनुष्य अत्यन्त संक्षिप्त रूप धारण कर सकता है। इसकी साधना से साधक अणुवत् शरीर धारण कर लेता है । महिमा की सिद्धि से वृहद् रूप धारण किया जा सकता है । लघिमा से पुष्प के सदृश शरीर को हल्का बनाया जा सकता है । गरिमा से साधक गुरुता धारण कर लेता है । प्राप्ति सिद्धि से मनोजवा (मनोवांछित स्थानों में भ्रमण करने की) शक्ति प्राप्ति होती है । पराकाम्य गुण से मानव सर्वसामर्थ्यवान बन जाता है । ईशिता सिद्धि से शासन करने की शक्ति

प्राप्त होती है और वशीकरण से सब को वश में कर लेने की शक्ति का संचार होता है। पर यह सिद्धियाँ निःसार हैं।[1]

साधक को इन सिद्धियों के चमत्कार एवं आकर्षण से सदैव सावधान एवं सतर्क रहना अपेक्षित है। यद्यपि योग साधना से ये समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथापि इनके प्रति लोभ का संवरण करके मन को ब्रह्म के चरणों में नियोजित करना आवश्यक है। योग की तपस्या व साधना को कामना रहित होकर करना चाहिए। ये समस्त सिद्धियाँ माया के बन्धन हैं अतः इनसे दूर रहना ही उपयुक्त और कल्याणकारी है। कवि के शब्दों में यह चेतावनी पठनीय है :—

योग किये आठो सिधि पावै। कै भोगै कै चित न लगावै॥
योग किये मन जीता जावै। पलटै जीव ब्रह्म गति पावै॥

योग तपस्या कीजियो, सकल कामना त्याग।
ताको फल मत चाहियो, तजो दोष अरु राग॥
अष्ट सिद्धि जो पै मिलै, नेक न दीजै नेह।
धरि हृदय परमातमा, त्यागे रहियो देह॥
जेती जग की वस्तु है, तामें चित्त न लाय।
सावधान रहियो सदा, दियो तोहिं समुझाय॥
बार बार तोसे कहूँ, ह्यां मत दीजो चित्त।
सिद्ध स्वर्गफल कामना, तजि कीजो हरिमित्त॥

---

१. प्रथमै अणिमा सिद्धि कहावै। चाहै तो छोटा ह्वै जावै॥
अणु समान छिप जावै सोई। ऐसी कला जु पावै कोई॥
दूजी महिमा लक्षण एता। चाहै बड़ा होय वह जेता॥
तीजी लघिमा वह कहवावै। पुष्प तुल्य हलका ह्वै जावै॥
चौथी गरिमा कहूँ विचारी। चाहै जितना होवै भारी॥
पंचवीं प्रापति सिद्धि कहावै। जित चाहै तित ही ह्वै आवै॥
छठवीं पराकाम्य गुण धरै। भक्ति पाप चाहै सो करै॥
सतवीं सिद्धि ईशिता रानी। सबको अज्ञा माहिं चलानी॥

वशीकरण विधि आठवीं, कहै श्री शुकदेव।
चाहै जिसको वश करै, अपना ही करि लेव॥
चरनदास सिद्धै कही, समझ लेहि मन माहिं।
जो है जनुआं राम के, इनमें उरझै नाहिं॥

समाधि

हठयोग की साधना का लक्ष्य तथा अंतिम स्तर 'समाधि' है। यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान तथा धारणा की साधना में उत्तीर्ण साधक 'समाधि' की अवस्था में प्रविष्ट होता है। इसी अवस्था पर पहुँचने के अनन्तर साधक सांसारिक माया, मोह तथा भ्रमों के जंजाल से ऊपर उठ जाता है। संसार के तुच्छ आदान-प्रदान, विधि-व्यवहार तथा सम्बन्ध उसे निःसार प्रतीत होने लगते हैं। साधना की इस स्थिति पर पहुँचने पर साधक की समस्त इंद्रियां शिथिल होकर स्वकार्य को भूल जाती हैं और साधक आत्मानन्द होकर विचरण करता है। समाधि के स्तर पर साधक इन्द्रियजित होकर वासनाओं से रहित हो जाता है। समाधि में मन की एकात्मकता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। इस अवस्था में साधक के समस्त शरीर में ध्येय का आतंक छा जाता है। साधक के हृदय एवं मस्तिष्क में केवल एक ही विचार और एक ही प्रकाश रह जाता है और यह विचार या प्रकाश है परब्रह्म का। साधक इसी प्रकाश पुञ्ज में स्वतः तल्लीन हो जाता है। महर्षि पतंजलि के शब्दों में :—

"तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥

—पा० यो० द०, विभूतिपाद ३, सूत्र ३

अर्थात्, ध्यान करते-करते चित्त ध्येय के ही आकार में परिणत हो जाता है। उस ध्येय और ध्याता की एकात्मकता, ज्ञाता एवं ज्ञेय की भिन्नता का अभाव ही 'समाधि' है। यथा नमक एवं पानी मिला देने से दोनों भेद रहित हो जाते हैं अथवा दुग्ध-दुग्ध में, घृत-घृत में जल-जल में मिला देने से भेद रहित हो जाते हैं, ठीक उसी प्रकार 'समाधि' की अवस्था में ध्याता और ध्येय एक हो जाते हैं। 'समाधि' का आश्रय ग्रहण किये बिना प्रत्येक चैतन्य का साक्षात्कार नहीं होता है। साधक का मन जाग्रत अवस्था में इन्द्रियों के माध्यम से रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं शब्द के रूपमें वाह्य प्रपंच का अनुभव किया करता है, उस समय प्रत्येक चैतन्य अन्तर्हित रहता है। परन्तु प्रत्येक चैतन्य के दर्शन इन्द्रियों के निरोध तथा निरुद्ध मन के द्वारा समाधि की अवस्था में सच्चिदानन्द स्वरूप में होता है। इसी के फल समस्त वाह्य प्रपंच तिरोभूत हो जाता है। 'जाबालदर्शनोपनिषद्' के मतानुसार जब साधक परब्रह्म के दर्शन परमार्थतः कर लेता है उस समय अखिल दृश्यजगत विलीन हो जाता है।[1] 'तेजोबिन्दुपनिषद' के अनुसार ब्रह्माकारवृत्ति के द्वारा अथवा सर्व-संकल्पनिवृत्ति के द्वारा चित्त की वृत्तियों को सर्वथा भूल जाने का नाम ही समाधि

१. जाबालदर्शनोपनिषद १०।१२

है।[१] 'अन्नपूर्णोपनिषद' के मत से ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण, समाधि शब्द उस संशयरहित मानसिक पूर्णता का वाचक है जिसमें आसक्ति का सर्वथा अभाव है और जिसमें सद-असद् विवेक भी नहीं है।[२] जीवात्मा और परमात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही समाधि कहते हैं।[३] 'मुक्तिकोपनिषद' में समाधि की निम्नलिखित परिभाषा दी गई है :—"मुनियों के द्वारा साधित समाधि उस संकल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार ही, जो आत्म ज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस प्रत्येक चैतन्य के अतिरिक्त सबका नाश है"[४] शांडिल्योपनिषद'में कहा गया है कि जीवात्मा और परमात्माकी एकता की अवस्था जिसमें ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयरूप त्रिपुटी का अभाव है तथा जो परमानन्द रूपा है और शुद्ध चैतन्यात्मिका है, वही समाधि है।[५] इन समस्त परिभाषाओं पर विचार करने से प्रकट होता है कि क्षुद्र अहं बुद्धि की निवृत्ति ही समाधि की स्थिति है। इस स्थिति में साधक का मन संकल्पों से सर्वथा शून्य हो जाता है। घेरंड ऋषि के मतानुसार शरीर से मन को भिन्न करके परमात्मा के साथ मिलाने की क्रिया को समाधि कहते हैं। इसके द्वारा सब प्रकार की अवस्थाओं से छूट कर साधक मुक्ति को प्राप्त करता है।[६]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विवेचन से समाधि के जितने आवश्यक तत्व एवं विशेषताएं प्राप्त होती हैं वही चरनदास द्वारा वर्णित 'अथ आठवां समाधि अंग वर्णन' में उपलब्ध होती हैं। कवि के अनुसार समाधि योग की चरम अभिव्यक्ति वही है जहां साधक को अपार सुख वा आनन्द का अनुभव होता है। जब सभी कामनाएं क्रियाएं और वासनाएं शांत हो जाती हैं, तभी समाधि की सिद्धि समझनी चाहिए। समाधि सिद्ध हो जाने की अवस्था में द्वैतभाव अर्थात् ध्याता एवं ध्याय का भेद विनष्ट हो जाता है। इस अवस्था में साधक को मुक्ति का लाभ होता है और वह निरुपाधि एवं निर्विकार प्रदेश में विचरता है। इस अवस्था में कर्म, भ्रम तथा धर्म की निस्सार शृङ्खलाएं विच्छिन्न हो जाती हैं। समाधि की स्थिति में पंच

---

१. तेजोविन्दुपनिषद १।३७

२. अन्नपूर्णोपनिषद १।५०

३. वही ५।७५

४. मुक्तिकोपनिषद २।५५

५. शांडिल्योपनिषद

६. घटाद्भिन्नं मनः कृत्वा ऐक्यं कुर्यात्परात्मनि।
समाधिं तद्विजानीयान्मुक्तसंज्ञो दशादिभिः॥

घे० स०—सप्तमोपदेशः, श्लोक ३

विषय और गुणों का संस्पर्श विनष्ट हो जाता है और साधक ब्रह्मस्वरूप होकर जीवन मुक्त हो जाता है। वेद, विद्या, ऋद्धि-सिद्धि आदि से परे समाधिस्थ साधक की स्थिति होती है। जिस भाग्यवान् साधक की आत्मा में रति समुपस्थित हो गई, जिसका मन पूर्ण शुद्ध वासनादि विकारों से रहित हो जाता है तथा जिस साधक को अनुपम विश्राम उपलब्ध हो गया है, उसके लिए संसार की कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं। इस अवस्था में ज्ञाता, ज्ञान तथा ज्ञेयरूप त्रिपुटी का अभाव है। कवि के शब्दों में ही समाधि का वर्णन पठनीय होगा :—

जबही लगै समाधि योगी आनन्द लहै।
योग भया सिध जानि क्रिया कोइ ना रहै॥
मिलि ध्याता अरु ध्यान एक होव जहां।
दूजा रहै न भाव मुक्ति बर्तै जहां॥
निरउपाधि निर्खेद ऐसा वह देश है।
करम भरम अरु धरम नहीं कोइ लेश है॥
आपार है न कोय सकल आशा गरै।
चिन्ता का दुख नाहि वासना सब जरै।
पंच विषय जहँ नाहि नहीं गुणती नहीं।
होवै ब्रह्म स्वरूप जीवता लीन ही॥
जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति जहँ होवै नहीं।
चौथे पद को पाय होय जहँ लीन हा॥
ऐसे कहै शुकदेव सुनौ चरणदास ही।
यह निर्द्वन्द्व समाधि करौ जहँ वास ही॥
जहां कछू गम ना रहै विद्या वेद न वाद।
ऋद्धि सिधि मिटि आनंद लहै ऐसी शून्य समाधि॥

चरनदास के मत से समाधि की स्थिति में चित्त अपनी चैत्य दशा से अर्थात् विषय चिन्तन से मुक्त हो जाता है तथा सद्भाव की भावना के प्रबल हो जाने से वासना का लय हो जाता है। वासना का निःशेषरूप ही मोक्ष है। इस स्थिति में साधक अपने आकार को बिसर कर ब्रह्म में एकात्मकता प्राप्त करता है। समाधि में हर्ष विषाद, सुख-दुख, निजत्व, परत्व, मायामोहादिक बन्धन, ऋतुओं के प्रभाव, मानसिक विकार, समय का प्रभाव एवं विभाजन आदि भावनाएं विच्छिन्न हो जाती हैं। साधक अपने अस्तित्व को खोकर ब्रह्म में उसी प्रकार मिल जाता है यथा जल में जल और दुग्ध में दुग्ध मिला देने से वे तद्रूप हो जाते हैं। समाधि में मोक्ष की लालसा भी विनष्ट हो जाती है :—

तहाँ किये परवेश रहै न आकार ही।
रूप नाम गुण क्रिया यही साकार ही।

पाप पुण्य सुख दुख जहाँ नहि पाइये।
सतमारग कुल धर्म न देत दिखाइये॥
भूख प्यास अरु उष्ण जहाँ नहि शीत है।
हर्ष शोक नहि नेक वैर नहि प्रीत है॥
इन्द्री मन नहि रहत गलत ह्वै जात है।
सिध साधक गुरु शिष्य न भाव रहात है॥
उडुगन चन्द्र न सूर न दिवस न रात है।
त्वं पद ईश्वर ब्रह्म न जान्यो जात है॥
जैसे जल में नीर क्षीर में क्षीर ही॥
असि पद में यों जीव नीर में क्षीर ही॥
अहं मिटै मिटि जाय जु आपा थोकही।
ना परमातम आतम बंधन मोषही॥
ऐसे कह शुकदेव यो होय समाधि में।
वैसो ही ह्वै जाय सोई था आदि में॥
हुता आदि परमातमा बिच उठि लगा विकार।
मिलि समाधि निर्मल भवै, लहै रूप ततसार॥[1]

---

१. चरनदास का 'समाधि वर्णन' सुन्दरदास के 'समाधि वर्णन' से बहुत कुछ साम्य रखता है। दोनों संत कवियों का इस दृष्टिकोण से तुलनात्मक अध्ययन बड़ा रोचक होगा। सुन्दरदास द्वारा वर्णित 'समाधि लक्षण' निम्नलिखित है :—

सुनि शिष्य अबहि समाधि लक्षण मुक्त योगी वर्तते।
तहं साध्य साधक एक होई क्रिया कर्म निवर्तते॥
निरुपाधि नित्य उपाधि रहितं इहै निश्चय आनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि बषांनिये॥
नहिं शीत उष्ण क्षुधा तृषा नहिं मूरछा आलस रहै।
नहिं जागरं नहिं सुप्न सुषुपति तत्पदं योगी लहै॥
इम नीर मंहि गरि जाइ लवनं एक में कहि जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषांनिये॥
नहि हर्ष शोक न सुखं दुःखं नहिं भान अमानयो।
पुनि मनौ इन्द्रिय वृत्य नष्टं गतं ज्ञान अज्ञानयो॥
नहिं जाति कुल नहिं वर्ण आश्रम जीव ब्रह्म न जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषांनिये॥

प्रस्तुत उद्धरण की अंतिम चार पंक्तियाँ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। 'समाधि' की स्थिति साधक अपने पूर्व रूप को प्राप्त कर लेता है। मनुष्य आदि में परब्रह्म स्वरूपी था किन्तु माया के आवरण में पड़कर वह विकारों से युक्त हो गया। 'समाधि' की स्थिति में पहुँच कर फिर उसका सच्चिदानन्द स्वरूप प्रकट हो गया और वह तत्व में मिलकर तत्व स्वरूपी बन गया।

प्रस्तुत उद्धरण के वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में एक बात और उल्लेखनीय है। चरनदास ने समाधि की अवस्था में ज्ञाता एवं ज्ञेय अथवा ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता को दो उपमाओं के द्वारा बहुत ही रोचक एवं स्पष्ट बना दिया है। जिस प्रकार पानी से पानी मिल जाने पर दोनों में कोई भी भेद नहीं रह जाता है अथवा दूध से दूध मिलकर दोनों एकत्व को प्राप्त कर लेते हैं, ठीक उसी प्रकार 'समाधि' की अवस्था में ध्याता और ध्येय मिलकर एक हो जाते हैं, उनमें लेशमात्र भी अन्तर नहीं उपलब्ध होता है। इसी प्रकार संत कवि सुन्दरदास ने अपने ग्रन्थ 'ज्ञान समुद्र' के तृतीयोल्लास में ध्याता एवं ध्येय की एकात्मकता को उपमाओं के द्वारा बड़ी रोचकता के साथ व्यक्त किया है।[1] प्रथम उपमा है जल में जल के मिल जाने की एकात्मकता से सम्बन्धित और द्वितीय है दुग्ध में मिल कर एकत्व स्थापना की। इन दो उपमाओं के अतिरिक्त सुन्दरदास ने समाधिस्थ साधक और परब्रह्म की एकात्मकता को व्यक्त करने के लिए नमक और पानी की एकता

नहिं शब्द सपरश रूप रसे गन्ध जानय रचहूँ।
नहिं काल कर्म स्वभाव है नहिं उदय अस्त प्रपंचहूँ॥

ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास, ८५-८६

इन पंक्तियों की तुलना चरनदास के समाधि लक्षण वर्णन से करने पर ज्ञात हो जाता है कि दोनों में वर्ण्य विषय का कितना साम्य है। दोनों की साधनात्मक अनुभूति में कोई अन्तर नहीं है। संत कवि दादू ने कितना सत्य कहा है कि:—

जे पहुँचै ते कह गए तिनकी एकै बात।
सबै सयाने एक मति तिनकी एकै जात॥

१. छीर छीरे आज्य आज्ये जले जलहि मिलाइये।
कछु भिन्न भाव न रहै कोऊ सो समाधि बषानिये॥
नहि देव दैत्य पिशाच राक्षस भूत प्रेत न संचरै।
नहिं पवन पानी अग्नि भय पुनि सर्प सिंहहि ना डरै॥
नहिं मंत्र-मंत्र न शास्त्र लागहि यह अवस्था जानिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सो समाधि बषानिये॥

ज्ञान समुद्र—तृतीयोल्लास, ८५-८६

की उपमा दी है।[1] इस प्रकार संत कवि चरनदास और सुन्दरदास के विषय प्रतिपादन से विषय स्पष्ट और बोधगम्य बन जाता है।

संत चरनदास के मत से समाधि की अवस्था में पूजा, अर्चना, उपासना, भक्ति, ज्ञान तथा ध्यान आदि समस्त साधन निस्सार हो जाते हैं। साधक ब्रह्ममय हो जाने के अनन्तर इन समस्त साधनों को बिसर जाता है अथवा कहिए कि ये इतने हीन और क्षुद्र प्रतीत होने लगते हैं कि वह इनके प्रति ध्यान ही नहीं देता है। यही नहीं समाधिस्थ साधक जड़ और चेतन के भेद को भी नगण्य मानता है। कारण कि ब्रह्ममय हो जाने के अनन्तर वह संत कवि मलूकदास के समान अनुभव करने लगता है कि :—

सबहिन के हम सबहिं हमारे।
जीव जन्तु मोहिं लगै पियारे॥

साधक समाधिस्थ हो जाने के अनन्तर सृष्टि और माया के वास्तविक रहस्य को समझ लेता है, इसीलिए वाह्याडम्बर और वाह्याचार से उसकी आस्था डिग जाती है। इस दृष्टि से संत चरनदास का समाधि विषयक निम्नलिखित अनुभव पठनीय होगा :—

जहं आतमदेव अभेव सेव्य नहि सेव है।
स्वामी जी हां नाहिं पूजा नहि देव है॥
नौधा नेम न प्रेम ज्ञान नहि ध्यान है।
जड़ चेतन कछु नांहिं सुरति नहिं ज्ञान है॥
विधि निषेध नहिं भेद अन्वैवितरेकना।
निश्चय अरु व्यवहार कछू ता में न हां॥
उत्तम मध्यम भाव न शुभना अशुभ है।
सिंह सर्प डर नांहिं औ शस्तर कौन भै॥
पावक दग्ध न करे बहावै जल नहीं।
हां नहिं पहुँचै काल न ज्वाला है तहीं॥
ऐसा भवन समाधि भाग्य सों पाइये।
तजि के जक्त उपाधि तहां मठ छाइये॥
यतन करै लख मांहि और सब भेष ही।
कोटिन में कोइ होय समाधी एक ही॥
हां तक पहुँचै जाय सोई सिध साध है।
कहै शुकदेव पुकारि जु कठिन समाधि है॥

---

१. इम नीर मंहिं गरि जाइ लवनं एक मेकहि जांनिये।
कछु भिन्न भाव रहै न कोऊ सा समाधि वषांनिये॥

समाधि के लक्षणों, अनुभवों और विभिन्न स्थितियों के वर्णन के अनन्तर कवि ने समाधि के विभिन्न भेदों का उल्लेख किया है। यद्यपि कवि ने समाधि के इन भेदों का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है तथापि विषय प्रतिपादन की दृष्टि से उनका अपना महत्व और उपयोगिता है। चरनदास के 'समाधि भेद प्रकरण' पर विचार करने के पूर्व समाधि के शास्त्रीय भेद विभेदों का अध्ययन अपेक्षित होगा।

समाधि के छः भेद माने गये हैं :—

१. अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि। २. अन्तरशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। ३. अन्तर्निर्विकल्प समाधि। ४. वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि। ५. वाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि। ६. वाह्यनिर्विकल्प समाधि।

अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि :—आन्तरिक दृश्य रूप वृत्तियों को साक्षी में लीन करना ही अन्तर्दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है। 'अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः' आदि श्रुति के श्रवण एवं चिन्तन से स्वयं प्रकाश रूप आत्माकार वृत्ति धारण करना **अन्तरशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधि है।** चित्त की स्थिति का 'यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता' अथवा अचल दीपवत् हो जाता है, अर्थात् दृश्य एवं शब्द दोनों ही सम्बन्धों से छूटकर अचल दीप शिखा सी साक्ष्याकार वृत्ति हो जाना ही **अन्तर्निर्विकल्प समाधि है।** वाह्यजगत् के पदार्थों के देखने से समुत्पन्न होने वाली नाम रूपाकार वृत्ति का परित्याग करके ब्रह्मांश का अनुसंधान करना **वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।** "सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म सदेव सोम्येदमग्र आसीत" आदि वाक्यों से चराचर जगत का ब्रह्म रूप से चिन्तन करना **वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है।** वाह्यदृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि तथा वाह्यशब्दानुविद्ध सविकल्प समाधियों के अभ्यास से समुत्पन्न स्थिति जिसमें वृत्ति निस्तरंग होकर ब्रह्माकार होता है, उस स्थिति को वाह्यनिर्विकल्प समाधि कहते हैं। इन षट् समाधियों में से प्रथम तीन समाधियों की साधना साधक अपने ही अन्दर करता है। परन्तु शेष तीन की साधना के हेतु उसे समस्त द्वैतनिवृत्ति के लिए वाह्य दृश्य जगत् का भी सहारा लेना पड़ता है।[1]

'घेरंड संहिता' में निम्नलिखित षट् समाधियों का उल्लेख मिलता है:—[2]

---

१. यथासमाधित्रितयं यत्नेन क्रियते हृदि।
तथैव वाह्यदेशेऽपि कार्यं द्वैतनिवृत्तये॥

—सर्ववेदांतसिद्धांतसार संग्रह

२. शांभव्या चैव खेचर्या भ्रामर्या योनिमुद्रया।
ध्यानं नादं रसानन्दं लयसिद्धिश्चतुर्विधा॥
पंचधा भक्तियोगेन मनोमूर्च्छा च षड्विधा।
षड्विधोऽयं राजयोगः प्रत्येकमवधारयेत्॥

घे० सं०—सप्तमोपदेशः, ५ तथा ६

१. ध्यानयोग समाधि २. नादयोग समाधि ३. रसानन्द योग समाधि ४. लयसिद्धि योग समाधि ५. भक्तियोग समाधि ६. राजयोग समाधि।

साधक सर्वप्रथम शाम्भवी मुद्रा का अनुष्ठान करके आत्म प्रत्यक्ष करे और फिर विन्दुमय ब्रह्म का दर्शन करता हुआ उस विन्दु-स्थल में मन को नियोजित करे। तदनन्तर शिर में स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश के मध्य में आत्मा को लाये और इसके पश्चात् शिर में स्थित ब्रह्मलोकमय आकाश को जीवात्मा में लीन करे। इस प्रकार जीवात्मा को ब्रह्म में लीन करके मुक्त हो जाना ही 'ध्यान योग समाधि' है।[1] खेचरी मुद्रा का अनुष्ठान करके रसना को ऊपर रखे। इस क्रिया के द्वारा समस्त साधारण क्रियाएँ छूट जाती हैं तथा साधक समाधि सिद्धि को प्राप्त कर लेता है। इस 'समाधि' को 'नादयोग समाधि' कहते हैं।[2] भ्रामरी कुम्भक को करता हुआ योगी शनैः-शनैः श्वाँस वायु को छोड़ दे। इस साधना को करते समय शरीर के अन्तर्गत भौंरे के गुञ्जन का शब्द प्रतिश्रुत होता है। शरीर में जिस स्थान पर यह भ्रमर का गुंजन नाद होता है उस स्थान पर मन को लगा देना ही रसानन्दयोग समाधि है।[3] योनि मुद्रा का अनुष्ठान करता हुआ साधक अपने मन में शक्ति रूप की भावना करे अर्थात् अपने में ही स्त्री और परमात्मा में पुरुष रूप की भावना करे। तदनन्तर पुरुष स्वरूप ब्रह्म के साथ स्त्री रूप अपने शरीर के विहार की कल्पना करे। इस काल्पनिक विहार से समुत्पन्न आनन्द रस में योगी पूर्णतया निमग्न होता हुआ ब्रह्म के साथ एकात्मकता की भावना को दृढ़ करे। इस प्रकार की समाधि को

---

१. शाम्भवीमुद्रिकां कृत्वा आत्मप्रत्यक्षमानयेत्।
विन्दुब्रह्म सकृद् दृष्ट्वा मनस्तत्र नियोजयेत्॥
खेमध्ये कुरु चात्मानं आत्ममध्ये च खं कुरु।
आत्मानं खमयं दृष्ट्वा न किंचिदपि बाध्यते॥
सानन्दमयो भूत्वा समाधिस्थो भवेन्नरः॥

घे० सं०—सप्तमोपदेशः, ३ तथा ८

२. साधनात्खेचरी मुद्रा रसनोर्ध्वंगता सदा।
तदा समाधिसिद्धिस्स्याद्धित्वा साधारणक्रियाम्॥

घे० सं०—सप्तमोपदेशः, ९

३. अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरी कुम्भकं चरेत्।
मन्दं मन्दं रेचयेद्वायुं भृङ्गनादं ततो भवेत्॥
अन्तःस्थं भ्रामरी नादं श्रुत्वा तत्र मनोनयेत्।
समाधिः जायते तत्र आनन्दः सोऽहमित्युत॥

घे० सं०—सप्तमोपदेशः, १० तथा ११

लय सिद्धियोग समाधि कहते हैं।[1] परम भक्ति और आह्लाद के साथ साधक हृदय में ब्रह्म का चिन्तन करे। इस प्रकार की भावना के घनीभूत होने पर शरीर पुलकायमान हो जाता है और आनन्दाश्रु बहने लगते हैं। साधक का मन अचेत हो जाता है और एकाग्रता बढ़ जाती है। इसी स्थिति को भक्तियोग समाधि कहते हैं।[2] मनोमूर्च्छा कुम्भक का अभ्यास करता हुआ साधक परब्रह्म में मन को नियोजित करे। परब्रह्म के साथ संयोग की भावना से सिद्धि प्राप्त हो जाती है। इस स्थिति को राजयोग समाधि कहते हैं।[3]

योग दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में उल्लिखित समाधि के भेदों पर विचार कर लेने के अनन्तर अब संत कवि चरनदास द्वारा वर्णित समाधि के विविध भेदों का विवेचन करना अपेक्षित है। चरनदास ने 'समाधि' अंग वर्णन के अन्तर्गत समाधि के तीन भेदों का उल्लेख किया है :—

> भक्ति योग और ज्ञान की, त्रैविधि कहूं समाधि।
> गुरु मिलै तौ सुगम है, नाहि कठिन अगाधि॥

कवि द्वारा वर्णित समाधि के तीन भेदों में भक्ति समाधि सर्वप्रथम है। कवि के अनुसार समस्त इन्द्रियों का निरोध और स्ववश करने के अनन्तर मन को ब्रह्म में नियोजित करे। चित्त से अहंकार और द्वैत भावना के मिट जाने पर जब ध्याता, ध्येय तथा ध्यान का भेद न रह जाय, जब क्षिप्त मन के समस्त संकल्पाभाव विनष्ट होकर निर्मूल हो जाय और साधक की समस्त सुरति मिट जाय तो उस स्थिति को

---

१. योनिमुद्रां समासाद्य स्वयं शक्तिमयो भवेत्।
सुशृङ्गाररसेनैव विहरत्परमात्मनि॥
आनन्दमयः स भूत्वा ऐक्यं ब्रह्मणि संभवेत्।
अहं ब्रह्मेति वा द्वैतं समाधिस्तेन जायते॥
घे० सं०—सप्तमोपदेशः, १२ तथा १३

२. स्वकीयहृदये ध्यायेदिष्टदेवस्वरूपकम्।
चिन्तयेद्भक्तियोगेन परमाह्लादपूर्वकम्॥
आनन्दाश्रुपुलकेन दशाभावः प्रजायते।
समाधिः संभवेत्तेन सम्भवेच्च मनोन्मनिः॥—वही, १४-१५

३. मनोमूर्छां समासाद्य मन आत्मनि योजयेत्।
परात्मनः समायोगात् समाधिं समवाप्नुयात्॥—वही, १६

'भक्ति समाधि' कहते हैं। संत चरनदास के शब्दों में अब भक्ति समाधि का वर्णन पढ़िये :—

सब इन्द्रिन को रोकिकै, करि हरि चरणन ध्यान।
बुद्धि रहै सुरत रहै, तौ समाधि मत मान ॥
ध्याता बिसरै ध्यान में, ध्यान होय लय ध्येह।
बुद्धि लीन सुरत न रहै, पद समाधि लखि लेह ॥

प्रस्तुत उद्धरण में 'भक्ति समाधि' के तीन आवश्यक तत्व माने गये हैं। प्रथम है इन्द्रियों का निरोध, द्वितीय है सुरति का विनाश तथा तृतीय है ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकात्मकता। चरनदास द्वारा उल्लिखित 'भक्ति समाधि' और विगत पृष्ठ में 'घेरंड संहिता' द्वारा प्रतिपादित भक्तियोग समाधि की तुलना करने पर प्रकट होता है कि दोनों में प्रायः कोई भी साम्य नहीं है। ऋषि घेरंड ने भक्ति योग समाधि में चार तत्वों को आवश्यक माना है। ये तत्त्व हैं अचल भक्ति पूर्वक इष्ट देव का स्मरण, चित्त की एकाग्रता, आनन्दाश्रु का प्रवाह एवं शरीर का पुलकायमान होना तथा परब्रह्म का साक्षात्कार। परन्तु साधक की जिन-जिन मानसिक एवं शारीरिक अवस्थाओं का वर्णन चरनदास ने किया है उनमें से इसमें एक भी नहीं। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि चरनदास वर्णित 'भक्ति समाधि' परम्परागत सैद्धांतिक विचार धारा का आधार लेकर नहीं चलती हैं, वरन् यह कवि के मौलिक चिन्तन का फल है।

कवि द्वारा वर्णित समाधि का द्वितीय भेद है योग समाधि। कवि के मत से साधक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि के द्वारा प्राण वायु का नियंत्रण करता हुआ षट्चक्र का भेदन करके, अपना अस्तित्व और समस्त संकल्प-विकल्प एवं क्रियाओं का लोप करता हुआ चित्त को शून्य ब्रह्म में नियोजित करता है और यही योग समाधि है। कवि के शब्दों में :—

आसन प्राणायाम करि, पवन पंथ गहि लेहि।
षट् चक्कर को छेद करि, ध्यान शून्य मन देहि ॥
आपा बिसरै ध्यान में, रहै सुरत नहि नाद।
लीन होय किरिया रहित, लागै योग समाध ॥

यह 'योग समाधि', अष्टांग योग की अंतिम अवस्था है। 'हठयोग प्रदीपिका' तथा 'पातंजलि योग सूत्र' में इसका वर्णन योग साधना की अंतिम अवस्था या स्थिति के रूप में किया गया है। उल्लेखनीय बात यह है कि कवि ने उसका सीधे-साधे शब्दों में तथा संक्षेप में वर्णन कर दिया है और सविस्तार प्रतिपादन नहीं किया है।

चरनदास के अनुसार 'समाधि' का तृतीय भेद है 'ज्ञान समाधि' जिसका वर्णन निम्नलिखित शब्दों में हुआ है :—

जब लग तत्व विचारि करि, कहै एक अरु दोय।
ब्रह्मव्रत बांधे रहे, ह्यां लग ध्यानहि होय॥
मैं तू यह वह भूलि करि, रहै जू सहज स्वभाव।
आपा देहि उठाय करि, ज्ञान समाधि लगाय॥
ज्ञान रहित ज्ञाता रहित, रहित ज्ञेय अरु जान।
लगी कभी छूटै नहीं, यह समाधि विज्ञान॥
पूछें आठो अंग तें, योग पंथ की बात।
शुकदेव कहै ता में चलौं, गुरु कृपा लै साथ॥

इस ज्ञान 'समाधि' का उल्लेख न तो 'पातंजलि योगसूत्र' में मिलता है और न 'घेरंड संहिता' आदि ग्रन्थों में ही, अतः यह भी कवि का अपना मौलिक चिन्तन है।

भक्ति

महर्षि शांडिल्य के मत से, "ईश्वर में परम अनुरक्ति ही भक्ति है।"[1] महर्षि नारद के शब्दों में, "भगवान में परम प्रेम का होना ही भक्ति है।"[2] भक्त प्रवर प्रह्लाद के अनुसार, "अज्ञानियों का इन्द्रिय-विषयों में जितना अधिक आग्रह देखा जाता है, उसके प्रति वैसा ही आग्रह और आसक्ति ही भक्ति है।[3]" स्वामी विवेकानन्द के शब्दों में, "कपट छोड़कर ईश्वर की खोज का नाम भक्ति है।"[4] 'श्रीमन्न्यायसुधा' में योगिराज श्रीमज्जयतीर्थमुनीन्द्रजी ने भक्ति की परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"तत्र भक्तिर्मर्भिनिरवधिकानन्तानवद्यकल्याणगुणत्त्वज्ञानपूर्वकः स्वस्वात्मात्मीयसमस्तवस्तुभ्योऽनेकगुणाधिकोऽन्तराय सहस्त्रेणाप्यप्रतिबद्धा निरन्तरप्रेमप्रवाहः।"

अभिप्राय यह है कि अपरिमित, अनवद्य, कल्याणकारी गुणों के ज्ञान से समुत्पन्न, अपने सभी सम्बन्धियों एवं पदार्थों से ही क्या, प्राणों से भी कई गुना अधिक सहस्रों विघ्नों के समुपस्थित हो जाने पर भी न विच्छिन्न होने वाले, अत्यन्त सुदृढ़, अखंड प्रेम के प्रवाह को 'भक्ति' कहते हैं। 'भक्ति' की इसी परिभाषा से साम्य

---

१. 'सा परानुरक्तिरीश्वरे'—शांडिल्य सूत्र, प्रथम अ० सूत्र २

२. 'ॐ सा कस्मै परमप्रेमरूपा'—भक्ति सूत्र १।२

३. या प्रीतिरविवेकानाम् विषयेष्वनपायिनी।
तामनुस्मरतः सा मे हृदयान्नापसर्पतु॥
—विष्णुपुराण, अंश १, अध्याय २०, श्लोक १६

४. 'भक्ति'—स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ १, प्रथम संस्करण १६८० वि०

रखती हुई एक और परिभाषा है। श्रीनरसिंहाचार्य बरखेडकर के मत से, "जिस अखंड स्नेह धारा में सदा सर्वदा एकमात्र भगवान् ही विषय है, अन्य नहीं, वही उत्कृष्ट अथवा अनन्य, 'भक्ति योग' है"।

'भक्ति' शब्द की व्युत्पत्ति 'भज्' धातु से हुई है जिसका अर्थ सेवा करना होता है। भगवत् सेवा करने की स्थिति में ही 'भक्ति' का स्वरूप विनिर्मित होता है हिन्दू धर्म के अन्तर्गत भक्ति का जन्म कब हुआ, यह प्रामाणिक और अधिकृत प से नहीं कहा जा सकता है। परन्तु इसका विकासशील प्रारम्भिक स्वरूप वेद मंत्रों में भी दृष्टिगत होता है। कालान्तर में इसका विकास वेद मंत्रों[१], ब्राह्मण ग्रन्थों, वेदों, उपनिषदों[२] में हुआ। 'भक्ति' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उपनिषदों में हुआ है; किन्तु जिस 'भक्ति' का बीजन्यास वेद मंत्रों में और प्रस्फुटन उपनिषदों में होता है, वह महाभारत काल के आस-पास पूर्ण विकास को प्राप्त होती है।[३]

प्रेम, अनुग्रह और भक्ति तीनों शब्द पर्याय हैं। 'माठर श्रुति' के अनुसार "भक्ति ही मोक्ष का कारण है। ब्रह्म भी इसी भक्ति के आधीन है।"[४] 'कंठश्रुति' में भी "भगवान् की प्रसन्नता का असाधारण कारण भक्ति ही मानी गई है।"[५]

'भक्ति' का प्रकाशन अनेक भावों से सम्भव होता है।[६] इनमें से श्रद्धा हृदय की वस्तु है। श्रद्धा का मूल प्रेम है। जहां प्रेम का अभाव है वहां श्रद्धा नहीं हो सकती है। भक्ति प्रकाशन का द्वितीय भाव भगवच्चिन्तन में आनन्द का अनुभव करना है। तृतीय भाव है विरह, प्रेम अथवा भक्ति के साध्य का अभाव दुख ही विरह है। इन तीनों के माध्यम से भक्ति का प्रकाशन होता है। भगवान् रामानुज ने अपने 'वेदान्तभाष्य' में भक्ति प्राप्ति के सप्त साधनों का उल्लेख किया है। ये सप्त साधन निम्नलिखित हैः—

---

१. 'भक्ति'—स्वामी विवेकानन्द, पृष्ठ ४८, प्रथम संस्करण १६८० वि०

२. तैत्तरीय उपनिषद्, २७ तथा श्वेताश्वतर उप० ६-२३

३. 'हिन्दी साहित्य पर संस्कृत का प्रभाव', १४-३

४. भक्तिरेवैनं नयति भक्तिवशः पुरुषः।

५. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू-स्वाम्॥

६. सम्मावबहुमान प्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमाख्यति तदर्थ प्राणस्थानतदीयता सर्व्वतदभावा प्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्।
—शांडिल्य सूत्र, अ० २, आ १ सूत्र ४

१. विवेक २. विमोक ३. अभ्यास ४. क्रियां ५. कल्याण ६. अनवसाद तथा ७. अनुद्धर्ष।

'दि पाथ आव् डिव्हाशन' में स्वामी परमानन्द ने भक्ति के निम्नलिखित आवश्यक आधार माने हैं :—

१. पवित्रता, २. स्थिरता, ३. निर्भयता एवं ४. आत्म समर्पण।

इन सप्त साधनों और चतुष्ट आधारों के माध्यम से भक्ति दृढ़ और स्थायी बनती है। भक्ति स्वयं फलरूपा मानी गई है।[1] इसीलिए वह निःहेतुक मानी गई है। गीता में भक्ति के इसी रूप को प्रमुखता प्रदान की गई है। प्रेम की अखंडता और अक्षुण्णता निष्काम भाव में ही सीमित है। भक्ति अमृत-स्वरूपा मानी गई है। उसके स्वाद और माधुर्य का अनुभव लोकोत्तर माना गया है। इस स्वाद का आस्वादन कर लेने के अनन्तर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, ऋद्धि-सिद्धियां सभी तुच्छ प्रतीत होती हैं।

'आध्यात्म रामायण' में भक्ति को नवविद्या माना गया है।[2] 'भागवत' में इसे नवलक्षणा कहा गया है।[3] गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरित मानस' में भक्ति को नवधा माना है।[4] भागवत में प्रयुक्त नवलक्षणा शब्द भी इस अर्थ का वाहक है। भागवत में भक्ति के नौ भेदों का उल्लेख किया गया है :—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोस्स्मरणं पादसेवनं।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

—भागवत ७. ५. २३

चरनदास जी ने भक्ति सम्बन्धी अपने विचारों का प्रकटीकरण विशेष रूपेण दो ग्रन्थों—'भक्ति सागर वर्णन' तथा 'भक्ति पदार्थ वर्णन' में किया है। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिए कि कवि ने इन ग्रन्थों में भी भक्ति के शास्त्रीय पक्ष पर अपने विचारों को अधिक नहीं प्रकट किया है। इन ग्रन्थों में कवि ने भक्ति की महत्ता, भक्ति के द्वारा मुक्ति अर्जन करने वाले साधकों के नाम, भक्ति की आवश्यकता, भगवान् को प्रसन्न करने में भक्ति का स्थान और महत्ता आदि का वर्णन किया है।

---

१. स्वयं फलरूपतेति ब्रह्मकुमारा—नारदभक्तिसूत्र ३०

२. नवविद्या भक्ति—आध्यात्म रामायण, आरण्यकाण्ड, १०।२७

३. भक्तिश्चेन्नवलक्षणा—भागवत ७।५।२३

४. नवधा भगति कहउं तोहि पाही।

'भक्ति पदार्थ वर्णन' में कवि ने गुरु की महत्ता, सद्गुरु के लक्षण, सद्गुरु की साधना में योगदान, सद्गुरु के समक्ष आत्म-समर्पण, हरि और गुरु की एकता, भक्तों एवं संतों की सेवा का माहात्म्य और फल, सत्संग, ब्रह्म की सर्वशक्ति सम्पन्नता, ब्रह्म का रूप और महत्ता, सद्गुरु की कृपा से ज्ञाता ज्ञेय-और ज्ञान में ऐक्य स्थापन, नवधा भक्ति की विशेषता और उसके अंग तथा अंत में उसके महत्वपूर्ण प्रभाव का वर्णन कवि ने किया है। इस वर्ण्य-विषय सूची को देखने से स्पष्ट हो जाता है। यों तो वर्णित सभी विषय एक-दूसरे से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध है और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से इनका सम्बन्ध भी भक्ति से स्थापित किया जा सकता है; परन्तु सत्य तो यह है कि नवधा भक्ति पर उल्लिखित लेखक के विचारों का ही भक्ति से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

अब 'भक्ति पदार्थ वर्णन' में भक्ति विषयक लेखक की विचार-धारा का परीक्षण आवश्यक है। इस ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय है नाम, नाम जप का माहात्म्य, नाम की महिमा, नाम का भक्ति में बाधक काम, क्रोध, मोह, लोभ, अभिमान, माया, मन तथा सहायक तत्व, शील, दया[1] गुरुमुख का लक्षण। इस वर्ण्य-विषय को देखने पर भी स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने भक्ति के शास्त्रीय पक्ष की विवेचना नहीं की है वरन् उसने भक्ति की स्थूल रूपरेखा अभिव्यक्त करके भक्ति के विषय में सामान्य जनता को उपदेश देने का प्रयत्न किया है।

इन दोनों ग्रन्थों में 'भक्ति' से सम्बन्धित वर्ण्य विषय 'भक्ति' की किसी एक विशिष्ट शैली, प्रक्रिया अथवा प्रणाली का क्रमबद्ध रूप एवं आकार प्रस्तुत करने में सहायक नहीं है। इससे स्पष्ट है नवधा-भक्ति के अतिरिक्त भक्ति विषयक अन्य किसी विचार धारा अथवा प्रणाली को महत्वपूर्ण नहीं माना है।

अब कवि द्वारा वर्णित 'नवधा भक्ति' का अध्ययन करने के लिए सर्वप्रथम नवधा भक्ति के परम्परागत शास्त्रीय पक्ष की विवेचना कर लेना उपयोगी होगा। कारण कि तभी हम निश्चय पूर्वक यह सिद्ध कर सकते हैं कि हमारे कवि ने कहाँ तक परम्परागत चिन्तन को अपनी विचार धारा का आधार बनाया है और कहाँ तक वह स्वतः मौलिक प्रतिपादन करने में सफल हुआ है।

'नवधा भक्ति' का सर्वप्रथम अंग है 'श्रवण'। ब्रह्म के नाम, चरित्र एवं गुण आदि के 'श्रवण' का नाम ही 'श्रवण-भक्ति' है।[2] गरुणपुराण में कहा गया है कि "संसार रूपी विषैले सर्प से डस जाने के कारण जो मनुष्य चेतन हीन

---

१. दार्शनिक विचारों के साथ इन विषयों पर विचार प्रकट किये जा चुके हैं।

२. श्रवणं नामचरितं गुणादीनां श्रुतिर्भवेत्।

हो गया है उसके लिये श्रीकृष्ण रूपी वैष्णव मंत्र एकमात्र औषधि है जिसके श्रवण-मात्र से मानव मुक्ति प्राप्त कर लेता है ।[1]"

'श्रवण' के अनन्तर 'कीर्तन' नवधा भक्ति का द्वितीय अंग है । ब्रह्म के नाम, लीला एवं गुण आदि का उच्च स्वर से उच्चारण करने का नाम कीर्तन है ।[2] 'श्री विष्णु धर्म' के अनुसार कृष्ण, यह परम मंगल मय नाम जिसकी वाणी में रहता है उसके कोटिशः महापातक विनष्ट हो जाते हैं ।"[3] 'श्रीमद्भागवत' में भी लिखा है कि "श्री कृष्णचन्द्र के गुणों का कीर्तन ही उत्तम श्लोक है । कवियों ने तपस्या, यज्ञ, मन्त्र पाठ और दान का नित्य फल वर्णन किया है ।"[4]

'कीर्तन' के अनन्तर 'स्मरण' नवधा भक्ति का तृतीय अंग है । ब्रह्म के साथ मन का किसी प्रकार से सम्बन्ध हो जाना ही 'स्मरण' है ।"[5] 'पद्मपुराण' के अनुसार "मृत्यु के समय वा जीवन काल ही में, जिनके नाम का स्मरण करने वाले पुरुषों के पाप अविलम्ब विनष्ट हो जाते हैं उन सच्चिदानन्द ब्रह्म श्रीकृष्ण को हम प्रणाम करते हैं ।"[6]

'पाद सेवन' नवधा भक्ति का चतुर्थ अंग है । ब्रह्म के पादपद्म की सेवा अथवा ध्यान अथवा भजन करना ही 'पाद सेवन' है । प्रथम प्रकार की पाद सेवा दुर्लभ है । यह सेवा गोपियों तथा हनुमान आदि को ही सुलभ थी ।

'अर्चन' का स्थान 'पाद सेवन' के अनन्तर आता है । शुद्धि, मातृकान्यास आदि का निर्वाह करके मंत्रों के द्वारा पुष्प, गंधादि उपचारों का समर्पण ही सेवा

---

१. संसारसर्पसन्दष्टनष्टचेष्टैकभेषजम् ।
कृष्णेति वैष्णवं मंत्रं श्रुत्वा मुक्तोभवेन्नराः ॥

२. नाम लीलागुणादीनामुच्चैर्भाषा तु कीर्तनम् ।

३. कृष्णेति मंगलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते ।
भस्मी भवन्ति राजेन्द्र महापातक कोटयः ॥

४. इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
अविच्युतोर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ॥

५. यथा कथंचिन्मनसा सम्बंधः स्मृतिरुच्यते ।

६. प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नाम स्मरतां नृणाम् ।
सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने ॥

है।[1] 'अर्चन' वाह्य सामग्रियों के द्वारा अथवा मनः कल्पित सामग्रियों के द्वारा भी सम्भावित हो सकता है।

'अर्चन' के अनन्तर 'वन्दन-भक्ति' का स्थान है। 'वन्दन' का अर्थ है 'प्रणाम'। ब्रह्म के श्री चरणों में श्रद्धा-भक्तिपूर्वक अनन्य भाव से प्रणाम करना 'वन्दन भक्ति' है। श्रीमद्भागवत में भगवान ने स्वयं प्रणाम करने की निम्नलिखित विधि बताई है :—

स्तवैरुच्चावचैः स्तोत्रैः पौराणैः प्राकृतैरपि।
स्तुत्वा प्रसीद भगवन्निति वन्देत् दंडवत्॥
शिरोमत्पादयोः कृत्वा बाहुभ्यां च परस्परम्।
प्रपन्न पाहि मामीश भीतं मृत्युग्रहार्णवात्॥

—श्रीमद्भागवत ११।२७।४५,४६

'दास्य भक्ति' का नवधा भक्ति में सप्तम स्थान माना गया है। श्रद्धा एवं प्रेम पूर्वक दास की भांति ब्रह्म की सेवा करना 'दास्य भक्ति' है। भगवान् में कर्मों का अर्पण करना दास्य कहलाता है।[2] परिचर्या आदि भी इसी के भाग हैं। प्रत्येक भक्त को मनसा, वाचा और कर्मणा ब्रह्म का दास बनने की लालसा जाग्रत करना चाहिए।

'सख्य भक्ति' का स्थान दास के पश्चात् आता है। "विश्वासो मित्रवृत्तिश्च सख्यद्विविधमीरितम्" अर्थात् ब्रह्म में अटल विश्वास और उनके साथ सखा का बर्ताव, ये दोनों ही सख्य भक्ति कहे गये हैं। इसमें मित्रता की भावना प्रधान रहती है। सख्य भक्ति का अधिकार ब्रह्म की इच्छा पर ही निर्भर है।

'आत्म निवेदन' नवधा भक्ति का अंतिम भेद है। मन से समस्त अहंकार का परित्याग करके तन, मन, धन और परिजन सहित अपने पाप को श्रद्धा सहित अर्पण कर देना 'आत्मनिवेदन भक्ति' है। 'आत्म निवेदन' करनेवाला भगवान का अनन्य भक्त माना गया है। उसके लिए कुछ भी प्राप्तव्य शेष नहीं रह जाता। शरणागति भी 'आत्मनिवेदन' ही है। भगवान् के अतिरिक्त शरणागत साधक को कैवल्य तक की आकांक्षा शेष नहीं रहती है :—

न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यं।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥[3]

---

१. शुद्धिन्यासादिपूर्वाङ्गकर्मनिर्वाहपूर्वकम्।
अर्चनं तूपचाराणां स्यान्मन्त्रेणोपपादनम्।

२. दास्यं कर्मार्पणं तस्य कैङ्कर्यमपि सर्वथा।

३. श्रीमद्भागवत ११।१४।१४

कवि चरनदास के अनुसार 'नवधा भक्ति' के विविध अंग निम्नलिखित हैं:—

नवधा भक्ति समारि अंग नौ जानि ले।
स्रवन चितवन और कीर्तन मानि ले॥
सुमिरन बंदन ध्यान और पूजा करो।
प्रभु सूं प्रीति लगाय सुरति चरनन धरो॥
होकर दासहि भाव साधु संगति रलो।
भक्तन की करि सेव यही मति है भलो॥
आपा अर्पन देइ धीर्ज दृढ़ता गहो।
छिमा सील संतोष दया धारे रहो॥

प्रस्तुत उद्धरण में कवि ने जिन भक्ति के नौ प्रकारों का उल्लेख किया है वे सभी परम्परागत नवधा भक्ति सम्मत हैं। इस नवधा भक्ति का उल्लेख कर देने के अनन्तर कवि ने नवधा भक्ति का महत्व निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है:—

यह जो मैंने कहा वेद का मूल है।
जोग ज्ञान वैराग सबन का फूल है॥
प्रेमी भक्त के ताप पाप तीनों नसै।
अर्थ धर्म काम मोछ सकल ता में बसै॥
जो राखै मन माहि विवेक विचार कूं।
पावै पद निर्वान बचै जग भार सूं॥

कलिकाल में भवसागर से उत्तीर्ण होने के लिए नवधा भक्ति ही श्रेष्ठ साधन है। प्रह्लाद, अक्रूर, लक्ष्मी, राजा पृथु, बलि, हनुमान, अर्जुन, परीक्षित, शुकदेव आदि धर्म के क्षेत्र में इसी नवधा भक्ति के कारण ही आज पूज्य हैं। इनमें से प्रत्येक ने भक्ति के एक न एक प्रकार को ग्रहण किया और साधना में सफलता प्राप्त की। कवि के शब्दों में :—

जन प्रह्लाद तरो सुमिरन ते बन्दन सूं अक्रूर।
चरन कमल की सेवा सेती लछमी रहत हजूर॥
चन्दन चर्चत हूँ पृथु राजा उतरो भौ जल पार।
बलिराज तन अर्पन कीन्हो सदा रहै हरि द्वार॥
परम दास हनुमंत ही हुँ उबरो उत्तम पदवी पाई।
सखा सुभाव तरो है अर्जुन ताकी महिमा गाई॥
मुक्त भयो है परिछित राजा सुन भागवत पुराना।
श्री शुकदेव मुनी से वक्ता हुए रूप भगवाना॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि चरनदास की यह नवधा-भक्ति पूर्णरूप से सगुण ब्रह्म से सम्बन्धित है। जिन-जिन उपमाओं, दृष्टांतों, सन्तों तथा साधकों

के नामों का उल्लेख हुआ है उनका सम्बन्ध सगुण ब्रह्म से है। नवधा भक्ति निराकार गुणातीत ब्रह्म के प्रति भी संभव हो सकती है। उदाहरणार्थ, संत सुन्दरदास द्वारा वर्णित नवधा भक्ति गुणातीत ब्रह्म के प्रति ही है।[1] परन्तु चरनदास की रचना नितांत सगुण ब्रह्म के लिए है और इसीलिए यह कवि के प्रारम्भिक रचनाओं में से एक है।

प्रस्तुत नवधा-भक्ति वर्णन से कवि की चिन्तन प्रणाली, शैलीगत विशेषता एवं मौलिकता का कोई परिचय नहीं प्राप्त होता है। अत्यन्त संक्षेप में कवि ने सीधी-सादी भाषा में अपने भावों को व्यक्त कर दिया है।

स्वरादय-साधना

'स्वरादय' ज्ञान अनेक कारणों से आवश्यक एवं उपयोगी माना गया है। साधना, सामाजिक जीवन, आध्यात्मिक जीवन और व्यावहारिकता के क्षेत्र में स्वरोदय उपयोगी माना गया है। किसी श्वास के प्रबल होने को स्वरूप कहा गया है। समस्त स्वरोदय-विज्ञान का एक मात्र आधार मानव के नासिका छिद्रों से संचालित श्वास-प्रश्वास की गति है। श्वास-प्रश्वासों की गति बड़ी रहस्यपूर्ण है। श्वासोच्छ्वास की गति और शक्ति बड़ी प्रबल है। इन्हीं श्वासों का नियंत्रण-क्रम मानव जीवन और दीर्घायु का कारण होता है और इसी का अनियंत्रित प्रवाह मानव को काल का कौर बना देता है। चरनदास ने इसी स्वरोदय-विज्ञान का प्रतिपादन अपनी रचना 'ज्ञान स्वरोदय' में किया है।

मानव जीवन की समस्त क्रियायें, शारीरिक एवं मानसिक व्यथायें, दैहिक, दैविक एवं भौतिक तापादि सभी कुछ श्वासोच्छ्वास की शक्ति से अज्ञात रूप में प्रभावित है। श्वास-प्रश्वास के माध्यम से सुख-दुख, मृत्यु, घटना-दुर्घटना आदि का ज्ञान प्राप्त होता रहता है। मानव शरीर-रथ के संचालन का आधार यही श्वास-प्रश्वास है।

२४ घंटे में २१,६०० श्वास-प्रश्वास की संख्या जितनी ही कम होगी उतना ही मनुष्य दीर्घजीवी होगा और जितना आधिक्य होगा उतना ही अल्पायु। इसीलिए हठयोगी श्वास पर विजय और नियंत्रण प्राप्त कर चिरंजीव होता है। श्वास का यह क्रम एक ही नासिका-रन्ध्र से सदैव नहीं चलता रहता है। अव्याहत गति से श्वासों के प्रवाहमान होने का क्रम क्रमशः परिवर्तित होता रहता है। एक नासाछिद्र का निश्चित समय पूर्ण हो जाने पर वह दूसरे से निःसृत होता है। श्वास-प्रश्वास की इस गति का नाम तो स्वर है और इस गति का एक नासिका-रन्ध्र से द्वितीय में प्रवेश 'उदय' कहा गया है।

---

१. देखिये, मेरा ग्रन्थ—'सुन्दर दर्शन' में भक्ति योग प्रकरण।

किस नासिका से किस समय श्वास गतिमान् है, यह सरलतापूर्वक जाना जा सकता है। नासा छिद्रों के नीचे हाथ करने से हम श्वास के आगमन-प्रत्यागमन के क्रम का शीघ्र ही अनुभव कर सकते हैं। अथवा दूसरा उपाय यह भी है कि एक नासा छिद्र को बन्द करके दूसरे से दो-चार बार सांस ले और इसी प्रकार द्वितीय छिद्र से। इस क्रिया में जिस छिद्र को अवरुद्ध करने में कष्ट हो उसे ही खुला हुआ समझना चाहिए। स्वरोदय के अनन्तर प्रत्येक नासिका-रन्ध्र में स्वर एक घंटा विद्यमान रहता है। इसके अनन्तर स्वरोदय द्वितीय नासिका में होता है। आवश्यकतानुसार एक नासिका-रन्ध्र से दूसरी में श्वास उच्छ्वास बदला भी जा सकता है। सब से सरल विधि यह बताई गई है कि कुछ देर के लिए जिस नासा छिद्र से श्वास चल रहा है, उसी करवट से लेट जाने से स्वयमेव क्रम परिवर्तित हो जाता है।

स्वरोदय-ज्ञान के साथ पंचतत्व का ज्ञान परमावश्यक है। एक के अभाव में दूसरा कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता। स्वरोदय के साथ पंचतत्व का भी उदय होता है। श्री चरनदास को स्वरोदय का ज्ञान उनके गुरु श्री शुकदेव जी से मिला था, जिनके वास्तविक नाम के विषय में विभिन्न शंकाएँ हैं[1] और जो पुरुषोत्तम परमात्मा है, आदि पुरुष है और अविचल है। गुरु की महत्ता का वर्णन प्रायः परम्परागत ही है।[2] हाँ, इतना अवश्य है कि वे इन गुरु को ही अपने ज्ञान का कारण मानते हैं जिन्होंने रणजीत नामक अबोध बालक को दिल्ली में घूमते देख कर योग की युक्ति, हरि की भक्ति, और ब्रह्म ज्ञान की गठरी सहेज कर दी और चरनदास की संज्ञा गुरु प्रसाद रूप में दी। उनका दिया आत्म तत्त्व का विचार उनके मन में पूर्णतया बैठ गया।[3] स्वरोदय का ज्ञान अनेक कारणों से महत्व-पूर्ण है। स्वर किसी श्वास के प्रबल होने को कहते हैं। श्वास से सोऽहं की उत्पत्ति है। सोऽहं ही ॐकार है, ॐकार ही ररों की उत्पत्ति का कारण है। 'शिव स्वरोदय' में स्वर की महत्ता इस प्रकार निश्चित की गई है :—

---

१. उत्तर भारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ ५६८।

२ एवं प्राणविधिः प्रोक्तः सर्वकार्यफलप्रदः।
जायते गुरुवाक्येन न विद्याशास्त्रकोटिभिः॥ २६८॥
—शिवस्वरोदय, पृष्ठ ७८

३. बाल अवस्था माँहि बहुरि दिल्ली में आयो।
रमत मिले शुकदेव नाम चरणदास धरायो॥
जोग जुक्ति हरि भक्ति करि ब्रह्मज्ञान दृढ़करि गह्यौ।
आतम तत्व विचारि कै अजपा मे मन सनि रह्यौ॥

स्वरे वेदाश्च शास्त्राणि स्वरे गान्धर्वमुत्तमम् ।
स्वरे च सर्वं त्रैलोक्यं स्वरमात्मस्वरूपकम् ॥
ब्रह्मांडखंडपिंडाद्याः स्वरेणैव हि निर्मिताः ।
सृष्टिसंहारकर्त्ता च स्वरः साक्षान्महेश्वरः ॥

अर्थात् सम्पूर्ण वेद शास्त्र, उत्तम गांधर्व विद्या और सम्पूर्ण त्रिलोकी, ये सब स्वर में ही हैं और स्वर ही आत्मस्वरूप है। ब्रह्मांड के खंड और पिंड आदि स्वर के ही रचे हैं, सृष्टि और संहार का कर्त्ता साक्षात् महेश्वर (शिव) रूप स्वर ही है। इसी पुस्तक में इस ज्ञान को नास्तिकों की प्रतीति और आस्तिकों के विश्वास के आधार का कारण बनाया गया है :—

"आश्चर्यं नास्तिके लोके, आधारंत्वस्ति के जने।"

श्री चरनदास सम्भवतः इसी से प्रभावित होकर स्वरोदय ज्ञान को "सब जोगन का जोग" और "सब ज्ञानों का ज्ञान" मानने के साथ-साथ सर्वसिद्धियों का दाता भी मानते हैं। इनका तो यहां तक कहना है कि स्वर ज्ञान के आभास से कही गई बात नहीं टल सकती, भले ही पृथ्वी ढले और गिरिवर चलने लगे :—

सब जोगन को जोग है, सब ज्ञानन को ज्ञान।
सर्वसिद्धि को सिद्धि है, तत्व स्वरन को ध्यान॥
धरणि टरै गिरिवर टरै, ध्रुव टरै सुन मीत।
वचन स्वरोदय ना टरै, कहै दास रणजीत॥

चरनदास का ध्यान लौकिक सिद्धियों की ओर उतना नहीं था इसीलिए वे 'ज्ञान स्वरोदय' की बातचीत करते हैं। इन्हीं कारणों से उनके स्वरोदय वर्णन में अजपा जाप, निरंजन, कमल दल, अनहद, अमरपुर भोग की बात प्रायः प्रधान रूप से कही गई जान पड़ती है और आत्मरूप ब्रह्म की प्रतिष्ठा की गई है।

साधो करो विचार उलटि घर अपने आवो।
घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहां समावो॥
चारि वेद का भेद है, गीता का है जीव।
चरणदास लखि आपको, तो मैं तेरा पीव॥

सन्तों की फक्कड़ मस्ती में वे अपने को अवधूत कहकर सहजियों की परम्परा को जैसे बनाए रखना चाहते हैं :—

जोग जुक्ति कै कीजिए, कै अजपा को ध्यान।
आपा आप विचारिए, परम तत्व को ज्ञान॥
शूद्र वैश्य शरीर है, ब्राह्मण और राजपूत।
बूढा बाला तू नहीं, चरणदास अवधूत॥

काया माया जानिए, जीव ब्रह्म है मित्त।
काया छुटि सूरत मिटे, तू परमातम नित्त॥
पाप पुण्य आशा तजौ, तजौ मान और थाप।
काया मोह विकार तजि, जपै सु अजपा जाप॥
आप भुलानो आप में, बन्धो आप ही आप।
जाको ढूढत फिरत है, सो तू आपहि आप॥
इच्छा छुई विसरि कर, होय न क्यों निर्वास।
तू तौ जीवन मुक्त है, तजो मुक्ति की आस॥

स्वरोदय के अनेक भेद-प्रभेद के वर्णन के बीच इस प्रकार के कथन उनके उस सिद्धांत की ओर संकेत करते हैं जिसका सम्बन्ध विशुद्ध आत्म-तत्व से है।

शैव-सम्प्रदाय के 'शिव स्वरोदय' में स्वरों और नाड़ियों का ज्ञान शिवचरण प्राप्ति के अनन्तर लौकिक सिद्धियों के हेतु विशेष कर लाभप्रद प्रमाणित किया गया है। इसीलिए अनुरूप-विपरीत लक्षण, वशीकरण, गर्भप्रकरण, संवत्सर प्रकरण, रोग प्रकरण, काल प्रकरण आदि का विधान किया गया है। यह योगियों का प्राचीन सम्प्रदाय है और उसमें शिव को सर्वोच्च स्थान दिया गया। श्री चरनदास शिव और हरि, दोनों को शून्य महल का अधिकारी मानते हैं :—

सुषमन मारग है चलै, देखै खेल अगाध।
शक्ति जाय शिव सो मिले, जहां होय मन लीन॥

× × ×

काल जीति हरि सों मिलै, शून्य महल अस्थान।
आये जिन साधन करी, तरुण अवस्था जान॥

इस स्थान की प्राप्ति करने के लिए दशों द्वारों को पार करना पड़ता है। उनका यह भी कहना है कि इस प्रकार की समाधि लगाने पर काल तक वश में हो जाता है :—

जोगी प्राण उतारिए, लेहि समाधि जगाय।
काल जीति जग में रहै, मौत न व्यापै ताहि॥
दशौ द्वार को फोरि कै, जब चाहै तब जाहि।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चरनदास का मन्तव्य योगमार्ग का व्यावहारिक स्वरूप सामने रखना था, जो 'शिवस्वरोदय' की परम्परा का वह विकास है जहाँ कुछ समानताएं भी हैं और भिन्नता भी। उनका स्वरोदय गंगा और यमुना का वह संगम है जहाँ दोनों की लहरें प्रकाश पाती हुई एक नये मार्ग की ओर चल रही हैं और कहना असत्य न होगा कि यह नया मार्ग भक्ति के सजल घनों से भी

प्रतिच्छादित है और सूर्य की बन्धुर ऊष्मा से तापित भी। यहाँ सूर्य और चन्द्र का योग, हठयोग की साधना का विवरण भी मिलता है।

'शिव स्वरोदय' और 'ज्ञान स्वरोदय' की समानताओं पर विचार करने के पूर्व हमें दो प्रश्नों का समाधान कर लेना आवश्यक है। पहला यह कि स्वरोदय दर्शन क्या है? उसका तन्त्र की परम्परागत विचारधारा में क्या स्थान है? और दूसरा यह कि हठयोग की साधना का स्वरोदय-साधना से कितना और क्या सम्बन्ध है? संसार के अविद्याजन्य दुख के निवारण की कामना प्रत्येक योगी की रही है। यह एक विरोधाभास ही है कि जिस देह को सब ने प्रायः क्षणभंगुर माना है उसे ये योगी बड़े काम की वस्तु मानते हैं। इस शरीर में तीन नाड़ियां इडा, पिंगला और सुषुम्ना स्थित है। सूर्य और चन्द्र का ध्यान करते हुए जो श्वास में लीन रहता है, सुरति से लव लगाता है, वह निश्चय ही ज्ञानी है। यह उसी प्रकार अपने में सिमिट जाता है जिस प्रकार कछुवा सिमिटकर एक हो जाता है[1] अर्थात् फिर उसे पाँचों तत्वों का स्वाद नहीं रह जाता है, उसे तो निरंजन का नाम ही याद आता है। निरंजन शब्द की व्युत्पत्ति अत्यन्त विचारपूर्ण है। गोरखनाथी ग्रंथों में निरंजन का स्थान इसी शरीर में मेरुदंड के मूल में सूर्य और चन्द्र के बीच में स्थित स्वयंभूः लिंग को माना गया है। इतना तो स्पष्ट ही है कि स्वयंभूः चक्र को साढ़े तीन वलयों में लपेट कर सर्पिणी की भाँति कुंडलिनी स्थित है। साधारणतया यहाँ जिस निरंजन की ओर चरनदास का संकेत है वह शिव का वाचक जान पड़ता है। अजपा जाप की साधना करने पर इसी शिव से शक्ति का मिलान होता है। शैव सिद्धांतों के अनुसार यह शक्ति परा, अपरा, सूक्ष्मा और कुंडलनी अवस्थाओं को पार कर सृष्टि का कारण बनती है। इस अवस्था की सम्प्राप्ति हेतु चरनदास का कहना है कि जो महाखेचरी मुद्रा को धारण करता है वही इस सिद्धि को पाता है। मेरुदंड को सीधा कर गगन के कमल से सुरति लगाने और चन्द्र-सूर्य को समान कर षट्चक्रों को भेद कर सुषुम्ना के सहारे मन जिस झिलमिलाती ज्योति को देखता है वहाँ मन भी विश्वास से भर जाता है। यह विश्वास बड़ी लम्बी यात्रा की प्राप्ति का फल है। कुछ स्थलों पर चरनदास ने सायुज्य मुक्ति की चर्चा भी की है। इनकी अनहद की कल्पना भी कुछ कम विचित्र और रमणीय नहीं है। इनका कहना है कि जीवन के बाएं अग्नि, दाहिने जल और पवन का नाभि में वास है। मूल कमल की चार पंखुड़ियाँ हैं जो लाल रंग की हैं और जिस पर गौरी सुत का वास है। षट्दल, दशदल, द्वादशदल, षोडशदल, द्विदल आदि की कल्पनायें भी विभिन्न वर्षों और देवताओं की स्थापना हेतु

---

१. जैसे कछुआ सिमिटि करि, आपी मांहि लगाय।
ऐसे ज्ञानी श्वास में, रहै सुरति लवलाय॥

की गई है और फिर अनहद नाद की कल्पना है जो दश प्रकार से बजता है। उसमें भंवर का गुंजार होता है, घुंघरु की ध्वनि भी होती है, शंखनाद भी है और ताल की थाप भी, मुरली और भेरी का नाद है, मृदंग की गमक है, नफीरी भी बज रही है और है सिंह की गर्जना भी। इसके उपरान्त मनुआ दीन होकर चित्त को स्थिर कर लेता है। यह तो इनकी हठयोग सम्बन्धी बात है जो इन्होंने एक जगह न कह कर स्वरों की चर्चा के बीच कहा है। योग की इस साधना के बीच उन्होंने स्वर-दर्शन को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। उनका कहना है कि समग्रतत्वों का पता श्वास को दृष्टि में रखकर लगाना चाहिए। बैठे, लेटते और चलते-फिरते श्वास की ही आराधना करना चाहिए।[1] स्वर-विचार के लिए उन्होंने इडा, पिंगला, सुषुम्ना, सूर्य, चन्द्र आदि पारिभाषिक शब्दों के अर्थों को छोड़ दिया है। इसलिए जो सुषुम्ना योग के लिए कठिन और लाभप्रद मानी जाती है वह यहाँ हेय है। पक्षों और दिनों के आधार पर विशेष स्वरों का प्रचलन अत्यन्त सूक्ष्म रूप में वर्णित है। इसका उद्देश्य विशेष कार्यों के शुभाशुभ फल पर विचार करना है और इसीलिए चंद कारज और थिर कारज के लिए क्रमशः भानु और चन्द्र स्वर की प्रबलता सिद्ध की गई है। सुषुम्ना अर्थात् दोनों स्वरों का चलना इसलिए वर्जित है क्योंकि फिर तो द्वन्द्व ही मिलता है लाभ नहीं।[2] इस प्रकार यह निश्चित हो जाता है कि श्री चरनदास का स्वरोदय-दर्शन उनके आध्यात्मिक विचारों से भिन्न है। मोक्ष मुक्ति की चाह पूरी करने के लिए कामना और काम दोनों का नाश आवश्यक है।[3]

श्री चरनदास के 'ज्ञानस्वरोदय वर्णन' की संज्ञा से ही स्पष्ट हो जाता है कि वे ज्ञान के स्वर के उदय का वर्णन करना चाहते हैं। अतः उनकी विचार वस्तु के दो विभाग किए जा सकते हैं :—

---

१. आसन संयम साधि करि, दृष्टि श्वास के मांहि।
तत्व भेद यो पाहिये, बिन साधे कुछ नाहिं॥
आसन पदम लगाय के, एक बरत नित साध।
बैठे लेटे डोलते, श्वासा ही आराध॥

२. चर कारज को भानु है, थिर कारज को चन्द।
सुषमन चलत न चालिए, तहाँ होय कुछ द्वन्द॥

३. "मोक्ष मुक्ति तुम चहत हौ, तजौ कामना काम।"

१. स्वरों का शुभाशुभ फल २. हठयोग का ज्ञान ।

इनका यह अर्थ नहीं कि इन दोनों विभागों का पृथक्-पृथक् अस्तित्व है। वस्तुतः ये दोनों योगक्रिया के श्वास विभाग विषयक तत्व ही हैं। योग-साधना के इन्होंने तीन विभाग किए हैं :—

१. भक्ति समाधि—ध्यान का ध्येय में लीन होकर सुरति बुद्धि से परे की अवस्था।

२. योग समाधि—सुरति नाद में लीन होकर क्रिया शून्य हो जाती है।

३. ज्ञान समाधि—ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय की त्रिपुटी का नाश और आत्मानुभूति की एकरस अवस्था।

ज्ञान-स्वरोदय में मुख्यतः अन्तिम दो अवस्थाओं का वर्णन विशेष रूप से है। स्वरोदय-दर्शन इन दोनों के बीच की अवस्था है। स्वरों के ज्ञान से यदि अशुभ बात का पता चले तो 'योग समाधि' काल का निवारण भी कर सकती है। यहाँ यह भ्रम हो सकता है कि सम्भवतः स्वरोदय दर्शन तांत्रिक विचार परम्परा का ही विकास हो। हम इसका विरोध नहीं करते हैं। कहना केवल इतना है कि यह तंत्र-साधना की परम्परा का विकसित रूप अवश्य जान पड़ता है। यह निश्चित करने के लिए हमें तन्त्र साधना की परम्परा पर विचार करना आवश्यक है।

प्रार्थना और पूजनादि से कहीं अधिक महत्त्व जब याज्ञिक-अनुष्ठानों का दिया जाने लगा तब कर्म प्रधान हो चला। योगमार्ग का प्रचलन ज्ञानवाद के साथ तपोविद्या के योग से हुआ और फिर तो काल क्रमानुसार योगसाधना यम, नियम, ध्यान, धारणा आदि से धीरे-धीरे सम्पर्क हटाते हुए चित्तवृत्तियों के विरोध की बात प्रधान हो गई। तंत्र की साधना जो वेदों से चली आ रही थी, बौद्धतंत्र, शक्तितंत्र आदि में विकसित हो गई और इस प्रकार तंत्रोपचार की प्रणाली में जहाँ मूर्ति पूजा विषयक नियमादि बने वहाँ कुछ गुप्त साधना की पद्धति चली जो अनेक सम्प्रदायों के अनुसार विकसित हो चली। यही तंत्र साधना कहलाई। इस तंत्र साधना में विशेषकर मुद्राओं, स्त्री जीवन, मांस भक्षण को इतना महत्त्व दिया गया कि भक्ति भाव लुप्त हो गया। वाह्याचार की प्रधानता और शिव मात्र को योगाभ्यास का आदर्श माना गया है। श्री चरनदास का 'ज्ञान स्वरोदय' इस अर्थ में स्वतः पूरा तांत्रिक ग्रन्थ नहीं जान पड़ता क्योंकि उन्होंने उस स्वरूप का विचार किया है जहाँ योगी सब प्रकार की साधना कर घट-घट वासी अनूप ब्रह्म में सिमिट जाता है।[1]

---

१. साधो करो विचार उलटि घर अपने आवो।
घट घट ब्रह्म अनूप सिमिट करि तहाँ समावो॥

इसीलिए चाहे योग कीजिए, चाहे युक्ति, चाहे अजपा जाप, किन्तु परमतत्व के ज्ञान आपाआप का विचार करना आवश्यक है ।[1] यही आत्मदर्शन की बात है। अतः इनका ज्ञान स्वरोदय तंत्र परम्परा का हठयोग की साधना पर परिष्कार है। उनके लिए स्वर का ज्ञान, ज्ञान के लिए उपयोगी है । नीर, नभ, धारण, वायु, पावक की क्रमशः इन्द्रियां जिह्वा, कान, नासा, त्वचा, और नयन को जो विचार कर पहिचान लेता है वही साधु है और उसे ही सदा सुख मिलता है।[2] शस्त्रों से अछिद्य, पावक से न जलने वाला, जो अविनाशी जीव है इसको कोई विरला ही जानता है।[3] इसने पाँच तत्वों के गढ़ में वास किया है और इसके साथ तो तीनों गुन भी लगे हैं।[4]

पहले इस ओर संकेत किया जा चुका है कि स्वर, श्वास व प्रश्वास की गति का ही दूसरा नाम है, जो निरन्तर एक ही नासिका छिद्र से प्रवाहित न रहने के कारण कभी बांए, कभी दांए और कभी बांए-दांए दोनों मार्ग से प्रवाहित होता है। स्वर की गति में परिवर्तन ही उदय कहलाता है । श्री चरनदास की कृति के पहले दरियादास का 'स्वर विज्ञान' पुस्तक भी देखने को मिलती है जिसका शुद्ध संत मत से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं जान पड़ता।[5] किन्तु दो सम्प्रदायों में स्वर-विज्ञान की चर्चा से इतना तो स्पष्ट जान पड़ता है कि स्वर विज्ञान सन्तों के मन में बैठ रहा था । जन जीवन की पूर्ण अभिव्यक्ति करने वाले इन सन्तों से लोक में प्रचलित इस तांत्रिक साधना का फिर भला बहिष्कार होता भी तो कैसे ? इसीलिए चरनदास अपनी कृति और उसके विषय को भली प्रकार महत्वपूर्ण सिद्ध करते हैं।

चारि वेद का भेद है गीता का है जीव।
चरणदास लखि आपको तो मैं तेरा पीव ॥

१. जोग जुक्ति कै कीजिए, कै अजपा को ध्यान।
आपाआप विचारिए, परम तत्व को ज्ञान ॥

२. त्वचा सुइन्द्री वायु की, पावक इन्द्री नैन।
इनको साधै साधु जो, पद पावै सुख चैन ॥

३. शस्तर छेदि सकै नहीं, पावक सकै न जारि।
मरै मिटै सो तू नहीं, गुरुगम भेद निहारि ॥

४. पाँच तत्व के कोट में, आय कियो तैं वास।
पाँच पचीसो देह संग, गुन तीनों हैं साथ ॥

५. उत्तरभारत की सन्त परम्परा—पृष्ठ ५७५।

यह तो उनके गुरु की देन है ।[1] हमारे शरीर में नाभि स्थान के कन्द के ऊपर अंकुर के समान निकली हुई ७२००० नाड़ियां हैं । शरीर के नवों द्वारों को घेरे हुए जो कूरम, नाग, धनंजय, देवदत्त, दश वाई आदि नाड़ियाँ हैं, उनमें तीन उत्तम नाड़ियां हैं इडा, पिंगला, सुषुम्ना जो अनेक प्रकार के खेल रचती रहती हैं । प्राणायाम कर इनको वश में करने वाले न जाने कितने पतित तिर गए हैं ।[2]

स्वर एवं तत्व विचार—चरनदास के मतानुसार साधना के साथ यदि हम किसी कार्य में प्रवृत्त हों तो हमें पूर्ण सफलता प्राप्त होती है । कवि के अनुसार मानव का स्वर सामान्यतया दक्षिण अथवा वाम नासिका रन्ध्र से गतिमान् रहता है । परन्तु कभी-कभी वह सुषुम्णा से भी प्रवाहित होता है । प्रत्येक स्वर के साथ तत्वों का प्रगाढ़ सम्बन्ध है । इसीलिए किसी कार्य के लिए स्वर-विशेष के साथ तत्व-विशेष की भी आवश्यकता पड़ती है, तभी कार्य सफलीभूत होता है अन्यथा नहीं ।

तत्त्व पांच माने गये हैं—पृथ्वीतत्त्व, जलतत्त्व, तेजतत्त्व, वायुतत्त्व एवं आकाश तत्त्व । अब स्वरोदय साधना में इनकी क्या महत्ता है, यह भी विचारणीय है । सब से प्रथम पृथ्वी तत्त्व है । मानव शरीर में इसका निवास मूलाधार चक्र में माना गया है । सुषुम्णा का विकास स्थान यही है । इसका आकार कमल के पुष्प का सा होता है । यह भूः लोक का प्रतिनिधि है । इसी चक्र से पृथ्वी तत्त्व का ध्यान किया जाता है । उसका रंग पीला, आकृति चतुष्कोण, गुण गन्ध है । चरनदास के शब्दों में पृथ्वी तत्त्व का वर्णन निम्नलिखित है :—

> पृथ्वी काल जो ठौर है, मुखै जानिये द्वार ।
> पीलो रंग पहिचानिए, पीवन खान अहार ॥

अग्नि तत्त्व—शरीर में इसका स्थान मणिपूरक है । यह नाभि में स्थित है । स्वः लोक का यह प्रतिनिधित्व करता है । इसका रंग लाल तथा गुण रूप है । इसकी

---

१. भेद स्वरोदय सो लहै, समझै श्वास उसास ।
बुरी भली तामैं लखै, पवन सुरति मन गांस ॥
शुकदेव गुरु कृपा करी, दियो स्वरोदय ज्ञान ।
जब सों यह जानी परी, तमि होय कै ज्ञान ॥

२. इड़ा पिंगला सुषुमना, केलि करैं परबीन ।
करते प्राणायाम के, तिर गए पतित अनेक ॥

आकृति त्रिकोण है। इसकी ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय क्रमशः आँख और पैर हैं। कवि के शब्दों में :—

पित्ते में पावक रहै, नैन जानिये द्वार।
लाल रंग है अग्नि को, मोह लोभ आहार॥

जलतत्व—यह तत्व स्वाधिष्ठान चक्र में है। इसकी स्थिति जननेन्द्रिय के मूल में है। यह शरीर में भुवःलोक का प्रतिनिधि है। इसमें जलतत्व का निवास है। इसका रंग श्वेत, आकृति अर्ध चन्द्राकार, गुण रस, तथा ज्ञानेन्द्रिय जिह्वा एवं कर्मेन्द्रिय लिंग है। कवि के अनुसार :—

जल को बासा माल है, लिंग जानिये द्वार।
मैथुन कर्म अहार है, धौलौ रंग निहार॥

वायुतत्व—यह अनाहत चक्र में स्थित है। इसकी स्थिति हृदय-प्रदेश में है। महःलोक का यह प्रतिनिधि है। इसका रंग हरा, आकृति षट्कोण तथा गोल, गुण स्पर्श तथा ज्ञानेन्द्रिय त्वचा और कर्मेन्द्रिय हाथ है। कवि के मत से :—

पवन नाभि मे रहत है, नासा जानि दुआर।
हरो रंग है वायु को, गन्ध सुगन्ध अहार॥

आकाश तत्व—यह विशुद्ध चक्र में स्थित है। इसका स्थान कंठ और चक्र जनःलोक का प्रतिनिधि है। इसका रंग नीला, आकृति अंडाकार, गुण शब्द तथा ज्ञानेन्द्रिय कान और कर्मेन्द्रिय वाणी है। कवि के अनुसार :—

आकाश शीश में वास है, श्रवण दुआरो जान।
शब्द कुशब्द अहार है, ताको श्याम पिछान॥

इन सभी का ६ मास तक अभ्यास करने से तत्व सिद्धि हो जाती है। सिद्धि प्राप्त होते ही तत्वों को पहचानना सरल हो जाता है।

इन तत्वों की अवधि निम्नलिखित है :—

संख्या	तत्व का नाम	पल	मिनट
१.	पृथ्वी	५०	२०
२.	जल	४०	१६
३.	अग्नि	३०	१२
४.	वायु	२०	८
५.	आकाश	१०	४

स्वरोदय-विज्ञान के अनुसार तत्व-दर्शक तालिका निम्नलिखित है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि चरनदास ने इन तत्वों का इतने विस्तार के साथ वर्णन कहीं नहीं किया है :—

संख्या	तत्व का नाम	स्थान	आकृति	गुण	रंग	स्वाद	बीज	श्वास की गति	श्वास का प्रमाण	समय	
										पल	मिनट
१.	पृथ्वी	मूलाधार चक्र	चतुष्कोण	गन्ध	पीला	धुमर	लं	नसकोरे के मध्य	१२ अंगुल	५०	२०
२.	जल	स्वाधिष्ठान चक्र	अर्ध चन्द्राकार	रस	श्वेत	कसैला	वं	नसकोरे के निचले भाग में	१६ अंगुल	४०	६०
३.	तेज	माणिपूरक चक्र	त्रिकोण	रूप	लाल	तीखा	रं	नसकोरे के ऊपर के भाग में	४ अंगुल	३०	१२
४.	वायु	अनाहत चक्र	षट्कोण या गोल	स्पर्श	हरा	खट्टा	यं	नसकोरे के किनारे	८ अंगुल	२०	१०
५.	आकाश	विशुद्ध चक्र	अंडाकार	शब्द	रंग-विरंगा	कड़्वा	हं	आवर्त	२० अंगुल	१०	४

स्वर चलने के नियम—सामान्यतया स्वरों के चलने के नियम निम्न-लिखित हैं :—

१. शुक्ल पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ६, १३, १४, १५ तिथियों में सूर्योदय से लेकर अमुक समय तक वाम नासिका से।

२. शुक्ल पक्ष की ४, ५, ६, १०, ११, १२ इन छः तिथियों में दक्षिण नासिका से।

३. कृष्ण पक्ष की १, २, ३, ७, ८, ६, १३, १४, १५ में सूर्योदय से अमुक समय तक दक्षिण नासिका से।

४. कृष्ण पक्ष की ४, ५, ६, १०, ११, १२ इन ६ तिथियों में वाम नासिका से श्वास को चलना चाहिए।

स्वर-चालन के इस नियम का उल्लेख चरनदास के ज्ञान स्वरोदय में नहीं हुआ है। परन्तु स्वरोदय विज्ञान को समझने के लिए इसे जान लेना आवश्यक है।

स्वर तथा कार्य विचार—परम्परागत स्वरोदय विज्ञान में स्वर तथा कार्य विचार एक वृहद् प्रकरण है। परन्तु हमारे कवि ने अपेक्षाकृत उतना विस्तार नहीं दिया है। कवि-उल्लिखित स्वर तथा कार्य-विचार निम्नलिखित हैं[1] :—

---

[1] विवाह दान तीरथ जो करै। बस्तर भूषण घर पग धरै॥
वायें स्वर में ये सब कीजै। पोथी पुस्तक जो लिखि लीजै॥
जोगाभ्यासरु कीजै प्रीति। औषधि बाडी कीजै मीत॥
दीक्षा मंतर बोवै नाज। चन्द्र जोगथिर बैठे राज॥
चन्द्र जोग में स्थिर जानौ। थिर कारज सबही पहिचानौ॥
करै हवैली छप्पर छावै। बाग बगीचा गुफा बनावै॥
हाकिम जाय कोटि में वरै। चन्द्र जोग आसन पग धरै॥

× × × ×

जो खांडों कर लीयो चाहै। जाकर वैरी ऊपर बाहै॥
युद्ध वाद रणजीतै सोई। दहिने स्वर में चालै कोई॥
भोजन करै करै असनाना। मैथुन कर्म ध्यान पर धाना॥
बही लिखै कीजै व्यवहारा। गज घोड़ा वाहन हथियारा॥
विद्या पढ़ै नई जो साधै। मंतर सिद्धि ध्यान आराधै॥
वैरी भवन गवन जो कीजै। असकाहू को ऋण जो दीजै॥

कार्य का नाम	स्वर का नाम	तत्व का नाम	वार
१. विवाह	वाम	..	..
२. दान	वाम	..	..
३. तीर्थ	वाम	..	..
४. वस्त्राभूषण बनवाना	वाम	..	..
५. ग्रन्थ-रचना	वाम	..	..
६. दीक्षा	वाम	..	..
७. मंत्र-साधना	वाम	..	..
८. योगाभ्यास	वाम	..	..
९. गृह-निर्माण	वाम	..	..
१०. बाग बगीचा, गुफा-निर्माण	वाम	..	..
११. हाकिम से भेंट	वाम	..	..
१२. युद्ध, रण	दक्षिण	..	..
१३. वाद-विवाद	दक्षिण	..	..
१४. भोजन	दक्षिण	..	..
१५. स्नान	दक्षिण	..	..
१६. मैथुन	दक्षिण	..	..
१७. बही लिखना	दक्षिण	..	..
१८. विद्यार्जन	दक्षिण	..	..
१९. ऋण याचना या दान	दक्षिण	..	..
२०. विष तथा भूत उतारना	दक्षिण	..	..

स्वर यात्रा विचार—कवि के मत से :—

चर कारज को भानु है, थिर कारज को चन्द ।
सुषमन चलत न चालिये, तहा होय कुछ दन्द ॥

१. सुषुम्णा नाड़ी के चलते समय ग्राम, परगना या खेत यात्रा, मित्र-मिलन नहीं करना चाहिए ।[1]

---

[1]. गांव परगने खेत पुनि, ईधर ऊधर मीत ।
सुषमन चलन न चालियें, बरजत है रणजीत ॥
क्षण बाये क्षण दाहिने, सोई सुषमन जानि ।
ढील लगै कै ना मिलै, कै कारज की हानि ॥
होय क्लेष पीडा कछू, जो कोई कहि जाय ।
सुषमन चलत न चालिये, दीन्हो तोहि बताय ॥

२. वाम स्वर में पूर्व-उत्तर की यात्रा वर्जित है परन्तु दक्षिण-पश्चिम की यात्रा शुभ है।[1]

३. दक्षिण स्वर में, दक्षिण-पश्चिम की यात्रा वर्जित है परन्तु उत्तर-पूर्व की यात्रा शुभ है।[2]

स्वर एवं आहार-व्यवहार विचार—कवि द्वारा वर्णित आहार-व्यवहार तथा निद्रा-विचार निम्नलिखित है :—

बांई करवट सोइये, जल बांये स्वर पीव।
दहिने स्वर भोजन करै, तौ सुख पावै जीव॥
बांये स्वर भोजन करै, दहिने पीवे नीर।
दशदिन भूलो यों करै, आवै रोग शरीर॥
दहिने स्वर झाड़े फिरै, बांये लघु शंकाय।
जुक्ती ऐसी साधिये, दीन्हो भेद बताय॥
चन्द चलावै द्यौस को, रात चलावै सूर।
नित साधन ऐसे करै, होय उमर भरपूर॥

इसी प्रकार कवि ने स्वर और मृत्यु-विचार, स्वर और गर्भ-विचार, स्वर तथा युद्ध-विचार, स्वर तथा मृत्यु-निवारण-विचार आदि पर सविस्तार गंभीर प्रकाश डाला है। कवि ने स्वर और वर्ष विचार, तथा स्वर और रोग विचार पर भी मौलिक विचारों को प्रकट करके विषय को उपयोगी बना दिया है।

यह स्वरोदय-विज्ञान दुष्ट, दुर्जन, नास्तिक, गुरु-स्त्री-गामी, अधीर और दुराचारी को नहीं देना चाहिए। यह जितना गोप्य है उतना संसार में कोई विज्ञान

---

१. पूरब उत्तर मत चलै, बाये स्वर परकाश।
हानि होय बहुरै नहीं, आवन की नहि आश॥
बांये स्वर में जाइये, दक्षिण पश्चिम देश।
सुख आनन्द मंगल करै, जोर जाइ परदेश॥

२. दहिने चलत न चालिये, दक्षिण पश्चिम जानि।
जोर जाय बहुरै नहीं, तहां होय कछु हानि॥
दहिने स्वर में जाइये, पूरब उत्तर राज।
सुख सम्पति आनंद करै, सभी होय शुभ काज॥

नहीं, फिर भी उपकारार्थ इसका प्रकाशन होता है। 'शिव-स्वरोदय' में कहा गया है कि :—

दुष्टे दुर्जने चैव कुद्रे गुरुतल्पगे।
हीन सत्वे दुराचारे स्वर ज्ञानं न दीयते॥
गुह्याद्गुह्यतरं सारमुपकार-प्रकाशनम्।
इदं स्वरोदयं ज्ञानं ज्ञानानां मस्तके मणिः॥

पंचम अध्याय

चरनदास की विचार-धारा

राम

चरनदास के युग की राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी अशांति, संघर्ष, क्रांति और धार्मिक उत्पीड़न का युग था। देश में चतुर्दिक् अशांति व्याप्त थी। राजनीतिक परिवर्तनों का दुष्प्रभाव धर्म और समाज पर सबसे पहले पड़ता था। औरंगजेब से लेकर शाहआलम तक देश का शासन सात शासकों के हाथ में परिवर्तित हुआ और प्रत्येक बार नये शासक ने अपने मन और इच्छा के अनुकूल प्रयोग किया। औरंगजेब स्वतः निरंकुश शासक था। उसके लिए कठोरता और क्रूरता की कोई सीमा नहीं थी। काफिरों के अस्तित्व को मिटा देने के लिए वह दृढ़व्रती था। उसके युग में हिन्दुओं के प्रसिद्ध देवमंदिर विनष्ट कर दिये गए और उनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण हुआ। इतिहास इस बात का साक्षी है कि औरंगजेब के युग में हिन्दुओं का एक भी नवीन मंदिर नहीं बनाया गया। हिन्दुओं के प्रसिद्ध तीर्थ-स्थानों में यात्रियों से कर वसूल होता था। काफिरों पर जजिया कर बिना किसी अपवाद के लगा दिया गया था। हिन्दुओं की धर्मशालाएँ विनष्ट करके उनमें मुसलमान बालकों की पाठशालाएँ स्थापित कर दी गई। ज्ञानार्जन के प्रसाधन हिन्दुओं के पुस्तकालयों की होली लगा दी गई। समस्त हिन्दू राज्यों को मिटा दिया गया। उनकी कला, संस्कृति, साहित्य, धर्म और स्वातंत्र्य पर बड़े-बड़े आघात और प्रहार हुए। इतिहास के अनुसार औरंगजेब के राज्यकाल में हिन्दुओं को पान खाकर राजमार्ग पर चलने और घोड़े पर चढ़कर बाजार से निकलने की आज्ञा नहीं थी। बहादुरशाह, औरंगजेब के पश्चात् सन् १७०७ में दिल्ली का शासक हुआ। राज्यसिंहासन के साथ उसे विरासत में औरंगजेब से धार्मिक नीति भी प्राप्त हुई। परन्तु बहादुरशाह एक निर्बल शासक था। वह अधिक समय तक उस नीति को कायम न रख सका। बहादुरशाह के अनन्तर मुगल राज्य का दीपक बुझने लगा। उसके पश्चात् फ़र्रुखसियर (सन् १७१३-१७१६), मुहम्मदशाह (१७१६-१७४८), अहमद शाह (१७४८-१७५४), आलमगीर द्वितीय (१७५४-१७५६) और अंततः

शाह आलम (१७५६) दिल्ली के सिंहासन पर बैठे। इनमें से एक भी दृढ़ मति और कुशल शासक नहीं था। फिर भी हिन्दुओं के साथ उनकी नीति उग्र ही बनी रही। सन् १७१६ से १७५६ के मध्य, देश पर अनेक आक्रमण हुए। सन् १७३८ में नादिरशाह का आक्रमण और सन् १७४७ तथा सन् १७५४ में अहमद शाह दुर्रानी के हमले विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन अभियानों में चाहे वह कत्ले-आम रहा हो और चाहे लूट-खसोट, मात्र हानि हिन्दुओं की ही अधिक रही। नादिरशाह ने, आक्रमण में हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ-स्थानों और मंदिरों को नष्ट करने में कोई कसर न रखी। सन् १७०३ से लेकर सन् १७८० तक देश में अनेक अकाल एवं दुर्भिक्ष पड़े। इनमें से कुछ तो बड़े व्यापक अकाल थे। इस संक्षिप्त राजनीतिक और ऐतिहासिक विवेचन से हिन्दुओं की दुर्दशा और हीनावस्था का ज्ञान हो जाता है। परन्तु हिन्दू धर्मावलम्बी केवल मुसलमानों से ही उत्पीड़ित नहीं थे वरन् वे अपने दोषों से भी पर्याप्त उत्पीड़ित थे। यह अभाव अथवा दोष हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष से प्रकाश में आया। यह दोष वर्णव्यवस्था का था। युगों पूर्व समाज की सुविधा के लिए जो वर्ण-विभाग किया गया था, वह कालान्तर में अभिशाप बन गया। समाज का अन्त्यज वर्ग सभ्य समाज के प्रायः समस्त अधिकारों से वंचित हो गया। वेद, शास्त्र, तीर्थ, मंदिर और मूर्ति-उपासना, सभी कुछ उनकी पहुँच से परे हो गया। इस प्रकार अन्त्यज शूद्रों का जीवन भार स्वरूप प्रतीत हो रहा था। बाह्य शक्तियों से उत्पीड़ित और आभ्यन्तरिक जीवन से अपमानित शूद्रों का जीवन पूर्णतया दुःखमय हो गया था। हिन्दू जाति नैराश्य के गर्त में पड़ी हुई जीवनाशा से वियुक्त हो चुकी थी। सौभाग्य से दोनों जातियों में ऐसे भी महामना थे जिनको यह अवस्था शोचनीय प्रतीत हुई। वे इस बात का अनुभव करते थे कि न तो मुसलमान इस देश से बाहर खदेड़े जा सकते हैं और न धर्म-परिवर्तन अथवा हत्या से हिन्दुओं की इति-श्री की जा सकती है। उस समय की यही स्पष्ट आवश्यकता थी कि हिन्दू और मुसलमान अड़ोसी-पड़ोसी की भाँति प्रेम और शांति से रहे और इन उदारचेताओं को भी इस आवश्यकता का स्पष्ट अनुभव हुआ। दोनों जातियों के दूरदर्शी विरक्त महात्माओं को, जिन्हें जातीय पक्षपात छू नहीं गया था, जिनकी दृष्टि तत्काल के हानि लाभ, सुख दुख और हर्ष-विषाद से परे जा सकती थी, इस आवश्यकता का सबसे तीव्र अनुभव हुआ।[1] दसवीं शताब्दी में गुरु गोरखनाथ, बाबा रतन तथा हाजी ने हिन्दू और मुसलमान धर्मों के अन्तर्गत व्याप्त दोषों को स्पष्ट रूप से भारतीय जनता के समक्ष व्यक्त किया और दोनों

---

[1]. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ १५

जातियों को परस्पर निकट लाने का प्रयत्न किया। उन्होंने जाति, वर्ण और कुलीनता की आलोचना करके अलखनिरंजन की उपासना का संदेश जनता को सुनाया। गोरखनाथ ने कहा कि "काजी मुल्लाओं ने कुरान पढ़ा, ब्राह्मणों ने वेद, कापड़ी और संन्यासियों को तीर्थ ने भ्रम में डाल रखा है, इनमें से किसी ने निर्वाण पद का भेद नहीं पाया।[१]—हिन्दू देवालय में ध्यान करते हैं, मुसलमान मसजिद में; किन्तु योगी परमपद का ध्यान करते हैं जहाँ न देवालय है न मसजिद।[२]—हिन्दू कहते हैं कि राम है, मुसलमान कहते हैं कि खुदा है किन्तु योगी जिस अलक्ष्य का आख्यान करते हैं वहाँ न राम है, न खुदा।[३]—काजी तुम मुहम्मद मुहम्मद व्यर्थ ही कर रहे हो। मुहम्मद को समझना बहुत कठिन है। उसके हाथ में जो छुरी थी वह ईस्पात की नहीं बनी हुई थी।[४]—हिन्दू और मुसलमान में अंतर नहीं है कारण कि जिस बिन्दु से हिन्दू एवं मुसलमान पैदा होते हैं वह न तो मुसलमान है और न हिन्दू। ये दोनों एक ही खुदा के बन्दे हैं। योगी लोग हिन्दू-मुसलमान का भेद भाव नहीं करते हैं। उनके दृष्टिकोण में सभी समान हैं, सभी महान् और सम्मानित हैं।[५]"

गोरखनाथ से लगभग दो-सौ वर्ष बाद युग-प्रवर्तक रामानन्द का आविर्भाव हुआ जिसने भक्ति आन्दोलन के अन्तर्गत एक क्रान्तिकारी परिवर्तन समुपस्थित कर

---

१. काजी मुलां कुरांण लगाया ब्रह्म लगाया बेदं।
कापडी संन्यासी तीरथ भ्रमाया न पाया नृवांण पद का भेवं॥
—डॉ० बड़थ्वाल, गोरखवानी, पृष्ठ ३३

२. हिन्दू ध्यावै देहुरा मुसलमान मसीत।
जोगी ध्यावै परमपद जहाँ देहुरा न मसीत॥—गोरखवानी, पृष्ठ २५

३. हिन्दू आवैं राम कौं मुसलमान षुदाइ।
जोगी आषैं अलष कौं तहाँ राम अछै न षुदाइ॥—गोरखवानी, पृष्ठ २५

४. मुहम्मद मुहम्मद न कर काजी मुहम्मद का विषम विचारं।
मुहम्मद हाथि करद जे होती लोहै गढ़ी न सारं॥—गोरखनाथ, पृष्ठ ४

५. जिस पाणी से कुल आलम उतपनां।
ते हिन्दू बोलिए कि मुसलमानां॥
हिन्दू मुसलमान खुदाई के बन्दे।
हम जोगी ना रखें किस ही के छन्दे। —पौडी हस्तलेख, पृष्ठ २४३; हिन्दी काव्य के निर्गुण सम्प्रदाय से उद्धृत—पृष्ठ १६

दिया। रामानन्द ने भक्ति की संकीर्ण धारा को जनता के विशाल धरातल पर लाकर प्रवाहित किया जिसके अवगाहन में जाति, कुल, वर्ण और वर्ग का विचार किसी प्रकार भी मान्यता न प्राप्त कर सका। रामानन्द ने जनता की परिस्थिति और भावनाओं के अनुकूल अपनी धार्मिक विचारधारा को स्वरूप प्रदान किया। युगों से अवरुद्ध मन्दिरों के द्वारों की अवहेलना करके उन्होंने भक्ति का एक नवीन स्वरूप जनता के समक्ष उपस्थित किया जिसे सुनकर और पाकर भारतीय जनता अभिनन्दित हो उठी। चिर उपेक्षित और अपमानित शूद्र वर्ग में भी स्वाभिमान एवं भगद्भक्ति की भावना जाग्रत हुई। यह नवीन सन्देश और उपदेश था निर्गुण ब्रह्म का, जो मन्दिर-मस्जिद की सीमाओं से भी विशाल है। मूर्ति उपासकों को दुख झेलते और मूर्ति-भंजकों को ऐश्वर्य के पालने झूलते देखकर भारतीय जनता के हृदय से मूर्ति के अन्तर्गत सन्निहित ब्रह्म के प्रति पहले ही से विश्वास उठ चुका था। अब रामानन्द के पीयूष-वर्षी उपदेशों और धर्म-साधना के सहज पथ और निर्देशन को पाकर भारतीय जनता का विश्वास परम्परागत धार्मिक रूढ़ियों से पूर्णतया विलग होने लगा। रामानन्द ने बताया कि धर्म, चन्दन-माला और गंगा-स्नान में नहीं है वरन् वह सीधे-सादे ब्रह्म के नाम जप में है। ब्रह्म, तीर्थ-स्थानों और मन्दिरों में ही नहीं वरन् सर्वव्यापक है। वह सर्वव्यापक द्वैत से रहित और रूपरेखा, आकार-प्रकार से सर्वथा परे और दूर है। आपत्काल में समस्त हिन्दू जाति के लिये यह मोहक-मन्त्र था। शूद्र और कुलीन, दोनों ही के लिए यह दिव्य मार्ग प्रतीत हुआ। शूद्रोद्धार का यह महा श्रेय रामानन्द को प्राप्त हुआ। रामानन्द ने हिन्दू धर्म और जाति को बनाये (जीवित) रखने के लिए यह भगीरथ प्रयत्न किया।

इस दृष्टि से रामानन्द का एक और कृतित्व बड़ा महत्वपूर्ण है। उन्होंने कबीरदास नामक एक युवक को अपने सिद्धान्तों में दीक्षित किया जो भविष्य में एक बड़े भारी ऐक्य-आन्दोलन के प्रवर्तन का सूत्रधार बना। कबीर का व्यक्तित्व भारतीय साहित्य और धार्मिक आन्दोलन में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसने बड़ी ही सहज, सरल और स्पष्ट शैली में अद्वैत-निर्गुण परब्रह्म का संदेश सुनाया जो हिन्दुओं के उपनिषदों में प्रतिपादित ब्रह्म और मुसलमानों के ऐकेश्वरवाद से बहुत अंश में साम्य रखता था। कबीर ने रामानन्द से भी अधिक जोर के साथ दोनों धर्मों की बुराइयों को जनता के समक्ष व्यक्त किया। भेद भाव का बीजारोपण करने वाले पीर और पंडित, मौलवी और महन्त उसके असाधारण व्यक्तित्व और फटकार के समक्ष ठहर न सके। दोषों की उसने बड़े ही निर्मम भाव से आलोचना की। मुरौव्वत और संकोच उसके पास कभी फटकने न पाया। उसने

मन्दिर और मस्जिद की चहारदीवारों में बन्द रहने वाले कल्पित ब्रह्म की खुलकर दोनों के समक्ष निन्दा की, जाति-पाँति निःसार बताया, वाह्याचारों का रहस्योद्घाटन किया। कबीर का ब्रह्म आदि, अनादि, अनन्त, अलख, अगम, अगोचर, निराकार, निर्गुण और सगुण से परे सर्वशक्तिमान् और सर्व व्यापक था।

संत कबीर की परम्परा में अनेक सन्तों का आविर्भाव हुआ, जिन्होंने समय-समय पर अवतरित होकर जनता को कुछ हेर-फेर के साथ कबीर के निर्गुण परब्रह्म का सन्देश सुनाया। इन संतों में अठारहवीं शताब्दी के सन्त कवि चरनदास भी उल्लेखनीय हैं, जिनके सन्देशों से प्रभावित होकर दिल्ली का तत्कालीन शासक मुहम्मदशाह, आक्रमणकारी नादिरशाह तथा अनेक मुसलमानों ने उसके आगे मस्तक झुकाया तथा रामरूप, सहजोबाई एवं दयाबाई जैसे उस युग के प्रतिभा-सम्पन्न कवि और कवियित्रियों ने उनसे दीक्षा ली। देश की प्राकृतिक सीमाओं का उल्लंघन करके उस युग-पुरुष के संदेश दूर-दूर तक फैल गए। इस युग-पुरुष ने जनता में राम-रहीम के ऐक्य का वही प्राचीन संदेश अभिनव शैली में सुनाया जो लगभग छः सौ वर्ष पूर्व रामानन्द से प्रेरित होकर कबीरदास ने सुनाया था। यह सन्देश, यह उपदेश निर्गुण परब्रह्म का था जो उस युग (अठारहवीं शताब्दी) की सबसे बड़ी माँग थी।

चरनदास के निर्गुण, निराकार, निर्विकार, परब्रह्म के विषय में सविस्तार विचार करने के पूर्व, देश में निर्गुण उपासना के विकास का अत्यन्त संक्षेप में अध्ययन कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि हम समझ सकें कि कबीरदास से प्रभावित होते हुए भी चरनदास जी ने कहाँ तक प्राचीन चिन्तन-परम्परा तथा वैदिक मत को ग्रहण करके निर्गुण ब्रह्म का उपदेश दिया है। इस विवेचन से समस्त दुविधाएँ और अस्पष्टता को छोड़कर हम चरनदास की विचारधारा का मूल्यांकन करने में समर्थ होंगे।

निर्गुण

'निर्गुण' का अर्थ होता है 'गुणों से रहित'। संस्कृत भाषा में 'निर्गुण' शब्द का व्युत्पन्नार्थ होता है 'निर्गतो गुणेभ्यः'। 'गुण' शब्द का प्रयोग एवं अर्थ अनेक प्रकार से होता है। 'गुण' के अर्थ होते हैं—प्रवीणता, शील, धर्म प्रभाव, रस्सी, प्रत्यंचा एवं सद्वृत्ति। इस शब्द का प्रयोग सद्गुण, दुर्गुण, सगुण आदि के रूप में भी होता है। दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में जब 'गुण' शब्द का प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए होता है तब इसका अर्थ होता है तीन गुण 'रजस्', 'तमस्' एवं 'सत्व' गुण।

इन तीनों शब्दों—'रजस्', 'तमस' एवं 'सत्व' का प्रयोग वेदों से लेकर

आज तक देश के धार्मिक साहित्य में बारम्बार हुआ है। ऋग्वेद (नासदीय सूक्त) में इस शब्द का प्रयोग चार प्रकार से उपलब्ध होता है :—

१. सत् २. असत् ३. रजस् ४. तमस्[1]।

साँयणाचार्य ने उपर्युक्त शब्दों की व्याख्या अपने भाष्य में निम्नलिखित प्रकार से की है :—

१. सत्—आत्मवत् सत्वेन निर्वाच्यम्।

२. असत्—शशविषाणवन्निरुपाख्यम्।

३. रजस्—लोका रजांस्युच्यन्ते इति यास्कः।

४. तमस्—आत्मतत्वस्यावरकत्वान्मायापरसंज्ञंभावरूपाज्ञानमत्र तम इत्युच्ते।

'अथर्ववेद' में भी स्थान-स्थान पर त्रिगुणात्मक प्रकृति का उल्लेख हुआ है।[2] अतएव वैदिक युग में 'सत्व', 'रजस्' एवं 'तमस' इन तीनों गुणों की कल्पना अपने मौलिक रूप में हो चुकी थी। 'ऋग्वेद' में निर्गुण सत्पुरुष की भावना की स्थापना पुरुष से पहले ही हो चुकी थी। यही पुरुष भावना 'अथर्ववेद' में 'व्रात्य-भावना' के रूप में पल्लवित हुई है।

'वैदिक-साहित्य' में गुण वा पुरुष भावना पर विचार कर लेने के अनन्तर अब 'उपनिषद्-साहित्य' इस दृष्टि से हमारा आलोच्य साहित्य है। इस साहित्य में गुण-भावना के विकास एवं स्वरूप के विषय पर मत स्थिर करना दुरूह कार्य है। फिर भी 'कठोपनिषद्' एवं 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' में इसके उल्लेख यत्र-तत्र हुए हैं। 'श्वेताश्वतर' में पुरुष गुणों से शून्य या परे माना गया है साथ ही उसके लिए निर्गुण शब्द का प्रयोग भी असंदिग्ध रूप से मिलता है। प्रस्तुत उपनिषद् में सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा कहकर जहां एक पुरुष के प्रति सर्वात्मवाद की स्थापना

---

[1]. नासदासीन्नोसदासीत्तदानीं नासीद्राजो नो व्योमा परो यत्।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥१॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥२॥
कामस्तदग्रे समवर्त्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥३॥

[2]. पुंडरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्।
तस्मिन्यद्यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः॥ १०।८।४२

हुई है वहां उसके साथ ही उसे सूक्ष्म ब्रह्म के रूप में भी ग्रहण किया गया है। अन्तर्यामी होता हुआ भी वह सूक्ष्म है। उदाहरणार्थ :—

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढ़ः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासी साक्षीचेतो केवलो निर्गुणश्च ॥ अध्याय ६।११

'श्वेताश्वतर' में उस पुरुष के मूर्त्त, व्यक्त अथवा साकार रूप का स्थान-स्थान पर निषेध किया गया है। वह चक्षु-इन्द्रिय ग्राह्य नहीं वरन् मनसा व ध्यान के द्वारा ग्राह्य सिद्ध किया गया गया है।[1] 'बृहदारण्यकोपनिषद्' में उस पुरुष को अक्षर कहा गया है। यह न स्थूल है, न बृहद्, न अल्प; न रूप-रङ्ग संयुक्त, न वायु, न आकाश। वह अमर, अप्राण, न सूक्ष्म, अमुख, अतेज, अबाह्य, अश्रोत्र, अनागमन, अरूप, अनादि तथा अनन्त है।[2] 'श्वेताश्वतर' में इस पुरुष के लिए कई स्थान पर निरंजन शब्द का भी प्रयोग हुआ है।[3]

'कठोपनिषद्' में गुण के आधार पर सृष्टि के विकास का सिद्धांत निर्धारित किया गया है :—

इन्द्रियेभ्यः पराह्यर्था परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः ॥ २।३।१०

आगे चलकर उपनिषदों से प्रतिपादित गुण के आधार पर सृष्टि के विकास की भावना सांख्यदर्शन में और भी अधिक व्यापक रूप में प्रस्फुटित हुई। सांख्य-दर्शन में प्रकृति की परिभाषा निश्चित करते हुए कहा गया है:—

"सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"

अर्थात् सत्व, रज एवं तम की स्थिरावस्था ही अव्यक्त प्रकृति है। यही तीन गुण प्रकृति के विकास के मूल कारण हैं। यही सृष्टि की समस्त विषमताओं

---

1. वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥ ३।८

× × ×

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्तिवेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥ ३।१९

2. बृहदारण्यक ब्राह्मण ८,७,२

3. निष्फलं निष्क्रियं शातं निरवद्यं निरंजनम्।
अमृतस्य परं सेतुं दग्धेन्धनमिवानलम् ॥ ५।१९

का कारण है। सांख्य का 'पुरुष' निर्गुण एवं त्रिगुणादि विपर्यय है। प्रकृति एवं पुरुष नितांत भिन्न गुण वाले पदार्थ हैं। फिर भी दोनों के योग से ही सृष्टि की स्थिति है। यह संयोग या संसर्ग अज्ञान का द्योतक है। 'सांख्य' का तो मूल सिद्धांत है कि "असंगोह्ययं पुरुषः", अर्थात् 'पुरुष' संग रहित है। साथ ही सांख्य मानता है कि प्रकृति का विकास पुरुष के लिए होता है। सांख्य की इन दोनों धारणाओं में पारस्परिक विरोध है। प्रकृति अंधी और पुरुष अपंग है, गति हीन है। एक दूसरे की सहायता के बिना अंधकारपूर्ण अज्ञान के बन से बाहर निकलना असम्भव है। कारण कि अंधे में चलने की शक्ति है, पर मार्ग का उसे ज्ञान नहीं और दूसरी ओर लंगड़े में दृष्टि है, पर गति नहीं। दोनों का साथ ही एक-दूसरे के अभाव का पूरक है। इसी प्रकार पुरुष एवं प्रकृति का सम्बन्ध भी है। पुरुष के सान्निध्य से जड़ात्मिका प्रकृति में विकारों की उत्पत्ति होती है।[1] 'सांख्य कारिका' में त्रिगुणों का निम्नलिखित विश्लेषण मिलता है :—

सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः।
गुरुवरणकमेवतमः प्रदीपवच्चार्थवचो वृत्तिः ।।१३।।

अर्थात् सत्व गुण का धर्म प्रकाश, रजस् का प्रगति तथा तमस् का आवरण गुण है।

सत्व, रजस् और तमस् गुणों का उल्लेख 'श्रीमद्भगवद्गीता' में कई बार हुआ है। एक स्थान पर भगवान ने इन तीनों गुणों को त्यागने का उपदेश दिया है।[2]

ये प्रकृति से उत्पन्न तीनों गुण अविनाशी जीवात्मा को शरीर में बाँधते हैं।[3] सांख्य की भाँति गीता का भी मत है कि कार्य एवं कारण को उत्पन्न करने में हेतु प्रकृति कही जाती है और जीवात्मा सुख दुःखों के उपभोक्तापन में अर्थात् भोगने में हेतु कहा जाता है।[4] प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि हैं। राग द्वेषादि

---

१. विशेष विवरण के लिए देखिये—मेरा ग्रन्थ 'सुन्दर दर्शन' पृष्ठ ७२,८६

२. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्दो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। २।४५

३. सत्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ।। १४।५

४. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानाम् भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।। १३।२०

विकारों तथा त्रिगुणात्मक सम्पूर्ण पदार्थों को भी प्रकृति से ही समुत्पन्न जानना चाहिए।[1] संसार त्रिगुणात्मक है, परब्रह्म निर्गुण और गुणों से परे :—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥ ७।१३

उपर्युक्त विवेचन से दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं, प्रथम यह कि गुण की कल्पना से अतीत परब्रह्म का प्रतिपादन भारतवर्ष के प्रचीनतम ग्रन्थ गीता, उपनिषद्, शास्त्र तथा वेदादि में बहुत पहले हो चुका था। समय-समय पर विचारकों ने इन्हीं स्रोतों से प्रेरणा ग्रहण करके निर्गुण ब्रह्म का उपदेश जनता के हितार्थ दिया है। युग प्रवर्तक रामानन्द ने भी इन्हीं से प्रभावित होकर कबीर को इस दिशा में प्रोत्साहित और दीक्षित किया। द्वितीय बात यह है कि चरनदास की सगुण निर्गुण से परे, निराकार और निर्विकार ब्रह्म-विषयक धारणा बहुत-कुछ इसी परम्परा में प्रतिपादित हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के चतुर्थ प्रकरण 'चरनदास का साहित्य' में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि अपनी साधना के विकासावस्था और प्रारम्भिक वर्षों में चरनदास सगुण ब्रह्म के उपासक थे। उनके ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं जहाँ सगुण ब्रह्म श्रीकृष्ण का वर्णन हुआ है। 'ब्रजचरित्र वर्णन', 'अमरलोक अखंड धाम वर्णन', 'दान-लीला', 'माखन-चोरी', 'कालीनथन-लीला', 'मटकी-लीला', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'नासकेत-लीला वर्णन', 'श्रीधर ब्राह्मण लीला', तथा 'चीर-हरण लीला' आदि ग्रन्थों में जिस परब्रह्म का वर्णन हुआ है वह सगुण वपुधारी, लीलाधाम, योगेश्वर श्रीकृष्ण का रूप है। परन्तु इन ग्रन्थों की रचना के अनन्तर जिस ब्रह्म का उनके ग्रंथों में प्रतिपादन हुआ है, वह निराकार और निर्गुण ब्रह्म है।

चरनदास से बहुत पूर्व संत कबीरदास ने जनता की बहुदेवोपासना को प्रवृत्ति की कटु आलोचना करते हुए हिन्दू और मुसलमान दोनों ही को एकेश्वरवाद का सन्देश सुनाया था। कबीर ने कहा कि जिन साधकों ने एक ब्रह्म के दर्शन किये हैं उनकी साधना सफल और सच्ची है।[2] एक ही शरण में जाने से उद्धार होता है परन्तु अनेक की शरण में जाकर भव-सागर पार उतरने वाले की वही दशा होती है, जैसी दो नावों पर चढ़ कर सागर पार करने की आकांक्षा करनेवाले मनुष्य की होती

[1]. प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥ १३।१६

[2]. एक-एक जिनि जाणियाँ, तिनही सच पाया।
प्रेम प्रीति ल्यौलीन, मन ते बहुरि न आया ॥ क० ग्र०, पृष्ठ १२६।१८१

है।[1] चरनदास के मतानुसार चाहे मस्तक कटकर धराशायी हो जाय परन्तु राम के अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति के समक्ष मस्तक न झुके।[2] सन्तों ने निर्गुण एकेश्वर-वादी को आलंकारिक भाषा में पतिव्रता नारी के रूप में सम्बोधित किया है। कबीर ने बहुदेवोपासक को जार (व्यभिचारिणी) के सदृश्य माना है जो गर्व के साथ एक व्यक्ति को अपना पति नहीं कह सकती है।[3] बहुदेवोपासक, वेश्या के पुत्र के समान है जो अपने पिता से अनभिज्ञ है।[4] चरनदास ने कबीर के साथ स्वर मिला कर कहा कि, साधक को अपने एकेश्वर ब्रह्म की सेवा सभी देवों को छोड़ कर करना अपेक्षित है। पति ब्रह्म के समान है। उसे अपने पति से प्रयोजन है न कि अन्यान्य व्यक्तियों से। कवि के शब्दों में :—

पति की ओर निहारिये, औरन सूं क्या काम।
सबै देवता छोड़ि के, जपिये हरि का नाम ॥
आज्ञाकारी पीव की, रहै पिया के संग।
तन मन सूं सेवा करै, और न दूजो रंग ॥[5]

चरनदास ने हिन्दू और मुसलमानों को सम्बोधित करके कहा कि यह तो बताओ कि "दो ब्रह्म कहाँ से आये ? उनका कौन निर्माता है, उनकी शक्ति के कौन-कौन पृथक्-पृथक् क्षेत्र हैं ?"

दो करता कहुं कैसे उपजे को उनका करतार।
उनकी शक्ति कहा है फैली काइ बतलावै सरदार ॥

तथा,

सब भांडे में इक माटी जु पिछानिये।
कनक के बरतन बहुत जु सोना एकिये ॥
सब बसनन के मांहिं जु सूतहि देखिये ॥

---

१. केवल नाम जपहु रे प्रानी परहु एक की सरना। क० ग्र०, पृष्ठ ६८।११४

२ यह सिर नवे तो राम कूं, नाहीं गिरियो टूट।
आन देव नहि परसिये, यह तन जायो छूट ॥ सं० बा० सं० १।१४७

३. नारि कहावै पीव की, रहै और संग सोय।
जार सदा मन में बसै, खसम खुसी क्यों होय ॥ सं० बा० सं० १।१८

४. राम पियारा छाड़ि कर, करै आन को जाप।
वेस्वा केरा पूत ज्यूं, कहै कौन सं बाप ॥ क० ग्र०, पृष्ठ ६।२२

५. सं० वा० संग्रह, भाग १।१४७

ऐसेहि आदिरु अंत ब्रह्म सब मांहि है।
कहिये याहि अनन्त भेद कछु नाहि है ॥[1]

जब एक ही मृत्तिका के सभी पात्र बने हुए हैं तो उन पात्रों को पृथक् करने वाला विभाजन तत्व क्या है। इसी प्रकार कबीर ने कहा था कि "अरे भाई! यह तो बताओ कि दो जगदीश कहाँ से उत्पन्न हो गये। सच तो यह है कि अल्लाह, राम, करीम, केशव, हरि और हजरत सभी उस एक ब्रह्म के नाम हैं। एक ही स्वर्ण से अनेक आभूषण तैयार किये जाते हैं, पर विविध रूपों में प्रस्तुत होते हुए भी तत्व तो उनमें एक ही है।"[2]

चरनदास का यह एकेश्वर परब्रह्म निःअक्षर है। गीता के अनुसार जीव अक्षर है, माया क्षर है तथा ब्रह्म निःअक्षर है। यहाँ पर कवि गीता से भाव साम्य स्थापित करता हुआ कहता है कि ब्रह्म, माया एवं जीव दोनों से ही पृथक् है। विनाशशील और क्षयवान् तत्वों से ही परे ब्रह्म की स्थिति है। ब्रह्म की सत्ता माया और जीव दोनों ही से ऊपर है। कवि के शब्दों में :—

माया जीव दोउ ते न्यारा। सो निज कहिये पीव हमारा ॥
क्षर अक्षर निःअक्षर तीनों। गीता पढ़ि सुनि इनको चीन्हो ॥
गीता अक्षर जीव बतावै। क्षर माया सोइ दृष्टि दिखावै ॥
निःअक्षर है पुरुष अपारा। ज्ञानी पंडित ल्योह विचारा ॥[3]

---

1. सर्वोपनिषद् वर्णन अष्टपदी
2. दुइ जगदीस कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीमा केसो हरि हजरत नाम धराया ॥
गहना एक कनक ते गहना ता में भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापे, एक नमाज एक पूजा ॥
तुलना कीजिए चरनदास की निम्नलिखित पंक्तियों से :—
सोने को गहनो गढ़ै, कहन सुनन को दोय।
गहनो ना सोनो सबै, नेक जुदो नहि होय ॥
झूठ सांच दोनांव है, झूठ मिटै इक साँच।
नाम मिटै सूरत मिटै, भूषण को लग आँच ॥
खेल खिलौना खांड के, कीजै लाख पचास।
सकल खिलौना खांड है, ऐसे गहि विश्वास ॥
चरनदास खिलौना खांड के, भाजन राखे खांड।
बिन विनशे भी खांड है, विनशि जाय तो खांड ॥ —ब्रह्मज्ञान सागर
3. अमरलोक अखंड धाम वर्णन

उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है कि चरनदास का ब्रह्म निःअक्षर है जो क्षर एवं अक्षर से भी परे है।

चरनदास का निःअक्षर एकेश्वर परब्रह्म सर्वव्यापक है। संसार का कोई भी तत्व, जीव, घट, पदार्थ, जड़, शून्य वा चैतन्य उससे शून्य नहीं है। वह प्रत्येक अणु-परमाणु में परिव्याप्त है। वही परमेश्वर और परमात्मा है। कवि के मत से वह अलख और निराकार होते हुए भी सब वस्तुओं में उसी प्रकार रमा हुआ है यथा तिल में तेल, पुष्प में सुगन्धि, दुग्ध में घृत तथा लकड़ी में अग्नि सन्निहित रहती है :—

एक सवतन रमि रह्यो, चेतन जड़ के मांहि।
माता दर्शत है सभी, ब्रह्म लखत है नांहि॥
जैसे तिल में तेल है, फूल मध्य ज्यों बास।
दूध मध्य जो घीव है, लकड़ी मध्य हुतास॥
थावर जंगम चर अचर, सबमें एकै होय।
ज्यों मन को मैं डारिहै, बाहर नाहा कोय॥[1]

वेदांत के इन दृष्टांतों को लेकर ब्रह्म की सर्वव्यापकता प्रकट करना संतों को प्रिय रहा है। सुन्दरदास[2], मलूकदास[3], तथा दादू[4] ने इसी शैली में उसकी सर्वव्यापकता व्यक्त की है।

ब्रह्म आवागमन और अवतार ग्रहण करने से परे है। चरनदास के मतानुसार गुणधारी वस्तु विकारशील है। जो ब्रह्म गुणों को धारण करता है वह माया से आवृत है। ब्रह्म तो अजर, अमर, अजात, अमृत है। वह इस विश्व में मूर्तरूप नहीं धारण करता है। माया उत्पन्न और विनष्ट होती है परन्तु वह क्षीण और वृद्धि को नहीं प्राप्त होती है।[5] चरनदास, ब्रह्म के अवतार ग्रहण करने की कल्पना

---

१. ब्रह्मज्ञान सागर वर्णन

२. देखिये मेरा ग्रन्थ—'सुन्दर दर्शन' में 'सुन्दर दास का राम'।

३. देखिये मेरा ग्रन्थ—'मलूकदास' में 'मलूकदास की आध्यात्मिक साधना।'

४. घीव दूध में रमि रहा पावक सबही ठौर—दादूदयाल की वानी, १।३२

नोट—कबीर के अनुसार "खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रह्या समाई"।

५. घटो बढ़ो तुम नाहिं सदा पूरन रहो।
आदि अंत सब सृष्टि के पुरुष अनन्त जू।
नित ही इकरस रहत तुमही भगवन्त जू॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

भी नहीं कर पाते हैं। वह स्वतः पूर्ण है और अविनाशी है।[1] जिस प्रकार जल में बुलबुला बनकर फिर विनष्ट हो जाता है और जल में ही समाहित हो जाता है, उसी प्रकार अवतार निःसार है।[2] तत्व ही अविनाशी है। निराकार ब्रह्म अक्षय है, उसकी सत्ता अमर है।[3]

माया उपजै विनशै अति ही।
चेतन ब्रह्म अमर है नित ही ॥[4]

'श्वेताश्वतरोपनिषद्' के अनुसार ब्रह्म को ऊपर से, इधर-उधर से, अथवा मध्य में भी कोई ग्रहण नहीं कर सकता है। ब्रह्म ऊर्ध्वादि दिशाओं से रहित है। निरवयव होने के कारण वह ग्रहण नहीं किया जा सकता है। उसकी कोई उपमा नहीं है। वह महद्यशः है :—

नैनमूर्ध्वं न तिर्यञ्च न मध्ये परिजग्रभत्।
न तस्य प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः ॥—अध्याय ४।१६

चरनदास का ब्रह्म भी आदि, अंत, मध्य, वर्ण, रूप आदि से रहित है। कवि के शब्दों में ही :—

आदि अंत मध्य नहिं जाका। दहिना बांवा पीठ न आगा।
हरा पीत श्वेत नहिं काला। नारी पुरुष न बूढ़ा बाला ॥
रूप न रंग मिहीं नहि मोटा। नया पुराना बड़ा न छोटा।
नाम रूप किरिया सूं न्यारा। नहिं हलका नहिं कहिये भारा ॥

---

१. आप आप में आप है, आप आप में आप।
आप अपन में जपत है, आप आपनो जाप।
अविनाशी नाशै नहीं, नाश न कबहूं होय।
स्वरूपी एक है, कभी होय नहिं दोय ॥

२. आप ब्रह्म मूरति भयो, ज्यों बुदगल जल मांहि।
सूरति विनशै नाम संग, जल विनशत है नाहिं ॥
बुदगल देखो जल सबै, बुदगल कहूँ न होय।
कहवे को दूजो कहो, जल बुदगल नहि दोय ॥
भयो नेक में बुलबुलो, नाच कूद मिटि जाय।

३. निराकार रहि जायगो, मूरति ना ठहराय।
निराकार आकार धर, खेलौ कै इकवार।
स्वप्नों है है मिटि गयो, रहो सार को सार ॥—ब्रह्मज्ञान सागर

४. अमरलोक अखंड धाम वर्णन

वानी चार परै निवाना । काहू विधि वह जाप न जाना ।
पुहुप गंध नाद तै झीना । गुरु शुकदेव सुनाय जु दीना ॥
कौन लखै को कहि सकै, अचरज अलख अभेव ।
ज्ञान ध्यान पहुँचै नहीं, निर्विकार निर्लेव ॥[1]

वह निरुपाधि और वर्ण गुणों से भी रहित है :—

है निहरूप अडोल अखंड अगाध ही ।
है तौ निस्सन्देह पहुँचे न उपाध ही ॥
करि न सकै परवेश वरण गुण रूप ही ।

कबीर दास निर्गुण भगवान् का स्मरण करते हैं "तो उनका उद्देश्य यह होता है कि भगवान् के गुणमय शरीर की जो कल्पना की गई है वह रूप उन्हें मान्य नहीं है ।[2]" परन्तु निर्गुण से वे केवल निषेधात्मक भाव ग्रहण करते हों सो बात भी नहीं है ।.....हे सन्तों, मैं धोखे की बात किससे कहूँ । गुण ही में निर्गुण है और निर्गुण में गुण । इस सीधे रास्ते को छोड़कर कहाँ बहता फिरा जाय ? लोक उसे अजर कहता है, अमर कहता है, पर असल बात कोई कहता ही नहीं । वस्तुतः वह अलख है, अगम्य है । निषेधात्मक विशेषण केवल धोखा है । यह तो ठीक है कि उसका कोई स्वरूप नहीं है, कोई वर्ण नहीं है पर यह और भी अधिक ठीक है कि वह सब घट में समाया हुआ है ।.....कबीरदास कहते हैं कि उनका हरि उन सबसे परे है । वह अगुण और सगुण दोनों के ऊपर है, अजर और अमर दोनों से अतीत है, अरूप और अवर्ण दोनों के परे है, पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों से अगम्य है ।"[3]

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के प्रस्तुत विद्वत्तापूर्ण विश्लेषण से कबीर के "सगुण निर्गुण ते परे तहाँ हमारो राम" का रहस्य स्पष्ट हो जाता है । चरनदास ने भी ब्रह्म में गुण की भावना की कल्पना नहीं की है । उनका ब्रह्म गुणातीत है । सर्वत्र

---

१. भक्तिपदार्थ वर्णन

२. कबीर—डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ १२२

३. सन्तौ धोखा कासूं कहिये ।

गुन मैं निरगुन, निरगुन मैं गुन, बाट छांड़ि क्यूं बहिरै ।
अजर अमर कथै सब कोई अलख न कथणा जाई ।
नाति स्वरूप वरण नहि जाके घटि-घटि रह्यौ समाई ।
प्यंड ब्रहंड कथै सब कोई, वाके आदि अरु अंत न होई ।
प्यंड ब्रह्मांड छाँड़ि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई ॥—क० ग्र० पद, १८०

व्याप्त होते हुए भी वह सबसे परे हैं। चरनदास ने बारम्बार "निराकार नहिं ना आकारा" लिख कर उसी बात को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है जो कबीर ने "प्यंड ब्रह्मांड छांडि जे कहिये कहै कबीर हरि सोई" कह कर अपने हृदय के भार को हलका किया था। चरनदास के शब्दों में :—

निराकार नहि ना आकारा। नहि अडोल नहि डोलन हारा।
पांच तत्व तिरगुण ते आगे। अद्भुत अचरज ध्यान न लागे॥
नहिं परगट नहिं गूपन ठाऊँ। समझ सकौ नहि थकि थकि जाऊँ॥
जो कुछ कहिया नाहीं नाहीं। सो सब देखा वाके माहीं।

× × ×

वै निरगुण सरगुण ते न्यारे। निरगुण सरगुण नाम विचारे॥
अकथ कथा कछु कथिय न जाई। जो भाषूं सोई मुरखाई॥

× × ×

निर्गुण ना सर्गुण नही, उपजै ना मिटि जाय।
सब कुछ है अरु कछु नही, सदा ब्रह्म थिरथाय॥

जहाँ साँच जहँ झूठ है, जहाँ झूठ जहँ साँच।
झूंठ साँच दोनों नहीं, तहँ कुछ सील न आंच॥

"निर्गुण ना सर्गुण नहीं" के भाव को और भी सरल भाषा में प्रकट करते हुए चरनदास जी कहते हैं कि "वह ब्रह्म न हद्द है न बेहद्द। ब्रह्म हद्द और बेहद्द दोनों ही सीमाओं से परे है" :—

हद्द कहूँ तौ है नहीं, बेहद कहौं तौ नाहिं।
हद्द बेहद दोनौ नही, चरणदास भी नाहिं॥

वह न दूर है न निकट[1], न एक है न दो[2]। साधना के क्षेत्र में चिन्तन के द्वारा चरनदास इस अवस्था पर पहुँच गए कि ब्रह्म को दो क्या, एक कहने में भी उन्हें संकोच का अनुभव होने लगा। स्थूल की भावना तो मस्तिष्क में कभी आ ही नहीं सकती। चरनदास ब्रह्म को सूक्ष्म कहने में भी संकोच का अनुभव करते हैं। चरनदास का ब्रह्म तो 'केवल' है। वह एक भी नहीं है। इसी प्रकार कबीर ने कहा

---

१. अद्वै अचल अखंड है, अगम अपार अथाह।
नहीं दूर नहिं निकट है, सतगुरु दियौ बताय॥

२. भूल हुती जब दो हुते, अब नहि एक न दोय।
अटक उठी धोखो मिटो, आपनहूं गयो खोय॥ —ब्रह्मज्ञान सागर

था कि "अगर उस ब्रह्म को एक कहा जाय तो असत्य है और दो कहें तो उसे अपमानित करना होगा। वह जैसा है वैसा ही उसे जानना चाहिए।[१]" सन्त दादू ने चरनदास और कबीर के इस भाव को और भी सुन्दर ढंग से कहा है। उनके अनुसार, "चर्म दृष्टि से ब्रह्म अनेक दिखाई देते हैं आत्म दृष्टि से वह केवल एक दिखाई देता है परन्तु ब्रह्म दृष्टि से तो वह इन दोनों के परे है।[२]"

चरनदास का ब्रह्म सर्वशक्तिवान् तथा सर्वसामर्थ्यसम्पन्न है। असम्भव भी उसके लिए सम्भव है। वह अग्नि में तृण को सुरक्षित रख सकता है। उसकी इच्छा से सागर में गिरिराज संतरित रहते हैं, मूक वेद का पाठ करते हैं, ज्योतिहीन को ज्योति प्राप्त हो जाती है। राई को पर्वत, बिना जल की वृष्टि, रंक को छत्रधारी और छत्रधारी को रंक बना देना उसी ब्रह्म की सामर्थ्य है।[3]

ब्रह्म अनाम है। उसको किसी शब्द-विशेष से सम्बोधित नहीं किया जा सकता है। प्रत्येक मत और सम्प्रदाय में उसे भिन्न-भिन्न आदरसूचक शब्दों से सम्बोधित करने का प्रयत्न किया गया है।[४] चरनदास के शब्दों में ब्रह्म का

---

१. एक कहूं तो है नहीं, दोय कहूं तो गारि।
है जैसा तैसा रहै, कहै कबीर विचारि ॥

२. चर्मदृष्टी देखै बहुत करि, आतम दृष्टी एक।
ब्रह्म दृष्टी परिचय भया, तव दादू बैठा देख ॥

३. अग्नि मांहि तृण घास बचावै। घट में सगरो सिन्धु समावै ॥
पावक राखै पानी माही। जल राखै जह धरती नाही ॥
गिरिवर सागर मांहि तरावै। चाहै हलका काठ डुबावै ॥
सुई के नाके हस्ती काढ़ै। मूल पात बिन लकड़ी बाढ़ै ॥
चाहे गूंगे वेद पढ़ावै। अंधरे आंखै खोलि दिखावै ॥
चाहे बिन बादल बरसावै। बिन सूरज दिनकरि दिखलावै ॥
रंकन कूं करै छत्तरधारी। चाहै भूपन देइ उजारी ॥
चाहै जल का थल करि डारै। राई कूं परबत करै भारै ॥

४. यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनः।
बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः।
अर्हन्नित्यथ जैन शासन रताः कर्मेति मीमांसकाः।
सो मां वो विदधातु वांछितबलं त्रैलोक्यनाथो हरिः ॥

कोई नाम नहीं है और यदि नाम की कल्पना की जा सकती है तो वह है ओंकार :—

नाम ब्रह्म का है नहीं, है तो ॐकार।
जानै आपन को वही, मै हौ तत्व अपार ॥—हंसनाद उपनिषद्
ॐकार बड़ नाम है, हिरदै ध्यान करै।
शुकदेव कहे चरनदास सू, सब ही व्याधि टरै ॥—तत्वयोग उपनिषद्

प्रणव

शास्त्रों एवं उपनिषदों में ओंकार अथवा प्रणव मंत्र को मंत्रराज कहा गया है। प्रणवोपासना से गुणातीत ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त होता है। ओंकार प्रत्येक आत्मा का प्रतीक है। प्रणव मंत्र के जप से साधक की आत्मा और ब्रह्म के साथ ऐक्य समुपस्थित होता है। इसके जप से ब्रह्म और आत्मा में अन्योन्य तादात्म्य स्थापित होता है। माया की सहायता अथवा प्रेरणावश अज्ञान के कारण मनुष्य तीन शरीरों—स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण का आरोप करता है। परन्तु प्रणवोपासना के माध्यम से बोध ज्ञान के द्वारा इस प्रकार की भ्रांति स्वतः विनष्ट हो जाती है। कहा गया है कि इस प्रकार की भ्रांति के विकास अथवा आरोप के समय ओंकार अथवा प्रणव का स्मरण करके नाद के अन्तिम चरण पर चित्त को ध्येयाकार वृत्ति करना अपेक्षित है।

'मांडूक्योपनिषद्' के अनुसार ओम् अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रपिपाद्य) रूप जितना पदार्थ समूह है वह अपने अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होने के कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकार से अभिन्न होने के कारण सब कुछ ओंकार ही है। परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपाय के द्वारा ही जाना जाता है, इसलिए वह भी ओंकार ही है। यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर ॐ है, उसका उपव्याख्यान ब्रह्म की प्राप्ति का उपाय होने के कारण उसकी समीपता से स्पष्ट कथन का नाम उपव्याख्यान है, वही यहां प्रस्तुत जानना चाहिए। इस वाक्य में "प्रस्तुतं वेदितव्यम्" यह वाक्यशेष है। भूत, वर्तमान और भविष्य, इन तीनों कालों से जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्याय से ओंकार ही है। इसके सिवा जो तीनों कालों से परे, अपने कार्य से ही विदित होने वाला और काल से परिच्छेद्य अव्याकृत आदि, वह भी ओंकार ही है :—

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोकांर एव। यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योकांर एव। —मांडूक्योपनिषद १

'मांडूक्योपनिषद्'[1], 'कठोपनिषद्'[2] तथा 'प्रश्नोपनिषद्'[3] का मत है कि ओंकार ही परब्रह्म है और ओंकार ही अपरब्रह्म है। वह ओंकार अपूर्व, अकारण, अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य एवं अव्यय है।

समस्त वेद जिस पद का वर्णन करते हैं, समस्त तपों को जिसकी प्राप्ति का साधन कहते हैं, जिसकी इच्छा से (मुमुक्षुजन) ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, यह ॐ वही पर है।[4] यह अक्षर ही श्रेष्ठ आलम्बन है। इस आलम्बन को जान कर पुरुष ब्रह्मलोक में महिमान्वित होता है।[5] जो पुरुष तीनों स्थानों में तुल्यता अथवा समानता को निश्चयपूर्वक जानता है, वह महामुनि समस्त प्राणियों का पूजनीय और वन्दनीय होता है।[6] साधक चित्त को ओंकार में समाहित करे, ओंकार निर्भय ब्रह्मपद है। ओंकार में नित्य समाहित रहने वाला पुरुष कहीं भी भय को नहीं प्राप्त होता है।[7] प्रणव को ही सबके हृदय में स्थित ईश्वर जाने, इस प्रकार सर्वव्यापी ओंकार को जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता है।[8]

---

१. प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः।
अपूर्वोऽनन्तरो बाह्योऽपर प्रणवो व्ययः॥ २६॥

२. एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्॥ १६॥

३. तस्मै स हो वाच एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः।
तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वति॥ २॥

४. सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥
—कठोपनिषद् १५

५. एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते॥—वही, १७

६. त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः॥—मांडूक्योपनिषद् २२

७. युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम्।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित्॥—वही, २५

८. प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम्।
सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति॥—मांडूक्योपनिषद् २८

त्रिकाल में, अमर और वर्तमान रहने वाला जगत ॐकार रूप है। 'मांडूक्योपनिषद्' में ओंकार की अ, उ, म मात्राओं के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण, शरीर के अभिमानी विश्व, तैजस एवं प्रज्ञा का उल्लेख करते हुए उनका समष्टि अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वर के साथ अभेद किया गया है। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इनकी अभिव्यंजना की तीन अवस्थायें हैं। इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म एवं आनन्द हैं। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्था में जीव क्रमशः दक्षिण नेत्र, कंठ और हृदय में रहता है। वास्तव में इसी का नाम प्रपंच है। परमार्थतत्व की स्थिति, इन सभी में श्रेष्ठ और विलक्षण है। इसमें अनुगत तथा इसका अधिष्ठान और साक्षी है। उसे प्रणव के चतुर्थपाद अमात्र तुरीयात्म रूप में वर्णित किया गया है। कोई भी भ्रम बिना अधिष्ठान के नहीं हो सकता, अतः इस प्रपंच भ्रम का भी कोई अधिष्ठान होना चाहिये। वह अधिष्ठान तुरीय ही है। तुरीय नित्य, शुद्ध, ज्ञान स्वरूप, सर्वात्मा और सर्वसाक्षी है। वह प्रकाशस्वरूप है, उसमें अन्यथाग्रहण रूप स्वप्न और तत्वग्रहण रूप सुषुप्ति का सर्वथा अभाव है। जिस समय अनादि माया से सोया हुआ जीव जागता है उसी समय उसे इस अजन्मा तथा स्वप्न और निद्रा से रहित अद्वैत तत्व का बोध होता है।[१] 'मांडूक्योपनिषद्' में कहा गया है :—

अनादि मायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

आत्मा अक्षर दृष्टि से ओंकार है। वह मात्राओं को विषय करके स्थित है। पाद ही मात्रा है और मात्रा ही पाद है। वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं :—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोंकारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥—मांडूक्योपनिषद् ॥८॥

आत्मा के चार पाद माने गये हैं। इन चार पादों में से विश्व नामक अध्यात्म और वैश्वानर नामक अधिदैवदेही प्रथम पाद कहे गए हैं। इस प्रथम पाद का स्थान जागरित अवस्था है। तैजस नामक अध्यात्म तथा सूत्रसंज्ञक अधिदैव-देही द्वितीय पाद के रूप में उल्लिखित है। द्वितीय पाद का स्थान स्वप्नावस्था माना गया है। इसके द्वारा सूक्ष्म विषय ग्रहण किये जाते हैं। इसी कारण इसे अन्तः प्रज्ञ या सूक्ष्मभुक् भी कहा गया है। आत्मा का तृतीय पाद सुषुप्तिस्थ प्राज्ञ और ईश्वर या ब्रह्म है। इस अवस्था में साधक की बुद्धि का नितांत लय हो जाता है और तभी द्वैत की भावना विलीन हो जाती है। इसी स्तर पर साधक की आत्मा

१. मांडूक्योपनिषद्, पृष्ठ ५

भी एकीभूत हो जाती है। इसी अवस्था में ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। सुषुप्ति के भी निम्नलिखित चार प्रकार है :—

१. सुप्ति जागरण २. सुप्ति स्वप्न ३. सुप्ति सुप्ति, तथा
४. सुप्ति तुरीय।

आत्मा का चतुर्थ पाद तुरीया है। यह तुरीयापाद शब्दों के वर्णन से अतीत है। कहा गया है कि यह पाद न तो अंतःप्रज्ञ है न वहिष्प्रज्ञ, न उभयतः प्रज्ञ, न प्रज्ञानघन, न प्रज्ञ न अप्रज्ञ। इन षट् निषेधात्मक पदों से उसे लक्षित करने का प्रयत्न किया गया है। यही है आत्मा तथा यही जिज्ञासु साधकों का ज्ञेय वा साध्य है। आत्मा ओंकार का अक्षर रूप माना गया है तथा ओंकार अधिमात्रा रूप।

यह तो हुआ ओंकार अथवा प्रणव की परम्परागत स्वरूप और दर्शन, जो प्राचीन भारतीय साहित्य में चिरकाल से मान्यता प्राप्त करता चला आ रहा है। अब कवि चरनदास के ओंकार वर्णन और दर्शन पर विचार करना अपेक्षित है। चरनदास जी ने अपने ग्रन्थ तत्वयोग उपनिषद् में ओंकार अथवा प्रणव के महत्व, उसकी व्याख्या, ओंकार जप का प्रभाव, ओंकार जप की शैली और विधि पर सविस्तार विचार प्रकट किया है।

चरनदास जी के अनुसार प्रणव अथवा ओंकार तीन अक्षरों से—'अकार', 'उकार', 'मकार' द्वारा विनिर्मित है। इन तीनों अक्षरों में ही अखिल ब्रह्मांड, तीनों लोक, भूलोक, आकाश लोक, एवं बैकुंठ लोक समाहित है।[1] 'प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि यदि साधक एक मात्राविशिष्ट ओंकार का ध्यान करता है तो उसी से बोध को प्राप्त कर तुरन्त ही संसार को प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्य लोक में ले जाती हैं। वहाँ वह तप, ब्रह्मचर्य, और श्रद्धा से सम्पन्न होकर महिमा का अनुभव करता है।[2] यदि वह द्विमात्राविशिष्ट ओंकार के चिन्तन द्वारा मन से

---

१. ॐ कार के अक्षर कहिये तीन हैं।
अकार उकार मकार जानै परवीन है॥
तीनों अक्षर मांह तीनों हैं थोक ही।
पहले अक्षर में जुरहै भूलोक ही॥
दूजे अक्षर बीच जानौ आकाश ही।
तीजे अक्षर माहिं बैकुंठ निवास ही॥

२. स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेवजगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमान-मनुभवति॥ ३॥

एकत्व को प्राप्त हो जाता है तो उसे यजुःश्रुतियाँ अन्तरिक्षस्थित सोम लोक में ले जाती हैं। तदनन्तर सोम लोक में विभूति का अनुभव कर वह फिर लौट आता है।[1] जो उपासक ॐ जप के द्वारा परमपुरुष की उपासना करता है वह तेजोमय सूर्यलोक को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार कवि द्वारा वर्णित ओंकार के तीनों अक्षरों की महत्ता का 'प्रश्नोपनिषद्' में लिखित महत्ता से पूरा भाव-साम्य है।

चरनदास के मतानुसार ओंकार के इन तीनों अक्षरों में तीनों वेद ('ऋग्वेद', 'यजुर्वेद' एवं 'सामवेद'), त्रय महान् शक्तियाँ (ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश), त्रय अग्नि (सूर्य, जठर और अग्नि का वह रूप जो काष्टादि में प्रदर्शित होता है) तथा त्रय गुण (रजस्, तमस, सत्व) सन्निहित है।[3] संसार के समस्त मंत्रों और अक्षरों में यह श्रेष्ठ और सर्वाधिक कल्याणकारी है। संसार की समस्त ऋद्धि-सिद्धियाँ, समस्त शक्तियाँ और समस्त वस्तुएँ इसी में समाहित हैं। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है। ओंकार में सब कुछ उसी प्रकार निहित है यथा तिल में तेल और दुग्ध में घृत अदृश्य होते हुए भी वर्तमान है।[4]

---

१. अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम्। स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

२. यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः ॥५॥

३. तीनों अक्षर माहिं जो तीनों वेद हैं।
ऋगयजुर्वेदरु साम तिहूं जो भेद हैं॥
तीनों अक्षर माहिं तिहूं जो देव हैं।
ब्रह्मा विष्णु महेश बड़े जो अभेव है॥
तीन प्रकार की अग्नि तीन अक्षर महीं।
एक अग्नि यह जान दिखै प्रत्यक्ष ही॥
दूजी अग्नि प्रचंड सूर्य की भासई।
तृतिय अग्नि सब मांहि जठर परकासई॥
तीनों गुण तिन माहिं समझ जानौ यही।
रजगुण, सतगुण और तमोगुण है सही॥

४. सब वस्तू वा मांहि वाह्य कछु नाहिं है॥
ऐसे रह वा माहिं पुष्प में गंध ज्यों।
जैसे तिल में तेल दूध में घीव त्यों॥
जैसे पाहन माहिं जु कनक बताइये।
ऐसे ही ॐकार में सबको पाइये॥

कवि के अनुसार ओंकार के प्रथम अक्षर 'अ' के जप से हृदय को शुद्धता प्राप्त होती है। द्वितीय अक्षर 'उ' के ध्यान से हृदयरूपीकमल की कलिका विकसित हो जाती है और तृतीय 'म' के जप से नाद प्रकट होता है जिसके श्रवण से आनन्द प्राप्त होता है।[1]

चरनदास ने प्रणव की महत्ता और विशेषता पर अधिक ध्यान दिया है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि ने जो कुछ प्रणव के विषय में कहा है शुद्ध है, परन्तु कवि के विषय-प्रतिपादन में गम्भीरता और व्यापकता नहीं है।

आत्मा

मानव शरीर में चेतना की स्थिति अथवा सत्ता सर्वमान्य है। यह शरीर चेतना विशिष्ट है। अस्मत् चेतना है। चैतन्यता ही अस्मत् का अस्मत्पन है। चेतन ही समस्त वासनाओं एवं अन्तर्द्वंद्वों का आस्पद है और चेतन के इस आस्पद-भाव का ही नाम चेतना है। चेतना, आत्मा, जीव, क्षेत्रज्ञ, एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। आत्मा के स्वरूप के विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं। प्रथम मत यह है कि आत्मा ही चेतना युक्त है। यह चेतनांश शरीर में संस्थापित होते हुए भी शरीर से भिन्न है। जिस क्षण यह चेतनांश पार्थिव शरीर से पार्थक्य ग्रहण कर लेता है उसी क्षण शरीर जड़ और अनुभूति सामर्थ्य से विहीन हो जाता है। यह चेतन, अभेद्य और अमर है। यह चेतन ही अहम् है। शरीर के विमुक्त हो जाने के अनन्तर भी मैं अथवा अहम् स्थायी रहता है। यह आत्मा दिव्यशक्ति है और शरीर में जन्म ग्रहण करती है। आत्मा उसी क्षण तक ज्ञाता, भोक्ता और कर्ता है जब तक चित्त के साथ उसका सम्पर्क या योग है। आत्मा षड्विकारों से रहित है। वह जन्म और मृत्यु को नहीं प्राप्त करती है। हन्यमान् शरीर में कभी उसका हनन सम्भव नहीं है। वह अविकार, अदाह्य, अशोष्य और अक्लेद्य है। संक्षेपतः वह नित्य और समान है। समस्त मूलतत्व क्षर है और पर्वत की भांति जो स्थित है, वह अक्षर (अथवा जीवात्मा) है। इन दोनों से इतर उत्तम-पुरुष परमात्मा है। यही

---

1. अक्षर ॐकार के पहिला है जु अकार।
ताहि कहे सों होत है हिरदा शुद्ध विचार ॥
दूजा जपै उकार कमल विकसैं कली।
शनै शनै खुलि जाय बसै तामें अली ॥
तीजा जपै मकार प्रकट हो नाद ही।
सुनि सुनि आनन्द होहि जु परम अगाध ही ॥

अविनाशी है। वही तीनों लोकों में परिव्याप्त है।[1] गीता में कहा गया है कि अष्टधा प्रकृति और पुरुष या जीवात्मा ये दोनों अनादि है तथा विकार और गुण प्रकृति से समुत्पन्न है। जीवात्मा प्रकृति ही में रहकर उसके गुणों का भोक्ता है, विविध गुणों के संग वश उसका अच्छे अथवा बुरे शरीरों में जन्म होता है।[2] परमात्मा जीवात्मा का निरीक्षक है और वही जीवात्मा में व्यापक है। जीवात्मा का अस्तित्व पृथक् नहीं माना गया है। अंतःकरणचतुष्टय में जीवात्मा का बड़ा प्रमाण माना गया है। यदि आत्मा न होती तो मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार का आधार अप्राप्त रहता।

'सिद्धांतविन्दु' के अनुसार आत्मा देश और काल से अपरिच्छिन्न है। आत्मा के ध्वंस और प्राग्भाव का विचार ग्रहण नहीं हो सकता है। आत्मा से भिन्न पदार्थ जड़ है। आत्मा से भिन्न कोई दूसरी आत्मा नहीं है। आत्मा के एक होने पर भी सुख-दुख आदि के आश्रय अंतःकरणों के भेद के स्वीकार से सुख-दुख की व्यवस्था बन जाती है। इसीलिए आत्मा में प्राग्भाव और प्रध्वंसाभाव नहीं हो सकता।[3] चरनदास के अनुसार भी आत्मा विनाशशील और विकारशील नहीं है। वह स्थिर और अमर है। वह ब्रह्म का अंश है।[4]

---

१. द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थो क्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविंश्य विभर्त्यव्यय ईश्वरा।—गीता, प्र० १५, सं० १६, १७

२. प्रकृति पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृति संभवान्॥
पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुण संगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥—गीता १३।१६।२१

३. आत्मनो देशकालापरिच्छिन्नत्वात् तत्परिच्छिन्नानां घटादिवदनात्मत्वात्, तद्ध्वंसप्रागभावयोश्च ग्रहीतुमशक्यत्वात्, अनात्मनांजडत्वात्, स्वभिन्नस्य चात्मत्वाभावात्, आत्मन् एकत्वेऽपि सुखदुःखाद्याश्रयमाणामन्तःकरणानां.....न तस्य ध्वंसप्रागभावौ।—पृष्ठ २६

४. ना वह उपजै बीनसै ना कबहूँ भरमाय।
अंश ब्रह्म का होइ रहै ना आवै ना जाय॥
ना कुछ आया न गया, ज्यों का त्यों रहि जाय।
सबही हिरदय के मिटै वही एक ठहराय॥

मानव देह आत्मा से सर्वथा भिन्न है। शरीर परिच्छिन्न होता है, आत्मा नहीं। आत्मा शरीर के समान युवावस्था और वृद्धावस्था को नहीं प्राप्त होती है। इस कथन के समर्थन में 'सिद्धांतविन्दु' का निम्नलिखित उद्धरण पठनीय होगा :—

विकारिणः परिच्छिन्नत्वेनानात्मत्वापत्तेः, स्वेनैव स्वस्य ग्रहणे कर्तृकर्मभावा विरोधात् दृग्दृश्यसम्बन्धानुपपत्तेः, भेदेनाभेदेन वा धर्मिधर्मवानुपपत्तेश्च।

चरनदास जी की निम्नलिखित पंक्तियों में यही भाव परिपोषित हुआ :—

सूक्ष्म शरीरस आतमा, भिन्नलखै नहि कोय।
यही जु मन की गांठ है, खुले मुक्ति ही होय
जाने जाननहार ही, और तीसरी जान।
इन तीनौं को जो लखै, सो साक्षी परधान॥

आत्मा स्व प्रकाश है, वह स्वतः आनन्द स्वरूप है। 'सिद्धान्तविन्दु' के अनुसार वह प्रकाशपुंज है। जिस शरीर से उसका सम्बन्ध रहता है, वह शरीर ज्योति से प्रकाशमान् रहता है।[1] कवि ने भी उसे स्वतः प्रकाश तथा स्वप्रकाश माना है। चरनदास के शब्दों में :—

अपने ही परकास में आप रहा परकास।
सोई साक्षी जानिये कहै चरणहि दास॥

क्रोध

धर्मशास्त्र में मन के छः विकारों की गणना हुई है। ये षट्विकार हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मत्सर। सामान्यतया ये सभी विकार शरीरस्थ षट् जाग्रत शत्रु हैं। जिसके शरीर में इनमें से कोई एक भी प्रबल है उसे बाहर अपना शत्रु खोजने की आवश्यकता नहीं है। जिस मनुष्य ने स्वतः अपने इन विकारों पर विजय प्राप्त कर लिया है उसकी आत्मा ही श्रेष्ठ मित्र है।[2] इन समस्त विकारों में प्रथम दो, काम एवं क्रोध सर्वाधिक प्रबल हैं। यही दो विकार अन्य समस्त विकारों के जन्मदाता हैं। ये मनुष्य के रजोगुण अथवा अज्ञान मूलक स्वार्थ से समुत्पन्न होते हैं और मनुष्य के अस्तित्व के लिए बड़े घातक हैं। राक्षस के सदृश

---

1. सिद्धांतविन्दु, पृष्ठ ५६
2. बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्॥—गीता, अध्याय ६

ये दोनों ही मनुष्य का भक्षण करने वाले हैं।[१] गीता में क्रोध, काम और मोह की उत्पत्ति का रोचक शब्दों में उल्लेख हुआ है :—

ध्यायतो विषयान् पुंसः संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥—गी० अ० २ श्लोक ६२
क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥—वही, ६३

अर्थात विषयों के चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है और कामना के विघ्न पड़ने से क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से अत्यन्त मूढ़ भाव उत्पन्न हो जाता है, मूढ़ भाव से स्मृति में भ्रम हो जाता है तथा बुद्धि का नाश हो जाने से मनुष्य अपनी स्थिति से अधःपतित हो जाता है। अतः क्रोध का जन्मदाता काम है। इसीलिए मनुष्य को क्रोध रहित बनना चाहिए। क्रोध उत्पन्न होने पर विवेक के साथ मनुष्य को उसे अपने अन्दर ही रोक लेना चाहिए।[२] ऐसा मनुष्य तत्वदर्शी तथा तेजस्वी कहलाता है। यह तेजस्विता मनुष्य के लिए बड़ा वरदान है। तेजस्विता ही शौर्य एवं निर्भयता की जननी है। जिसकी बुद्धि पाप से रहित है उसका क्रोध भी शुद्ध एवं दूसरों के हेतु कल्याणकारी होता है।[३] क्रोध को वश में करने का प्रयत्न करना आवश्यक है। परन्तु दूसरे के क्रोध को भी अपनी आत्म-शक्ति और संयम के द्वारा वश में किया जा सकता है। दूसरे द्वारा किए गए क्रोध के प्रतिक्रिया स्वरूप मनुष्य को कभी क्रोध नहीं करना चाहिए। उचित अवसर पर क्रोध करने वाले के प्रति सहिष्णुता का प्रदर्शन करने से दूसरे का क्रोध भी स्ववश हो जाता है। महाभारत में कहा गया है कि शांति से क्रोध को जीतो, तथा दुष्टता को सज्जनता के द्वारा।[४] क्रोध एवं कालकूट में महत् अंतर है। क्रोध जिसके पास रहता है उसी को जलाता है परन्तु जहर जिसके पास रहता है, उसको हानि कदापि नहीं

---

१. काम एव क्रोध एव रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥—वही, अ० ३, ३७

२. यस्तु क्रोधं समुत्पन्नं प्रज्ञया प्रतिबाधते।
तेजस्विनं तं विद्वांसो मन्यन्ते तत्वदर्शिनः ॥—महाभारत, वनपर्व

३. क्रोधेऽपि निर्मलधियां रमणीयतास्ति।

४. अक्रोधेन जयेत् क्रोधं असाधुं साधुना जयेत्।—महाभारत, उद्योगपर्व

पहुँचता।[१] क्रोध शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक दौर्बल्य का प्रतीक तथा द्योतक है। क्रोध शरीर एवं मस्तिष्क को विकृत कर देने वाला होता है। तथ्य तो यह है कि हमारा आचरण मधुरतापूर्ण हो, हम जिस कार्य में संलग्न हों वह माधुर्यपूर्ण हो। हम मधुर वाणी का उच्चारण करें, हमारा सभी कुछ मधुमय हो।[२]

चरनदास ने 'अथ क्रोध अंग' शीर्षक के अन्तर्गत चौबीस छन्दों में क्रोध के विषय में स्वविचारों को अभिव्यक्त किया है। इन छन्दों में कवि ने केवल क्रोध के लक्षण एवं उसके विषाक्त प्रभाव का वर्णन किया है।

कवि के शब्दों में क्रोध, बुद्धि को भ्रष्ट करने वाली प्रवृत्ति है। यह मनुष्य को हिंसा की ओर प्रवृत्त करती है और दया से रहित कर देती है।[३] क्रोध मनुष्यों को सद्गुरु, साधु संत तथा ईश्वर से सम्बन्ध और नैकट्य विच्छिन्न करके उसे नरक द्वार में प्रविष्ट करा देता है।[४] क्रोध आत्मघाती प्रवृत्ति है। इसके कारण मनुष्य मंदमतिवान हो जाता है और स्थान-स्थान पर अपमानित होता है।[५]

क्रोध एक प्रकार का भूत है जिसके प्रभाव से मनुष्य अपने अस्तित्व को विसर जाता है। उसे स्वतन, मन और व्यक्तित्व का ध्यान नहीं रह जाता है। इसके उद्रेक होने पर नेत्र रक्तवर्ण तथा मुख काला पड़ जाता है और हिंसात्मक वृत्ति वृद्धि को प्राप्त हो जाती है।[६] क्रोध के जाग्रत होते ही मनुष्य की मानसिक एवं

---

१. क्रोधस्य कालकूटस्य विद्यते महदन्तरम्।
स्वाश्रयं दहति क्रोधः कालकूटो न चाश्रयम्॥

२. मधुमन्मे निक्रमणं मधुमन्मे परायणम्।
वाचा वदामि मधुमद् भूयांस मधुसन्दृशः॥—अथर्ववेद

३. वह बुद्धि भ्रष्ट करि डारै। वह मारहि मार पुकारै॥
वह सब तन हिंसा छावै। कहिं दया न रहने पावै॥

४. वह गुरु से बोलै बेडा। साधों सूं डोलै ऐंडा।
वह हरसूं नेह छुटावै। वह नरक मांहि लै जावै॥

५. वह आतमघाती जानौ। वह महामूढ़ पहिचानौ॥
सोटौं की मार दिलावै। कबहूँ कै सीस कटावै॥
वह नीच कमीना कहिये। ऐसे सूं डरता रहिये॥

६. क्रोध भूत के चरित सुनाऊँ। भिन्न-भिन्न परगट दिखलाऊँ॥
क्रोध भूत जब तापर आवै। तन मन की सब सुधि विसरावै॥
नैना लाल बदन सब कारो। रोम-रोम व्यापै हत्यारो॥
महाचंडाल नीच अति घोरी। अति विपरीत बुद्धि करि औरी॥

शारीरिक स्थिति में महान् परिवर्तन हो जाता है। उसे सद्-असद्, उत्कृष्ट-निकृष्ट महान् निम्न किसी बात का न तो ध्यान रह जाता है न विवेक ही।[1]

क्रोध का प्रभाव मानव जीवन एवं शरीर पर बड़ा विकृत पड़ता है। इसीलिए कवि का उपदेश है :—

वह निकट न आवन दीजै। अरु क्षमा अंक भर लीजै॥
जब क्षमा आय किया थाना। तब सबही क्रोध हिराना॥
कहैं गुरु शुकदेव खिलारी। सुनु चरणदास उपकारी॥

कबीर के शब्दों में :—

पानी केरा बुदबुदा, अस मानव की जाति।
देखत ही छिप जायगा, ज्यों तारा परभाति॥

अतः इस क्षणिक जीवन में क्रोध, रोष तथा प्रतिहिंसा के लिए कोई अवसर और अवकाश नहीं है। 'बोधसार' के रचयिता के अनुसार क्रोधी मनुष्य स्वयं अपना ही रक्त पीता है। राक्षस तो दूसरों का रक्त पीते हैं। उन्हें चाहे कभी दया आ भी जाय परन्तु अपना ही रक्त पीनेवाले क्रोधी को दया कहाँ? क्रोधी दिन में ही क्रोधान्धकार में नाचता है। वह स्वतः अपने आपको डराता है। अतः क्रोधी मानव राक्षस से भी निम्न और तुच्छ है :—

रुधिरं पिवति स्वीयं दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मानं क्रूरः क्रोधी न राक्षसः॥—बोधसार, पृष्ठ २२, श्लोक ९

---

१. अपने हांथ आपको मारै। अपने कपड़े आपहि फारै।
मुहड़े झाग मरोड़ै हाथा। कहै बतकही फूहर बाता॥
हांफै बहुत आपको गाली। जेवत आवै पटकै थाली॥
कबहुं शस्त्र सों मारन लागै। कबहूँ कुयें में पड़ने लागै॥
भली कहै ताहि भोग सुनावै। बुरे भलै पर ईंट चलावै॥
सबल देख शीला हो जावै। निबल देखि बहु दंदि मचावै॥
याका यतन करो मन भावै। चरणदास शुकदेव बतावै॥

बोधसार में 'अथक्रोध विडम्बना' प्रकरण में लिखा है कि क्रोधी मनुष्य अपना ही रक्त पीता है। क्रोधी दिन में ही क्रोधांधकार में नाचता है और स्वतः अपने विनाश का कारण होता है :—

रुधिरं पिवति स्वीयं दिवा तमसि नृत्यति।
भीषयत्यात्मनात्मानं क्रूरः क्रोधी न राक्षसः॥—बोधसार, पृष्ठ २२

मोह

संसार में जीवात्मा के हेतु समस्त विपत्ति का उत्पादक मोह है। मोह, अविद्या माया की सर्वश्रेष्ठ शक्ति है। मोह सब प्रकार के दारुण दुःखों का मूल विधायक है। मोह एक प्रकार का मधुर विष है, जो शनैः-शनैः मनुष्य की बुद्धि भ्रष्ट करता हुआ अंधकार में रख कर उसका जीवन समाप्त कर देता है। माया के सहायकों में मोह का विशिष्ट स्थान है।

कवि के मतानुसार माया ने मोह रूपी जाल को बड़े यत्नपूर्वक बिछा रखा है जिसमें अनेक पुरुष और नारियाँ स्वतः फँसकर अपने अस्तित्व को विनष्ट कर देते हैं। एक बार फँस जाने के अनन्तर मनुष्य उससे उन्मुक्त नहीं हो पाता चाहे कोटिशः प्रयत्न किये जायँ। यह मोह-जाल बड़ा रहस्यात्मक है। एक बार फँस जाने के अनन्तर उससे मुक्त होने के लिए मनुष्य जितना ही प्रयत्न करता है, उतना ही उसी में उलझता जाता है। मोह, शहद के समान है जिसमें जीव रूपी मक्खी स्वतः आकर फँस जाता है। वाह्यतः वह जितना आकर्षक है उतना ही अन्ततोगत्वा कष्ट-दायक है। मोह समस्त सद्प्रवृत्तियों का विनाशक एवं निम्नप्रवृत्तियों का उत्पादक है। इसी के प्रभाव से मनुष्य चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमा करता है।[1]

त्रिया, बन्धु-बान्धव, सन्तान, कुटुम्ब एवं परिवार आदि मोह के प्रमुख साधन हैं, जो मानव को सदैव अज्ञानी एवं विवेकहीन बनाए रहते हैं। मनुष्य इन्हीं में भ्रमता हुआ जीवन के दिनों को व्यर्थ ही विनष्ट कर देता है। मानव महल, धरती, द्रव्य, ऐश्वर्य एवं वस्त्र-भूषणादि के मोह में पड़कर अपने जीवन के लक्ष्य को विसर जाता है। इतना ही नहीं। उसे अपने नाम एवं रूप का मोह सतत व्यथित

---

१. माया मोह बिछाइया, जाल संभारि संभारि।
आय आय तामें फँसे, बहुत पुरुष बहु नारि॥
फँसे आय करि चाव सूं, लेन गया नहि कोय।
चरणदास यों कहत हैं, पछिताये कह होय॥
छूट सकै नहि जाल सूं, मिरगा ज्यों अकुलाय।
कूद कूद निकसो चहैं, ज्यों ज्यों उरझत जाय॥
मोह शहद सम जानिये, मक्खी सम जिय जान।
लालच लागे जित फँसे, शीश धुनै अज्ञान॥
बन्दी खानो भवन है, सब दिन धंधे जाइ।
मोह छुड़ावै राम सूं, डारै नरक मंझाइ॥
लख चौरासी योनि में, फिर वह भरमें जाय।
ह्वांसे निकसै कठिन सूं, कबहूँ औसर पाय॥

करता रहता है।[1] सत्य तो यह है कि ये समस्त नाम एवं रूप कृत्रिम एवं आरोपित हैं। इनसे मनुष्य का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। शरीर के विनाश से आत्मा का कुछ भी विकार नहीं होता है। नाम की बदनामी या ख्याति से भी आत्मा सदैव निर्विकार बनी रहती है। मानव की आत्मा अजर है, अमर है, शुद्ध है, निष्कलंक है, सनातन है तथा अक्षय एवं एकरस है। शरीर के वैभव और सौन्दर्य से आत्मा का सौन्दर्य न बढ़ता है न घटता है। सांसारिक परिवर्तन और क्षय नाम रूप में घटित होते हैं। नाम रूप से आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। नाम रूप आरोपित वा कल्पित मात्र है। जीवन इन्हीं को अपना वास्तविक स्वरूप समझ कर इनके लाभ-हानि में निरंतर संलग्न रहता है। शरीर को सुख-सौख्य के साधन उपलब्ध हों तथा नाम की कीर्ति वा ख्याति सुरभि चतुर्दिक प्रसारित हो, यही सबके जीवन का लक्ष्य है और अंतिम अभिलाषा है। यह भावना महान् मोह, अज्ञान और माया है। जिस क्षण मनुष्य नाम रूप को मिथ्या प्रकृति की वस्तु मान लेगा बस उसी दिन, उसी क्षण, वह प्रकृति जन्म सुख-दुख से उन्मुक्त हो जायगा। समस्त कार्य प्रकृति में सम्पन्न हो रहा है, और आत्मा निर्लेप है। आत्मा ही हमारा वास्तविक स्वरूप है। इसीलिए कहा गया है कि जो आत्मा में स्थित है, वह स्वस्थ है, एवं जो प्रकृति में स्थित है वही अस्वस्थ है। इन मोह बन्धनादि से दूर रहना, जाग्रत रहना एक महान साधना है।[2]

मोह दुख का पुंजीभूत रूप है। इसीलिए संसार में वासना से रहित होकर विचरण करना चाहिए। मनुष्य को संसार में उसी प्रकार रहना चाहिए जैसे मुख में जिह्वा का निवास होता है अथवा उसे "पद्मपत्रमिवांभसः" जीवन व्यतीत करना चाहिए। कवि के शब्दों में निम्नलिखित भाव पठनीय होंगे :—

---

१. तिरिया मोह महाबल दायी। मोह संतान सदा दुखदायी॥
मोह कुटुम्ब अरु भाई बंधा। समझै नहीं मूंढ़ मति अंधा॥
देव भूत जिहि कारण धावै। ठग चोरी करि खोट कमावै॥
बस्तर भूषण वाहन मोहा। सब मिलि किया जीव संद्रोहा।
द्रव्य लाल अरु हीरा मोती। सब मिलि मोह लगावैं गोती॥
मोह महल धरती अरु गाऊं। बड़ा मोह जू अपना नाऊं॥
जा में फंसे रंक अरु राजा। तिहि कारण धन्धा दुख साजा॥
परकाजै बहुतै दुख पाया। अपना सबहीं भूल गवांया॥

२. बड़े बड़े खेद उठाये सबही। भूले ध्यान राम का जबहीं॥
जीते मोह शूरमा कोई। मिलै राम कूं साधू सोई॥
होय मुक्ति जब बहुरि न आवै। चरणदास शुकदेव बतावै॥

मोह बड़ा दुख रूप है, ताकूं मार निकास ।
प्रीति जगत की छोड़ दे, जब होवै निरवास ॥
जग मांही ऐसे रहो ज्यों, अम्बुज सर मांहि ।
रहै नीर के आसरे, पै जल छूवत नाहि ॥
ऐसा हो जो साधु हो, लिए रहै वैराग ।
चरण कमल में चित धरै, जगये रहै न पाग ॥

मोह के दो विशेष सहायक हैं । इनमें से प्रथम है द्रव्य तथा द्वितीय है नारी । नारी का सम्पर्क अनेक बन्धनों एवं दुखों का उत्पादक है । इसीलिए साधना में सफलता, जीवन में सुख और कल्याण की आकांक्षा रखनेवाले मनुष्य को नारी का स्पर्श ही नहीं वरन् दर्शन से भी दूर रहना आवश्यक है । द्रव्य के माध्यम से भी नाना दुखों की उद्‌भावना होती है । कवि के शब्दों में 'द्रव्य के आवत, दुख राखत दुखी, जात प्राण की हानि ।' इनके सम्पर्क में आते ही साधना एवं ईश्वर-भक्ति विनष्ट हो जाती है ।[1] मनुष्य चौबीस घन्टे में तीन प्रहर नारी के साथ व्यतीत करता है, एक प्रहर धन के हेर-फेर में तथा शेष समय वह तृष्णा तथा माया के अन्य अंगों की सेवा में । इन दोनों की खोज और प्राप्ति के लिए मनुष्य श्वान के समान यत्र-तत्र सर्वत्र भटका करता है ।[2]

१. तिनमें दो बलवन्त हैं, एक द्रव्य इक नार ॥
नारि किये दुख बहुत है, बन्धन बन्धै अनेक ।
जो सुख चाहै जीवका, तिरिया कूं मत देख ॥
द्रव्य माहि दुख तीन हैं, यह तू निश्चय जान ।
आवत दुख राखत दुखी, जात प्राण की हान ॥
ताते इनकी प्रीति मन, उठै तभी निरवार ।
ये दुर्जन दुख रूप है, ऐसों करो विचार ॥
जो कोई इनमें पगै, तिनसे छूटै राम ।
चरणदास यों कहत हैं, क्यों पावै हरिधाम ।—भक्तिपदार्थ वर्णन

२. नारी के फैलाव को, दीखै ओर न छोर ।
द्रव्य मांहि तृष्णा रहै, चाहै लाख विरोर ॥
द्रव्य जोरि मरिजाय जब, हो बैठे तह नाग ।
नारी में जो चित रहै, ह्वै है कूकर काग ॥
ऐसे ही भरमत फिरै, लख चौरासी देह ।
कनक कामिनी कूं तजै, जब लग नांही नेह ॥
मूरख त्याग न करि सकै, ज्ञानवन्त तजि देह ।
कनक कामिनी कूं तजै, जब लग नांही नेह ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

मोह का एक और बड़ा स्रोत है कुटुम्ब। कुटुम्ब की ममता और प्रेम में मनुष्य अहर्निशि भटकता फिरता है। यह ममता बेड़ियों के समान पैर में पड़ी हुई है। मनुष्य इससे किसी प्रकार भी निस्तार पाने में समर्थ नहीं हो पाता। कवि के मत से :—

बाहर कलकल करत है, भीतर लम्बहि लाव।
ऐसो बाधौं खैंचकरि, छुटै हांथ नहि पाव॥
लाज तौंक गल मैं पड़ा, ममता बेरी पांय।
रसरी मूरख नेह की, लीन्है हाथ बंधाय॥
डारि दियो अज्ञान में, परो परो बिललाय।
निकसन कूं जबही चहै, कुतका मोह लगाय॥
रखवारे जहं पांच हैं, इन्द्रिन के रस जान।
तबही देह भुलाय कै, जो कुछ उपजै ज्ञान॥
कुटुंब और इन पांच को, एक मतो ही जान।
प्राणी कूं जग में फंसा, चहै खान अरु पान॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कुटुम्ब के चार प्रमुख प्राणी हैं, माता, पिता, सुत एवं नारी। इनकी ममता और इनके प्रति मनुष्य का प्रेम भाँति-भाँति से दुखदायी बना रहता है। ये चारों प्राणी उसी प्रकार अपना प्रेम-जाल फैलाते हैं जैसे बधिक बहेलिया अथवा हिरण एवं मछली का शिकारी विभिन्न प्रकारों से अपने शिकार को फांसने का प्रयत्न करता है। वस्तुतः इनकी प्रीति एवं ममता कल्याण के हेतु नहीं वरन् दुख देने के लिए होती है।[1] चरनदास ने पिता, माता, नारी एवं सुत को मोह एवं माया का

१. ये सब स्वारथ ही लगैं, इनका सगा न कोय।
जो शिर मार धरणि पर, कल्प-कल्प करि रोय॥
मात पिता सुत नारि की, इनकी उलटी रीति।
जग में देह फंसाय कै, करिकै प्रीतिहि प्रीति॥
जैसे बधिक बिछाय कै, जाल माहिं कण डार।
प्रीति करै पच्छी गहै, पाछे करै जुख्वार॥
जैसे ठग बहु प्यार करि, भोलापन ही देह।
पहिले लड्डू खवाय कै, पाछे सरबस लेह॥
हित सूं हिरण बुलाय कै, गोली मारै तान।
चरण दास यों कहत है, ऐसे इन कूं जान॥
जल में वंशी डारिया, अटकाया जहां मास।
मछरी जानै हित कियो, लखै न अपनो नास॥

सहायक माना है। ये सभी प्राणी छल करके मनुष्य को साधना के दुर्गम मार्ग से च्युत करते हैं। कवि ने इन सभी व्यक्तियों के छलों का रोचक वर्णन पृथक्-पृथक् किया है। कवि के शब्दों में सर्वप्रथम आप पिता का छल पढ़ें :—

अब इनके छल कहि समझाऊं। भिन्न-भिन्न परगट दिखलाऊं ॥
पिता कहै तुम पुत्र हमारे। बहुत भरोसे मोहिं तुम्हारे ॥
अब तुम ऐसी विद्या पढ़ो। अपने कुल में ऊंचे चढ़ो ॥
सत संगति में कभी न जइये। अपने घर में चित्त लगइये ॥
हमतो हैं दुनियां के कूते। जाति वरण में होहि सपूते ॥
कृत्य करौ पालौ सुत वाम। कथा कीरतन सूं क्या काम ॥
अब तुम ठौर हमारी हूजै। हमने किये सो तुमहूं कीजै ॥
ऐसी बुद्धि बड़ाई दीन्ही। इनहू हिरदय में धरि लीन्ही ॥
चरणदास कहै देखो यार। मुये नरक जीवित हौ ख्वार ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

अब कवि के शब्दों में माता का छल पढ़िये :—

अब सुन माताहू की बातै। अपना जान खियावै तातै ॥
द्रव्य काज उद्यमही कीजै। ला माता की गोदी दीजै ॥
करै कमाई सोई सपूता। नाहीं तौ वह पूत कपूता ॥
नारी कूं भूषण पहिनावो। सुत पुत्री को बाह रचावो ॥
पूजौ पितर देवी देवा। सकल कुटुम्ब की कीजै सेवा ॥
अपने कुल की न्योति जिमावो। तातै बहुत बड़ाई पावो ॥
बहु विधि स्वारथ ही सिखलावै। परमारथ की राह भुलावै ॥
बार बार जग में उरझावै। ऐसे तो नित ही चलि आवै ॥
जित का तित ह्वांई रखि लीन्हा। चरणदास कहै जान न दीना ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

नारी का छल कवि ने निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है :—

अब नारी की गति सुनि लीजै। तामें चित कबहुं नहि दीजै ॥
छल बल करि वश अपने राखै। मधुर वचन रस सने जु भाखै ॥
कहै कि शिर के छत्र हमारे। हम तो लागी शरण तुम्हारे ॥
तुमतौ बहुतै लगौ पियारे। मोकों तजि मत हूजौ न्यारे ॥
ऐसे कहि कहि बांधा चाहै। आठौ अंग काम के बाहै ॥
बस्तर भूषण देह शिगारै। नाना विधि करि रूप संवारै ॥
करै कटाक्ष बहुत ही भारै। वश करने को टोना डारै ॥

काजल भरी आंख सूं जोहै। अंग विषे रस दै दै मोहै ॥
ह्यांसूं निकसन कैसे पावै। चरणदास शुकदेव सुनावै ॥
तिरिया ही के जाल में, आय फंसै जो कोय।
तलफि तलफि ह्वांई रहै, निकसि सकै नहि कोय ॥

सुत पुत्री बनिता सूं जानौ। समधाने वासूं पहिचानौ ॥
और बंधै बहुतै बंधवार। नाई ब्राह्मण बहु परिवार ॥[१]

कवि के मत से सुत का छल निम्नलिखित है :—

सुत की बोली तोतली, करै चोचलै चाव।
मन मोहै बांधे घनौ, छूटै को न उपाव ॥
हंसि गोदी में आय करि, बहुत बढ़ावै नेह।
तामें घने विकार है, अंतकाल दुख देह ॥
मोह लगा मर जाय जब, तन मन लागै आग।
चरणदास यो कहत हैं, सुख चाहै तौ त्याग ॥
जिहि कारण चिन्ता लगै, जब लग घट में प्रान।
हरि गुरु हिये न आवई, यही जु पूरी हान ॥
तन छूटै सुत में रहै, एक नर तेरी आस।
जनम जु शूकर कों लहै, मुयै नरक ही बास ॥[१]

इन समस्त छलों और प्रपंचों के फलस्वरूप अब कवि का निष्कर्ष यह है:—

कुटुम्ब बंध ऐसे करि जानो। फांसी गर तिनकूं पहिचानौ ॥
तोकूं डारै नरक मंझार। ताते होहि सबन से न्यारा ॥
बहुतक दुर्जन हैं घटमाही। तू उनकूं जानत है नाही ॥
है बैरी तू जानत मीता। स्वपन हूं इनकी नहिं चीता ॥
काम क्रोध लोभ अरु मोहा। सबही राखैं तो सूं द्रोहा ॥
जिनसे गर्व मछरता भारी। जक्त बड़ाई तिनकी नारी ॥
आपा लिये सदा ही रहै। टेढ़े बचन झूठे बहु कहै ॥
इनके संग संग घनै ही दुष्टी। तेरे तन में रहै अदृष्टी ॥
नित ही करै अकारज तेरा। चरणदास कहै यह विधि मेरा ॥[२]

यह है जगत परिवार एवं बन्धु-बान्धवों के प्रेम एवं स्नेह का महान् रहस्य ! मनुष्य इन्हीं असत सम्बन्धों और काल्पनिक प्रेमादि में पड़कर आत्मा के वास्तविक

---

१. भक्तिपदार्थ वर्णन
२. भक्तिपदार्थ वर्णन

रूप को भूल जाता है और मोहादि में संलग्न रहकर जीवन यापन कर देता है। मानव मोह, माया, मया, सुख, दुख तथा हर्ष-विषाद आदि के चक्र में पड़कर जीनव निस्सार वस्तुओं में व्यतीत कर देता है। मृत्यु के भयंकर स्वरूप को देखते ही रुदन कर उठता है और एक दिन जब मनुष्य पंचतत्त्वों में मिल जाता है तो संसार के ये सम्बन्ध, ये बन्धु बांधव, ये वैभव और यह अहम् भावना यहीं छूट जाती है। साथ में जानेवाला कोई नहीं रह जाता। इसीलिए संतों ने इन सांसारिक विनाशशील तत्त्वों से दूर रहने के लिए बार-बार चेतावनी दी है। मानव इन सब रहस्यों को समझता हुआ भी उन्हीं तत्त्वों में संलग्न रहता है। उसकी स्थिति बन्दर, मछली, पक्षी, गज, मृग से किसी प्रकार भी भिन्न नहीं है जो लोभ, लालच और मोह के जाल में फँसकर अपने प्राणों का उत्सर्ग कर देते हैं।[1] मानव सृष्टि का सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान् एवं चेतन प्राणी है। उसे पशुओं की भाँति व्यवहार न करके अपनी मति से काम लेना आवश्यक है। इस प्रसंग के अंत में कवि का निम्नलिखित चेतावनी मिश्रित उपदेश अत्यन्त प्रभावशाली प्रतीत होता है। कवि का कथन है :—

ताते सुन मन मेरे मीत। जक्त छुटावन की राखो चीत ॥
ऐसा अवसर फिर नहिं पावों। काहे मानुष देह गंवावों ॥
संगी तेरा नहि धनधाम। तू क्यों पचै मूढ़ बेकाम ॥
पिछली गई तास कूं रोय। आगे रही ताहि मत खोय ॥
इक-इक घड़ी अमोलक जान। चेत-चेत मत होय अजान ॥
अपने घर का करो संभाल। ललकारत आवत है काल ॥
याते कीजै यही विचार। डारि सिदौसी जग जंजार ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

संसार का समस्त प्रेम, स्नेह और ममता आदि का आधार है स्वार्थ।

---

[1]. जैसे बांदर आपहि फंसिया। समझावन मन माहीं हंसिया ॥
मूद चनों की जो वह तजता। तौ काहै कूं फंसा जु रहता ॥
ज्यों कांटे सूं मच्छी लागी। आपहि आई चली अभागी ॥
सखर में तेरवर की छाही। अजया देखि गिरी वा माही ॥
जैसे पक्षी जाल मंझारा। आपहि आय फंसा बजमारा ॥
खन्दक में हाथी आ परिया। लेन गयो कोउ आपहि गिरिया ॥
बाजत वीण मृगा चलि आया। पकर कौन चंचल कूं ल्याया ॥
यों ही तुम अपनी गति जानौ। आपहि बंधे यही पहिचानौ ॥

—भक्तिपदार्थ वर्णन

स्वार्थ भाँति-भाँति से प्रेम और मोह के रूप में प्रकाशित होता है। चरनदास के उपर्युक्त विचारों का समर्थन गुरु नानक के निम्नलिखित पद से होता है :—

अपने ही सुख सों सब लागे, क्या दारा क्या मीत ॥
मेरो मेरो सभी कहत है, हित सों बाध्यों चीत ।
अंतकाल संगी नहिं कोऊ, यह अचरज की रीत ॥
मन मूरख अजहूं नहिं समुझत, सिख दै हार्‌यो नीत ॥
नानक भव जल पार परै, जो गावे प्रभु के गीत ॥

मोह से आवृत बुद्धि कभी भी वैराग्य एवं साधना नहीं ग्रहण कर सकती है। गीता में बार-बार इसी पर जोर दिया गया है।[1]

लोभ

मानव की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियों में लोभ का प्रमुख स्थान है। लोभ, मोह का सहायक तत्व माना जाता है। इन दोनों का मानव पर समान रूप से विनाशकारी प्रभाव पड़ता है। अविद्या माया की प्रेरणा से ये दोनों प्रवृत्तियाँ निस्पृहता और सन्तोषी भावना का विनाश कर देती है। इसीलिए जीव मात्र का जीवन मृग-तृष्णाओं से परिपूर्ण रहता है। लोभ जीवन में एक ऐसा विष घोल देता है कि आकांक्षाओं, आशाओं और अपेक्षाओं की कोई सीमा नहीं रहती है और इसके फलस्वरूप मनुष्य श्वानवत् दर-दर पर भ्रमता फिरता है। समृद्धि में भी उसे अभाव प्रतीत होता है। जो अकिंचन है, जिसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कर लिया है, जिसका हृदय शांत है, चित स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसको सम्पूर्ण दिशाएं सुखमय हैं।[2] लोभ का कोई अन्त नहीं है। धन की इच्छा रखनेवाला दैन्य दिखाता है, जो धन कमा लेता है वह अभिमान से चूर रहता है तथा जिसका

---

1. यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ॥—गीता २।५२

तथा,

तस्मात्तत्साधनं नित्यमाचेष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।
यतो माया विलासाद्वै निर्वृहं परमश्नुते ॥

2. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः ।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥

धन नष्ट हो जाता है वह शोक करता है। अतः जो निस्पृह है, सन्तोषी है, वही सुख में रहता है।[1]

संत चरनदास के मतानुसार मोह पाप की खानि है। लोभ के सहायक अथवा सहचर बड़े ही दुष्कर्मी हैं। इसका मन्त्री असत्य है एवं तृष्णा इसकी अर्द्धांगिनी है। तृष्णा मनुष्य को लक्ष्य विहीन और आदर्श रहित तथा धर्मच्युत कर देती है। इसके अन्य अभिन्न मित्रों में दम्भ, मत्सर एवं छल विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी, मनुष्य को जीवनपर्यन्त शांति नहीं लेने देते और मृत्यु के अनन्तर उसे नर्क में ठेल देते हैं। ये समस्त तत्त्व मिलकर धर्म के राजमार्ग से मनुष्य को हटा देते हैं।[2]

समस्त साधु एवं पुराणों का अभिमत है कि लोभी प्राणी भक्ति के क्षेत्र में कभी भी स्थिर नहीं रह सकता है। इन दोनों में महान् अन्तर है। लोभी, सती, दाता और हितैषी कभी भी विश्वसनीय और एकमत नहीं हो सकते हैं। ये सदैव स्वार्थान्ध और वासना के दास बने रहते हैं। उसकी समस्त चेतना धन पर केन्द्रित रहती है। वह सदैव कपटशील व्यवहार में संलग्न रहता है। पापाचार उसके जीवन का लक्ष्य बन जाता है। वह अपने अस्तित्व को विनष्ट करके दूसरों को भी पतनोन्मुख बनाता है।[3]

---

१. अर्थी करोति दैन्य लब्धार्थो गर्व परितोषम्।
नष्टधनश्च स शोकं सुखमास्ते निस्पृहः पुरुषः॥

२. लोभ नीच वर्णन, करू महापाप की खानि।
मन्त्री जाका झूठ है, बहुत अधर्मी जानि॥
तृष्णा जाकी जोय है, जो अंधा करि देय।
घटी बढ़ी सूझै नहीं, नहा कालका भेय॥
दंभ मकर छल भगल, जो रहत लोभ के संग।
मुये नरक लै जांयगे, जीवत करै उदंग॥
देहै भर्म छुटाय ही, आन धर्म ले जाय।
हरि गुरु ते बेमुख करै, लालच लोभ लगाय॥
चहुँ देश भरमत फिरै, कलह कलपना साथ।
लोभ काज उठ-उठ लगै, दोउ पसारै हाथ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

३. लोभी भक्त होय नहिं कबहीं। साधु पुराण कहत है सबहीं॥
लोभी सती न होवे शूरा। लोभी दाता संत न पूरा॥
लोभी हितू न होवे साँचा। लोभी रहै जगत में रांचा॥

मनुष्य को चींटी, बन्दर तथा पक्षियों से लोभ के विषय में उपदेश ग्रहण करना चाहिए। लोभ से प्रेरित होकर मनुष्य उच्च-नीच हर प्रकार के कृत्य करता फिरता है जिससे उसके मान-प्रतिष्ठा में अंतर पड़ता है।[1] संतोष जीवन के लिए एक महान् वरदान है और लोभ अभिशाप के रूप में है। लोभ के स्थान पर सन्तोष का मानव के चरित्र और बुद्धि पर कितना महान् प्रभाव पड़ता है। यह कवि के ही शब्दों में पठनीय होगा :—

लोभ गये ते आवई, महाबली संतोष।
त्याग सत्य कूं संगले, कलह निवारण शोक॥
घट आवै संतोष ही, कहा चहै जग भोग।
स्वर्ग आदि लो सुखजिते, सबकूं जानै रोग॥
सन्तोषी निश्चल दिशा, रहै राम लवलाय।
आसन ऊपर दृढ़ रहै, इत उत कूं नहि जाय॥
काहू से नहिं राखिये, काहू विधि की चाह।
परम संतोषी हूजिये, रहिये बेपरवाह॥
चाह जगत की दास है, हरि अपना न करै।
चरणदास यों कहत है, बाधा नाहि टरै॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

सत्य तो यह है कि सन्तोष ही मानव का परम धन है। संस्कृत के एक नीतिकार ने ठीक ही लिखा है :—

सर्पाः पिवन्ति पवनं न च दुर्बलास्ते।
शुष्कैस्तृणैर्वनगजा बलिनो भवति॥

लोभी रहे द्रव्य के माहीं। तन छूटै पै निकसै नाहीं॥
लोभी करै जीव की घाता। लोभी करै कपट की बाता॥
लोभी पाप न करता डरै। लोभी जाप कष्ट में परै॥
लोभी बेंचै अपना शीसा। लोभी डूबै बिसवै बीसा॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

1. चींटी बादर खगन कूं, लोभ बहुत दुखदीन।
याकूं तजि हरि कूं भजै, चरणदास परवीन॥
लोभ घटावै मान कूं, करै जगत आधीन।
बोझ घटा मिष्टल करै, करै बुद्धि को हीन॥
लोक गये ते आवई, महावली संतोष।
त्याग सत्य कूं संगले, कलह निवारण शोक॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कन्दैः फलैर्मुनिवाराः क्षपयन्ति कालं ।
सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम् ॥

संसार में दरिद्र वही है जिसमें तृष्णा बलवती है। जहाँ मन सन्तुष्ट है, वहाँ कौन धनवान् और दरिद्र है ?

वस्तुतः लोभ मन का ही विकार है। अतः मनुष्य को चाहिए कि मन का ही दमन कर ले। इस साधना से मन में किसी प्रकार का विकार नहीं समुत्पन्न होता है। मनुस्मृति में कहा गया है :—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥ —मनुस्मृति, अ० २

अर्थात् विषयों के भोग की इच्छा, विषयों के भोग से शांत नहीं हो सकती है वरन् और भी अधिक वृद्धि को प्राप्त होती है। यथा आग में घी डालने से आग बढ़ती है, ठीक इसी प्रकार लोभ करने से मन लोभ में अधिक प्रवृत्त होता है।

लोभ की व्याख्या पठनीय और विचारणीय होगी :—

न पिशाचा न डाकिन्यो न भुजंगा न वृश्चिकाः ।
संभ्रान्तयन्ति मनुजं यथा लाभो धिय रिपुः ॥१॥
मेरवो घृतबिन्दूवाभा दुराशादावपावके ।
कथं सहस्रलक्षाद्यै स्तर्हितृष्यतु लोभवान् ॥२॥
न लोभस्योपचाराय मणिमंत्रौषधादयः ।
मणिमंत्रोषधश्लाघी सोपि लोभपरायणः ॥

अर्थात् पिशाच, डाकिनी, सर्प एवं वृश्चिक ये समस्त पृथक्-पृथक् अथवा कुल एक साथ मिलकर मानव को उतना अधिक विचलित नहीं कर सकते जितना कि लोभ बुद्धि को भ्रांत बना देती है। विषयाशारूपी दावाग्नि में सुवर्ण मेरु सदृश्य महान् पर्वत भी एक घृत बिन्दुवत तुच्छ प्रतीत होने लग जाते हैं। फिर भला हजार लाख आदि द्रव्य का लोभी किस प्रकार तृप्त हो सकता है। लोभ नामक रोग को हटाने में मणि मंत्र तथा औषध भी समर्थ नहीं होते। कारण कि यदि इनसे लोभ की निवृत्ति हो जाया करती, तो इनके जानने वाले लोभी क्यों होते ?

अभिमान

चरनदास के मतानुसार साधक के मार्ग में चार महान् बाधाएँ हैं। ये बाधाएँ मानव के हृदयस्थ चार महान् शत्रु—क्रोध, मोह, लोभ एवं अहंकार या

अभिमान हैं। ये समस्त प्रवृत्तियाँ मानव की स्थिति वा आधार को विनष्ट करने में व्यस्त रहती हैं। आधुनिक सभ्य समाज में भी इनमें से क्रोध एवं अहंकार की भावना अत्यन्त निम्न और हेय मानी गई है। अभिमान एक प्रकार की मिथ्या भावना है।

कवि के मत से अभिमानी व्यक्ति मुक्ति एवं भक्ति दोनों से दूर रहता है। उसकी मति कभी भी स्थिर एवं स्थायी नहीं रहती है। मिथ्या गर्व भावना से प्रेरित होकर वह सदैव निम्नकोटि के कृत्यों में संलग्न रहता है। वह झूठ, कपट, दंभ और छल आदि में सदैव प्रवृत्त रहता है।[1]

अभिमान विविध प्रकार का होता है। किसी को धन, किसी को जन किसी को विद्या और किसी को शरीर का गर्व होता है। परन्तु ये सब विनाशशील और संसार में अस्थायी वस्तुएं हैं। इनका गर्व निःसार और महत्त्वहीन है। इस प्रकार की प्रवृत्ति संसार में कभी भी सहायक नहीं हो सकती है। इस प्रवृति से हीन और युक्त सभी एक दिन यम के भय से त्रस्त होकर पश्चाताप करते हुए इस पापी संसार से विदा हो जाते हैं।[2] अभिमानी व्यक्ति आजीवन मिथ्या गर्व की ज्वाला में दग्ध रहता है और पंचत्व प्राप्ति के अनन्तर नर्क में वास करता। इसीलिए मानव

---

1. अभिमानी की मुक्ति न होई। अभिमानी मति अपनी खोई ॥
ऐंड अकड़ अभिमानी माही। अभिमानी नीचा हो नाहीं ॥
विनष्ट नान्हपन सुख नहि पावै। आनन्द पद कूं कैसे जावै ॥
झूठ कपट अभिमानी खेलै। कंचन बरतन माटी मेलै ॥
भगल दंभ नितही मन मांही। निकट सांच कभु आवै नाहीं ॥
इन लक्षण जीवत दुख पावै। नरक मांहि तन छूटै जावैं ॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

2. रूपवन्त गरबावै। कोइ मरिनम दृष्टि न आवै ॥
तरुणा पा गरबाना। वह अंधरा हो बौराना ॥
कहै धन मधि मेपरवीना। सब मेरे हो आधीना ॥
कहै कुल अभिमानी सूचा। मैं सब जातिन में ऊंचा ॥
वह विद्या गर्व जु मारी। करै वाद विवाद अनारी ॥
अरु भूप करै अभिमाना। उन आपै ही कूं जाना ॥
उन काल नहीं पहिचाना। सो मार करै घमसाना ॥
गुरु शुकदेव चितावै। तोहि परगट नैन दिखावै ॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

को मत्सरता (काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मात्सर्य) का परित्याग करके ब्रह्म के चरणों में आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।[1]

जीवन में सफलता एवं आनन्द का संचार करने के हेतु दीनता धारण करना चाहिए। क्षुद्रता, मानव में आत्म-बल और साहस का समावेश करता है। कवि के शब्दों में इस नन्हापन का महत्त्व पठनीय होगा :—

मन में लाय विचार कूं, दीजै गर्व निकार।
नान्हापन जब आय है, छूटै सकल विकार ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

कबीर साहब की निम्नलिखित पंक्तियों में इसी नन्हापन के भाव का समर्थन हुआ है :—

क. दीन लखै मुख सबन को, दीनहि लखै न कोय।
भली विचारी दीनता, नरहु देवता होय ॥
ख. कबीर न वैसो आपको, पर को नवै न कोय।
घालि तराजू तौलिये, नवै सो भारी होय ॥
ग. ऊंचे पानी ना टिकै, नीचे ही ठहराय।
नीचा होय सो भरि पिवै, ऊँचा प्यासा जाय ॥
घ. सब ते लघुताई भली, लघुता से सब होय।
जस दुतिया को चन्द्रमा, सीस नवै सब कोय ॥

यही दीनता का भाव चरनदास की एक अन्य साखी में भली प्रकार व्यक्त हुआ है :—

दया नम्रता दीनता, छिमा सील संतोष।
इनकूं लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख ॥ —स० बा० स० १।१४७।१

गरीबदास जी के शब्दों में भी यह भाव पठनीय होगा :—

सुरग नरक बांछै नहीं, मोच्छ बंध से दूर।
बड़ी गरीबी जगत में, संत चरन रज धूर ॥—स० बा० स० १।२०६।१

शील

शील का अर्थ है उत्तम स्वभाव, सदाचरण, सद्वृत्ति, एवं सद्चरित्र।[2]

---

१. फिर डारै नरक मंझारी। सुनि चेतौ नर अरु नारी ॥
तौ मद मत्सरता तजि दीजै। साधौ के चरण गहीजै ॥
हरि भक्ति करौ चितलाई। जब सकल व्याधि छुटि जाई ॥
—भक्तिपदार्थ वर्णन

२. संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर, पृष्ठ १०४७

स्वभाव, आचरण, आचार, वृत्ति एवं चरित्र का मानव जीवन पर बड़ा व्यापक एवं गंभीर प्रभाव पड़ता है। वातावरण एवं कृत्यों का प्रभाव न केवल सामाजिक जीवन पर पड़ता है वरन् समाज के प्रत्येक व्यक्ति पर इनका प्रत्यक्ष वा अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव पड़ना अनिवार्य है। स्वभाव आचरण तथा आचार का मानव जीवन पर एवं साधना पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानव की जैसी वृत्ति होती है तद्नुकूल उसकी बुद्धि का निर्माण एवं प्रवृत्तियों का विकास होता है। कहा गया है :—

"आचारो प्रथमो धर्मः"

अर्थात् सदाचार धर्म की प्रथम सीढ़ी है। मनु के मतानुसार आचार से भ्रष्ट वेद का ज्ञाता विद्वान एवं धार्मिकता में संलग्न व्यक्ति वेद के फल को नहीं प्राप्त कर पाता। जो आचार से युक्त है वही सम्पूर्ण सिद्धि या फल प्राप्त करता है। इसी हेतु ऋषियों ने धर्म के श्रेष्ठ आधार या मूल, आचार को ग्रहण किया। जो मनुष्य स्वधर्मानुकूल रहता है वही सब प्रकार से सुखी और प्रसन्न है :—

आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते।
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत्॥
एवमाचारतो दृष्ट्वा धर्मस्य मुनयो गतिम्।
सर्वस्य तपसो मूलमाचारं जगृहुः परम्॥

दुराचारी सर्वत्र निंद्य तथा अपदस्थ समझा जाता है :—

दुराचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च॥—मनु०

सत् आचार के अन्तर्गत निम्नलिखित चौदह बातें आवश्यक मानी गई हैं। साधना के क्षेत्र में इनका परिपालन परमावश्यक है :—

१. ब्रह्मचर्य — २. यज्ञ
३. सत्य — ४. दान
५. तप — ६. परोपकार
७. शौच — ८. ईश्वर भक्ति
९. गुरु भक्ति — १०. देश भक्ति
११. अतिथि सत्कार — १२. प्रायश्चित्त
१३. अहिंसा — १४. गोरक्षा।

इनकी पृथक्-पृथक् विवेचना करने के लिए यहाँ न अवसर है और न अवकाश। इन विषयों की व्याख्या एवं विवेचन स्वतः एक स्वतन्त्र ग्रन्थ का विषय

है। संक्षेपतः शील मानव का श्रेष्ठ गुण है। बिना शील मानव की समस्त साधना व्यर्थ है। कबीर के शब्दों में :—

सीलवंत सबसे बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि ॥—स० वा० स० १।५०।१

संत चरनदास शील को मानव का अनिवार्य गुण मानते हैं। तप, एवं दान जैसे शुभ कार्यों में संलग्न मानव यदि शील से विहीन है तो उसकी समस्त साधना व्यर्थ है। मनुष्य की वास्तविक शोभा शील है :—

रूप गुणी कुलवंत जो, अरु होवै धनवन्त।
शील बिना शोभा नहीं, मिष्टै नरक पडन्त ॥
शील बिना जो तप करै, करै शील बिन दान।
योग युक्ति करै शील बिन, सो कहिए अज्ञान ॥
पूजा संयम नेम जो, यज्ञ करै चितलाय।
चरणदास कहै शील बिन, सभी अकारथ जाय ॥

शील केवल आध्यात्मिक जीवन ही नहीं वरन् लौकिक एवं व्यावहारिक जीवन में भी उसकी व्यक्तिगत महत्ता और उपयोगिता है। शील के अभाव में मनुष्य को प्रशंसा और स्वागत नहीं प्राप्त होती है। वह सर्वत्र श्वान के समान अपमानित जीवन व्यतीत करता फिरता है। शील के विनष्ट होने पर गुरु, ब्रह्म, नाम सभी कुछ दूर हो जाता है। शील ही चौरासी लक्ष योनियों में भ्रमता हुआ आवागमन की यातनाओं को भुगता करता है।[1] वही स्त्री सती है और वही पुरुष

[1] शील बिना नरकै परै, शील बिना यम दंड।
शील बिना भरमत फिरै, सात द्वीप नौ खंड ॥
शील बिना भटकत फिरै, चौरासी के मांहि।
पहिले होवै प्रेत ही, यामे संशय नांहि ॥
ज्वानी शील न सीखिया, बिगड़ गई सब देह।
अब पछतावा क्या करै, मुख पर उड़िया खेह ॥
शील गये शोभा घटै, या दुनिया के मांहि।
कूकर ज्यों झिड़क्यों फिरै, कहीं भी आदर नाहिं ॥
शील गये गुरु सूं फिरै, हरि सूं बेमुख होय।
चरणदास कहाँ लौ कहै, सर्वस डारै खोय ॥
धिक जीवन संसार में, ताको शील नसाय।
जग में फिट-फिट होत है, मुये यातना पाय ॥—भक्तिपदार्थ वर्णन

सूरमा है जो शील से सम्पन्न है।[1] शील मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है जितना किसी शासक के लिए फौज। दूसरे शब्दों में शील मनुष्य की दृढ़ शक्ति है।[2] शील का स्थान सत्य से भी उच्च एवं महान् है।[3] कसैले आंवले अथवा कड़वी नीम की भाँति शील का प्रभाव होता है। पहले तो उसे व्यावहारिक रूप में परिणत करने में कठिनाई होती है एवं चित्त मलीन होता है, परन्तु बाद में इसका प्रभाव बड़ा स्वस्थ होता है।[4] शीलवान् का संसार में बड़ा महत्त्व है। उसका सत्संग करने से समस्त लौकिक रोग और पातक विनष्ट हो जाते हैं।[5] कवि के शब्दों में शील का महत्त्व निम्नलिखित है :—

शील बड़ा ही योग है, जो कर जानै कोय।
शील विहीना चरनदास, कबहु मुक्ति नहिं होय ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

दया

क्षमा, सत्य, शौच, धृति एवं दया मानव के विशेष गुण माने गये हैं। प्रत्येक मानव में इनका होना अपेक्षित है और साधक में इनकी उपस्थिति अनिवार्य

---

१. सोइ सती सोइ शूरमा, सोइ दाता अधिकाय।
शील लिये नित ही रहै, तौ निष्फल नहिं जाय ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

२. शील रहेते सब रहै, जते है शुभ अंग।
ज्यों राजा के रहेते, रहै फौज को संग ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

३. सत्य गया तो क्या रहा, शील गया सब झाड़।
भक्त खेत कैसे बचै, टूट गई जब बाड़ ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

४. शील कसैला आंवला, और बड़ों के बोल।
पाछे देवै स्वाद वै, चरणदास कहि खोल ॥
शील निरोगा नींव सा, औगुण डारै खोय।
पहिले करुवा दुख लगै, पाछे गुण सुख होय ॥
लाख यही उपदेश है, एक शील कूं राख।
जन्म सुधारै हरि मिलौ, चरणदास की साख ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

५. शीलवंत के चरण का, जो चरणोंदक लेय।
रोग दोष मिटि जाय सब, रहै न यम का भेय ॥
आठ अंग सूं शील ही, जा घट माहीं होय।
चरणदास यों कहत है, दुर्लभ दर्शन सोय ॥
शीलवंत दर्शन बड़े, देखत पातक जाय।
वचन सुनै मन शुद्ध हो, खोटी दृष्टि रिसाय ॥—वही

मानी गई है। धर्मसाधना और योग-प्रक्रिया की साधना के क्षेत्र में इनकी जो उपयोगिता है, वह तो है ही परन्तु इनके अतिरिक्त इन गुणों की महत्ता समाज में अत्यधिक है। इन उपर्युक्त गुणों में से यदि समस्त समाज एक से भी रहित हो जाय तो मनुष्य का जीवित रहना कठिन हो जाय। आज वर्तमान समाज में हमारे सामाजिक सभ्यता के नाम पर इन सद्वृत्तियों का उपहास करते हुए मनुष्य सर्वत्र दृष्टिगत होते हैं परन्तु यह तथ्य किससे छिपा है कि इन गुणों के अभाव से ही हमारा समाज अभिशाप की ज्वाला में दग्ध है।

दया, मानव के मन का दुःखपूर्ण वेग है जिसका उद्रेक दूसरों के कष्ट को देखकर होता है तथा उस दुःख को दूर करने का प्रयत्न एवं प्रेरणा करता है। इसके अन्य पर्यायवाची शब्द करुणा एवं रहम माने गये हैं।[1] दया, परोपकार की जन्मदात्री है। इसीलिए परोपकार एवं दया सन्तों का स्वभाव माना गया है।[2] दया धर्म का कारण होने से दैवी सम्पत्ति एवं मानव के लिए अमूल्य वरदान मानी गई है।[3] तथ्य तो यह है कि दुःख से पीड़ित मानव के प्रति महापुरुषों के हृदय में दया का संचार सदैव से ही होता रहा है।[4] साधक के पास दया ही एक ऐसा अमोघ अस्त्र है जिससे वह ब्रह्म को अपने प्रति द्रवीभूत कर सकता है।[5] जैन कवि मुनि रामसिंह के शब्दों में :—

दयाविहीणउ धम्मडा णाणिय कह विण जोइ।
बहुएं सलिलविरोलियइं करु चोप्पडाण होइ ॥[6]

अर्थात् "हे ज्ञानी जोगी ! दया से रहित धर्म किसी प्रकार से भी नहीं कहा जा सकता है। अत्यधिक जल विलोडने से मनुष्य का हाथ कभी भी चिकना नहीं हो सकता है। अतः दया से विहीन धर्म, धर्म नहीं वरन् अधर्म कहा जायगा।" जीवन और समाज के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं है। कहा गया है कि दया समस्त धर्मों का मूल है, समस्त प्रकार के सद्भावों और व्यवहार का आधार है।

---

१. संक्षिप्त हिन्दी शब्दसागर, पृष्ठ ५३४
२. रामचरित मानस, पृष्ठ ११०७
३. तुलसी सतसई २१२ तथा,
   अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शांतिरपैशुनम्।
   दया भूतेष्वलोलुत्वंमार्दवं ह्रीरचापलम् ॥ गीता १६।२
४. रहीम दोहावली, दोहा १२२
५. मलूकदास जी की बानी, पृष्ठ १८, शब्द ७ पं० ५
६. पाहुड दोहा, पृष्ठ ४४, दोहा १४७

दया के सहायक तत्त्व अथवा प्रवृत्तियाँ हैं क्षमा, दान, अक्रोध, परोपकार तथा अहिंसा। ये सभी दया के प्रकाशन में सहायक होते हैं। इनमें पारस्परिक रूप से बड़ा निकट सम्बन्ध है। ये सभी अन्योन्याश्रित हैं। दया से ही उद्भूत होकर मानव क्षमाशील वृत्ति को धारण करता है, दान में प्रवृत्त होता है, क्रोध की भावना अन्तर्भूत हो जाती है, तथा परोपकार एवं अहिंसा की ओर आकांक्षा जाग्रत होती है। संक्षेपतः ये सभी धर्म एवं सदाचार के अंग हैं। इसी संसार के प्रत्येक धर्म में दया को आवश्यक ही नहीं अनिवार्य माना गया है।

अब चरनदास के दया विषयक विचारों पर ध्यान दीजिए। कवि के मतानुसार दया के अंग हैं सहृदयता, कोमलता, भावनाओं तथा हृदय की परपीरता, सज्जनता तथा निर्दोषता। इनको धारण वा ग्रहण किये बिना मानव के लिए मोक्ष का प्राप्त करना सरल कार्य नहीं है।[1] दया ज्ञान का आधार है तथा भक्ति का प्राण है। दया वास्तव में परब्रह्म का बड़ा भारी वरदान है।[2] दया के अभाव में समस्त कथन, ज्ञान और आराधना निःसार है।[3] समस्त वाह्याडम्बरों को धारण करता हुआ साधक, धर्म और आचार-शास्त्र के समस्त नियमों का पालन करता हुआ अपनी साधना एवं लक्ष्य की प्राप्ति में कभी भी सफल नहीं हो सकता है, यदि वह दैवी गुण दया से विहीन है।[4] कवि के शब्दों में :—

दया बिना नर पतित है, दया बिना नर दुष्ट।
दया बिना सुनवत बने, सबही थोथी गुष्ट॥

---

१. कोमलता परपीरता, सज्जनता निर्दोष।
सबही दया के अंग है, इनहे पावै मोष॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

२. दया ज्ञान का मूल है, दया भक्ति का जीव।
चरणदास यों कहत है, दया मिलावै पीव॥—वही

३. दया नहीं तौ कुछ नहीं, सबही थोथी बात।
बाहर कथनी सोहनी, भीतर लागी घात॥

४. छापे तिलक बनाय कै, माला पहिरी दोय।
दया बिना बक सम वही, साधु रूप नहिं होय॥
पंडिताई बहुतै करी, दया न राखी जीव।
छांछि छांछि तै लै लई, डारि दिया तत घीव॥
तोहिं पंडित मैं कह कहूं, मूरख कै परवीन।
लिया न तैं मत सूप का, चलनी का मतलीन॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

जन्म मरण छूटै नहीं, नाहीं कर्म्म नशाहिं ।
दया बिना[1] बदला भरै, चौरासी के माहिं ।।
काम क्रोध मोह लोभ ये, गरब आदि भजि जाहिं ।
चरणदास कहै दया जो, घट में पहुँचै आहिं ।।
जितने बैरी जीव के, तिनमें रहै न एक ।
चरणदास यों कहत है, दया जो आवै नेक ।।—भक्ति पदार्थ वर्णन

चरनदास की दया का क्षेत्र बड़ा विस्तृत और व्यापक है । उसकी दया का प्रसार केवल चेतन जगत् तक ही सीमित नहीं है, वरन् वह संसार के जितने भी तत्त्व हैं, उन सभी के प्रति दयालु बनने के समर्थक तथा प्रतिपादक हैं । स्थावर-जंगम, चर-अचर, जड़-चेतन आदि सभी उसकी दया के पात्र हैं । प्रकृति की प्रत्येक वस्तु और रचना में उसकी दया का प्रसार होना अत्यावश्यक है । इसीलिए कवि का कथन है :—

थावर जंगम चर अचर, या जग में हो कोय ।
सबही पै हित राखिये, सुख दानी ही होय ।।
भोजन करौ संभाल करि, पानी पीजै छान ।
हरा वृक्ष नहिं तोड़िये, कर्म बचैयों जान ।।
खावै वस्तु विचारि कै, बैठे ठौर विचार ।
जो कुछ करै विचारि करि, किरिया यही अचार ।।

प्रस्तुत उद्धरण की चतुर्थ पंक्ति विशेष विचारणीय है । कवि ने वृक्ष, पक्षी तथा संसार के समस्त जड़-चेतन में अपनी दया का प्रसार दिखाया है । जब मानव वृहत्तर भावनाओं को ग्रहण कर लेता है, उदार वृत्ति को अपने स्वभाव का एक अंग बना लेता है और विश्वबन्धुत्व के सिद्धान्त को स्वजीवन में कार्यान्वित करना सीख जाता है तो संसार में कौन शत्रु रह जाता है और कौन मित्र, उसकी दृष्टि में सभी समान और सभी महान् बन जाते हैं । वह समस्त संसार को ही अपने कुटुम्ब के रूप में ग्रहण करता है । इस स्थिति में उसकी दया की भावना सभी को सुखी और लाभान्वित करती है । इस दृष्टि से कवि की निम्नलिखित पंक्तियाँ विशेष विचारणीय होंगी :—

मन सों रहु निर्वैरता, मुख सूं मीठा बोल ।
तन सूं रक्षा जीव की, चरनदास कहि खोल ।।
करुवा बचन न बोलिये, तनसूं कष्ट न देहु ।
अपना सा जी जानिकै, बनै तौ दुख हरिलेहु ।।

मुखसूं जो करुवा कहै, तन सूं देवै कष्ट।
यही जु हिंसा जानिये, दया धर्म जा नष्ट॥
काहू दुख नहिं दीजिए, दुर्जन होकै भीत।
सुखदायी सब जगत को, गहो दया की रीत॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

माया

अज्ञान के कारण मानव को नामरूपात्मक जगत् की प्रतीति होती है। दार्शनिकों ने अज्ञान का मूलाधार या मूल उत्पादक माया को ही माना है। माया कश्चित् काल के लिए सत्य को भी अपने आवरण में छिपा लेती है। आत्मा एवं परमात्मा के सम्मिलन में माया का आवरण बड़ा बाधक है। आचार्यों ने जगत् की प्रतीयमानता का आधार माया में खोज निकाला है। माया के विषय में वेदों में भी बहुत कुछ कहा गया है, किन्तु उस अर्थ में नहीं जिस अर्थ में वह हिन्दी काव्यधारा में सिद्ध-युग से प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में माया शब्द का प्रयोग वेश-परिवर्तन के अर्थ में हुआ है जैसा कि निम्नलिखित उद्धरण से प्रकट होता है :—

"इन्द्रो मायाभिपरूप ईयते"—ऋग्वेद ६।४७।१८

अर्थात् इन्द्र अपनी माया के बल से अनेक रूप धारण करता है। यहां इसका प्रयोग रूप-परिवर्तन के अर्थ में ही हुआ है। उपनिषदों में माया का प्रयोग नामरूप के अर्थ में हुआ है। इसके अनन्तर बौद्ध-साहित्य का उल्लेख आवश्यक है। बौद्ध साहित्य में वैदिक मायावाद, स्वप्नवाद, क्षणिकवाद तथा शून्यवाद के रूप में व्यक्त हुए हैं। कालान्तर में मायावाद ने बौद्धों के स्वप्नवाद तथा शून्यवाद से प्रभावित होकर स्वप्नवाद के दर्शन को ही धारण कर लिया। बौद्ध दर्शन में यह विषय बड़े विस्तार और गंभीरता के साथ प्रतिपादित हुआ है। अनेक आचार्यों ने बौद्ध धर्म, हीनयान तथा महायान में, इसके विषय में विविध ग्रन्थों की रचना करके विषय के स्पष्टीकरण का निरन्तर प्रयत्न किया। योगाचार मत के अन्तर्गत सत्ता माध्यमिक मत के सदृश्य ही दो प्रकार की मानी गई है। प्रथम पारमार्थिक तथा द्वितीय व्यावहारिक है। विज्ञानवादी आचार्यों ने व्यावहारिक सत्ता का विभाजन दो भागों में किया है। इसमें प्रथम परिकल्पित सत्ता है और द्वितीय परतन्त्र सत्ता। विज्ञान-वादी अद्वैत वेदान्तियों के समान ही इस सिद्धांत के समर्थक हैं कि जगत् का समस्त व्यवहार आरोप पर निर्भर है। वस्तु में अवस्तु के आरोप को अध्यारोप कहा गया है, यथा रज्जु में सर्प का आरोप। 'लंकावतार सूत्र' में परमार्थ और संवृति में अन्तर व्यक्त किया गया है। 'लंकावतार सूत्र' में कहा गया है कि संवृति का अर्थ है बुद्धि। यह संवृति दो प्रकार की मानी गई है—(१) प्रविचय बुद्धि तथा (२) प्रतिष्ठापिका

बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से पदार्थों के वास्तविक रूप को ग्रहण किया जाता है। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद प्रपंच आदि का आभास मिलता है तथा असत् पदार्थ सत् रूप में आभासित होता है। इसी प्रतिष्ठान विषय को समारोप भी कहा गया है। यह आरोप लक्षण, इष्ट हेतु एवं भाव का होता है। आचार्य असंग ने 'महायान सूत्रालंकार' में सत्य के तीन प्रकारों का बड़ा सुन्दर और स्पष्ट वर्णन किया है। ये तीनों सत्य हैं—परिकल्पित सत्ता, परतंत्र सत्ता तथा परिनिष्पन्न सत्ता। इन तीनों के विषय में आचार्य असंग के मत को उद्धृत कर देना असंगत न होगा :—

१. परिकल्पित सत्ता—

यथा नामार्थमर्थस्य नाम्नः प्रख्यानता च या।
असंकल्प निमित्तं हि परिकल्पितलक्षणं॥—महायान सूत्रालंकार ११।३९

२. परतंत्र सत्ता—

त्रिविध त्रिविधाभासो ग्राह्यग्राहकलक्षणः।
अभूत परिकल्पो हि परतंत्रस्य लक्षणम्॥—महायान सूत्रालंकार ११।४०

३. परिनिष्ठपन्न वस्तु :—

अभाव भावता या च भावाभावसमानता।
अशांतशांता कल्या च परिनिष्पन्न लक्षणम्॥—महायान सूत्रालंकार ११।४१

आचार्य असंग के मतानुसार परम तत्व पंच प्रकार से अद्वैत रूप है :—

१. सत्-असत् २. तथा-अतथा ३. जन्म-मरण ४. ह्रास-वृद्धि
५. शुद्धि-अविशुद्धि।

यह तत्व इन समस्त कल्पनाओं से विमुक्त हैं। उक्त आचार्य के अनुसार शून्यता तीन प्रकार की है :—

१. अभाव शून्यता—अभाव से अभिप्राय उन समस्त लक्षणों से ही न होने का है जिनको हम अपनी साधारण कल्पना में किसी विशिष्ट वस्तु में सन्निहित या उससे सम्बद्ध मानते हैं। इसी को परिकल्पित भी कहते हैं।

२. तथाभाव शून्यता—वस्तु का वह स्वरूप जो हम सामान्यतया देखते, जानते और मानते हैं, नितांत असत्य है। संसार मे घट का न तो कोई वास्तविक अस्तित्व है न कोई निश्चित वास्तविक रूप। इसी को परतन्त्र भी कहते हैं।

३. प्रकृति शून्यता—संसार के समस्त पदार्थ शून्य रूप है। यही परिनिष्पन्न है।

सम्यक् सम्बोधित का विकास तब सम्भव है जब बोधिसत्व इन त्रिविध सत्यों के ज्ञान से सम्पन्न होता है :—

अभावशून्यतां ज्ञात्वा तथा भावस्य शून्यताम् ।
प्रकृत्या शून्यतां ज्ञात्वा शून्यज्ञ इति कथ्यते ॥ —महायान सूत्र १४।३५

गौडपादाचार्य का मायावाद भी स्वप्नवाद का दूसरा रूप है। दोनों की आत्मा में कोई अन्तर नहीं है।[1] आचार्य शङ्कर ने वैदिक मायावाद को इतने प्रकार के विभिन्न रूप धारण करते हुए देखकर उसे पुनः शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित किया। उनके ग्रन्थ प्रस्थानत्रयी में बौद्धों के स्वप्नवाद की कटु आलोचना की गई है और मायावाद की स्थापना शङ्कराचार्य के प्रयत्न से वैदिक मायावाद पुनः देश की विचारधारा में व्याप्त होने लगा। शङ्कराचार्य ने माया को भ्रम रूप माना है। अतद् में तद् को मान लेना ही अध्यास है। अध्यास ही भ्रम का दूसरा रूप है :—

"अध्यासो नाम अतस्मिँस्तदबुद्धिः"—ब्रह्म-सूत्र १।१।१

माया के विषय में सांख्य दर्शन का मत भी विचारणीय है।[2] सांख्य दर्शन के मतानुसार संसार में पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने माया जाल में सदैव भ्रमाती रहती है। पुरुष विशुद्ध चेतन स्वरूप है। वह ज्ञाता और उदासीन है। वह प्रकृति के मायाजाल में तब तक भ्रमता रहता है जब तक उसे अपने इस विशुद्ध चेतन स्वरूप का ज्ञान नहीं होता है। प्रकृति का विकास जगत् में चतुर्दिक् प्रसारित है। प्रकृति त्रिगुणात्मक है। इसीलिए समस्त संसार चार भागों में विभाज्य है :—

१. प्रकृति[3] २. प्रकृति विकृति[4] ३. विकृति[5] ४. न प्रकृति न विकृति[6]।

---

1. मांडूक्य कारिका ४।३०)३१
2. देखिये, मेरा ग्रन्थ—सुन्दर दर्शन, पृष्ठ ७३, ८०
3. वह तत्व जो सबका कारण तो होता है पर स्वतः किसी का कार्य नहीं होता है।
4. वे तत्व जो कार्य ही होते हैं। किसी से उनकी उत्पत्ति तो होती है पर स्वयं किसी अन्य को नहीं उत्पन्न करते हैं।
5. वे तत्व जो कार्य भी होते हैं और कारण भी। ये किन्हीं तत्वों से उत्पन्न होते हैं और किन्हीं को जन्म देते हैं।
6. वह तत्व जो कार्य एवं कारण उभयविधि से शून्य रहता है। न वह कार्य ही है न कारण ही। इन तत्वों का वर्गीकरण इस प्रकार है :

स्वरूप	संख्या	नाम
प्रकृति	१	प्रधान, अव्यक्त, प्रकृति
विकृति	१६	५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय, मन एवं महाभूत
प्रकृति विकृति	७	महातत्व, अहंकार, तन्मात्र।
न प्रकृति न विकृति	१	पुरुष

प्रकृति ही समस्त प्रपंचों की नियामक है। पुरुष वस्तुतः निर्लेप है। इस विषय में सांख्य का गीता से मत-साम्य है। जिसने यह समझ लिया है कि समस्त कर्मों को करने वाली प्रकृति है और आत्मा अकर्ता है उसने कर्ता को पहचान लिया है :—

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियामाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥ —गीता १३।२९

प्रकृति जिस समय माया का विस्तार स्थगित कर देती है, तभी पुरुष कैवल्य प्राप्त करता है। पुरुष की सिद्धि भी प्रकृति की भाँति अनुमान से ही होती है। सांख्यकारिका के मत से पुरुष की स्थिति की निम्नलिखित चार युक्तियाँ हैं :—

साघतपरार्थत्वात् निर्गुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृतेश्च ॥१७॥

सांख्य के अनुसार जिस समय प्रकृति अपनी माया का विस्तार स्थगित कर देती है, उसी समय आत्मा का पुरुष कैवल्य पद प्राप्त करता है। सांख्य में पुरुष की इसी स्वाभाविक स्थिति को मुक्तावस्था कहा गया है।

भारतीय धर्मों और विभिन्न सम्प्रदायों के अन्तर्गत माया के व्यक्तित्व और रूप के विषय में बड़े रोचक उल्लेख मिलते हैं। कबीर के अनन्तर संतों ने माया की बड़ी कटु आलोचना और छीछालेदर की है। कबीर से पूर्व, नाथ-सम्प्रदाय में भी माया के विषय में विचारकों के मत पठनीय होंगे। इसके विषय में आचार्य डा० हजारी प्रसाद द्विवेदी के 'नाथ-सम्प्रदाय' का यह रोचक एवं विद्वत्तापूर्ण उल्लेख पठनीय होगा—"शिव के सिसृक्षु होने पर शिवा और शक्ति ये दो तत्व उत्पन्न होते हैं। परम शिव निर्गुण और निरंजन है, शिव सगुण और सिसृक्षा रूप उपाधि से विशिष्ट। शिव का धर्म ही शक्ति है, धर्मी और धर्म अलग-अलग नहीं रह सकते हैं। इसीलिए मत्स्येन्द्रनाथ ने कहा है कि शक्ति के बिना शिव नहीं होते और शिव के बिना शक्ति नहीं रह सकती।.....पहले बताया गया है कि समस्त जगत् प्रपंच का मूल कारण शक्ति है। शक्ति ही अपने भीतर समस्त जगत् को धारण किए रहती है। शक्ति द्वारा जगत् की अभिव्यक्ति होने के समय शिव के दो रूप प्रकट होते हैं। प्रथम अवस्था में इस प्रकार का ज्ञान होता है कि मैं ही शिव हूँ। यही सदा शिव तत्व है। सदाशिव जगत् को अपने से अभिन्न रूप में जानते हैं। इनका यह मैं का भाव ही पराहन्ता या पूर्णाहन्ता कहलाता है। दूसरी अवस्था को ईश्वर तत्व कहते हैं। 'सो जगत अहं' रूप समझने वाला तत्व ।३। सदा शिव है और इदं रूप में समझने वाला तत्व ।४। ईश्वर है। सदाशिव जगत् को अहंरूप में देखते हैं।

"जगत् मैं ही हूँ," इस प्रकार की सदाशिव की शक्ति को (५) शुद्ध विद्या कहते हैं और यह जगत् मुझसे भिन्न है—इस प्रकार ईश्वर की वृत्ति का नाम (६) माया है। शुद्ध विद्या को आच्छादन करनेवाली को अविद्या कहते हैं—कुछ लोग इसे विद्या भी कहते हैं। यह सातवां तत्व है। इस सातवें तत्व से आच्छन्न होने पर जो सर्वज्ञ था वह अपने को किंचिज्ज्ञ अर्थात् थोड़ा जानने वाला समझने लगता है। फिर क्रमशः माया के बन्धन से शिव की सब कुछ करने की शक्ति संकुचित होकर कुछ करने की शक्ति बन जाती है, इसे कला कहते हैं; फिर उनकी नित्यतृतता""संकुचित होकर छोटी सीमा में बंध जाती है, इसे काल तत्व कहते हैं और उनकी सर्वव्यापकता भी संकुचित होकर नियत देश में संकीर्ण हो जाती है, इसे नियतितत्व कहा जाता है।"[1]

अब संत-साहित्य में माया का स्वरूप देखिये, तदनन्तर चरनदास के काव्य में माया के स्वरूप का विवेचन होगा। सामान्य रूप से सन्त साहित्य में संतों की धारणा है कि संसार की स्थिति माया के कारण ही है। प्रकृति की भाँति माया जगत् का उपादान है। यह जगत् माया ही का पूर्णरूपेण परिणाम है। माया अपनी आवरण शक्ति के कारण आत्मा के वास्तविक रूप और गुण को उसी प्रकार ढक लेती है, जिस प्रकार बादल निर्मल चन्द्र को कुछ काल के लिए आच्छादित कर लेता है। माया का एक और रूप है। इस दूसरे रूप का नाम सन्तों के अनुसार सत्य माया अथवा विद्या माया है।[2] यह विद्या माया आत्मा और ब्रह्म के मिलन में सहायक रहती है।

माया के दो रूप हैं, प्रथम अविद्या माया है और द्वितीय विद्या माया। अविद्या माया अज्ञान की प्रसारिका है। यह जीवात्मा और परमात्मा में ऐक्य नहीं स्थापित होने देती। भाँति-भाँति के प्रलोभनों और बाधाओं को समुपस्थित करके यह साधक को मार्ग से विचलित करती रहती है। द्वितीय विद्या माया है। यह ज्ञान की प्रसारिका और ब्रह्म की प्रेरक शक्ति मानी गई है। यह साधना के क्षेत्र में प्रेरणा प्रदान करती है। वल्लभ-सम्प्रदाय में भी भगवान् की शक्ति स्वरूप माया के यही दो रूप बताए गए है :—

---

१. नाथ सम्प्रदाय—पृष्ठ ६६-६७

२. माया के दुइ रूप हैं, सत्य मिथ्या संसार।
माया है दुइ भाँति की, देखी ठोक बजाय।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय॥

विद्याविद्ये हरेः शक्ती माययैव विनिर्मिता।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दुःखित्वं चाप्यनीशता ॥[१]
—वल्लभाचार्य तत्वदीय निबन्ध, शास्त्रार्थ प्रकरण, श्लोक ९९-१००

तथा,

माया च द्विधाभ्रमं जनयति, विद्यमानं न प्रकाशयति अविद्यमानंच प्रकाशयति देश कालव्यत्यासेन। प्रमाणभूतो वेदः सर्वखल्विदं ब्रह्मैवेत्याह ब्रह्मविदां प्रतीतिरपि तथा भ्रान्तप्रीतिस्तु नार्थनियमकत्वमन्यथा भ्रमदृष्टिं ग्रहीत भ्रमःस्यात्। अतो ऽन्यत्रैव सिद्धा भ्रमिः माययापुरःस्थिते विषये समानीयते विषयता मायाजन्या विषयो भगवान् अतो विषयताजन्यं ज्ञानं भ्रातं विषयजनितं प्रमात ॥[२]
—सुबोधिनी, भागवत २, ९, ३३

संतों ने भी माया के इन्हीं दो रूपों का उल्लेख किया है। उन्होंने अविद्या माया की दिल खोल कर निन्दा और आलोचना की है, परन्तु साथ ही विद्या माया की वन्दना और स्तवन भी की है। कबीर के अनुसार :—

माया के दुइ रूप है, सत्य मिथ्या संसार।
× × ×
माया है दुइ भांति की, देखी ठोकि बजाय।
एक गहावै राम पै, एक नरक लै जाय ॥

दादू के अनुसार :—

माया दासी संत की, साकत की सिरताज।
साकत संतों भांडणी, संतौ सेती लाज ॥[3]
× × ×
माया तेरी संत की, दासी उस दरबार।
ठकुरानी सब जगत की, तिन्यू लोक मंझार ॥[४]

रज्जब साहब उसे शत्रु और मित्र दोनों ही मानते हैं :—

रज्जब माया मन समि, बैरा मीत न कोइ।
कुकृत उपजै इन्हु सौं, इनसौं सुकृत होइ ॥

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४५५
२. अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृष्ठ ४५६
3. दादूदयाल की वानी—भाग १, पृष्ठ १२५।९८
४. दादूदयाल की वानी—भाग १, पृष्ठ १२५।९७

इसी प्रकार चरनदास ने माया के परम्परागत दोनों रूपों के प्रति सविस्तार 'माया अंग वर्णन' प्रकरण में अपने विचार प्रकट किये हैं। इस प्रसंग में कवि की निम्नलिखित दो पंक्तियाँ यहाँ पर उद्धृत करना असंगत न होगा :—

माया की अस्तुति करू, होय रही संसार।
अद्‌भुत लीला कर रही, शोभा अगम अपार॥

—भ० प० वर्णन।

माया की स्थिति स्वप्न या छाया-सी है। वह पूर्णतया विनाशशील है। वह भ्रमों की उत्पादिका है। असत्य का मान कराने वाली है। वह क्षणिक है। चरनदास के शब्दों में इस माया की स्थिति रैन के स्वप्न-दर्पण में आभासित प्रतिबिम्ब तथा तरुवरों की छाया के समान है। इसकी स्थिति स्थायित्व नहीं है। कवि के शब्दों में :—

जैसे सुपना रैन का, मुख दर्पण के मांहिं।
भासै है पर है नहीं, ज्यों तरवर की छाहिं॥

—भक्तिपदार्थ, वर्णन

कवि की प्रस्तुत विचारधारा का कबीर की निम्नलिखित साखी से भी समर्थन होता है। कबीर ने भी माया को छाया का पर्यायवाची माना है :—

माया छाया एक सी, बिरला जानै कोय।
भगता के पाछे फिरै, सनमुख भागै सोय॥

—सं० वा० सं०, भाग १, पृ० ५७

संत कवि दादू की निम्नलिखित साखियों में चरनदास के 'सुपना रैन का', 'मुख दर्पण के मांहि' तथा 'भासै है पर है नहीं' भाव बड़ी कुशलता के साथ व्यक्त किया गया है :—

साहिब है पर हम नहीं, सब जग आवै जाइ।
दादू सुपिना देखिये, जागत गया बिलाइ॥
माया का सुख पंच दिन, गर्व्यौ कहाँ गँवार।
सुपिनैं पायो राज धन, जान न लागै बार॥

—सं० वा० सं०, भाग १, ६७

रात्रि के स्वप्न अथवा वृक्षों की छाया के समान स्थिति वाली माया अव्यक्तता के कारण ही तो वह सर्वव्यापक है। सांख्य दर्शन तथा वेदांत में भी प्रकृति या माया को अव्यक्त निर्धारित किया गया है। अव्यक्त रूप में ही वह संसार की प्रत्येक

वस्तु में चाहे वह जड़ हो वा चेतन, वर्तमान रहकर उन्हें विनाशशील और अस्थायित्व प्रदान करती है। चरनदास के शब्दों में :—

माया सकल पसार है, नाना रंग बहु क्रान्ति।
जहँ लग यह आकार ही, चंचल मिथ्या भ्रान्ति ॥

—भक्ति पदार्थ, वर्णन

माया की व्यापकता एवं अव्यक्त स्थिति का जो वर्णन चरनदास ने सूत्र रूप में, दो पंक्तियों में कर दिया है उसकी अभिव्यक्ति कबीर ने सविस्तार निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :—

जल महि मीन माया के बेधे, दीपक पतंग माया के छेदे।
काम माया कुंजर को व्यापे, भुअंगम मृग माया महि खापे।
माया ऐसी मोहनी भाई, जेते जीय तेते डहकाई।
पाखी मृग माया महि राते, साकर माखी अधिक संतापे।
तुरे अष्ट माया महि मेला, सिध चौरासी माया महि खेला।
छिय जती माया के बन्दा, नवे नाथ सूरज और चन्दा।
तपे रखीसर माया महि सूता, माया महि काल और पंच दूता।
स्वान स्याल माया महि राया, वानर चीते अरु सिघाता।
माजार गाडर अरु लूबरा, विरख मूल माया महि परा।
माया अन्तर मीने देव, सागर इन्द्रा अरु धरतेव ॥

—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३३

दादू भी उसे सर्वत्र व्याप्त पाते हैं :—

घट माहैं माया घरणी, बाहरि त्यागी होइ।
फाटी कंथा पहरि कार, चिहन करै सब कोइ ॥

—दादूदयाल की वानी, भाग १, पृ० १२३।७४

तथा,

माया सब गहले किये, चौरासी लख जीव।
ताका चेरी क्या करै, जे रंग राते पीव। —वही १२५।१०१

माया प्रकृति से व्यभिचारिणी है। अपने प्रपंची रूप में वह सभी को फँसाने का प्रयत्न करती रहती है। सांसारिक उसके इन्द्रजाल में बँध कर जीवन के उच्च लक्ष्य और साधना के सत् पथ से विचलित हो जाते हैं। भेदभाव एवं निजत्व-परत्व की भावना का सर्जन करके वह अज्ञानरूपी अंधकार का प्रसार करती

है। माया की व्यापकता और क्षेत्र बड़ा विस्तृत है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु में विद्यमान है। गोस्वामी जी के शब्दों में :—

गो गोचर जहं लगि मन जाई।
सो सब माया जानहु भाई॥

इस दृष्टि से कबीर की विचारधारा गोस्वामी जी से बहुत साम्य रखती है। कबीर की दृष्टि में माया से शून्य जल, थल, आकाश आदि कुछ भी नहीं है। कबीर से साम्य रखते हुए विचार चरनदास के हैं। कवि के शब्दों में :—

सन्तो माया जार बहुत डहकाई।
आगे पीछे दहिने बांये तल ऊपर अधियारी।
यहाँ वहाँ सर्वत्र विराजी सबहीं की मति भरमारी॥
स्वप्न को भूप द्रव्य सपने को अरु जगल को दारं।
गणिका शील नाच भूतन को नारिं सों व्याहत नारं॥
ऐसहि झूंठ जगत सच नाहीं भेद विचारो पायौ।
माया जार जगत मां सबही बहुतै अधिक छकायौ॥

× × ×

समझै नहिं माया का मतवार।
भूलि रह्यो धन धाम कुटुम्ब में हरि गुरु दियो विसार॥
पाप दुकान लीपि औगुण सो पूंजी रची विकार।
काम के दाम क्रोध थैली धरि बैठा हाट पसार॥
छल कांटे बिच कपट रूपइया निरख तौल निर्धार।
कर्म ढेर कौडिन कौ करिकै गिनि गिनि धरत सुधार॥
कह लाया कह लै निकसैगा अपने जीव विचार।
कोइ दम अचरज देखि तमाशा क्षण इक राम संभार॥
नर देही है लाल अमोलक ताकी लखी न सार।
अन्त समय ज्यों हारो ज्वांरी दोऊ कर चालै झार॥
यह जग स्वप्ना जान बावरे आखिर यम सों रार।
भुगतै कष्ट महादुख पावै सो जीवन धिरकार॥

मन ही समस्त संकल्प-विकल्प, आशा-निराशा एवं महत्वाकांक्षाओं आदि का आधार है। मन ही समस्त भ्रम तथा मायादि का मूल कारण है। मन के विनाश से सृष्टि विलीन हो जाती है। विभिन्न शास्त्रों और योग दर्शनों में मन के लय की विविध रीतियों का उल्लेख किया गया है। मन इन्द्रियों के अनुकूल होते

ही विविध आकार-प्रकार, रूप-स्वरूप और आकृतियां धारण करता रहा है। इसकी गति बड़ी विचित्र है। यह काम, क्रोध, मद, मोह, लोभादि विकारों से संयुक्त और ओतप्रोत है :—

मन इन्द्रिन के वश भयो, होय रह्यो बेढंग।
आपा विसरो जग रलो, हुवो जो नाना रंग ॥
आवै तरंग क्रोध की, होत जुवा के रूप।
काम लहर कबहूं उठै, ताकै होत स्वरूप ॥
लोभ कामना जब उठै, जभी लोभ रंग होय।
मोह कलपना के उठै, मोह वरण से सोय ॥
मन ही खेलै खेल सब, मन ही कर अभिमान।
मन ही जव-जग ह्वै रहो, अब सुनि मन का ज्ञान ॥—भक्ति पदार्थ वर्णन

प्रस्तुत उद्धरण की अन्तिम दो पंक्तियाँ विशेष रूप से विचारणीय हैं। ये दोनों ही पंक्तियाँ कवि के मन विषयक विचारों का सार अंश है। विचारों को बड़ी सफलता के साथ प्रकट कर देता है। मन माया का विशेष सहायक है। माया के प्रपंचों और वाह्य रूप को देखकर मन अत्यधिक लुब्ध होता है। लोभ, मोह आदि रोगों से वह सदैव ग्रस्त रहता है। त्रिविध तापों से वह सदैव सन्तप्त रहता है। मन ही के आधार पर संसार के विभिन्न प्रतिमान, और मानदंड निर्धारित होते है। असुंदर वस्तु में सौन्दर्य का आरोप, निःसार वस्तु में सार की प्रतिष्ठा, जीवन को क्षण भंगुर जानते हुए भी उसे गहरी नीव देने का प्रयत्न करना, सृष्टि का कुल मर्यादादि की दृष्टि से विभाजन, यह सभी कुछ तो माया और मन के कर्तव्य हैं। कवि के शब्दों में :—

बहुरूपी बहुरंगिया, बहुतरंग बहु चाव।
बहुत भाँति संसार में, करि करि घने उपाव ॥

कबहूं यह मन होवै गिरही। कबहूं यह मन होवै विरही ॥
कबहूं यह मन होवै रोगी। कबहूं यह मन होवै शोगी ॥
कबहूं यह मन होवै नारी। कबहूं यह मन राखै ख्वारी ॥
कबहूं यह मन कुल का ऊपा। कबहूं यह मन नकटा बूपा ॥
कबहूं यह मन दुन्द मचावै। कबहूं क्षमा शील घर आवै ॥
यह मन राजा होवै भोगी। यह मन त्यागी होवै योगी ॥
यह मन होवै हरि का भक्ता। यह मन होवै योगरु युक्ता ॥
या मन कूं कीजै वैरागी। याकूं कीजै सर्वस त्यागी ॥

मानव के शरीर की एक मात्र संचालक शक्ति है, मन। शरीरस्थ समस्त इन्द्रियाँ और अंग मन का ही अनुमान करती है। इतना ही नहीं वे मन के ही अनुकूल स्वरूप भी धारण कर लेती हैं। इसीलिए सन्तों एवं विचारकों ने इसे वासना रहित और निर्मूल कर देने का उपदेश बारम्बार दिया है। इन्द्रिय और मन के संसर्ग तथा एकमत होने पर मानव जीवन में मृग मरीचिकाओं का विकाश होता है। संत चरन दास ने इन्द्रियों को मन से पृथक रखने तथा उन्हें संयमशील बनाने पर बड़ा जोर दिया है। इस दृष्टिकोण से कवि की निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय होंगी—

जगत वासना के तजे, माया की न बसाय।
कर्म्म छुटै मिटै जीवता, मुक्त रूप हो जाय ॥
फंसे न इन्द्री स्वाद में, चरणकमल में ध्यान।
पर आशा कोइ ना रहै, लगै न माया बान ॥
इन्द्रिन के वश मन रहै, मन के वश रहै बुद्ध।
कहो ध्यान कैसे लगै, ऐसा जहां विरुद्ध ॥
जित इन्द्री मन हूं गया, रही कहां सूं बुद्धि।
चरनदास यों कहत है, करि देखो तुम शुद्धि ॥
इन्द्री मन मिल होत है विषय वासना चाह।
उपजै जैसे कामही, नारी मिल अरु नाह ॥
चलौ करै थिर ना रहै कोटि यतन करि राख।
यह जबही वश होयगा, इन्द्रिन के रस नाख ॥
न्यारे न्यारे चहत हैं, अपने अपने स्वाद।
इन पांचौ में प्रीति है, कछू न वाद विवाद ॥

इसीलिए मन और इन्द्रियों को पृथक-पृथक रखने की बड़ी आवश्यकता है। कवि के शब्दों में :—

जित जित इन्द्री जात है, तित मनकूं ले जात।
बुधि भी संगहि जात है, यह निश्चय कर बात ॥

अतएव,

न्यारे न्यारे तत रहैं, होता न कछू उपाध।
जुदे राख मन इन्द्रियन, गुरु गम साधन साध ॥
इन्द्री सूं मन जुदा करि, सुरत निरत करि शोध।
उपजै न विष वासना, चरनदास को बोध ॥

—भक्ति पदार्थ वर्णन

मनुष्य की इन्द्रियों में आंख, कान, जिह्वा आदि संसार के विविध प्रपंचों में विशेषतया संलग्न रहते हैं। ये सभी माया की श्री वृद्धि और प्रसार में विशेष सहायक रहते हैं। आंख, वाह्य प्रपंचों को हृदउयंगम करने, कान, पर निन्दा और विवाद सुनने और जिह्वा, विविध स्वादों के आस्वादन करने में संलग्न रहते हैं। ये तीनों ही विभिन्न प्रकार से मानव को सत्पथ से विचलित करके माया में संलग्न कर देती है। इन तीनों के प्रति कवि के विचारों का पृथक्-पृथक् विश्लेषण विषय को अधिक स्पष्टता प्रदान करेगा। वहां पर इन तीनों विषयों से संबंधित कवि के मत को अविकल उद्धृत कर देना असंगत न होगा। माया के सहायक के रूप में नेत्र इन्द्रिय का वर्णन कवि ने निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

यह इन्द्री आँख विचारो। सो देत महादुख भारो ॥
वह राग द्वेष उपजावै। अरु हरष शोक लै आवै ॥
सो रूप मांहि फंस जावै। तन मन में व्याधि उठावै ॥
वह देह और के हाथा। करि डारै बहुत अनाथा ॥
वह फंदे माहीं डारै। अरु काम अगिनि में जारै ॥
कोइ साधु शूरमा मोडै। जग सेती नैना तोडै ॥
दीपक त्रिया निहारि करि, गिरै पतंग ज्यों जाय।
कछू हाथ आवै नही, उलटी आप जराय ॥
उन तन मन सभी जराया। कछु मोदूं हाथ न आया ॥
अरु विषय वासना फैला। जब छूता राम का गैला ॥
तौ मुक्ति कहां सो होई। दिया जन्म अकारथ खोई ॥
वह माया मोह लगावै। अरु चौरासी भरमावै ॥
ऐसी इन्द्री आंख की, सो अपनी नहि होय।
गुरु शुकदेव बतावई, चरणदास सुन लोय ॥
—भक्ति पदार्थ वर्णन

कर्णेन्द्रिय माया के प्रपंच का प्रसार किस प्रकार करती है यह वर्णन कवि ने निम्नलिखित पंक्तियों में किया है :—

जब सुनै काम रस रीता। तब भूलै पढ़ सुन गीता ॥
मन उपजै काम तरंगा। जब होत ध्यान में भंगा ॥
फिर लोभ वचन सुन औरै। जब तृष्णा चहुंदिशि दौरै ॥
कहिं द्रव्य हाथ लगि जावै। यो शोचि शोचि दुख पावै ॥
कहै ठग चोरी कर लाऊं। कहिं गड़ा दंबाहो पाऊं ॥
काहू सुनै जु दौलत बंधा। मनही मन रोवै अंधा ॥

फिर सुनै बड़ाई कुल की। जब पुलक हंसत है मुलकी ॥
जो अपनी सुन बड़ाई। जब अंटु होत अकडाई ॥
परनिन्दा बहुत सुहावै। नहि और बड़ाई भावै ॥
कभी सुनै मोह के बैना। लगै हर्ष शोक दुख दैना ॥
जो हिरन कान वश हुवा। तौ तीर लाग करि मुवा ॥
शुकदेव कहैं यह जानौ। सब कान विकार पिछानौ ॥

जिह्वा भी नेत्र और कर्णेन्द्रियों के समान ही माया की सहायिका है। कवि के शब्दों में :—

जिह्वा के जीते बिना, गये जन्म सब हार।
चरणदास यो कहत है, भये जगत में ख्वार ॥
बंशी डारी ताल में, मछरी लागी आय।
जिह्वा कारण जिय दियो, तलफि-तलफि मरि जाय ॥
तजा न जिह्वा स्वाद कूं, वा संग दीन्हे प्रान।
जो कोइ ऐसा जगत में, सो अज्ञानी जान ॥
यासूं ले हरनाम ही, गुणावाद ही भाख।
जो बोलै तौ सांच ही, नाही मुख में राख ॥

अब त्वचा का रूप देखिये :—

त्वचा स्वाद सब वश भये, फसे जगत के माहिं।
जो कोई निकसो चहै, सो भी निकसै नाहिं ॥
धोखे की हथिनी लखी, आयो गज ललचाय।
खंदक माहीं रुकि गयो, शीश धुनै पछिताय ॥
कछू हाथ आयो नही, परो फन्द में जाय।
मैन महावत वश भयो, शिर में अंकुश खाय ॥
ऐसे ही यह नर फंसो, देखि कामिनी रूप।
जन्म गंवायो दुख भरो, पड़ो अविद्या कूप ॥

नासिका का सुगन्धि लोभ भी माया के बन्धनों में डालने में सहायक होता है। कवि ने इसी भाव का निम्नलिखित पंक्तियों में वर्णन किया है :—

त्वचा अंग पूरो कियो, कहूँ नासिका अंग।
तावश अलि सुत जी दियो, जाको कहूँ प्रसंग ॥
बास आस गुंजत फिरो, बैठो कमल मंझार।
सूर छिपे से मुदि गयो, अव शिर दै दै मार ॥

कुंजर आयो तालयै, जल पीनन के काज।
प्यास बुझी करने लगो, खेल करिन को साज ॥
खेल करत कमलहि गह्यो, लीन्ह्यो ताहि उपाडि।
फेरि दियो मुख माहि ही, चाबि गयो देजाडि ॥
ऐसे ही ये नर फंसे, परे काल मुख जाय।
चरणदास यों कहत हैं, चाले जन्म गवाय ॥
जो इन्द्रिन के वश भयो, बाधों नरके जाय।
चौरासी भरमत फिरै, गर्भ योनि दुख पाय ॥
जो इन्द्रिन के वश भयो, पावै ना आनन्द।
बार बार जग मांह ही, छूटै ना सम्बन्द ॥
भक्ति माहि चित ना लगै, सबही बिगड़ै काम।
जो इन्द्रिन के वश भयो, ताको मिलै न राम ॥

—भक्ति पदार्थ वर्णन—माया प्रकरण

उपर्युक्त पंक्तियों में नेत्र, कर्ण, जिह्वा, त्वचा तथा नासिका के रस-लोलुप एवं भ्रांति प्रसारक रूप तथा प्रभाव की अभिव्यक्ति की गई है। कवि ने इन सभी इन्द्रियों को माया का प्रसारक माना है।

विगत पृष्ठों में माया के विनाशकारी एवं साधना में बाधक रूप का उल्लेख हो चुका है। सन्तों ने माया के इस रूप की बड़ी तीव्र निन्दा की है। कबीर, दादू, नानक, मलूक, चरनदास, सुन्दरदास, गरीबदास, सहजों, दरिया साहब आदि ने जी भर कर माया को कोसा है। इन सन्तों की चेतावनियों में माया के विषाक्त रूप की अभिव्यंजना बड़े व्यापक रूप में हुई है। कवियों ने उसे भांति-भांति के सम्बोधनों से तुच्छ सिद्ध करने और अनादृत प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है। सन्तों ने ठगिनी, पाविनी वेश्या, रूखड़ी, स्वप्न, मीठी मिश्रीजार, मृगजल, मगहर, ऊसर, सर्पिणी, नटिनी आदि शब्दों से सम्बोधित किया है। कबीर ने माया को ठगिनी[१], पापिनी[२], वेश्या[३], और रूखड़ी[४] कहा है। दादू ने माया को

१. माया तो ठगनी भई, ठगत फिरै सब देस।
जा ठग या ठगनी ठगी, ता ठग को आदेस ॥—सं० वा० सं० १।५७।६

२. कबीर माया पापिनी, ताही लागे लोग।
पूरी किनहुँ न भोगिया, याका यही वियोग ॥—वही, १।५७।२

३. कबीर माया बेसवा, दोनों की इक जात।
आवत को आदर करै, जात न पूछै बात ॥—वही १।५७।४

४. कबीर माया रूखड़ी, दो फल की दातार।
खावत खरचत मुक्ति दे, संचत नरक दुवार ॥—वही १।५७।५

स्वप्न[1] तथा मीठी बोलणी[2] बताया है। मलूकदास ने इसे मिश्री की छुरी माना है।[3] जगजीवन साहब के अनुसार वह जार है।[4] दादू ने उसे मृगजल[5], मगहर[6], ऊसर[7], सापिन[8] तथा नटी[9] कहा है। चरनदास जी ने भी परम्परागत सम्बोधनों का माया के लिए प्रयोग किया है। उन्होंने उसे कभी ठगिनी[10] कहा है और कभी उसे जार, पापिनी तथा वेश्या आदि सम्बोधनों से पुकारा है। विगत पृष्ठों में कवि के उद्धरणों में इस प्रकार के अनेक शब्दों का उल्लेख हो चुका है।

---

१. संतवानी संग्रह, भाग १,६७।१ तथा दादूदयाल की बानी, पृष्ठ ११६।१०

२. संतवानी संग्रह, भाग १।६७।६

३. माया मिसरी की छुरी, मत कोई पतियाय।
इन सारे रसबाद के, ब्रह्मादि ब्रह्म लड़ाय॥ —वही १।१०३।१

४. कठिन अहै माया जार,
जाको नहि बार बार॥ —वही २।१४४।५

५. यहु सब माया मिर्ग जल, झूठा झिलिमिल होइ।
दादू चिलका देखि करि, सति करि जाना सोइ॥--दा० द० की वानी, ११६।७

६. माया मगहर खेत खर, सद गति कदे न होइ।
जे बचै ते देवता, राम सरीखे होइ॥—वही १२१।४८

७. कालरि खेत न नीयजै, जे बाहै सो बार।
दादू हाना बीज का, क्या पचि मरै गंवार॥—वही १२१।४६

८. वही, १२३।६६

९. वही १२२।१६६

१०. माया ठगिनी ठगे सबही बेच गुरु शुकदेवा।—शब्द-संग्रह

षष्ठम अध्याय

चरनदासी सम्प्रदाय

प्रवर्तक एवं सम्प्रदाय—चरनदासी सम्प्रदाय के संस्थापक वा प्रवर्तक संत कवि श्री चरनदास जी थे। तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक स्थितियों के फलस्वरूप देश, समाज एवं काल की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर चरनदास ने प्रस्तुत संप्रदाय को जन्म दिया। संत कबीर के सम्प्रदाय के अनन्तर जिन नानक पंथ, दादू पंथ, प्राणनाथी सम्प्रदाय, मलूकदासी सम्प्रदाय, जगजीवनदासी सम्प्रदाय, पलटूदासी सम्प्रदाय, धरनीदासी सम्प्रदाय, तथा दरिया पंथी आदि के सम्प्रदायों को महत्वशाली निर्धारित किया गया है, उनमें चरनदासी सम्प्रदाय एक है। निर्गुण सन्तों के जो सम्प्रदाय भारतवर्ष में आज भी जीवित हैं, उनमें चरनदासी सम्प्रदाय का अपना प्रमुख स्थान है। यह बात सत्य है कि दादू एवं नानक के सम्प्रदायों के समान यह बहुत व्यापक और विस्तृत सम्प्रदाय नहीं है, परन्तु फिर भी दरियादासी, पलटूदासी, धरनीदासी, मलूकदासी तथा प्राणनाथी सम्प्रदायों की तुलना में यह आज भी अधिक सजीव और महत्वशाली है। इस देश के उत्तराखंड के प्रायः प्रत्येक बड़े नगर वा शहर में आज भी इस सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं।

सम्प्रदाय स्थापना काल—चरनदासी सम्प्रदाय की जन्म तिथि अज्ञात है। इसके विषय में सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न तो *अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होती है न वहिस्साक्ष्य अथवा किंवदन्ती ही इस विषय पर कोई सहायता कर सकती है। प्रस्तुत सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त को भी इस विषय पर कोई ज्ञान नहीं है। चरनदास अथवा चरनदासी सम्प्रदाय पर छानबीन या खोज करने वाले लेखकों ने भी इसके विषय में अपना कोई मत नहीं प्रकाशित किया है। चरनदास के विषय में अंग्रेजी लेखकों में सर्वश्री क्षिति मोहन सेन, एच० एच० विल्सन, फर्कुहर, पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, जेम्स हेस्टिंग्ज़, डब्ल्यू० कुक्स, पी० डब्ल्यू० पावेल, जी० ए० ग्रियर्सन तथा ई० डी० मैक्लायन एवं हिन्दी लेखकों में सर्वश्री रामचन्द्र शुक्ल, श्यामसुन्दर दास, पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, रामकुमार वर्मा, मिश्रबन्धु, हरिऔध, भुवनेश्वर, माधव, परशुराम चतुर्वेदी, गणेश प्रसाद द्विवेदी, प्रभुदत्त ब्रह्मचारी तथा शिवशंकर मिश्र प्रभृति भी चरनदासी

सम्प्रदाय की जन्मतिथि के विषय में नितांत मौन हैं। चरनदास जी तथा उनके आदर्शों पर प्रकाश डालने वाला सबसे महत्वपूर्ण ग्रन्थ 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' भी आलोच्य विषय पर कोई सहायता करने में समर्थ नहीं है परन्तु इतना तो निश्चय ही है कि प्रस्तुत सम्प्रदाय का जन्म चरनदास के जीवन-काल में ही हुआ था। श्रीराम रूप जी ने अपने ग्रन्थ 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' में संत चरनदास द्वारा शिष्य बनाये जाने का सर्वप्रथम उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

अस्थल में रहने लगे, वाही विध वही रीत।
आवें दर्शन करें जो, तिन सों राखें प्रीत ॥
एक सिद्ध दिल्ली में आयो। वाने बहु अभिमान बढ़ायो ॥
बहुतक नर दर्शन को धावें। जाय चरण में शीश नवावें ॥
माला तिलक न कंठी राखे। मुख सों कभी गुरु न भाखे ॥
कोई पूछे कहाँ गुरु तुम्हारे। कौन सम्प्रदा कौन दुआरे ॥
कंठी माला तिलक न राखो। सतगुरु का कभी नाम न भाखो ॥
जब सिद्ध वह ऐसे बोले। अपने मन का भेद जो खोले ॥
हमारा सतगुरु राम प्यारा। जाने यह सब जग विस्तारा ॥
जग में सतगुरु करिहो वाको। कंठी बांधे ज्यों मैं भाखो ॥
कुवें पर चादर जु विछाऊँ। ता ऊपर जा आसन लाऊँ ॥
ह्वां जो आकर बैठकर, कंठी बांके मोर।
ताहि करूँ मैं सतगुरु, गहूँ चरण कर जोर ॥
ऐसे ही कहे सबके आगे। जो टोके तेहि कहने लागे ॥
नगर माहिं यह बात जु छाई। चली चली अस्थल में आई ॥
जो कोई दर्शन को आवै। भक्ति राज ढिग बात चलावै ॥
महाराज बोले मुसकाई। वाके कंठी बांधू जाई ॥
दूजे दिन गए वाके पासा। वासों कही कि पुरऊँ आसा ॥
बात तुम्हारी सुन मैं आया। देखो यह कंठी भी लाया ॥
कुवें पर चादर विछवावो। चारौं कोने ईंट धरावो ॥
वा पर बैठो ह्वां मैं आऊँ। कंठी बांधूं मंत्र सुनाऊँ ॥
जो तुम पूरे वचन के, तो कंठी बंधवाय।
नौता याही नगर सूं, वेग उठो भग जाव ॥
सिद्ध कही मैं नाहिं डराऊँ। कुवें पर चादर विछवाऊँ ॥
मैं बैठू ह्वा तुम भी आवो। कंठी बांधो मंत्र सुनावो ॥
भक्ति राजे जब यों ही कीनी। वांही सिद्ध को दीक्षा दीनी ॥

जो जो लोग तमाशे आये। अचरण देख बहुत हरषाये ॥
वाही सिद्ध को लेके साथा। अस्थल आये फुल्लत नाथा ॥
फिरवा सिद्ध को रुखसत कीना। टोपी सेली चोला दीना ॥
ऐसे सतगुरु पर उपकारी। खुशी रहें अस्थान मंझारी ॥
आनन्द लेना आनन्द देना। सब सों बोले मीठे बैना ॥
आवें दरशन करन जो, रामरूप नर लोय।
देखत दुख बिसरै सबै, मन खुसी जु होय ॥

—गुरुभक्ति प्रकाश, पृष्ठ ७९-८१

प्रस्तुत उद्धरण में कश्चित् तथाकथित सिद्ध को दीक्षा देने का वृतांत वर्णित है। इस उद्धरण में विशेष ध्यान देने योग्य रेखांकित अंश है। इन पंक्तियों में टोपी, सेली और चोला प्रदान करके दीक्षित बनाने की प्रक्रिया वर्णित है। सम्प्रदाय में नये व्यक्ति को दीक्षित करने की यही प्रक्रिया आज भी प्रचलित है। 'गुरु भक्ति-प्रकाश' में दीक्षा प्रदान करने का यह सर्वप्रथम उल्लेख है। अतः यह निश्चित हो जाता है कि चरनदास ने अपने जीवन काल में ही शिष्य बनाने और दीक्षा देने का कार्य प्रारम्भ कर दिया था।

अब सम्प्रदाय की जन्म-तिथि या सन्-संवत् पर ध्यान देना अपेक्षित है। 'गुरु भक्ति प्रकाश' में दीक्षा देने की प्रस्तुत प्रक्रिया के उल्लेख के पश्चात् तुरन्त ही रामरूप जी ने चरणदास द्वारा नादिरशाह के अभिमान की भविष्यवाणी का सविस्तार उल्लेख किया है। इस भविष्यवाणी का उल्लेख "नादिरशाह को परचा देना तथा मुहम्मद शाह का दर्शन को आना" शीर्षक के अन्तर्गत हुआ है। कवि ने भविष्यवाणी की थी कि नादिरशाह अभियान करके देश में रक्तपात करेगा—

करनाल खेत में होय लड़ाई। मारे जांय बकसी दोऊ भाई ॥
और नवाब दोय मिल जावे। छिपे छिपे ही भेद लगावे ॥
हारे बादशाह पकड़ा जावे। जीते नादरशाह सुख पावे ॥
गहकरि नादरशाह ही, आवे दिल्ली माहिं।
तहसील कतल ह्यां होयगी, क्यों ही छूटे नाहिं ॥
दसमी फागुन सुदी करे, दाखिल ह्वै है आय।
आठैं सुदी वैशाख को, वतन आपने जाय ॥
दोय मास रहे शहर में, ज्यारा रहे न कोय।
माल बहुत ले किले सों, कूंच देश को होय ॥
मुहम्मदशाह को मुलक दे, फिर करके बादशाह।
नायब अपना थापके, जैहैं नादरशाह ॥

नादिरशाह के अभियान से सम्बन्धित इस भविष्यवाणी की सत्यता का समर्थन इतिहास-सम्मत है। नादिरशाह का आक्रमण मार्च (फाल्गुन मास) सन् १७३६ ई० में हुआ था। इस भविष्य के कुछ ही समय पूर्व कवि ने अपने सम्प्रदाय को जन्म दिया था, अतः यह निश्चित है कि चरणदासी सम्प्रदाय की स्थापना सन् १७३८ के अंत या सन् १७३६ के प्रारम्भिक महीनों में हुई है। इस समय चरनदास की अवस्था लगभग ३५ वर्ष की थी और वे साधना के क्षेत्र में प्रतिष्ठा प्राप्त कर चुके थे। कवि की जीवनी में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि शुकदेव जी ने संवत् १७७६ में चरनदास जी को दीक्षा दी थी। अतः यह भी सिद्ध हो जाता है कि लगभग १७ वर्ष की सतत और सच्ची साधना के अनन्तर चरनदास ने अपने आदर्शों को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए सम्प्रदाय की स्थापना की।

सम्प्रदाय की परम्परा—धर्म के क्षेत्र में सम्प्रदाय कुलपरम्परा दो प्रकार की मान्य हुई है। १. बिन्दुकुल परम्परा, २. नाद कुल परम्परा। पिता का पुत्र से सम्बन्ध बिन्दु के द्वारा होता है अतः पुत्र बिन्दुपुत्र कहाता है और पुत्र बिन्दुकुल परम्परा में आता है। भक्ति उपदेश में सद्गुरु शिष्य को पुनर्जन्मप्रदान करता है। इसी कारण शिष्य नादपुत्र कहा जाता है। इस प्रकार शिष्य नादकुल परम्परा में आता है।

चरणदासी सम्प्रदाय की नादकुल परम्परा श्रीमन्नारायण से आरम्भ होती है। सम्प्रदाय में नादकुल परम्परा के विषय में निम्मलिखित श्लोक प्रचलित है :—

पुराणसंहितामेता ऋषिनारायणो व्ययः।
नारदाय पुराप्राह कृष्णद्वैपायनायसः॥
सर्वे मह्यं महाराज भगवान् बादरायणः।
इमां भागवतीं प्रीतः संहितां वेदसम्मिताम्॥

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध, २ अध्याय

अर्थात् इस पुराण संहिता (श्रीमद्भागवत) का उपदेश अव्यय, अमर ऋषि नारायण ने प्राचीन काल में नारद को दिया। नारद ने कृष्ण द्वैपायन श्रीवेदव्यास से उसी उपदेश को कहा। वेदव्यास ने इस वेद-सम्मित वेदाश्रित श्रीति संहिता भागवत को मुझ (श्री शुकदेव) को सुनाया। इस प्रकार श्री चरनदासी-सम्प्रदाय के नादकुल वृक्ष की रूप-रेखा इस प्रकार होगी :—

श्रीनारायण
|
श्री ब्रह्मा
|
श्री वेदव्यास
|
श्री शुकदेव
|
श्री श्यामा चरणदास। श्री चरणदास

चरनदासी-सम्प्रदाय के इन नादकुल परम्परा का उल्लेख श्री रामरूप जी ने गुरु भक्ति-प्रकाश में निम्नलिखित शब्दों में किया :—

ऐसी माया संग ले, भयो पुरुष अभिराम ।
ईश्वर नारायण वही, ताही को परणाम ।।
जिनसों ब्रह्मा जू भये, उपजावन जगदीश ।
पर दच्छिण तिनकी करूं, चरणन राखूं शीश ।।
जिनके श्री वशिष्ठ मुनि, बोध रूप आनन्द ।
तिनके श्री शक्ति तनय, नमो नमो सुख सिंध ।।
पराशर तिनकी कला, तपसी अति निष्काम ।
रामरूप जन करत है, बारम्बार प्रणाम ।।
बेदव्यास तिनसों भये, सो ईश्वर अवतार ।
तीन कांड परगट किये, प्रणमों बारम्बार ।।
जिनके श्री शुकदेव हैं, जानत सब संसार ।
सो मेरे मन में बसो, उनहीं को आधार ।।
परिकर्मा हित सों करूँ, बहुत करूँ दंडौत ।
तीन लोक विचरत रहैं, तिन बस कीन्ही मौत ।।
जिनके चरणहि दास हैं, नाद पुत्र ही जान ।
तिनकी सत्संगत किये, मिटे तिमिर अज्ञान ।।—गुरुभक्ति-प्रकाश

सम्प्रदाय संस्थापन का लक्ष्य—प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में कवि के युग की सामाजिक, धार्मिक राजनीतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों की विवेचना हो चुकी है। इस परिच्छेद में कहा जा चुका है कि चरनदास का समय विषमताओं का युग था। चतुर्दिक् अशांति, वर्ण-वैषम्य, वर्ग-संघर्ष, वर्ग-भेद, राज्य-लिप्सा, महत्वाकांक्षा, रक्तपात, विद्रोह, अविश्वास, धार्मिक अविश्वास के तीव्र वात्याचक्र, प्रतिहिंसा, प्रतिशोध, प्रतिकार, मानवता का आमूल प्रतिलोप नैतिकता का सम्पूर्ण विनाश इस युग का संक्षिप्त शब्दों में सारांश है। इन परिस्थितियों के मध्य चरनदास का जीवन-वृक्ष पनपा और बढ़ा। अतएव युग की परिस्थितियों की आवश्यकतानुसार और देश की आवश्यकता के अनुकूल संत चरनदास ने अपने सम्प्रदाय को संस्थापित किया। इस सम्प्रदाय का सबसे बड़ा लक्ष्य था संकीर्ण मानव समाज को वृहत्तर बनाना। जन-जन में व्याप्त भावभेद को मिटा कर उनमें समता की भावना का बीजारोपण चरनदास ने किया। मानव-मानव में उच्च नीच का भेद भाव ब्रह्म द्वारा रचित नहीं है वरन् आर्थिक आधार पर निर्मित समाज का प्रसाद है—चरनदास की बानियां इसी भाव से ओतप्रोत हैं। भौतिकता में अत्यधिक

संलग्न, महत्वाकांक्षा से अत्यधिक उत्पीड़ित, प्रतिशोध, प्रतिहिंसा और प्रतिकार की ज्वाला में दग्ध मानवता को उन्होंने प्रेम, त्याग, करुणा, मैत्री, विश्वबन्धुत्व की भावना का मधुर संदेश सुनाया और उनमें जीवन को निर्मल बनाये रखने की चाह जाग्रत की। चरनदास ने अपने नवीन सम्प्रदाय के द्वारा युग-युग से चिर उपेक्षित अन्त्यज वर्ग में भी स्वाभिमान की भावना जाग्रत की। चिरकाल से अन्त्यजों के हेतु बन्द मन्दिरों के द्वारा की गई अवहेलना से प्रेरित होकर चरनदासी सम्प्रदाय ने उन्हें निराकार ब्रह्म की उपासना का पाठ पढ़ाया। सामाजिक व्यवहार और पारमार्थिक साधना, उभय क्षेत्रों में पूर्णरूपेण ऐक्य एवं समानता का आदर्श समुपस्थित करके चरनदास ने अपने सम्प्रदाय को व्यापक बनाने का प्रयत्न किया।

सम्प्रदाय की जनप्रियता—प्रस्तुत सम्प्रदाय अपने समय में बड़ा जनप्रिय सम्प्रदाय रहा। प्रवर्तक के जीवन काल में इसका बड़ा प्रचार रहा। चरनदास के सीधे सादे, सरल आदर्शों से भारतीय जनता बहुत प्रभावित रही। हिन्दू, मुसलमान, कुलीन, अन्त्यज, सज्जन, दुष्ट, बालक, वृद्ध, धनी, निर्धन सभी प्रकार के व्यक्ति युग-विचारक के सन्देश से प्रभावित हुए। चरनदास के कल्याणकारी सिद्धांतों के लिए मानव और प्रकृति-कृत सीमाएं निस्सार हो गये और वे देश-विदेशों में मान्यता तथा श्रद्धा के विषय बने। आधुनिक महन्त श्री गुलाबदास का कथन है कि "चरनदास के जीवन काल में यह सम्प्रदाय संसार के चारों कोनों में पूज्य हुआ।" प्रस्तुत कथन में से अत्युक्ति की मात्रा को छान कर यदि हम विचार करें तो यह असंगत नहीं प्रतीत होता है कि भारतवर्ष में यह सम्प्रदाय अपने समय में सर्वाधिक जनप्रिय सम्प्रदाय था। चरनदास की जीवनी के सम्बन्ध में सबसे अधिक विश्वसनीय और प्रामाणिक ग्रन्थ 'गुरुभक्ति-प्रकाश' का विचार भी इस दृष्टि से पठनीय होगा :—

एक दृष्टि सब ओर निहारे। सब सों प्यार करै इक सारे॥
राव रंक दोऊ चल आवैं। हित सों सब की ओर लखावै॥
हाथी और पालकी वारे। हिन्दू तुरक भीड़ हो भारे॥
जो कोइ दुष्ट कहै इन आगे। ताकी चित्त दै सुनने लागे॥
सब विधि वाकी करै सहायी। तन मन सों सबकै सुख दायी॥

'गुरु-भक्ति-प्रकाश' के अनुसार दिल्ली का तत्कालीन शासक मुहम्मद शाह चरनदास का बड़ा भक्त था। द्वितीय परिच्छेद में उल्लेख हो चुका है कि नादिरशाह भी चरनदास से बहुत प्रभावित था। रामरूप जी ने लिखा है कि "नादिरशाह ने चरनदास की बहुत विनती की और माफी के रूप में बहुत-सी जागीर प्रदान की।[1]"

---

1. हाथ जोड़ यौं कहने लागा। मैं दुर्मति में पगा अभागा॥
तुम्हरी महिमा कछू न जानी। मैं मन में कुछ औरे ठानी॥

गुरु-भक्ति प्रकाश में अनेक अन्य स्थल हैं जिनमें कवि की सर्वप्रियता और उसके उपदेशों की जनप्रियता का रामरूप जी ने सविस्तार उल्लेख किया है। समद्रष्टा चरनदास के उपदेश उनके दिवंगत होने के सैकड़ों वर्ष पश्चात् आज भी जनता में आदर के साथ गाए एवं स्मरण किये जाते हैं।

चरनदासी-सम्प्रदाय के जनप्रियता का एक और भी कारण है। चरनदास ने भारतवर्ष के प्राचीन धार्मिक साहित्य की अकारण आलोचना वा निंदा न करके उसे अपने उपदेशों का अंग बनाया और इसीलिए अन्य सम्प्रदायों की अपेक्षा यह अधिक जनप्रिय और व्यापक बन सका। डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में "यदि भागवत का भलीभांति अध्ययन किया जाय तो पता लगेगा कि रहस्य-भावना से ओतप्रोत होने के कारण वह संत-साहित्य का सबसे महत्वशाली महाकाव्य है, जिसमें कथानक के बहाने प्रेम को प्रतीक बनाकर ज्ञान की शिक्षा दी गई है। चरनदासियों के लिए भागवत का नायक श्रीकृष्ण समस्त कारणों का कारण है। गीता के भावों को उन्होंने स्वच्छन्दता से अपनाया है और स्थान-स्थान पर साहस के साथ उससे उद्धरण भी दिए हैं—साहस इसलिए कहते हैं कि निर्गुणी संतों ने प्राचीन ग्रन्थों से अकारण घृणा प्रदर्शित की है, परन्तु चरनदासियों में प्रेमानुभूति की वह विशेषता भी है जिसके कारण हम उन्हें निर्गुण संत-सम्प्रदाय से अलग नहीं कर सकते।"[1] इसी कारण चरनदास देश के रूढ़िवादी, प्रगतिशील और प्राचीन ग्रन्थों के प्रेमी, सभी व्यक्तियों में समान रूप से जनप्रिय बन सके।

शिष्यों की संख्या—वर्तमान महन्त का कथन है कि चरनदास के जीवनकाल में शिष्यों की संख्या अगणित थी। इसका व्यौरेवार उल्लेख चरनदास जी से सम्बन्धित किसी भी ग्रंथ में नहीं उपलब्ध होता है। चरनदास की मृत्यु (१७८२) के प्रायः सौ वर्ष पश्चात् सन् १८६१ ई० के जनसंख्या रिपोर्ट में चरनदासियों की संख्या १६१ लिखित है। डब्ल्यू० क्रुक्स महोदय ने अपने ग्रन्थ 'ट्राइब्स एंड

अब मैं जानी तुम दरवेश। तुमको दुनियां सा नहि लेश॥
तुम फक्कर हो खुदा रसीद। मेरे गुनाह करो बकसीस॥
मैं सब अजमावन को कीना। इतना दुख जो तुमको दीना॥
अब मैं समझा विसुआ बीस। मेरे हक में करो अशीस॥
तन कांपे मन में डर लागै। करो मिहर मेरा भय भागै॥

× × ×

बातन ही में अरु कही बाता। नादरशाह जोड़ दोउ हाथा॥
गांव परगना अब कुछ लीजै। करो निजात यही खुशी कीजै।

---

1. हिन्दी काव्य में निर्गुण संप्रदाय, पृष्ठ ८७

कास्ट्स आफ एन० डब्ल्यू० प्रोविंसेस एंड अवध' में जन-संख्या रिपोर्ट की तालिका को उद्धृत किया है। अविकल रूप में वह यहां उल्लिखित है :—

जिला	संख्या	जिला	सं०	जिला	सं०
मुजफ्फरनगर	११	बिजनौर	२२	पटन	७
मेरठ	४७	मुरादाबाद	६	हमीरपुर	१०
बुलन्दशहर	२५	शाहजहांपुर	२	जालौन	१०
आगरा	७	कानपुर	४	तराई	२
					१६१

प्रस्तुत-तालिका जन-संख्या-गणना (सेंसेज़ रिपोर्ट) की अपूर्णता और अशुद्धि की सूचक है। अवध तथा उत्तरप्रदेश के उत्तरी-पश्चिमी जिलों में चरनदासियों की संख्या आज भी हजारों में है। इस सूची या तालिका में अनेक शहरों एवं नगरों का उल्लेख नहीं हुआ है। उदाहरणार्थ लखनऊ, फैजाबाद, बनारस, उन्नाव, इटावा, दिल्ली, जयपुर आदि शहरों में चरनदासियों की संख्या का कोई उल्लेख नहीं है। इसी प्रकार कवि के जन्म-स्थान अजमेर, डेहरा आदि का भी कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। केवल लखनऊ में आज भी चरनदासियों की संख्या डेढ़-हजार से ऊपर है। अतएव १६१ की संख्या भ्रामक और अशुद्ध प्रतीत होती है। इस विषय पर कोई प्रामाणिक सूचना नहीं प्राप्त है। स्वयं सम्प्रदाय के वर्तमान महन्त को इसका कोई ज्ञान नहीं है। अतएव हमें अपने सीमित साधनों और विवशताओं के कारण मौन ग्रहण कर लेना पड़ता है।

श्री रूपमाधुरीशरण के मतानुसार "श्री महाराज के लाखों जीव स्त्री-पुरुष शिष्य भये तिनमें ५२ तो बड़े ही सिद्ध और महाराज के परम कृपापात्र भये। जिनको श्री महाराज ने सब नामी शहरों में पीला चोला टोपी बाना देके महन्त स्थापित करके किसी के साथ सौ संत किसी के साथ दो सौ संत देके भक्ति-प्रचार करने को भेजे। जैपुर में भी आत्माराम जी तथा अखैराम जी इत्यादिक कई संत भेजे। जिनके-जिनके मंदिर बने हैं एक मोती कटले श्री विहारी जी का मंदिर है। दूसरा बारह गान गोर आतम कुंज का स्थान है। जीविका राज की तरफ से लग रही है।[1]" डाक्टर पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में "चरनदास के बहुत शिष्य थे जिनमें से बावन शिष्यों ने अलग-अलग स्थानों पर चरनदासी मत की शाखाएं स्थापित कीं जो आज भी वर्तमान है।[2]"

---

[1] महन्त गंगा दास के पास सुरक्षित अप्रकाशित ग्रन्थ 'गुरु महिमा' से।

[2] हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ८७

५२ शिष्यों ने विभिन्न ५२ स्थानों पर जिन गद्दियों की स्थापना की वे निम्नलिखित हैं :—

१. स्वामी रामरूप जी (गुरु भक्तानन्द जी), २ श्री राम सखी जी, ३. श्री सहजोबाई, ४. श्री हरि प्रसाद जी, ५. श्री गंगा विष्णु दास, ६. श्री दास कुंवर जी, ७. श्री हरिनारायण जी, ८. श्री आत्माराम जी, ९. श्री गुसांई जुक्तानन्दजी, १०. श्री गुरु छौना जी, ११. श्री नन्दराम जी, १२. श्री मुक्तानन्द जी, १३. श्री गुरुप्रसाद जी, १४. श्री हंसमुखदास जी, १५. श्री गुरुमुख दास जी, १६. श्री हरिदेव दास, १७. श्री रामप्रताप जी, १८. श्री पूरन प्रचाप जी, १९. श्री भगवान दास जी, २०. श्री त्यागी राम जी, २१. जै देवदास जी, २२. श्री श्यामशरन बड़भागी जी, २३. श्री निर्मल दास जी, २४. श्री दूसरे नन्दराम जी, २५. श्री डंडोती राम जी, २६. श्री घनश्याम दास जी तथा बालगुपाल जी, २७. श्री सुखविलास जी,२८. श्री जैराम दास जी, २९. श्री दाताराम जी, ३०. श्री जसराम उपगारी जी तथा वल्लभ दास जी, ३१. श्री दाऊ सब गतिराम जी, ३२. श्री सहजानन्द जी, ३३. श्री हरिविलास जी, ३४. श्री प्रेम गलतान जी, ३५. श्री परम स्नेही जी, ३६. श्री मुक्तानन्द जी, ३७. श्री स्वामी ठडी राम जी, ३८. श्री श्याम रूप जी, ३९. श्री दौलत राम जी, ४०. श्री नूयी बाई जी, ४१. श्री दया बाई जी, ४२. श्री जोगी विद्या जी, ४३. श्री राम मौला जी, ४४. श्री राम धडल्ला जी, ४५. श्री जीवन दास जी, ४६. श्री गुपालदास जी, ४७. श्री निरमलदास जी, ४८. श्री गुंसाई नागरी दास जी, ४९. श्री चरनरज जी, ५०. श्री चरनधूर जी, ५१. श्री चरन खाक जी, ५२. श्री साधुराम जी।

इन बावन शिष्यों को चरनदास ने दीक्षा देकर अपने सिद्धांतों के प्रचारार्थ भिन्न-भिन्न दिशा में भेजा। बाद में इन्हीं बावन शिष्यों ने स्थान-स्थान पर चरनदासी-सम्प्रदाय की गद्दियां स्थापित की। परन्तु इसका कहीं पर उल्लेख रामरूप जी ने 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' नहीं किया है। इस स्थान पर यह लिखना असंगत न होगा कि 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' में चरनदास की व्यक्तिगत साधना, चमत्कारों और जीवनी पर अधिक जोर दिया गया है। इस प्रकार के वर्णनों का सर्वथा अभाव है।

इन बावन प्रमुख शिष्यों के उल्लेख के अनन्तर श्री रूपमाधुरीशरण जी ने (अपने अप्रकाशित ग्रन्थ) 'गुरु-महिमा' में इकत्तीस अन्य शिष्यों का उल्लेख किया है जो साधना मार्ग पर दृढ़ता के साथ संलग्न रहने के कारण चरनदास जी को विशेष प्रिय थे। इनकी सच्चाई और लगन ने उन्हें चरनदास के विशेष निकट ला दिया था। उक्त 'गुरु-महिमा' ग्रन्थ से इन प्रमुख शिष्यों के नाम उद्धृत कर देना असंगत न होगा। ये नाम निम्नलिखित हैं :—

१. श्री हरि सेवक जी, २. श्री राम हेत जी, ३. श्री दोऊ राम दास जी, ४. श्री रामकरन जी, ५. श्री सुखराम जी, ६. श्री आसानन्द जी, ७. श्री अमरदास जी, ८. श्री निगमदास जी, ९. श्री हरिसरूप जी, १०. श्री राम सनातन जी, ११. श्री लालदास जी, १२. श्री स्वामी परमानन्द दास जी, १३. श्री मधुवन दास जी, १४. श्री हरीदास जी, १५. श्री गुरु सेवक जी, १६. श्री मुरली मनोहर जी, १७. श्री मुरली विहारी जी, १८. श्री राम गलतान जी, १९. श्री प्रेमदास जी, २०. श्री जुगलदास जी ब्रह्मचारी, २१. श्री प्रेमधन जी, २२. श्री सेवक दास जी, २३. श्री नन्दलाल जी, २४. श्री निरंजन दास जी, २५. श्री अतीत राम जी, २६. श्री हरिकृष्ण दास जी, २७. श्री सागर दास जी, २८. श्री भय्यादास जी, २९. श्री हरिदास जी, ३०. श्री गिरधरदास जी, ३१. श्री ध्यानेश्वर जोगजीत जी।

इन इकतीस शिष्यों में से भी किसी का उल्लेख 'गुरु-भक्ति-प्रकाश' में नहीं हुआ है।

चरनदास जी के इन ८३ विशेष प्रिय शिष्यों में सभी हिन्दू हैं, कोई मुसलमान नहीं है। वर्तमान महन्त श्री गुलाबदास जी का कथन है "कि इन ८३ में से कई एक शिष्य अन्त्यज वर्ग के थे।" वस्तुतः श्री सरस माधुरीशरण जी ने इस बात का कहीं पर उल्लेख गुरु-महिमा ग्रन्थ में नहीं किया है। नामों से इस प्रकार का भेद कर लेना असम्भव होगा।

ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास जी के शिष्यों का ब्यौरेवार उल्लेख या संख्या अज्ञात है। 'गुरु-महिमा' ग्रन्थ में केवल इन्हीं तिरासी शिष्यों का वर्णन है। चरनदासी-सम्प्रदाय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, मुसलमान सभी दीक्षित हुए। वर्तमान महन्त गुलाबदास जी का कथन है कि महाराज के जीवन-काल में सम्प्रदाय के शिष्यों में अन्त्यजों की संख्या अधिक थी। आज भी अन्त्यजों में अधिकतर कोरी और चमार चरनदासी-सम्प्रदाय के अनुयायी पाये जाते हैं। आज कुलीन शिष्यों की अपेक्षा अन्त्यज अनुयायियों की संख्या बहुत कम है। ऐसा प्रतीत होता है कि अन्त्यजों में धार्मिक एवं साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के सम्यक् प्रचार के अभाव में अन्त्यज शिष्यों की संख्या क्रमशः क्षीण होती जा रही है। वर्तमान काल में चरनदासी-सम्प्रदाय का प्रसार वैश्य वर्ण के भार्गव कुल में अधिक उपलब्ध होता है। इसके अनन्तर ब्राह्मण वर्ण में भी चरनदासियों की संख्या पर्याप्त है। क्षत्रियों में इनकी संख्या बड़ी हीन है। लखनऊ, बनारस, प्रयाग, दिल्ली, अलवर, अजमेर, उन्नाव तथा कानपुर चरनदासी अनुयायियों के केन्द्र हैं। चरनदासी गद्दियों के अध्यक्ष या महन्त भी अधिकतर भार्गव अथवा ब्राह्मण ही हैं। आज के चरनदासी अनुयायियों में अधिकांश बड़े धनी मानी व्यक्ति हैं। इस प्रकार यह सम्प्रदाय वर्तमान-काल में

अन्त्यजों अथवा दीन-हीन समाज का पोषक एवं पथ-प्रदर्शक न रहकर उच्च कुल का आभूषण बन गया है। इस बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में धर्म केवल एक विडम्बना-मात्र रह गया है। जब धर्म, शोषण में सहायक साधन के रूप में ग्रहण किया जा रहा है, इस समय चरनदासी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने भी अपने सम्प्रदाय के मूल सिद्धान्तों को शनैः-शनैः विकृत कर डाला है और उस महान् आत्मा द्वारा प्रचारित सत्यं, शिवं, सुन्दरं तथा निराकार ब्रह्म के उपदेशों को स्वेच्छानुसार अपने जीवन में बर्तते हैं।

आज चरनदासी सम्प्रदाय ह्रासोन्मुख सम्प्रदाय है। सद् प्रचारकों, विद्वान्-चिन्तकों, एवं प्रतिभावान् श्रद्धालु व्यक्तियों के अभाव में इसकी वही दशा हो रही है जो किसी भी सम्प्रदाय की हो सकती है। चरनदास ने जीवन पर्यन्त समता, एकता, सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रचार किया किन्तु आगे चलकर आज के जीवन में ये समस्त सिद्धांत पुस्तकों के पृष्ठों तक ही सन्निहित रह गए हैं। आज चरनदासियों में विषमता ने समता का स्थान ग्रहण कर लिया है और सत्य का सूर्य अस्त-गत है। आज चरनदासियों में ब्राह्मण, क्षयित्र, वैश्य, शूद्र का भाव सर्व प्रचारित है।

सम्प्रदाय में शिष्य बनाने की रीति—चरनदासी सम्प्रदाय में गुरु-दीक्षा के प्रति बहुत महत्व रखा गया है। इस सम्प्रदाय में यह सामान्य विश्वास है कि जिसने गुरु से उपदेश नहीं लिया और अपने आप ही ज्ञानवान् बन बैठा है उसकी ऐसी दशा होती है, कि जैसे गंगा पार करने के लिए गाय की पुच्छ त्याग कर बकरी की पूंछ ग्रहण करता है।[1] जो दीक्षित नहीं है उसका धर्मादिक किया हुआ सभी कुछ निष्फल जाता है। दीक्षा से हीन मानव मृत्यु प्राप्त करने पर पशु योनि को प्राप्त करता है।[2] गुरु-दीक्षा लेने में तिथि, वार, नक्षत्र, मास आदि का विचार नहीं करना चाहिए। जब भी सद्गुरु प्राप्त हो जाय तब ही कर लेना चाहिए।[3] महाकुलोत्पन्न समस्त यज्ञों में रत गुरु-दीक्षा के अभाव में कभी भी सफल नहीं हो पाता है। कृष्ण सेवा परायण, दंभादि रहित, श्रीभागवत के तत्व के ज्ञाता गुरु का जिज्ञासु शिष्य सदैव आदरपूर्वक सेवन करता रहे।[4]

१. गुरूपदेश रहितस्स्वीय प्रज्ञा समन्वितः।
धृताजपुच्छ संत्यक्त गोपुच्छ इव मज्जति॥ नारदपंचरात्रे ४४

२. अदीक्षितस्यवामोरु कृतं सर्वं निरर्थकम्।
पशुयोनिमवाप्नोति दीक्षाहीनोमृतोनरः॥ नारदपंचरात्रे ४५

३. न तिथिर्नच नक्षत्रं न मासादिविचारणा।
दीक्षायाः करणं तत्र स्वेच्छाप्राप्ते च सद्गुरौ॥ नारदपंचरात्रे ४८

४. कृष्णसेवा परं वीक्ष्य दंभादिरहितं नरम्।
श्रीभागवत-तत्वज्ञं भजेज्जिज्ञासुरादरात्॥ पद्मपुराण ४६

चरनदासी-सम्प्रदाय में दीक्षोत्सव बड़े उत्साह और बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है। सम्प्रदाय के विभिन्न उत्सवों में इसका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। जिस प्रकार कुल वा वंश में बालक उत्पन्न होने पर सभी प्रसन्नतापूर्वक अवसर को समारोह के साथ मनाते हैं, उसी प्रकार चरनदासी सम्प्रदाय में नव-दीक्षित व्यक्ति नवजात-बालक के समान सर्वप्रिय और समादरित होता है तथा सम्प्रदाय में उसका आगमन विशेष प्रसन्नता का अवसर माना जाता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय में दीक्षार्थी को 'शरणागत' कहा गया है। 'शरणागत' षट्विद्या माना गया है। सम्प्रदाय के आचार्यों का कथन है कि "शरणागत अनुकूल संकल्प करके प्रतिकूल का परित्याग कर दे। वह गुरु का ही मन में संकल्प करे। उसे गुरु की अभिरुचि, तथा इच्छा के प्रतिकूल समस्त वस्तु, व्यक्ति और प्रवृत्ति का परित्याग कर देना चाहिए। उसमें यह विश्वास होना चाहिए कि शरण में जाने पर गुरु मनसा, वाचा, कर्मणा उसकी रक्षा अवश्यमेव करेगा—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं करना चाहिए। उसमें यह धारणा दृढ़ होनी चाहिए कि गुरु ही उसके सदृश पतित व्यक्ति के रक्षक और उद्धारक हैं। इस समस्त विचारधारा के साथ उसे गुरु के चरण कमलों में अपना तन-मन-धन, सभी कुछ न्यौछावर कर देना चाहिए। शरणागत के हृदय में कृत-पापों तथा कुकर्मों के प्रति ग्लानि की भावना होना भी आवश्यक है।[१]"

दीक्षोत्सव-कर्म का श्रीगणेश क्षौर-कर्म से होता है। दीक्षार्थी, शरणागत में समस्त षट् आवश्यक बातों को देखकर अपने मन को सन्तुष्ट कर लेने के अनन्तर दीक्षार्थी शिष्य का क्षौर कर्म होता है। क्षौर के पश्चात् दीक्षार्थी स्नान करके गुरु के पास जाता है। गुरु उसे पंचगव्य देकर शुद्ध करता है। इसके अनन्तर गुरु, शिष्य के गले में तुलसी की कंठी बाँधता है। तुलसी की कंठी बंध जाने पर दीक्षा-क्रिया आधी समाप्त मानी जाती है। इसीलिए तुलसी की कंठी का बड़ा माहात्म्य माना गया है। चरनदासी-सम्प्रदाय में सामान्य विश्वास यह है कि "जो कंठ में तुलसी की माला धारण करते हैं, जिनके बाहुमूल में शंख और चक्र के चिह्न हैं, मस्तक पर तिलक वर्तमान है, वे संसार को पवित्र करने वाले होते हैं। तुलसी की माला को देखकर दूर ही से यमदूत भाग जाते हैं। ठीक उसी प्रकार यथा, पवन के प्रभाव से मेघ दूर हो जाते हैं। जो हेतुवादी पापबुद्धि तुलसी की माला नहीं धारण करते हैं वे श्रीहरि की

---

१. आनुकूलस्य संकल्पः प्रतिकूलस्य वर्ज्जनम्।
रक्षिष्यतीतिविश्वासो गोप्तृत्ववरणं तथा ॥
आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधाशरणागतिः ॥

कोपाग्नि से दग्ध होकर नरक से नहीं लौटते हैं। ब्राह्मण के लिए यथा संध्या है, गृहस्थों के लिए यथा पित्रीश्वरों का तर्पण आदि, यज्ञ में यथा दक्षिणा है, उसी प्रकार वैष्णवों के लिए यथा तुलसी की कंठी है। स्नान-काल में जिसके अंग में तुलसी की माला धारण रहती है, उसने गंगादिक सर्व तीर्थों में स्नान कर लिया है, इसमें सन्देह नहीं है।[1]" कंठी बांधने के अनन्तर गुरु शिष्य को मद्य, मांस, कंचन और कामिनी से दूर रहने, नित्य स्नान, मनसा शुद्ध रहने का उपदेश देता है। इसके अनन्तर दीक्षार्थी के सर पर स्वच्छ, श्वेतवस्त्र डाल कर गुरु-मंत्र सुनाता है। गुरु का दीक्षा-मन्त्र, दो प्रकार का होता है। प्रथम है, विरक्त शिष्यों के लिए जो आश्रम का परित्याग कर देते हैं। द्वितीय दीक्षा-मन्त्र वह है जो गृहस्थ को सुनाया जाता है। दीक्षा-मन्त्र का बड़ा माहात्म्य माना गया है। चरनदासी-सम्प्रदाय के महन्त दीक्षा-मन्त्र का महत्व प्रदर्शित करने के लिए प्रायः कहा करते हैं कि "यथा महान् गुणों से सम्पन्न बड़ी शक्तिवाली दवा बिना जाने भी सेवन करने से अपना गुण अवश्य प्रकट करती है, उसी प्रकार मन्त्र भी बिना अर्थ जाने जप करने से भी अपना निश्चय प्रभाव प्रकट करता है।[2]"

मन्त्र सुना देने के पश्चात् गुरु केसर और चन्दन का श्री-तिलक दीक्षार्थी के मस्तक पर लगा कर दीक्षा-क्रिया समाप्त करता है। इस श्री-तिलक का बड़ा माहात्म्य माना गया है। इसके अनन्तर दीक्षित शिष्य को पीले वस्त्र, पीली टोपी और पीला चोगा पहनाकर दीक्षोत्सव समाप्त किया जाता है। समारोह के अंत में

---

१. ये कंठलग्नतुलसी नलिनाक्षमाला ये बाहुमूलपरिचिह्नित शंखचक्रा।
ये वा ललाटपटलेलसदूर्ध्वपुंड्रास्ते वैष्णवा भुवनमाशु पवित्रयन्ति॥
तुलसी काष्टसंभूतां प्रेतरास्ये दूतकाः।
दृष्ट्वा नश्यंति दूरेण वातोद्भूतो यथा घनः॥
धारयन्ति न ये मालां हेतुकाः पापबुद्धयः।
नरकान्न निवर्तन्ते दग्धाः कोपाग्निनाहरेः॥
कठे शिरसि बाहुभ्यां कर्णयोः करयोस्तथा।
बिभृयात्तुलसीं यस्तु सज्ञयोः विष्णुनासम॥
ब्राह्मणानां यथा संध्या गृहिणां पितृतर्पणम्।
अदक्षिणो यथा यज्ञो मालाहीनातु वैष्णवा॥
स्नानकालेषु यस्यांङ्के दृष्यते तुलसीशुभे।
गंगादिसर्वतीर्थेषु स्नातो सः न संशयः॥

२. यथा गंदवीर्यतमुपयुक्तं यदृच्छया।
अजानतोप्यात्मगुणं कुर्यान्मंत्रोप्युदाहृतः॥

शिष्य गुरु के चरणों में मस्तक रख कर उसकी कृपा और दया के हेतु आत्मसमर्पण करता है । गुरु उसे धर्म और सन्मार्ग पर संलग्न रहने का उन्मुक्त कंठ से आशीर्वाद देता है ।

इसके अनन्तर शिष्य अपनी परिस्थिति के अनुसार दीन-हीनों के सहायतार्थ तथा सम्प्रदाय के प्रचारार्थ श्रद्धापूर्वक कुछ द्रव्य समर्पित करता है । इसी अवसर पर अर्धरात्रि तक कीर्तन तथा जागरण होता है और अंत में चरनदास की जय-ध्वनि के साथ उत्सव समाप्त होता है ।

सम्प्रदाय का वार्षिकोत्सव—चरनदासी-सम्प्रदाय की गद्दियों पर वर्ष भर में एक बार एक महान् उत्सव होता है । इस उत्सव को वार्षिकोत्सव कहा जाता है । यह वार्षिकोत्सव प्रत्येक वर्ष बसन्तपंचमी के दिन होता है जो चरनदास की जन्मतिथि है । इस दिन प्रत्येक गद्दी केले के पत्तों, पुष्पों, अगर-धूप तथा इत्रादि से खूब सुवासित किया जाता है । प्रातःकाल से ही कीर्तन होने लगता है और भजन मंडलियाँ चरनदास के भजनों का गान करती हुई नगर भर का परिक्रमा करती-फिरती हैं ।

प्रायः ग्यारह बजे दिन से हवन-यज्ञ प्रारम्भ होता है । इस हवन-यज्ञ में उच्चारित मंत्रादि वेदोक्त होते हैं । इस हवन-यज्ञ के पश्चात् फिर गद्दी की आरती होती है । गद्दी पर प्रायः प्रत्येक स्थान में चरनदास जी का चित्र रखा रहता है । इस चित्र पर पुष्प, चन्दनादि समर्पित करके पकवानादि का भोग लगाया जाता है ।

सायंकाल भंडारा और कड़ाह प्रसाद होता है । भंडारा के पूर्व चरनदास जी के जीवन-चरित्र, चमत्कारों तथा सिद्धांतों पर महन्तों के प्रवचन और भाषण होते हैं । तदनन्तर प्रसाद वितरण होता है । रात्रि में तीन-चार-सौ व्यक्तियों का भंडारा होता है । इस अवसर पर पहले सभी जातियों के शिष्य साथ ही बैठ कर भोजन करते थे । कोई जाति-भेद नहीं माना जाता था, परन्तु अब यह स्थिति नहीं रही । आज प्रत्येक वर्ण पृथक्-पृथक् प्रसाद पाते हैं ।

वार्षिकोत्सव में व्यय होने के लिए केन्द्रीय गद्दी (दिल्ली) से प्रत्येक गद्दी को आर्थिक सहायता प्राप्त होती थी । परन्तु अब जमींदारी-उन्मूलन के अनन्तर स्थिति विकृत हो गई है । जागीरों से धन न प्राप्त होने के कारण सम्प्रदाय के प्रचार-कार्य और वार्षिकोत्सव को बहुत बड़ी क्षति पहुँचने की आशंका है । प्रायः इन उत्सवों के आयोजन के लिए शिष्यों से भी धन प्राप्त हो जाता है । परन्तु इसके लिए कोई प्रतिबंध और दबाव नहीं डाला जाता है । श्रद्धा की वस्तु में नियंत्रण कहाँ सफलीभूत हो सकता है ?

सम्प्रदाय के निषेधात्मक नियम—सम्प्रदाय में प्रत्येक शिष्य को कुछ विशेष नियमों का पालन करना अनिवार्य रहता है। इन नियमों के दो प्रकार हैं। प्रथम निरोधात्मक नियम हैं। प्रत्येक शिष्य को दश कर्मों का परित्याग करना चाहिए, ये दश कर्म लेखक को वर्तमान महन्त से छन्दबद्ध रूप में प्राप्त हुए। उन्हें यहाँ अविकल रूप से उद्धृत कर देना रोचक होगा :—

तीन कर्म तन के कहे, समझो सन्त सुजान।
चोरी जारी जीवकी, हिंसा की तजवान॥
मन के कर्म सो तीन है, तिनको त्यागै जान।
खोटी चितवन बैरही, अरु कहियत अभिमान॥
मिथ्या बोलन दुरबचन, हरिचरचा बिन आज।
परनिन्दा नहि कीजिए, बचन कर्म पहचान॥

दुर्व्यसन परित्याग के सम्बन्ध में :—

भंग तमाखू अरु अमल, सुल्फा चर्स प्रमाद।
इनको पीवे अधम नर, जन्म गुमावे बाद॥
लहसन गाजर प्याज पुनि, कहियत दाल मसूर।
ये अभक्ष्य वस्तू कही, इनसों रहिये दूर॥
काम क्रोध अरु मोह मद, लोभ दीजिए त्याग।
शुभ लच्छन धारन करै, भक्ति ज्ञान वैराग॥

चरनदास जी के इन उपदेशों को सुन्दर शब्दों में छन्द-वद्ध करने वाला कौन कवि हैं, यह तो नहीं ज्ञात है; पर परम्परा से ये दोहा उपदेश के रूप में सहस्रों बार शिष्यों को सुनाये जाते हैं। इसी प्रकार सम्प्रदाय में कतिपय नियम हैं जिनका पालन करना प्रत्येक शिष्य के लिए अनिवार्य है। इन नियमों को भी यहाँ अविकल रूप से उद्धृत किया जा रहा हैं :—

श्रीगुरु पद बन्दन करे, उठत प्रात ही काल।
आचारज निज सम्प्रदा, श्री शुकमुनी दयाल॥
पुनि बंदन कर प्रेमयुत, चरनदास हित भान।
रस आचारज संप्रदा, जिनको करिये ध्यान॥
श्री गुरु भक्तानन्द जी, स्वामी रामहि रूप।
प्रन में तिनके पद कमल, आनन्दमई अनूप॥
परम्परा से आदिले, आश्रित गुरु परियंत।
प्रथक प्रथक बहु भांति सों, वन्दन को अनन्त॥

आचारज भूतल विषे, कुंज सहचरी रूप।
लखे रूप की एकता, भावहि माँहि अनूप॥
कंठमाल तुलसी लसे, सो निरखे निज नैन।
गावे पद श्री गुरुन के, श्री जमुना रस ऐन॥
मंगल आदिक आरती, गावे हिय हुलसाय।
सरस माधुरी रीति यह, किये प्रेम सरसाय॥
पाछे निजकृत देहकर, पुनि कीजे अस्नान।
रचे तिलक निज अंग मे, शुभ द्वादश स्थान॥
श्री तिलक मस्तक रचे, चिह्न चन्द्रिका भाल।
पीताम्बर अंग अरना, ओढ़े होय निहाल॥
सेवा राजस मानसी, गुरु को देइ बताय।
सावधान हो कीजिए, तन मन प्रेम लगाय॥
प्रथम आचमन तीन करि, बैठे आसन आय।
भूमि देह निज शुद्धि हित, मंत्रित जल छिरकाय॥
ताके पीछे कीजिए, बिधिवत प्राणायाम।
बहुरि कीजिए ध्यान ही, श्रीमत श्यामा श्याम॥
मौन होय फिर जप करे, श्रीगुरु मंत्र सुमाल।
बास अमरपुर को लहै, छूटै जग जंजाल॥

इसी प्रकार चरनदासी-सम्प्रदाय में चरनदासी के बयालीस कर्तव्य माने गए हैं। ये कर्तव्य निम्नलिखित हैं:—

१. गुरुनिष्ट एवं आज्ञाकारी होना, २ साधु सेवा परायण होना, ३. सम्प्रदाय सिद्धांतों का ज्ञान प्राप्त करना, ४. कंठी, तिलक निष्ठा, ५. परत्रिया, परधन निषेध, ६. हरि, गुरु, जन्म-कर्म उत्सव करने की दृढ़ भक्ति, ७. जाती-विजाती परीक्षा, ८. सजाती का सत्संग और विजाती का परित्याग करना, ६. गुरु-वाणी का नित्य पाठ, १०. गुरु मंत्र में दृढ़ निष्ठा, ११. सद्शास्त्र का आज्ञावती होना, १२. विश्वासघात, मिथ्यावाद का परित्याग, १३. अन्नवस्त्रादि का यथा-शक्ति दान, १४. नित्य नियम किये बिना अन्न जल न ग्रहण करना, १५. भगवत अनर्पित वस्तु भक्षण-परित्याग, १६. साधु-गुरु सेवा, १७. परनिन्दा, परद्रोह-परित्याग, १८. निरभिमान रहना तथा सबसे प्रेमपूर्ण आचरण करना, १६. यथा लाभ, सन्तोष, भगवत इच्छा में प्रसन्न रहना, २०. जगत को अनित्य मानना, २१. मादक-द्रव्य परित्याग, २२. हिंसा से दूर रहना, २३. दुर्वचन-परित्याग, २४. कपट, छल, अहंकार, दुराग्रह-परित्याग, २५. कथनी जैसी करनी,

२६. नामापराध-त्याग, २७. सेवापराध-त्याग, २८. श्री इष्टदेव-दर्शन का नियम, २६. मान-बड़ाई परित्याग, ३०. अनन्यता व्रत रखना, ३१. जो भाव गुरु से प्राप्त हुआ हो, उसी भाव से प्रकट एवं मानसी पूजा करना, ३२. तन-मन से परोपकारी बनना, ३३. आत्मवत् सर्वभूतेषु मानना तथा ३४. संसार को क्षीण मानना।

सम्प्रदाय के परम्परागत आचार-विचार—सम्प्रदाय के परम्परागत आचार-विचारों का सूक्ष्म आभास नित्य-नियम निषेधात्मक नियम आदि प्रसंगों में आ चुका है; परन्तु इनके अतिरिक्त अन्य कतिपय प्रसंग अवशेष हैं जिनका सम्प्रदाय की विचार-धारा पर बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। और इसीलिए उनका सविस्तार उल्लेख आवश्यक है। इन विषयों वा प्रसंगों में वेशभूषा सर्वप्रथम है।

चरनदासी-सम्प्रदाय में शिष्यों की वेशभूषा दो प्रकार की होती है। प्रथम गृहस्थ-शिष्यों की और द्वितीय विरागी-शिष्यों की। गृहस्थ-शिष्य सामान्य गृहस्थों की भांति धोती, कुरता और जूता पहनते हैं। इन सम्प्रदाय में चमड़े का जूता पहनना वर्जित तो नहीं है परन्तु फिर भी लोग जहां तक हो सकता है उनके उपयोग के स्थान पर बिना चाम के जूतों का उपयोग करते हैं। इसके अतिरिक्त सम्प्रदाय के शिष्यों का पगड़ी पहनना भी आवश्यक है। कुछ शिष्य स्वेच्छा से दाढ़ी रख लेते हैं। पर इसके विषय में कोई साम्प्रदायिक नियंत्रण नहीं है। कुरता और पगड़ी का रंग अनिवार्यतया हलका पीला होना चाहिए। जाड़े में शिष्य किसी रंग का ऊनी या रूई का कोट पहन सकते हैं; परन्तु साथ ही पगड़ी का प्रयोग अनिवार्य है। वेशभूषा-विषयक युद्धोत्तर कठिनाइयां इस सम्प्रदाय के शिष्यों को बहुत झेलनी पड़ी हैं परन्तु फिर भी उनकी पगड़ी का प्रयोग किसी प्रकार नहीं छूटा है। सत्य है, कठिनाइयां श्रद्धा और विश्वास की कसौटी हुआ करती हैं।

विरागी या साधु शिष्यों की वेशभूषा साधारण विरागियों की-सी होती है। पगड़ी, रंग अथवा अन्य किसी वस्तु-विशेष का प्रतिबन्ध विरागी शिष्यों के लिए नहीं निर्धारित किया गया है। इस विषय में कारण पूछने पर वर्तमान महन्त ने कहा कि, जो संसार का ही त्याग कर चुका है उसे नियंत्रणों में बाँधने से फायदा क्या है? अतएव विरागी शिष्य की कोई निश्चित और निर्धारित वेशभूषा नहीं है।

कमंडल और श्री-तिलक का अनिवार्य रूप से धारण करना दोनों ही प्रकार के शिष्यों के लिए निश्चित है। तिलक तो साम्प्रदायिक आचार का सबसे महत्वपूर्ण अंग है। इसलिए इसका धारण करना अनिवार्य ही है। कमंडल धारण करने का एक विशिष्ट लक्ष्य है। यात्रादि में स्वच्छ, शुद्ध या पवित्र जल प्राप्त करने के लिए तथा स्वावलम्बी बनने के लिए व्यक्ति को कमंडल धारण करना आवश्यक है।

सम्प्रदाय के त्यौहार—सम्प्रदाय में हिन्दू धर्म के प्रायः सभी महत्वपूर्ण

त्यौहार मनाये जाते हैं। होली, दीवाली, विजयादशमी, गंगास्नान इन त्यौहारों में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त चरनदास की जन्मतिथि और दिवंगत तिथि भी त्यौहार के रूप में ही मनाई जाती है। अंतिम दो त्यौहार जिनका सम्प्रदाय के प्रवर्तक से विशेष निकट सम्बन्ध है विशेष उत्साह और मनोयोग से मनाये जाते हैं। इन दोनों उक्त अवसरों पर भंडारा और कड़ाह-प्रसाद होता है।

सम्प्रदाय में प्रणाम करने की विधि—सम्प्रदाय में प्रणाम करने की दो विधियाँ प्रचलित हैं। जब कोई शिष्य अपने से वयोवृद्ध व्यक्ति, महन्त अथवा दीक्षा-गुरु से मिलता है तो वह साष्टांग प्रणाम करता है। चाहे वह मार्ग हो अथवा भवन, जहाँ भी दर्शन होते हैं उसे साष्टांग प्रणाम करना चाहिए। दूसरे समान-वय वाले जब एक-दूसरे से मिलते हैं तो दोनों हाथों को जोड़ कर जय गुरु या जय महाराज कहते हैं।

सम्प्रदाय में भिक्षा वृत्ति—चरनदासी-सम्प्रदाय में शिष्यों द्वारा भिक्षा याचना वर्जित है। सामान्य विश्वास है कि जो ब्रह्म जन्म देता है वही पोषण की चिन्ता भी करता है। अतः भिक्षा-याचना इस दृढ़ विश्वास के प्रति विद्रोह है। चरनदासी-शिष्य को भिक्षा-मांगना इसी दृष्टि से मना है। यदि कोई दाता स्वेच्छा से कुछ भी श्रद्धावश दान करता है तो उसे ग्रहण करने में कोई हानि भी नहीं मानी गई है।

सम्प्रदाय में सूतक निर्णय—सम्प्रदाय में सूतक-विषयक निर्णय का आधार-ग्रन्थ पराशर स्मृति है। इस स्मृति के आधार पर ही सम्प्रदाय में सूतक का निर्णय चिरकाल से प्रचलित है।

संतान जन्म के समय दश दिन अशौच रहता है। दूध पीने वाले बालक के मरने पर दिन भर का अशौच रहता है। आठ-दश वर्ष के बच्चे की मृत्यु पर ३ दिन का अशौच माना जाता है। दश से अधिक अवस्था वाले की मृत्यु पर दश दिन का अशौच माना गया है।

स्त्री-शौच में ब्राह्मण दश दिन से शुद्ध हो जाता है। क्षत्रिय बारह दिन में शुद्ध होता है। वैश्य की शुद्धि पन्द्रह दिन में और शूद्र एक मास में शुद्ध होता है।[१]

दांत जम जाने पर या चूड़ाकर्म हो जाने के अनन्तर यदि बालक की मृत्यु हो जाय तो उसका अग्नि-संस्कार करना चाहिए तथा तीन दिन तक अशौच मनाना चाहिए। बिना दांत के बालक की मृत्यु पर केवल स्नान से ही नित्य शुद्धि हो

१. जातौविप्रौ दशाहेन द्वादशाहे भूमिपः।
वैश्यः पंचदशाहेन शूद्रो मासेन शुद्ध्यति॥

जाती है। चूड़ाकर्म से पहले ही बालक के मर जाने पर एक दिन में शुद्धि हो जाती है। यज्ञोपवीत बिना हुए तीन दिन के अनन्तर शुद्धि होती है और यज्ञोपवीत हो जाने पर दश दिन में।[1]

जो द्विज पवित्र भाव से व्रत और यज्ञ करता है वह केवल मंत्र-जाप से ही पवित्र हो जाता है। नित्य अग्निहोत्र करने वाले ब्राह्मण तथा राजा को सूतक-स्पर्श नहीं करता है। वह स्नान मात्र से पवित्र हो जाता है।[2]

यह सूतक-निर्णय आज चरनदासी सम्प्रदाय में पूर्णरूप से प्रचलित है। इसमें ध्यान देने योग्य कुछ बातें हैं। प्रथम सूतक निर्णय में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र का भेद-भाव किया गया है। चरनदास ने जीवन-पर्यन्त इस भेद-भाव के विरुद्ध उपदेश दिया है। उनका साहित्य भेद-भाव विषयक कटु-आलोचनाओं से भरा पड़ा है। फिर इस सूतक-निर्णय में जाति-भेद का प्रतिवाद क्यों किया गया है। इससे यह निश्चय हो जाता है कि यह सूतक-निर्णय बाद का विकास है। यह निश्चय ही चरनदास द्वारा प्रतिपादित नहीं है। चरनदासी-सम्प्रदाय आज इस प्रकार के अभिशापों से भले ही ग्रस्त हो पर पहले नहीं था।

अन्त्येष्टि क्रिया—चरनदासी-सम्प्रदाय में उन्हीं अन्त्येष्टि क्रियाओं को मान्यता प्रदान की गई है जो सनातन धर्म में मान्य है। जिन छोटे बालकों का चूड़ाकर्म नहीं होता है उनकी अन्त्येष्टिक्रिया जल-प्रवाह के रूप में होता है। जिनका चूड़ाकर्म हो जाता है वे मृत्यु प्राप्त होने पर गाड़ दिये जाते हैं और जिनका यज्ञोपवीत हो जाता है उनका, मृत्यु प्राप्त होने पर दाह-संस्कार होता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय में दिवंगत की शांति के लिए घट भरना या श्राद्ध करना नहीं प्रचलित है। सम्प्रदाय में आवागमन-सिद्धांत मान्य न होने के कारण तेरही, वर्षी, श्राद्ध आदि के प्रति महत्व नहीं दिया जाता है। दाह-संस्कार अथवा प्रवाह-संस्कार गंगा जी में उत्तम समझा जाता है।

मृत्यु के सत्रह दिन बाद सत्रहवीं मनाई जाती है। सत्रहवीं के दिन हवन और भंडारा होता है। इसके पश्चात् रात्रि के समय सब शिष्य एकत्र होकर दिवंगत आत्मा की शांति और मोक्ष के लिए चरनदास जी से प्रार्थना करते हैं।

---

१. दंतजातेऽनुजाते च कृतचूडे च संस्थिजो।
अग्निसंस्कारणं तेषां त्रिरात्रमशुचिर्भवेत्॥
आदंताज्जन्मतः सद्य आचूडानैशिकीस्मृता।
त्रिरात्रमाव्रतादेशाद्दशरात्रमतः परम्॥

२. सव्रतोमंत्रपूतश्च आहिताग्निश्च यो द्विजः।
राज्ञश्चसूतकं नास्ति यस्य चेच्छति पार्थिवः॥

सम्प्रदाय में व्रत और जागरण का माहात्म्य—सम्प्रदाय में किसी विशेष व्रत का पालन करने का नियम नहीं है। फिर भी अधिकतर शिष्य एकादशी, महाशिवरात्रि, कृष्ण जन्माष्टमी तथा रामनवमी का व्रत रखते हैं। इन सभी व्रतों में एकादशी का बड़ा माहात्म्य माना जाता है। एकादशी का माहात्म्य वर्तमान महन्त से निम्नलिखित रूप में उपलब्ध हुआ है। परन्तु ध्यान रखना चाहिये कि इसकी कोई साम्प्रदायिक मान्यता नहीं है:—

ग्यारस व्रत से ऐसे रहिये। जैसे धर्म नीक को चाहिये॥
सांचा व्रत बताऊ तो ही। गुरु शुक देव बताया मोही॥
नवमी नेम करे चितलाई। दशमी संयम युक्ति बताई॥
ग्यारस व्रत बताऊं नीका। सबही व्रत शिरोमणि टीका॥
निर्जल करे नीर नही परसै। पोह फाटे जब सूर्य दरसै॥
एक पहर के तड़के जागै। जब ही सुमरण करने लागै॥
करे विचार शुद्ध कर काया। जाकर बैठे भवन मझाया॥
कोठे के पट देकर राखै। नर नारी सों बचन न भाखै॥
कुंड काढ़ बैठे तिहि माहीं। ताकै बाहर निकसे नाहीं॥
कर आवाहन आसन मारे। व्रत करै वैराग्वहि धारे॥
जब गुरुमंत्र और हरिध्याना। जाको नेक नही विसराना॥

जो तेरे गुरु ने कहा, जाका करतु ध्यान।
बैठो अस्थिर नौ पहर, करो व्रत पहचान॥
व्रत करै त्योहार सा, नाना रस के स्वाद।
भोग करै तप ना करै, सब करनी बरबाद॥

पांचों इन्द्री व्रत करीजै। पलक झांप नैनन पट दीजै॥
इत उत मनवा नांहि चलावै। आंखन को नही रूप दिखावै॥
श्रवण शब्द न खईये भाई। त्वचा स्पर्श न अंग लगाई॥
षटरस स्वाद न जिह्वा दीजै। नासा गन्ध सुगन्ध न लीजै॥
ऐसा व्रत करे सो वर्ता। मुक्त होय ग्यारस का कर्ता॥
ऐसा व्रत उतारे पारा। छौनां तिरत लगे नहिं बारा॥
बहुर द्वादशी बाहर आवै। अपनी श्रद्धा मंन भुगतावै॥

श्री चरनदास के समय में व्रतादि रखने का प्रचलन था अथवा नहीं, इसके सम्बन्ध में महन्त जी से कोई प्रामाणिक सूचना नहीं मिल सकी है।

सम्प्रदाय में सतुगुरु—निर्गुण-पंथ में सतुगुरु के महत्व का बड़ा व्यापक गान हुआ है। कबीर ने उसे गोविन्द से भी शक्तिशाली माना है। चरनदास के

सत्‌गुरु सम्बन्धी विचारों का उल्लेख दार्शनिक विचारधारा के विवेचन के साथ हो चुका है। चरनदासी-सम्प्रदाय में भी सत्‌गुरु का बड़ा माहात्म्य माना गया है। सत्‌गुरु रहस्य का उद्‌घाटक है। वह अज्ञान-अंधकार का निवारक है। वह हरिनाम-रूपी पोत का कुशल केवट है। वह घट, औघट, दुर्गम और सुगम सभी मार्गों का ज्ञाता है। वह गोविन्द और सन्त की ही प्रतिमूर्ति है। उसके निर्देशन में संसार की कोई भी वस्तु दुर्लभ नहीं है। वही आवागमन से मोक्ष दिलाने वाला है। गुरु कायिक, मानसिक तथा भव-तापों को विनष्ट करके अक्षय आनन्द की वर्षा करता है। वही दैवी आपत्तियों से शिष्य की रक्षा करता है।

चरनदासी-सम्प्रदाय में गुरु को आचार्य भी कहा गया है। सम्प्रदाय का आचार्य स्वतः धर्माचरण करता हुआ अन्यों को शास्त्र प्रतिपादित सिद्धान्त मार्ग पर अग्रसर करता है। शास्त्र के तत्वों से परिचित होने के कारण तथा चराचर की समता से एवं यमादियोग की सिद्धता से उनको आचार्य कहना उचित भी माना गया है।[1]

सम्प्रदाय में शिष्य की दिनचर्या—चरनदासी-सम्प्रदाय में अनुयायी की दिनचर्या बड़े ही रोचक ढंग से निश्चित की गई है। यह दिनचर्या जहाँ तक साम्प्रदायिक दृष्टि से महत्वयुक्त है, वहाँ इसका स्वास्थ्य और जीवन के लिए भी उपयोगिता है। यह दिनचर्या वर्तमान महन्त के द्वारा लेखक को प्राप्त हुई। चरनदासी-शिष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है ब्राह्म-वेला में जग जाना। जो शिष्य सूर्योदय से पूर्व नहीं जग जाता वह मोक्ष का अधिकारी नहीं। चरनदास जी ने भक्तिसागर में स्वतः लिखा है :—

> जागैना पिछले पहर, करे न हरि मुख जाप।
> पोह फटे सोवत रहे, ताको लागत पाप॥
> जन्म छूटै मरना छुटै, आवागमन छुट जाय।
> एक पहर की रात सों, बैठा हो गुणगाय॥—भक्ति सागर

श्रीमद्‌भागवत में भी ब्राह्मवेला में जगने के प्रति बड़ा महत्व प्रदर्शित किया गया है :—

---

[1] स्वयमाचरते शिष्यानाचारे स्थापयत्यपि।
आचिनोति हि शास्त्रार्थमाचार्यस्ते न कथ्यते॥
आम्नायतत्वविज्ञानाच्चराचरसमानतः।
यमादियोगसिद्धत्वादाचार्यस्ते न कथ्यते॥

उत्थायापररात्रान्ते प्रयताः सुसमाहिताः ।
स्मरन्ति मम रूपाणि मुच्यन्ते ह्येनसोऽखिलात् ॥

—श्रीमद्भागवत, अष्टम स्कन्ध, चतुर्थ अध्याय, श्लो० २४

अतएव ब्राह्म-वेला में उठकर शिष्य कुल्ला करके, हाथ पैर धोकर, सद्गुरु, ब्रह्म और उसके द्वारा विरचित प्राकृतिक तत्व सूर्यचन्द्रादि की स्तुति करे ।

सप्तम अध्याय

चरनदास की काव्य-दृष्टि

काव्य का जन्म अथवा उद्भव किस प्रकार एवं किन परिस्थितियों में होता है, यह एक विचित्र एवं कौतूहलवर्द्धक प्रश्न है। कभी-कभी पाठक आश्चर्य से चकित होकर सोचता है कि इतने सुन्दर भाव, इतने रमणीय विचार, इस प्रकार की अमर कल्पनाएँ, इतनी दिव्य एवं स्मरणीय सूक्तियाँ, इतनी सरलता से कैसे लिखी जाती हैं। अपनी भावनाओं को कलात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए कवि को न जाने कितना सोचना पड़ता होगा और एकांत में बैठ कर एकाग्रता के साथ कितनी गंभीर साधना करना पड़ता होगा। काव्य को जन्म देने वाला कलाकार भी प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ ही नहीं वरन् असफल होगा। भावोद्रेक होते ही उनके प्रबल प्रवेग को वह रोक नहीं पाता है। चन्द्र की सुरम्य ज्योत्स्ना में, बालारुण की विकासोन्मुख प्रभा में, विद्युत की दमक में, प्रकृति के दिव्य क्रोड में विचरते हुए कवि के हृदय में मनोहारी काव्य स्वतः अपने रूप का निर्माण कर लेता है। परन्तु कवि हो या महाकवि इसके उद्रेक का वैज्ञानिक कारण बताने में वह असमर्थ है। मानस के प्रारम्भ में लिखित महाकवि तुलसीदास का निम्नलिखित कथन पठनीय प्रतीत होगा :—

"कवित विवेक एक नहि मोरे, सत्य कहौ लिखि कागद कोरे।"

"कवित विवेक एक नहि मोरे" को स्वीकार करने वाले महाकवि तुलसीदास ने मानस जैसे महाकाव्य की रचना करके इस रहस्य का उत्तर बड़ी ही रहस्यपूर्ण शैली में दे दिया है। कविता के सर्वप्रथम जन्मदाता आदि कवि वाल्मीकि थे। क्रौंच के दुःख से कातर आदि कवि के हृदय तथा नेत्रों से काव्य एवं अश्रु की धारा एक साथ बह निकली थी। संसार में कविता की सृष्टि उस समय से आरम्भ हो गई होगी जब करुणा, आकर्षण और आत्मसमर्पण की तीनों भावनाओं ने कवि के हृदय में एक ऐसी विह्वलता भर दी होगी जिसे वह अपने हृदय में संभाल नहीं सका होगा और ये तीनों भावनाएँ त्रिवेणी की भाँति एक होकर भाषा के पथ पर बढ़ी होंगी। सच तो यह है कि घटना या परिस्थितियाँ जब मन पर आघात करती हैं और जीवन की यह वास्तविकता कला का आधार खोजने लगती है, तभी काव्य का जन्म

होता है। भावों के क्रम में कल्पना इसी स्तर पर बिना प्रयास आगे बढ़ने लगती है। इस स्तर पर चित्र वैसे ही पूर्ण हो जाता है जैसे शैशव के कोमल-क्षणों में यौवन की मादकता आ जाती है। जिस प्रकार समय की गति अप्रतिहत रूप से बिना किसी को जतलाए हुए चलती जाती है और हम चौंक कर कह देते हैं कि अरे, इतनी जल्दी इतने वर्ष बीत गए, उसी तरह कविता शैशव की चपलता से उठकर अनायास यौवन में सुसज्जित हो जाती है। यहाँ मैं उन कवियों की बात नहीं कहता जो यमक को जमाने के लिए या श्लेष का प्रवेश कराने के लिए शब्दों की बनावट और उनकी ध्वनि को मन की तराजू पर तौलते रहते हैं और शब्दों की प्रदर्शिनी सजाने के लिए घंटों प्रयास करते हैं। जो कविता का वरदान उसके स्वाभाविक रूप में पाते हैं, वे तो कविता में उसी प्रकार बहते चले जाते हैं जैसे दीप-दान में संजोया हुआ दीपक, प्रवाह में नाचता हुआ चला जाता है।[1] कविता का परिश्रम से कोई भी सम्बन्ध नहीं है। कविता निर्झर के समान हृदय से फूट निकलती है। परिश्रम-साध्य कविता (Labuored Composition) उसी प्रकार की क्रिया है जैसे घास काटने का काम। उद्धव के प्रति कथित गोपियों के प्रस्तुत कथन में यदि "प्रेम कथा" शब्द के स्थान पर काव्य शब्द रख दिया जाय तो परिश्रम-साध्य काव्य की निःसारता प्रकट हो जायगी :—

> "हम ते हरि कबहूँ न उदास,
> तुमसों प्रेम कथा को कहिबो मनहुँ काटिबो घास ॥"

काव्य-रचना और काव्य के जन्म के विषय में गोस्वामी जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ पठनीय हैं :—

> हृदयसिन्धु मति सीप समाना। स्वाती सारद कहहि सुजाना।
> जो बरषै बरबारि विचारू। होहि कवित मुक्ता मनि चारू ॥

साहित्य (काव्य) जीवन का सुसंस्कृत एवं साध्य रूप है। साहित्य का आधार मानव जीवन है। साहित्य, जीवन की आलोचना एवं मापदंड है। साहित्य के प्रयोजन एवं जीवन के हेतु में बड़ा साम्य है। साहित्य के प्रयोजन के विषय में आचार्यों में मतभेद है। आचार्य मम्मट के अनुसार "काव्य का प्रयोजन यश, द्रव्य, व्यवहार ज्ञान, दुखनाशादि[2] के लिए तथा भामह के मत से काव्यधर्म, अर्थ, काम

---

१. विचारदर्शन, पृष्ठ ६५

२. काव्यं यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ॥—काव्यप्रकाश

और मोक्ष का साधन है।"[1] भामह के दृष्टिकोण से साम्य रखता हुआ मत साहित्य-दर्पणकार का है।[2] भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त आदि विचारक नैतिकता एवं धार्मिकता के विकास के लिए इसे प्रयोजनीय नहीं मानते हैं। पाश्चात्य लेखक स्पिनगार्न के मत से "काव्य का उद्देश अभिव्यक्ति है।"[3] ब्रेडले के मत से "काव्य स्वयं अपना साध्य है वह धर्म संस्कृति, शिक्षा आदि का साधन नहीं है।" टाल्सटाय, नीति और धर्म को काव्य की कसौटी मानते हैं।[4] टी० यस० ईलियट के अनुसार "कविता का नैतिकता, धार्मिक भावना और संभवतः राजनीति से भी कुछ सम्बन्ध है अवश्य, यद्यपि हमें नहीं ज्ञात है कि वह सम्बन्ध क्या है। मैथ्यू आर्नाल्ड, "नैतिकता के प्रति विद्रोही एवं उदासीन काव्य को जीवन के प्रति विद्रोही और उदासीन मानता है।" आई० ए० रिचर्ड्स का मत अंशतः मम्मट से मिलता है।[5] पाश्चात्य विचारक प्लेटो, आरिस्टाटिल, होरेस, दांते, मिल्टन एवं भारतीय विचारक भरत, आनन्दवर्धन एवं अभिनव गुप्त से अधिक निकट है। स्पष्ट है कि एक वर्ग नैतिकता को काव्य का प्रयोजन मानता है और द्वितीय इसके विरुद्ध है। एक वर्ग स्वांतः सुखाय काव्य को प्रयोजनीय मानता है, दूसरा वर्ग बहुजन हिताय। जो भी हो, काव्य हमारी अनुभूतियों को तीव्र करने के लिए अत्यधिक प्रयोजनीय है।

भारतीय एवं पाश्चात्य विद्वानों के काव्यादर्श एवं काव्य प्रयोजन का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि हिन्दी के संत कवियों में से किसी ने उपर्युक्त आदर्शों एवं प्रयोजनों में से एक को भी नहीं स्वीकार किया। संतों के काव्य से स्पष्ट है कि उन्हें लौकिक ऐश्वर्य एवं यश की लालसा नहीं थीं। संतों ने काव्य का कोई प्रचलित आदर्श नहीं ग्रहण किया। सन्तों ने रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह और क्रान्ति की। काव्य, काव्य-शास्त्र, छन्द, पिंगल आदि के नियमों का न उन्होंने अध्ययन किया था, न इनके प्रति इन सब की कोई आस्था ही थी। इसके विरुद्ध उन्होंने काव्य और काव्य-शास्त्र के अन्य आवश्यक तत्वों की निन्दा एवं आलोचना की। परन्तु काव्य-शास्त्र के नियमों से अनभिज्ञ भी काव्य की रचना कर सकता है, यह बात सन्तों ने प्रमाणित कर दी। सन्तों ने यह सिद्ध कर दिया कि भाव ही काव्य की आत्मा है और जब काव्य की आत्मा दृढ़ और उच्च है-तब फिर वाह्यावरण और अन्य उपकरण

१. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसभुद्‌भूतं विगलितवेद्यांतरमानन्दं।—'सिद्धांत और अध्ययन,' पृष्ठ ४५

२. सिद्धांत और अध्ययन, पृष्ठ ४५

३. संत दर्शन, पृष्ठ २०७

४. वही, २०७

५. वही, २०८

स्वतः जुट जाँयगे। संतों ने काव्य की रचना सचेष्ट होकर नहीं की, न उन्होंने काव्यशास्त्र का अध्ययन ही किया था। ध्यानपूर्वक संत-साहित्य का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है कि संतों के साहित्य में उनके काव्यादर्शों की अभिव्यक्ति हुई है। सन्तों ने काव्य को कला की दृष्टि से नहीं देखा। न उन्होंने कवि को समाज का सम्मान्य व्यक्ति ही माना है, पर उन्होंने काव्य को स्वभावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। संतों के सरदार कबीर ने कवि और कविता के विषय में कुछ अधिक नहीं कहा है, पर वे समाज में कवि को सम्मान्य व्यक्ति नहीं मानते हैं कारण कि वह तत्व को त्याग कर सारहीन पदार्थों में रमा रहता है। कबीर कवि को मृतात्मा समझते थे।[१] कबीर काव्य-लेखन को व्यर्थ परिश्रम समझते थे। उनकी दृष्टि में वही वास्तविक कवि है जो ब्रह्म के साक्षात्कार का गायन अथवा रचना करे।[२] उन्होंने स्पष्ट कहा कि "पढ़ि-पढ़ि पोथी जग मुआ पंडित भया न कोई।" गुरु नानक सब्दी और साखी रचना को ब्रह्म के प्रति वास्तविक प्रीति स्थापित करने में बाधक मानते हैं। उनके मत से शब्दों तथा साखियों में अभिव्यक्त प्रेम वास्तविक नहीं है, वह केवल वाह्य दिखावा है। छन्दों में हृदय के सच्चे भाव की सच्ची अभिव्यक्ति नहीं है।[3] मलूक के अनुसार वही काव्य श्रेष्ठ है जिसमें ब्रह्म की महत्ता वर्णित हो।[४] जगजीवन के मत से पुराणों का पारायण करता हुआ अहर्निश कविताई करता हुआ मानव, बिना ब्रह्म ज्ञान के निःसार है।[५] शिवनारायण साहब के शब्दों में ब्रह्म की स्तुति से पूर्ण भाषा ही कविता है।[६] दुःखहरनदास का काव्यादर्श उपर्युक्त संतों से मिलता-

---

१. कवि कवी ने कविता मुये।

२. जग भव का गावना का गावै।
अनुभव गावै सो अनुरागी।।

३. शब्दन साखी सची नहीं प्रीति।
जंभपुर जाहिं दुखा की रीति।।

४. अदम कवित्त का जिसकी कविताई करूं,
याद करूं उसको जिन पैदा मुझे किया है।
गर्भबास पाला आतप में नहि जाला,
तिसको मै बिसारू तो मैं किसकी आस जिया हूँ।।

५. पढ़ै पुराण ग्रन्थ रात दिन करै कविताई सोई।
ज्ञान कथै शब्द कहै बहु तबहूं भक्ति न होई।।

६. कविता अस्तुति पूरन भाखा। शिवनारायन चित से राखा।

झुलता है।[1] पलटू[2], रैदास[3], बुल्ला साहब[4] तथा दरिया साहब मारवाड़ वाले[5] का कबीर साहब से मत-साम्य है। इन्हीं संत कवियों की भांति संत चरनदास भी जीवन को निष्फल प्रयत्न मानते हैं। उनकी दृष्टि में साखी और सब्दी को संवारने और सुधारने में ही मानव जीवन का बहुमूल्य समय विनष्ट हो जाता है, फिर सुमिरन के लिए कहां अवकाश रह जाता है। जीवन का प्रत्येक क्षण नाम-जप और साधना में नियोजित करना चाहिए अन्यथा कुत्तों की भांति भूकता हुआ कवि एक दिन काल के कराल-मुख में पहुँच जाता है।

संगीत का प्राणियों पर बड़ा चमत्कारी प्रभाव पड़ता है। मनोवैज्ञानिकों ने भी इस कथन का अनुमोदन किया है। नाद के माधुर्य से ही रीझ कर मृग बहेलियों का लक्ष्य बनता है। संगीत में बड़ी शक्ति होती है। साधारण बोलचाल की भाषा में कही गई बात का उतना प्रभाव नहीं पड़ता है, जितना कि पद्यमयी भाषा में अभिव्यंजित भावों को गाकर कहने का पड़ता है। कवियों के एक छोटे से क्रांति-गान का जनता पर वह प्रभाव पड़ता है, जो कहानीकार, निबन्ध-लेखक तथा मंच पर वक्ताओं का बहुत दिनों तक प्रयत्न करने पर भी नहीं हो पाता। उपदेशकों के लम्बे-लम्बे भाषणों का जनता में वह स्वागत नहीं होता है जो मधुर पदों में अभिव्यक्त उपदेशों का। उपदेशों को गेय तथा पदों का स्वरूप प्रदान करने के कारण उनका अच्छा प्रचार होता है। देहातों में खंझरी एवं करताल पर संतों के पद गाते हुए

---

१. मोहि जस ग्यान रहा हिय मांही। कहेउ सभै कीछु छाड़ेयु नाही ॥
एक एक अच्छर खोजी बनावा। गुरुखन दुख पंडितन सुख पावा ॥

२. एक भक्ति मैं जानो और झूठ सब बात।
और झूठ सब बात कौ हठ जोग अनारी।
ब्रह्म दोष बोलेय काया को राखै जारी।
प्रान करै आयाम कोई फिरि मुद्रा साधै।
धोती नेती कौ कोई लै स्वासा बाधै ॥
उनमुनि लम्बे ध्यान करै चौरासी आसन।
कोई साखी सब्द कोई तप कुस कै डासन ॥

३. थोथा पंडित थोथी बानी। थोथी हरि बिनु समै कहानी ॥

४. का भयो सब्द के कहै बहुत करि ज्ञान दे।
मन परतीत नहीं तो कहा जम जानदे ॥

५. सकल कवित का अर्थ है सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का कर लीजै दिन रात ॥

ग्रामीणों के वृहद् समूह की तल्लीनता देख सुनकर उपदेशों को गेय बनाने का लाभ ज्ञात हो जाता है। दूर तक जाती हुई उनकी ध्वनि तथा राग, हजारों नर-नारियों के हृदय में सद्भाव एवं भक्ति उत्पन्न कर देते हैं। बात-बात पर कबीर और तुलसी आदि कवियों की उक्तियां आज भी हमारे घरों में किसी बात का समर्थन करने के लिए उद्धृत की जाती हैं। इन कवियों की यह व्यापकता केवल इसीलिए है कि इन्होंने उत्तम भावों को अत्यन्त संक्षेप तथा पद्यमयी भाषा में अभिव्यक्त कर दिया है। सम्भवतः इन्हीं कारणों से प्रेरित होकर चरनदास तथा अन्य संत कवियों ने अपने उपदेशों को गेय बना दिया था।

चरनदास के कवित्व का ध्येय ब्रह्म का गुणगान एवं जनता को उपदेश देकर उनमें आशा का दीप जाज्वल्यमान और एक सच्चे नागरिक के सदृश जीवित रहने की आकांक्षा को जाग्रत कर देना था। इसीलिए चरनदास के काव्य में केशवदास का आचार्यत्व, मतिराम का पदलालित्य, विद्यापति का-सा माधुर्य, नन्ददास का शब्द-संचय, बिहारी का-सा काव्यसौष्ठव, देव की-सी नायिकायें, कालिदास की-सी सुन्दर उपमाओं का खोजना, कवि के साथ अन्याय होगा। परन्तु इतना तो दृढ़ सत्य है कि हमारे कवि के सरल काव्य में जनता के हृदय एवं मस्तिष्क को प्रभावित करने की पूर्ण शक्ति है। उनका काव्य मानव-समाज को प्रभावित करता है और सहस्रों नर-नारियां, वृद्ध-बालक, उनके पद तथा भजनों को गाकर आनन्द-विभोर हो जाते हैं।

कवि चरनदास और उनकी काव्य-दृष्टि का अध्ययन करने के लिए उनके साहित्य को निम्नलिखित शीर्षकों में विभाजित कर लेना उपादेय होगा :—

१. कथावस्तु या वर्ण्य-विषय
२. भाव—(१) रस, (२) चित्रण (३) कल्पना का उत्कर्ष
३. चरित्र-चित्रण
४. रचना शैली—(१) अभिव्यंजना शक्ति (२) शब्द (३) छन्दों का प्रयोग (४) अलंकार
५. लेखन-शक्ति
६. व्यंग एवं आलोचना

वर्ण्य विषय :—चरनदास के साहित्य के वर्ण्य-विषय को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। यह विभाजन निम्नलिखित प्रकार से संभव होगा :—

(१) आध्यात्मिक
   (क) रचनात्मक
   (ख) आलोचनात्मक

(२) सामाजिक

(क) रचनात्मक

(ख) आलोचनात्मक

चरनदास ने आध्यात्मिक भावनाओं के अन्तर्गत दो विषयों पर विशेष रूप से अपने विचारों को प्रकट किया है। इनमें से प्रथम है परब्रह्म परमात्मा की कल्पनातीत महान् एवं दिव्य सत्ता। इसके अन्तर्गत उस महान् अलख शक्ति की महत्ता का गुणगान और सर्वशक्तिमत्ता वर्णित हुई है। इसी वर्णन में ब्रह्म की सर्वव्यापकता, सार्वभौमिकता, तथा भक्तवत्सलता का वर्णन और उल्लेख हुआ है। इन विषयों पर कवि ने बारम्बार अपनी लेखनी चलाई है और प्रत्येक बार अभिनव भाषाशैली में एक ही भाव को अनेक बार व्यक्त करने का प्रयत्न किया गया है। द्वितीय विषय है साधना, जिसका परब्रह्म का साक्षात्कार कराने अथवा अनुभूति कराने में विशेष योग रहता है। इस विषय की सीमा बड़ी विस्तृत और व्यापक है। आध्यात्मिक जीवन में उपयोगी और उत्थान में सहायक उपकरणों—योग, साधु, गुरु, भक्ति, संसार से विराग, संतसंगीत, ज्ञान आदि पर कवि ने प्रचुर गंभीरता एवं मनोयोग से अपने विचारों को प्रकट करने का प्रयास किया है। काव्य-विषयों के समस्त अंगों से इस पर कवि का मन अधिक रमा है।

कवि की आध्यात्मिक भावनाएं दो रूपों में पल्लवित हुई हैं। इनमें से सर्वप्रथम है उसका रचनात्मक रूप अथवा भावनायें। ये रचनात्मक भावनाएं मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास एवं उत्कर्ष में सहायक सिद्ध होती हैं। इन तत्वों में नाम, सद्गुरु, क्षमा, दया, अहिंसा, सत्यप्रियता, औदार्य, सन्तोष, दैन्य, विवेक, ज्ञान, भक्ति, योग, विश्वास तथा सुख आदि की परिगणना सरलता से की जा सकती हैं। ये तत्व एवं प्रवृत्तियाँ मानव के आध्यात्मिक जीवन के विकास के लिए वरदान हैं। ये भावनाएं मानव-हृदय में मानवता के स्तर पर पल्लवित होती हुई भी ब्रह्म से निकट और दैवी भावनाओं से संयुक्त हैं। इन भावनाओं का मानव के सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में समान रूप से महत्व है। इन्हीं में योग के यम, नियमादि के विभिन्न भेदों की भी गणना हुई है जो एक मनुष्य को उपयुक्त और योग्य सामाजिक बनाने के लिए उपयोगी सिद्ध होती हैं। इन आध्यात्मिक भावनाओं का द्वितीय रूप वह है जिसे हम आलोचनात्मक भावनाएं कहते हैं। ये आलोचनात्मक भावनाएं वे हैं जिनकी सहायता से दूषित बातों को विनष्ट करके और उनका परित्याग करके आध्यात्मिकता के उच्चादर्शों का पारिपालन किया जा सके। इस आलोचनात्मक प्रवृत्ति का प्रारम्भ हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम सिद्धयुगीन कवि सरहपा ने किया था। उनके अनन्तर यह धारा सिद्धों से होती हुई जैनियों, नाथों और सन्तों में आई।[1]

---

[1] देखिए, मेरा ग्रन्थ—'संत दर्शन' में सन्तों की चेतावनी प्रकरण।

इस प्रवृत्ति की दृष्टि से कबीर सबसे महान् आलोचक सिद्ध होते हैं। संतों द्वारा आलोचित ये विषय शास्त्रों द्वारा बहुत पहले निषेधात्मक निर्धारित किये जा चुके थे। उदाहरणार्थ, आलोचनात्मक भावनाएं निम्नलिखित हैं :—

कनक, कामिनी, पर-निन्दा, परदोष-वर्णन, काम, क्रोध, मद, मोह, लोभ, कुसंग, आशा-तृष्णा, मांसाहार, आदि सामाजिक एवं आध्यात्मिक जीवन में अभिशाप के समान हैं। ये सर्वथा प्रत्येक दशा में त्याज्य हैं।

आध्यात्मिक भावनाओं के सदृश सामाजिक वर्ण्य-विषय के भी दो भेद किये जा सकते हैं। इसका भी प्रथम् रूप है रचनात्मक और द्वितीय है आलोचनात्मक। आध्यात्मिक भावनाओं के रचनात्मक स्वरूप की भाँति ही सामाजिक भावनाओं का भी रचनात्मक स्वरूप है। रचनात्मक रूप सामाजिक जीवन के विकास में सहायक उपकरण है। इसी से समाज की अभिवृद्धि और उन्नति है। विश्वबन्धुत्व, समदृष्टि, राम-रहीम का एकत्व आदि सामाजिक भावनाओं का क्रियात्मक रूप है। सामाजिक भावनाओं के आलोचनात्मक रूप के द्वारा समाज क्षय को प्राप्त होता है और इस दशा में उसकी अन्तिम सीमा है, विनाश। इनके कारण समाज न तो स्वस्थ रह सकता है और न विकासशील। कलह, भेद-भावना, आचार, असत्य सम्भाषण आदि इसके प्रमुख अंग हैं।

कथावस्तु या काव्यवस्तु—काव्यवस्तु की दृष्टि से चरनदास के साहित्य का विभाजन हम चार प्रकार से कर सकते हैं—१. चारित्रिक, २. कथानक, ३. दार्शनिक एवं ४. स्फुट।

चरनदास की चारित्रिक रचनायें वे हैं जिनमें कवि ने विभिन्न चरित्रों का वर्णन किया है। इनके अन्तर्गत कवि की निम्नलिखित रचनाएँ उल्लेखनीय हैं :—

१. व्रज-चरित, २. चीरहरण-लीला, ३. माखनचोरी-लीला, ४. दान-लीला, ५. कालीनथन-लीला, ६. मटकी-लीला, ७. श्रीधर-ब्राह्मणलीला, ८. नासकेत-लीला।

इन ग्रन्थों में कवि ने विभिन्न चरित्रों का वर्णन किया है। इन अधिकांश ग्रन्थों में श्रीकृष्ण का चरित्र वर्णित हुआ है। इनके चरित्र-चित्रण में कवि ने अपनी ओर से यत्र-तत्र नवीनता अथवा परम्परागत कथाओं में परिवर्तन कर दिए हैं। ये परिवर्तन स्वाभाविक और उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ वे हैं जिनमें कथानकों का समावेश किया गया है। इसके अन्तर्गत 'नासकेत-लीला', 'धर्म-जहाज', 'जागरण-माहात्म्य', 'कुरुक्षेत्र-लीला' उल्लेखनीय हैं। इनमें कवि ने भक्ति के विचार को पुष्टि देने वाली

कथाओं का वर्णन किया है। कवि-कृत 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला' की गणना भी हम इसी कोटि में कर सकते हैं। ये कथाएँ परम्परागत होती हुई भी कवि की मौलिकता से सम्पन्न हैं। इन ग्रन्थों में अनेक भक्तों की कथाओं का संक्षिप्त वर्णन है। कथाओं के द्वारा मत-प्रतिपादन भारतवर्ष की प्राचीन प्रथा रही है। प्राचीन से प्राचीन ग्रन्थों में यदि देखा जाय तो सिद्धान्त-निरूपण के साथ ही साथ कथाओं का भी उल्लेख हुआ है। इसका बहुत ही सुन्दर तथा सम्यक् रूप हमें सूफियों की रचनाओं में मिलता है। जायसी के ग्रन्थों में कथाओं के द्वारा ही मत-प्रतिपादन हुआ है। इससे प्रतिपादित विषय वा सिद्धान्त में केवल स्पष्टता ही नहीं वरन् ग्रन्थों की स्वाभाविकता और रोचकता भी बढ़ जाती है। कथात्मक शैली में वर्णित विषय की उपयोगिता और प्रभावित करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। इस प्रकार के ग्रन्थों में चरित तथा कथा का क्रम साथ ही साथ बढ़ता रहता है।

तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिन्हें हम दार्शनिक काव्य-विषय कहते हैं। इस श्रेणी में 'अष्टांग-योग', 'पंचोपनिषद् सार,' 'ब्रह्मज्ञान-सागर,' 'मनविरक्तकरण-सार,' 'भक्ति-सागर', 'भक्ति-पदार्थ' ग्रन्थ आते हैं। इन ग्रन्थों में कवि ने दार्शनिक विषयों पर प्रकाश डाला है। योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन कवि ने बड़ी कुशलता के साथ किया है। इन दार्शनिक विचारों का आधार प्राचीन ग्रन्थ है जिनका उल्लेख प्रस्तुत-ग्रन्थ के तृतीय परिच्छेद में ग्रन्थों के परिचय के साथ दिया जा चुका है। उल्लेखनीय बात यह है कि प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों के आधार पर लिखित होते हुए भी इनमें कवि की अपनी मौलिकता है जिसका संकेत ग्रन्थ परिचय के साथ दिया जा चुका है।

चतुर्थ कोटि की रचनाएं वे हैं जिन्हें हम स्फुट-साहित्य कहते हैं। स्फुटपद-साखी तथा अन्य ग्रन्थ जिनमें न चरित्र-चित्रण ही हुआ है और न जिनकी रचनाओं में कथाओं का ही समावेश किया गया है, वे इस कोटि में आती हैं। इस प्रकार की पुस्तकों में ज्ञान, साधना तथा अन्य उपदेशपूर्ण बातों का उल्लेख हुआ है। इसके अन्तर्गत स्फुट पदसाहित्य का उल्लेख होता है।

वर्ण्य-विषय एवं कथावस्तु के विषय में विशेष रूप से उल्लेखनीय बात यह है कि प्रायः इन विषयों की पुनरुक्तियाँ एक ही ग्रन्थ में अनेक बार हुई हैं। साहित्य के आचार्यों ने ग्रन्थ में पुनरुक्ति को दोष माना है परन्तु इन भक्त कवियों में यदि पुनरुक्ति को दोष न माना जाय तो अधिक न्यायसंगत होगा। कारण यह है कि इन भक्तकवियों ने अपने समय की त्रस्त अशिक्षित जनता के लिए काव्य की रचना की थी। निरक्षर जनता पर बारम्बार कही जाने वाली बात का अधिक प्रभाव पड़ता है। उनके हेतु पुनरुक्तियाँ विषय अथवा उपदेशों को अधिक प्रभावशाली

तथा सरल बना देती हैं। चरनदास अन्य संतों के सदृश सारग्राही व्यक्ति थे। इनके विषय में नाना प्रसंग, प्रकरण, एवं विषयों की अभिव्यंजना मिलती है। संत-साहित्य इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

अन्य संतों की भांति चरनदास का साहित्य और वर्ण्य-विषय दोनों ही विविधता से पूर्ण है। लौकिक एवं अलौकिक, भौतिक एवं दार्शनिक, सभी प्रकार के विषयों की विवेचना गंभीरतापूर्वक कवि की रचनाओं में उपलब्ध है। वर्ण्य विषयों की विविधता का केन्द्र-बिन्दु केवल ब्रह्म और उसकी अनादि सत्ता है।

चरनदास का वर्ण्य-विषय वेदांत, योग तथा भक्ति के प्राचीन साहित्य से प्रभावित है। इन वर्ण्य विषयों से कवि की काव्यकला की विकासावस्था का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो सकता है। कवि के वर्ण्य-विषय में अनेक मार्मिक एवं हृदय स्पर्शी प्रसंगों की अभिव्यंजना हुई है जिनकी ओर संकेत, ग्रन्थों की विवेचना के साथ किया जा चुका है।

वर्ण्य-विषय स्पष्ट और प्रभावशाली बनाने के लिए कवि ने उदाहरण और दृष्टांतों का भी प्रयोग किया है। इन उदाहरणों और दृष्टांतों का संकलन या चयन लेखक ने सामान्य जीवन में आने वाले प्रसंगों तथा वस्तुओं से किया है। परिचित दृष्टांतों के संकलन से कवि ने अपने विषय को जनता के और भी निकट लाकर रख दिया है। जनता से परिचित रूपक, उदाहरण और दृष्टांतों को काव्य का विषय बनाकर साहित्य को कवि ने और भी अधिक जनप्रिय बना देने का प्रयत्न किया है।

साहित्य के जिन प्रयोजनों का मूल्यांकन हमने प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में किया था उस दृष्टि से भी विचार करने पर हमारे कवि का वर्ण्य-विषय आर्त्त जनता को उचित मार्ग पर अग्रसर होने के लिए प्रेरित करता है।

भाव-विन्यास—संतों के काव्यादर्श की विवेचना से स्पष्ट है कि सबद, साखी आदि की रचना करना उनकी दृष्टि में निस्सार था। प्रश्न यह होता है कि जब सन्तों ने कवि की और काव्य की इतनी निन्दा की तो फिर स्वयं ही काव्य की रचना क्यों की? कहा जा सकता है कि सन्तों ने जिस काव्य की रचना की वह आध्यात्मिक जीवन की उन्नति में सर्वथा सहायक है। सम्भवतः इसीलिए काव्य के विरुद्ध होते हुए भी वे इस ओर उन्मुख रहे। इसके अतिरिक्त काव्य गेय होता है, और गेय होने के कारण वह चिरस्मरणीय भी होता है। सन्तों ने सम्भवतः इसीलिए अपने भावों को सहज भाषा का परिधान पहनाकर काव्य का स्वरूप प्रदान किया। सन्तों के काव्य में कला का अभाव-सा है; पर उसमें भाव-सौंदर्य, संदेश की महत्ता और प्रभावशालीनता का अभाव नहीं है। संतकवियों का साधक और उपदेशकरूप,

कवि के रूप से अधिक मधुर है। सहज भावों की स्वाभाविक शैली में अभिव्यक्ति ही उनका काव्यादर्श था। कविता तो उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति का साधनमात्र थी, कवि की सीमा में बांधने का साधन नहीं।

सन्तों के काव्य में उनके पवित्र भक्त-हृदय के सर्वत्र दर्शन होते हैं। बाल्यावस्था से ही चरनदास के हृदय एवं मस्तिष्क में संसार के प्रति विरक्ति तथा परब्रह्म के लिए अनुरक्ति उत्पन्न हो गई थी। जीवन में अनुभव एवं वय के विकास के साथ ही उनके हृदय में यह विचार घनीभूत होता गया। काव्य-सर्जन के समय अपने हृदयस्थ इन्हीं भावों को उन्होंने विश्वकल्याण अथवा लोकरंजन के लिए छन्दबद्ध किया। उनकी लेखनी ने उन्हीं भावों, उन्हीं विचारों को स्वीकार किया है जिनके प्राणों में आध्यात्मिकता के भाव, लहरे ले रहे हैं। आध्यात्मिकता के सोपान पर अग्रसर करने वाले विचार ही उनकी कविता में छन्दबद्ध किये गए हैं। कवि ने भगवान् की अपार सत्ता, अनन्त स्वरूप तथा उनकी भक्तवत्सलता का विशेष रूप से उल्लेख किया है। उस अनादि पुरुष की प्राप्ति के साधन भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि का भांति-भांति से हमारे कवि ने उल्लेख किया है। कवि ने इन तीनों में एकत्व प्रदर्शित करके उनकी श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए यदा-कदा नीतिकारों से गढ़ी हुई कथाओं का समावेश कर दिया है। चरनदास के काव्य में कुछ नीति-सम्बन्धी साखियाँ भी उपलब्ध होती हैं। यद्यपि इस प्रकार की साखियाँ कम हैं फिर भी उनकी कोटि सुन्दर है।

वर्ण्य-विषय का अवलोकन करने पर प्रकट हो जाता है कि कवि का भाव-विन्यास दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। प्रथम है सगुण ब्रह्म सम्बन्धी और द्वितीय निर्गुण ब्रह्म विषयक। ब्रह्म के इन दोनों स्वरूपों की अनुभूति के लिए कवि ने दो भिन्न-भिन्न प्रकार की साधनाओं का भी वर्णन किया है। प्रथम है भक्ति और द्वितीय योग (हठयोग)। कवि के भाव-विन्यास में यदि स्वरोदय-साधना का उल्लेख न किया गया तो यह प्रसंग अपूर्ण ही रह जायगा। चरनदास ने अपनी साधना में स्वरोदय-विज्ञान को भी प्रधानता दी है। यह स्वरोदय विषयक विचारधारा उसके ग्रन्थ 'ज्ञान स्वरोदय' में व्यक्त हुई है। इसमें श्वास-प्रश्वास के उदय और परिवर्तन के आधार पर शुभाशुभ का विचार प्रस्तुत किया गया है। इस ग्रन्थ की उपयोगिता व्यावहारिक और साधनात्मक जीवन में समान रूप से महत्वपूर्ण है।

कवि के काव्य पर विचार करते हुए हमें उसका भावविन्यास, योग, भक्ति, तंत्र, सूफी, बौद्ध तथा नाथों की साधना से प्रभावित प्रतीत होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चरनदास एक विशिष्ट साधना-पद्धति और परम्परा में दीक्षित होते हुए भी सारग्राही व्यक्ति थे। उनमें सभी दर्शनों का सुन्दर समन्वय है।

रस—चरनदास के काव्य में शांत, श्रृङ्गार, करुण, अद्‌भुत, वीभत्स, हास्य, वीर आदि रसों की रचना हुई है। इनमें से कवि के साहित्य में शांत, शृंगार करुण और वीर-रसों का अच्छा परिपाक हुआ है। इनमें से अब हम प्रत्येक रस की विवेचना उदाहरण सहित करेंगे। सबसे प्रथम हम शांतरस को ही लेते हैं।

शांत रस—संतों के काव्य में शांत रस की पयस्विनी अविरल रूप में प्रवाहित हुई है। सत्य तो यह है कि संतों के काव्य की रचना का मुख्याधार, शांत रस ही है अथवा यह कहना भी असंगत न होगा कि शांत रस ही संत-काव्य की आत्मा और प्रेरणा है। चरनदास ने भक्ति-प्रधान भावों की रचना प्रचुर मात्रा में की है। कवि के प्रायः सभी ग्रन्थों में ब्रह्म के प्रति प्रेम, संसार से विरक्ति, त्याग, क्षमा, दया, निर्वेद आदि भाव उपलब्ध होते हैं। इन्हीं भावों के आधार पर चरनदास के काव्य में शांत रस का भला प्रवाह हुआ है। कवि की स्फुट रचनाओं, तथा पद साखियों में शांत रस का अच्छा परिपाक हुआ है। कवि की 'भक्ति-पदार्थ', 'भक्तिसागर', 'मनविरक्तकरण-सार', 'पंचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान-सागर' इस दृष्टि से विशेषरूप से समादृत रचनाएं हैं। उनके विनय के पदों में तथा आत्मनिवेदन सम्बन्धी रचनाओं में शांत रस के उत्कृष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ, यहां पर कवि की रचनाओं से दो छन्द उद्‌धृत किये जाते हैं :—

मन में दीरघ भरे बिकारा।
सतगुरु साहब बैद मिले बिनु कटै न रोग अपारा॥
त्रैगुन के त्रै दोष पगो है काम क्रोध ज्वर जारा।
तृस्ना वायु उठी उर अन्तर डोलत द्वारहि द्वारा॥
विषै बासना पित कफ लागी इन्द्रिन के सुख सारा।
सतसंगति रस करुवा लागे करत न अंगीकारा॥
सत पुरुसन को कहा न मानै सील छिमा नहिं धारा।
रसना स्वाद तजो नहिं मूरख आपन पौ न संभारा॥
चरनदास सुकदेव मिले जब औषधि ज्ञान बिचारा।
तन मन को सब रोग मिटायो आवागमन निवारा॥

× × × ×

अपना अरि बिनु और न कोई।
मातु पिता सुत बन्धु कुटुंब सब स्वारथ ही के होई॥
या काया कूं भोग बहुत दै मरदन करि करि धोई।
सो भी छूटत नेक तनिक सी संग न चाली वोई॥

घर की नारि बहुत ही प्यारी तिन में नाहीं दोई ।
जीवत कहती साथ चलूंगी डरपन लागी सोई ।।
जो कहिये यह द्रव्य आपनी जिन उज्जल मति खोई ।
आवत कष्ट रखत रखवारी चलत प्रान लें जोई ।।
या जग में कोई हितू न दीखै मैं समझाऊं तोई ।
चरनदास सुकदेव कहैं यों सुनि लीजै नर लोई ।।

इन दो पदों से कवि के शांत रस का कुछ आभास प्राप्त होता है। पर कवि विरचित शांत रस का उत्कर्ष उसके चेतावनी[1] साहित्य में हुआ है। इस रस की अभिव्यक्ति के लिए उसने भांति-भांति के रूपकों और उदाहरणों का भी प्रयोग किया है।

श्रृंगार रस—चरनदास के काव्य में श्रृंगार रस के मनोहर चित्र उपलब्ध होते हैं। श्रृंगार रस के दोनों पक्षों—विप्रलंभ एवं संयोग के माध्यम से कवि ने अपने हृदय के भावों को व्यक्त करने का प्रयत्न किया है और इस प्रयास में उसे अच्छी सफलता प्राप्त हुई है। परन्तु संयोग श्रृंगार की अपेक्षा कवि-वर्णित विप्रलंभ श्रृंगार अधिक कलात्मक और चित्ताकर्षक है। यहां पर सर्वप्रथम हम कवि के विप्रलंभ श्रृंगार पर विचार करेंगे। कवि के वियोग वर्णन पर सूफी दर्शन की वियोग-पद्धति का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

विरह-वर्णन संसार के प्रत्येक साहित्य का मुख्य अंग रहा है। अन्य रसों की अपेक्षा इस रस की महत्ता और उपयोगिता काव्य के लिए विशेष मान्य रही है। वियोग या विरह के पीछे प्रत्येक धर्म और साहित्य में एक दर्शन निहित रहा है। साहित्य में श्रृंगार को रसराज कहा गया है और विप्रलंभ श्रृङ्गार को प्राण। विरह, प्रेम का उद्दीपक है। भक्तिसूत्र में नारद ने इस (विरह) को राजमार्ग एवं प्रेम करने की एक शैली माना है।[2] पाश्चात्य देशों के रहस्यवादियों ने इस विरहानुभूति के समय को डार्क-नाइट-आफ दि सोल या आत्मा की अंधकारपूर्ण रात्रि के रूप में ग्रहण किया है। सूफियों की विरहानुभूति हिज्र संसार में प्रसिद्ध है। रहस्यवादी के जीवन में विरह का बड़ा महत्व है। कबीर के अनुसार 'विरहा है सुलतान' और 'जा घट विरह न संचरै सो घट जान मसान।'

१. देखिए, संतदर्शन में 'संतों की चेतावनी'।
२. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्तिकान्ता-सक्तिवात्सल्यासक्त्यात्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्ति परमविरहासक्तिरूपा एकधा ऐकादशधा भवन्ति।—भक्तिसूत्र, ८२

साहित्य में विरह की दश दशाएं मानी गई।[1] वैष्णवों के अनुसार विरह आठ प्रकार का है।[2] फारसी साहित्य में विरह की नौ दशाओं को मान्यता मिली है। उपर्युक्त इन विभिन्न दशाओं में से प्रत्येक संत कवि में, सभी दशाओं के दर्शन नहीं होते हैं। यह अवश्य है कि इनमें से अधिकांश दशायें प्रत्येक संत कवियों की वानियों में उपलब्ध होती है। सामान्यतया सन्तों में उपलब्ध होने वाली आठ दशायें निम्नलिखित हैं :—

१. चिन्ता, २. व्यग्रता, ३. आंसू, ४. उद्वेग ५. विस्मृति, ६. जागरण, ७. अरुचि (अन्त भोजन) ८. मृत्यु। चरनदास के साहित्य में विरह की यही आठ दशाएँ उपलब्ध होती हैं।

'चिन्ता' चरनदास के विरह की प्रथम अवस्था है। साहित्य में इसका द्वितीय स्थान है और यह दशा अभिलाषा के बाद आती है। इसमें दुःख की मात्रा अधिक है। इसमें दर्शन की लालसा का आधिक्य है। चरनदास के काव्य से चिन्ता का एक सुन्दर उदाहरण उद्धृत किया जाता है :—

हमारे नैना दर्श पियासा हो।
तन गयो सूखि हाय हिय बाढ़ी जीवत हूँ वहि आसा हो॥
बिछुरन थारो मरण हमारो मुख में चलै न गासा हो।
नीद न आवै रैनि बिहावै तारे गिनत आकासा हो॥
भये कठोर दर्श नहि जानो तुमकूं नेक न सांसा हो।
हमरी गति दिन-दिन औरे ही विरह वियोग उदासा हो॥

इसी प्रकार सुन्दर दास,[3] कबीर,[4] धर्मदास,[5] मीरा,[6] मलूक,[7] धरनी,[8]

---

१. अभिलाषा सुचिन्ता गुण कथन स्मृति उद्वेग प्रलाप।
उन्माद व्याधि जड़ता भये होत मरण पुनि जाप।
—नवरस—श्री गुलाबराय, एम० ए०

२. स्तम्भ, कम्प, स्वेद, आंसू, स्वरभंग, वैवर्ण्य, पुलक एवं प्रलय।

३. सुन्दर ग्रन्थावली, भाग २, पृष्ठ ६८१

४. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२

५. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ४४

६. स० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ७०

७. मलूकदास की वानी, पृष्ठ १।८

८. धरनीदास की वानी, पृष्ठ २।३

दादू[1], दरिया साहब[2], वुल्ला साहब[3], वुल्लेशाह[4], और पलटू[5], एवं तुलसी साहब[6] के काव्य में चिन्ता के सुन्दर उदाहरण उपलब्ध होते हैं।

'व्यग्रता' चरनदास की विरहानुभूति की द्वितीय दशा है। इसमें साधकों को बड़ी व्याकुलता का अनुभव होता है। उसे कहीं शांति नहीं मिलती है। उसे इस स्थिति में सुखदायी पदार्थ भी दुखदायी प्रतीत होते हैं। इसी स्थिति पर पहुँच कर चरनदास ने जल से निकली हुई मछली के सदृश तड़पन का अनुभव किया था। इस भावना को व्यंजित करने वाली निम्नलिखित पंक्तियां पठनीय होगी :—

सो बिथा मोरी जानत होअकि नाहीं।
नख शिख पावक विरह लगाई बिछुरन दुख मन माही ॥
दिन नहि चैन नींद नहि निशि कूं निश्चल बुद्धि नहि भेदी।
कासूं कहूं कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी ॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहूं सुधि नहिं पाई।
छतियां धरकत कर्क हिये में प्रीति महा दुख दाई ॥
जल बिन मीन, पिया बिन विरहिनि, इन धीरज कहु कैसी।
पछी जरै दव लगी बन में मेरी गति भई ऐसी ॥

कबीर[7], मीरा[8], दादू[9], धरनीदास[10], तुलसी साहब[11], वुल्ले साहब[12] एवं मलूकदास[13] आदि सन्तों ने इसी प्रकार के विरह की अनुभूति की थी। इस दृष्टि से इन सन्तों में एवं चरनदास में बड़ा साम्य है।

---

१. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ ६३
२. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १४८
३. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १७२
४. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १८८
५. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ २२१
६. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ २४५
७. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १०
८. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ ६६
९. मीराबाई की वानी
१०. धरनीदास की वानी, पृष्ठ २
११. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ २४४
१२. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १८८
१३. मलूकदास की वानी, १।८

'आंसू' सन्तों की विरहानुभूति की तृतीय दशा है। यह दशा वैष्णवों और फारसी साहित्य में मान्य है, हिन्दी में नहीं। प्रतीक्षा की भी कोई सीमा होती है, विरह की भी कोई अवधि होती है। पर जब नैराश्य ही साथ हो लेती है तो नेत्र बरस ही पड़ते हैं। चरनदास में विरह की इस दशा का चित्रण कई बार हुआ है।[1] दादू[2], मलूक[3], सुन्दरदास[4], दरियासाहब[5] (बिहार वाले) आदि सन्तों में इसी कोटि की विरहानुभूति अनेक बार हुई थी।

'उद्वेग' की दशा आंसू के पश्चात् आती है। इस दशा में सुखदाई वस्तु भी दुःखदाई प्रतीत होती है। सन्तों में सुन्दरदास[6], तुलसीसाहब[7] और मीरा[8] ने इस दशा का सबसे अधिक अनुभव किया था। चरनदास की इस प्रकार की अनुभूति बहुत कम है।

'जागरण' की दशा विरह की तीव्र अवस्था मानी जाती है। इस दशा में साधक को नींद नहीं आती है। सेज शूलवत् चुभती है। उसे खाना-पीना सभी कुछ बिसर जाता है। वह अत्यन्त दुःखी होकर जीवन के लिए इन आवश्यक तत्वों की ओर से विमुख हो जाता है। साधना के क्षेत्र में असफलता और निराशा से प्रियतम प्राप्ति में विलम्ब के कारण, वह जीवन निःसार समझने लगता है। इसीलिए वह भोजन तथा शयन का परित्याग कर देता है। इस दशा का अनुभव कबीर[9], मीरा[10] धरनीदास[11], बुल्लाशाह[12], पलटू[13], तुलसी साहब[14], दरिया साहब

---

१. सं० वा० सं०, भाग २, पृष्ठ १८३
२. सं० वा० सं०, पृष्ठ ६४
३. जिय विहवल पिय मिलन को धरी रही ना चैन।
   निशि दिन आंसू बहि चलै नींद न आवै रैन॥
४. संत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १०६
५. संत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १८३
६. संत दर्शन, पृष्ठ १११.११२
७. संत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २४३
८. संत दर्शन, पृष्ठ १११
९. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १०।११
१०. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ७१
११. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२७
१२. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १८८
१३. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २२०
१४. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ २४३

मारवाड़ वाले)[१]; तथा सुन्दरदास[२] ने समान रूप से की थी। चरनदास के काव्य से इस दशा की व्यंजक कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

विछुरन थारो मरण हमारो मुख में चलै न गासा हो।
नींद न आवै रैनि बिहावै तारे गिनत अकासा हो॥

× × ×

भवन तजो अरु धन तजो री अरी हेली तजी कुलन की रीति।
मान बड़ाई सब तजी रहा एक हारि मीत॥
भूख प्यास निद्रा तजी री अरी हेली तजि दियो वाद विवाद।
राग दोष दोऊ तजो तजो पांच को स्वाद॥

× × ×

दिन नहि चैन नीद नहिं निशि कूं निश्चल बुधि नहि मेरी।
कासूं कहूं कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहूं सुधि नहिं पाई।
छतियाँ धरकत कर्क हिये में प्रीति महा दुखदाई॥

विरह की अंतिम दशा 'मृत्यु' या 'मरण' है। जब विरह असह्य हो जाता है, निराशा निःसीम हो जाती है, तब शरीर क्षीण हो जाता है और साधक को जीवन भार प्रतीत होने लगता है। उस समय वह आत्मघात कर लेने के हेतु प्रयत्नशील हो उठता है, मृत्यु की कामना करने लगता है। कबीर[३], मीरा[४], दयाबाई[५], तुलसी-साहब[६], मलूकदास[७], दादू[८], चरनदास[९], सुन्दर दास[१०], आदि संतों में यह भावना बड़ी तीव्र है। चरनदास के काव्य से इस कोटि का एक पद :—

ज्ञान ध्यान और सुमिरन तेरो तो चरणन चित राखूं।
तेरोहि नाम जपूं दिन राती तो बिन और न भाखूं॥

---

१. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ १२८
२. संत दर्शन, पृष्ठ ११३
३. संत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १०
४. संत वानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ ७०
५. दयाबाई की वानी, पृष्ठ ७।१८
३. सं० वा० स०, पृष्ठ २२४
७. मलूकदास की वानी, पृष्ठ ६
८. सं० वा० स०, भाग २, पृष्ठ ९४
९. चरनदास की वानी, पृष्ठ १६
१०. संत दर्शन, पृष्ठ ११५

तन व्याकुल जिय रूंधोहि आवत परी प्रीति गल फांसी ।
तुमतो निठुर कठोर महा पिय तुमको आवै हांसी ॥
विरह अग्नि नख शिख सूं लागी मन में कल्पना भारी ।
गिरोहि परत तन संभरत नांही रहत भवन में डारी ॥
कै विष खाय तजों यह काया कै तुम्हरे सङ्ग रहसूं ।
चरनदास शुकदेव विछोहा तेरी सूं नहि सहसूं ॥

संयोग-शृंगार—चरनदास के विप्रलंभ शृंगार पर विचार कर लेने के अनन्तर अब उनका संयोग-शृंगार विचारणीय है । कवि का संयोग-शृंगार 'व्रजचरित', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'दान-लीला', 'मटकी-लीला', 'नासकेत-लीला' आदि ग्रन्थों एवं स्फुट-पदों में प्रस्फुटित हुआ है । संयोग-शृङ्गार के वर्णन में कवि ने मर्यादा और भाव-सौंदर्य का विशेष ध्यान रखा है । इन ग्रन्थों में कहीं अश्लीलता अथवा दूषित भावों की छाया नहीं मिलती है । 'कुरुक्षेत्र-लीला' में श्रीकृष्ण तथा व्रज के नर-नारियों और राधा के संयोग का मार्मिक चित्रण हुआ है । श्रीकृष्ण के आगमन का द्योतक संयोग-शृंगार विषयक निम्नलिखित स्थल पठनीय होगा :—

हमारे घर आये हो सुन्दर श्याम ।
तन की तपन मिटी देखत ही नैनन भयो अराम ॥
अंगन लिपाऊँ चौक पुराऊँ फूल बिछाऊँ धाम ।
आनन्द मंगलचार गवाऊं आये ये पूरण काम ॥
अब जागे सखि भाग हमारे मन पायी विश्राम ।
चरणदास शुकदेव पिया कूं हित सों करूं प्रणाम ॥

इस पद में मर्यादित भावों की अभिव्यंजना की गई है । कवि के स्फुट काव्य में सुन्दर संयोग शृंगार वर्णित हुआ है । साधना के क्षेत्र में सफलीभूत कवि के हृदय से संयोग विषयक सुन्दर पद फूट पड़े हैं । उदाहरणार्थ एक पद उद्धृत है :—

हरि पीव कूं पाइया सखि पूरन मेरे भाग ।
सुख सागर आनन्द में मै उठि नित खेलूं फाग ॥
चोवा चंदन प्रीति कै सखि केसर ज्ञान घसाय ।
पुष्प बास सूं जो वह भीनी तागे अंग लगाय ॥
बेरंगी के रंग सू सखि गागर लई भराय ।
सुन्न महल में जाय कै सखि पिय पर दई ढरकाय ॥
भरम गुलाल जब कर लियों सखि बालम गयो ढुराय ।
सतगुरु ने अंजन दियो तव सन्मुख दरसे आय ॥

ताली लाई प्रेम की सखि अनहद नाद बजाय।
सर्ब मई पिय पायकै हम आनन्द मंगल गाय।

अद्‌भुत रस—कवि ने 'भक्तिपदार्थ', 'भक्तिसागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'कालीनथन-लीला', 'धर्मजहाज' एवं 'अमरलोक' आदि ग्रन्थों में वर्ण्य-विषय को व्यक्त करने में यत्र-तत्र अद्‌भुत रस का प्रयोग किया है। 'कालीनथन-लीला' में कालीदमन और नथन का वर्णन अद्‌भुत रस का संचार करने में समर्थ है। अन्य शेष ग्रन्थों में ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व, विशाल रूप आकारादि तथा माया की व्यापकता आदि का वर्णन पढ़कर हमारे हृदय में अद्‌भुत रस का सर्जन हो जाता है। इन दोनों वर्णनों से पाठकों के हृदय में आश्चर्य के स्थायीभाव का उद्रेक हो जाता है। इन प्रसंगों के अतिरिक्त कवि विरचित स्फुट-साहित्य में अद्‌भुत रस की दृष्टि से उलटवासियाँ भी पठनीय हैं। ये उलटवासियाँ पढ़ कर पाठक आश्चर्यान्वित हो जाता है। इसी प्रकार माया की विचित्रता तथा उसके विचित्र कार्यकलाप, सांसारिकों को मर्कट की भाँति नचाने की शक्ति रखने वाले वर्णन भी अद्‌भुत रस की निष्पत्ति में सहायक होते हैं। कवि के अद्‌भुत रस के कतिपय उदाहरण निम्न हैं :—

देखो है तमाशा देह समुझिकै विचारि लेहु, मूरख नर होय जो या बात में हंसैगो।
चीते को मारि मृग नख शिख सुखाय गयो, बाघनी को मारिबोक सिंह को ग्रसैगो॥
बिल्ली को मारि चूहे प्रेम को नगारो दियो, दादुर हू पांच सर्प मारिकै बसैगो।
कहै चरनदास ऐसे खेल सो लगाई आश, चिरिया के शीश टोरौ बाज को लसैगो॥

इसी प्रकार एक और छन्द है :—

"सापिन चढ़ै अकास, परवत लागी आग"

इस प्रकार के छन्दों में अद्‌भुत रस की उद्भावना होती है। इनके पीछे प्रत्यक्ष रूप से एक विशिष्ट दार्शनिक विचारधारा सन्निहित है। इसी प्रकार एक पद और पठनीय है :—

चहुँ दिस झिलमिल झलक निहारी।
आगे पीछे दाहिने बायें तल ऊपर उंजियारी॥
दृष्टि पलक त्रिकुटी ह्वै देखै आसन पद्म लगावै।
संजम साधै दृढ़ आराधै जब ऐसी सिधि पावै॥
बिन दामिनी चमकार बहुत ही सीप बिना लर मोती।
दीपमालिका बहु दरसावैं जगमग जगमग जोती॥

ध्यान फलै तव नभ के माही पूरन हो गति सारी।
चांद घने सूरज अनकी ज्यों सूभर भरिया भारी ॥
यह तो ध्यान प्रतच्छ बतायौ सरधा होय तो कीजै।
कहि शुकदेव चरण ही दासा सो हमसूं सुनि लीजै ॥

वीभत्स रस—कवि के कतिपय ग्रन्थों में वीभत्स रस का भी प्रयोग है। 'नासकेत-लीला' के नरक, यमलोक आदि के वर्णनों में वीभत्सरस से पूर्ण अनेक चित्र मिल सकते हैं जिनमें रस का अच्छा परिपाक हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं :—

कूप नरक है पाचवां, जाका करू बखान।
तामें लोहू पीप है, कूवे की सम जान।
तापै काग बहुत धिर रहिया। बड़ी चोंच लोहे सम धरिया।
तामे पापी कू गहि डारै। तिरआवै वह चोंचहि मारै ॥
या सम पाप और कहा होई। कूप नरक में डूबै सोई ॥
महा कीट छठा जो देखा। कूए की जो ताहि बसेखा।
तामें विष्ठा बहुतै भरिया। कुलबुलाट कीडों ने करिया ॥
बड़े बड़े कीड़े ता माहीं। पापी के तन मे चिपटाही ॥
पात झड़ै खांड़े सम लागै। कटै मांस हाड़ ही ताकै ॥
त्राहि त्राहि जहां हो रही भारी। सुनकर चेतै नांहि अनारी ॥
तन माहीं दुरगन्ध जु आवै। लांबी काया अति डरवावै ॥
बहुतों के मुख श्वान से, बहुतो के मुख बाघ ॥
बहुतक चीते मुख बने, बहुतों के जों नाग ॥

इसी प्रकार रौरव, कुम्भीपाक, नरकादि के बड़े वीभत्स पूर्ण वर्णन कवि ने इस ग्रन्थ में किये हैं। पापियों का पीव, रक्त, मल आदि की नदी में फेंके जाने का वर्णन क्या वीभत्स नहीं है ?

करुण रस—चरनदास के ग्रन्थों में 'नासकेत-लीला' और 'कुरुक्षेत्र-लीला' में करुण रस का चित्रण हुआ है। 'नासकेत-लीला' में चन्द्रावती के वनगमन, देश-निष्कासन, एवं पुत्रप्रसव के प्रकरण में करुण रस का वर्णन हुआ है। इसी प्रकार 'कुरुक्षेत्र-लीला' में नर-नारियों एवं पशु जगत् का वर्णन हुआ है। श्रीकृष्ण के विरह में उदासीन और व्याकुलता का वर्णन करुण रस का संचार करने में समर्थ है। 'कालीनथन-लीला' में काली की पत्नी का विलाप और निवेदन भी करुणा जाग्रत करने में समर्थ होता है। स्फुटपद साहित्य में भी आत्म-

निवेदन प्रसंग के अन्तर्गत करुण रस की उद्भावना हुई है। इन सभी प्रसंगों का वर्णन बड़ा संक्षिप्त है। कवि इतनी शीघ्रता तथा संक्षेप के साथ इन घटनाओं का वर्णन कर जाता है कि न तो उन प्रसंगों में रस का उद्रेक ही होता है न रसाभास ही।

हास्य रस—शान्त और हास्य दो विरोधी रस हैं। भक्ति एवं साधना के क्षेत्र में हास्य के लिये अवसर नहीं है। स्वामी के समक्ष भक्त को हंसने का साहस नहीं होता है। इसीलिए मानस जैसे महाकाव्य में गोस्वामी जी को हास्य का सृजन करने के लिए अपेक्षाकृत बहुत कम अवसर मिला है। सम्भवतः इसीलिए चरनदास के साहित्य में भी हास्यपूर्ण बहुत कम स्थलों की रचना हुई है। कवि के दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला ग्रन्थों में व्यंग्यात्मक हास्य का सृजन भी हुआ है। परन्तु स्मरण रखना चाहिए कि ये सभी स्थल मर्यादित हास्य से संयुक्त है। इन्हीं ग्रन्थों में गोपियों के यशोदा के प्रति उलहने रोचक और सुन्दर बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ, यहाँ एक छन्द उद्धृत किया जाता है। इस प्रसंग में गोपियाँ माखन चुराते हुए कृष्ण जी को पकड़ लेती हैं और उनकी बाँह पकड़ कर माता यशोदा के पास ले जाती हैं। मार्ग में कृष्ण जी अपना रूप बदल लेते हैं और यशोदा के पास जाने पर ये गोपियाँ हास्य की पात्र बनती हैं—

अपनो हाथ छुटाय दौर माता ढिग आये।
लीला अद्भुत देख परम सुख मैया पाये॥
तब हँस यशोदा ने कह्यो, कहो ग्वारिनी बात।
किह कारण आई सबै, घर में है कुशलात॥
जो देखें कर और कहै यह बालक काको।
हम गहलाई कुंवर कान्ह भयो अचरज जाको॥
सब मिलि खिसियानी भई, कहन लगी मुख मोर।
ना जाने इन कहा कियो, ढोटा चित्त के चोर॥

वीर रस—वीर तथा भयानक रसों का हिंसा एवं शक्तिमत्ता से निकट सम्बन्ध है। भक्ति का शांत रस से सुदृढ़ सम्बन्ध है, अतः भक्ति और वीर या भयानक रस एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। चरनदास का भक्त-हृदय इसी कारण इन दोनों रसों से सर्वथा भिन्न है। कवि के स्फुटकाव्य प्रसंग में यत्र-तत्र वीररस की अभिव्यंजना हुई है। 'सूरमा को अंग प्रकरण' में भी वीरतापूर्ण भावों की व्यंजना हुई है। परन्तु

यह व्यञ्जना रस-निष्पत्ति की दृष्टि से अधिक सफलीभूत नहीं है। सच तो यह है कि वीररस का संत-साहित्य में पूर्णतया अभाव है।[1]

चरनदास के ग्रन्थों में प्रयुक्त रसों की तालिका निम्नलिखित है :—

१. अष्टांग योग—शान्त रस
२. योगसन्देह सागर—शान्त रस, अद्भुत रस
३. पंचोपनिषद्सार—शान्त
४. ब्रह्मज्ञान-सागर—शान्त, अद्भुत
५. मनविरक्तकरण-सार—शान्त
६. ज्ञानस्वरोदय—शान्त
७. भक्तिपदार्थ—शांत, श्रृंगार (विप्रलंभ)
८. भक्तिसागर—शान्त, अद्भुत, श्रृंगार (विप्रलंभ)
९. नासकेत-लीला—शांत, श्रृंगार, करुण, अद्भुत, वीभत्स
१०. कुरुक्षेत्र-लीला—शांत, श्रृंगार, करुण
११. श्रीधर ब्राह्मणलीला—शान्त
१२. धर्मजहाज—शान्त
१३. अमरलोक—शान्त, अद्भुत
१४. ब्रजचरित—शान्त, श्रृंगार
१५. जागरण-माहात्म्य—शान्त, अद्भुत
१६. दानलीला—शान्त, हास्य, श्रृंगार
१७. माखनचोरी-लीला—शान्त, हास्य, श्रृंगार
१८. मटकी-लीला—शान्त, हास्य, श्रृंगार
१९. कालीनथन-लीला—शान्त, करुण, अद्भुत
२०. चीरहरण-लीला—शान्त, हास्य, श्रृंगार

संक्षेप में चरनदास के ग्रन्थों में शांत, श्रृंगार, हास्य, करुण, अद्भुत, वीभत्स आदि रसों की रचना हुई है। रसों की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित होगा :—

शान्त रस—अष्टांग योग, योगसन्देह सागर, पंचोपनिषद्सार, ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्तकरणसार' ज्ञानस्वरोदय, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, नासकेत-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, श्रीधर ब्राह्मण-लीला, धर्मजहाज, अमरलोक, ब्रजचरित, जागरण-

---

[1] देखिये, संत दर्शन में 'सन्तों के सूरमा', पृष्ठ ७४

माहात्म्य, दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, कालीनथन-लीला और चीरहरण-लीला।

शृंगार रस—दानलीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, कालीनथन लीला, चीरहरण-लीला, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, नासकेत-लीला, एवंकुरुक्षेत्र-लीला।

अद्भुत रस—कालीनथन-लीला, भक्तिपदार्थ, योगसन्देह सागर, ब्रह्मज्ञान-सागर, नासकेत-लीला एवं अमर लोक।

हास्य रस—दान-लीला, माखनचोरी-लीला, मटकी-लीला, एवं चीरहरण लीला।

करुण रस—नासकेत लीला एवं कुरुक्षेत्र-लीला।
वीभत्स—नासकेत-लीला।

कल्पना का उत्कर्ष—काव्य जीवन का आधार और प्रतिबिम्ब है। वह हमारे जन-जीवन एवं समाज का प्रतिबिम्ब है। वह किसी भी जाति के उत्कर्षापकर्ष का विस्तृत लेखा है। काव्य या साहित्य का समाज से घनिष्ट सम्बन्ध है। समाज से विलग साहित्य की कोई महत्ता नहीं रहती है। आज का आलोचक साहित्य का आधार मानव जीवन ही मानता है। उसका कथन है कि साहित्य की धारा जनता के धरातल पर प्रवाहित होना चाहिये। जिस काव्य में मानव-जोवन की सच्चाईयाँ, अनुभूतियाँ, सुख-दुख की भावनाएं नहीं व्यक्त होती हैं। वह केवल मनोरंजन का साहित्य है, आज हमारे कलाकार को जनता के अधिकाधिक निकट जाना होगा। जनता के जीवन में उसकी अन्तर्दृष्टि का प्रवेश वाञ्छनीय है। दूसरे शब्दों में आज हमारे कलाकार की कला को यथार्थ की भूमि पर पनपना चाहिये। उसे अत्यधिक यथार्थवादी बनना होगा। कल्पना लोक के कोमल कुसुमों के साथ खेलने की अपेक्षा उसे संसार और अपने चारों ओर फैले हुए समाज के प्रति चेतनशील रहना पड़ेगा। उसके साहित्य में जनता के हृद्तंत्री के तारों की झनकार गूंजती रहनी चाहिये। इस प्रकार यथार्थ और सत्यता के साथ उसे पूर्णरूप से अपना गठबन्धन रखना चाहिए। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कवि-सुलभ कल्पना का द्वार उसके लिए सदैव के हेतु अवरुद्ध हो गया है। यथार्थवादी होते हुए भी हमारा कलाकार अपने भावों को व्यक्त करने के लिए कल्पना का माध्यम ग्रहण कर सकता है। परन्तु कल्पना का भाग यथार्थ की तुलना में असन्तुलित नहीं रहना चाहिए। हिन्दी के संत कवि आज के प्रगतिवादियों के समान अत्यधिक यथार्थवादी हैं। उनके काव्य की प्रेरणा जनता

और तत्कालीन समाज है, परन्तु फिर भी उनका साहित्य कल्पनोत्कर्ष से विहीन नहीं है। उनके साहित्य में सुन्दर कल्पनाओं का उत्कर्ष हुआ है।

चरनदास के भक्त हृदय ने उन्हें समाज-सुधार तथा कवित्व की भावनाएं प्रदान की थीं। वे भाव-प्रधान प्राणी थे। उनकी भावुकता केवल स्वांतः सुखाय ही नहीं थी वरन् लोकरंजन के लिए भी थी। उनके भाव एवं विचार विश्व कल्याण के रंग में अनुरंजित थे। भावुकता और कल्पनोत्कर्ष में निकट सम्बन्ध है। अतएव चरनदास के साहित्य में हमें सुन्दर कल्पनाओं का उत्कर्ष उपलब्ध होता है। इन कल्पनोत्कर्षों का महत्व केवल आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही नहीं वरन् साहित्य की दृष्टि से भी है। कवि कल्पनाओं के सुन्दर दर्शन उनके ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्त-करणसार, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, धर्मजहाज, आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कवि के सहस्रों स्फुट पद तथा साखियों में भी कलात्मक कल्पनाएं उपलब्ध होती हैं। इन कल्पनाओं को व्यक्त करने में लेखक ने अनेक रूपकों, और उदाहरणों का सहारा लिया। अब यहाँ पर कतिपय कल्पनाओं और भावों के उत्कर्ष का परीक्षण आवश्यक है।

इन्द्रियाँ मानव की सबसे बड़ी शत्रु हैं। इन्हीं के कारण मानव के हृदय में लोलुपता, स्वादुप्रियता समुत्पन्न होती है और बस, इनके वशीभूत होते ही वह जीवन को मिट्टी में मिला देता है। शरीर में निर्बलता, चरित्र में दोष पाने वाला और आध्यात्मिकता से पतित करने वाली यही इन्द्रियाँ ही तो हैं। कवि ने शरीर की इन्द्रियों से समुत्पन्न काम, क्रोध, मोह, लोभ और अहंकार को पाँच प्रबल चोर होने की कल्पना की है। ये कवि के शब्दों में :—

पांचौ चोर महा दुख दाई। सो या जग में देहिं फंसाई॥
तन मन कूं बहु व्याधि लगावैं। कायक वाचक पाप चढ़ावै॥

भ्रम, मानव की बुद्धि पर एक प्रकार का पर्दा डालता है और वह सद्-असद् सोचने में समर्थ नहीं रह जाता। भ्रम बुद्धि में दुविधा उत्पन्न कर देता है। किंचित् काल के लिए भ्रम, बुद्धि को उसी प्रकार आच्छादित कर लेता है यथा बादल सूर्य को अथवा माया सत्य को। अन्ततोगत्वा सत्य उद्भासित ही होकर रहता है और बुद्धि निर्मल होती है। कवि ने इसी भ्रम को एक घूंघट की संज्ञा प्रदान की है। यह कल्पना कितनी सुन्दर और सत्य है, साथ ही मनोवैज्ञानिक भी :—

साधो घूंघट भर्म उठाय होली खेलिये।
वेद पुरान लाज तजिवे री इन मे ना उरझैये।
सिर सूं सकुच उतारि चदरिया पिय सूं रंग बढ़ैये॥

रूप न रेख है सूरति मूरति ताके बलि-बलि जैये ।
अचल अजर अविनासी सोई सनमुख दरसन पैये ।।
सत चेतन आनन्द सदा ही निरभय ताल बजैये ।
पाप पुन्य की संका त्यागो जहं मर्याद न पैये ।।

भर्म घूघट उठाकर "सिर सूं सकुच उतारि चदरिया" अविनाशी प्रियतम के दर्शन पाने की कल्पना कितनी सुंदर है ।

होली का नाम लेते ही पिचकारी, रङ्ग, गुलाल, कबीरें, उफर आदि का ध्यान आ जाता है और साथ ही मस्ती के साथ फाग गाने वालों के चित्र सामने अंकित हो जाते हैं । इन पंक्तियों में इन्हीं समस्त वस्तुओं को लेकर कवि ने सांसारिक तत्वों पर रूपक घटित किया है । कवि की कल्पनाओं का सुन्दर उत्कर्ष इन पंक्तियों में देखिये :—

साधो चलो तुम संभारी जग होरी मति रहि भारी ।।टेक।।
दंभ पखंड गहै करमें डफ हूबड हूबड की तारी ।
त्रैगुन तार तंबूरा साजै आसा तृष्ना गतिधारी ।।
पाप पुन्य दोउ ले पिचकारी छोड़त हैं बारी बारी ।
सनमुख ह्वै करि जो नर खेलो ताके चोट लगी कारी ।।
लोभ मोह अभिमानी भरी लै माया गागरि डारी ।
राजा परजा जोगी तपसी भींज रहे संसारी ।।
कुबुधि गुलाल डारि मुख मींजों काम कला पुटली मारी ।
जुग जुग खेलत यौ चलि आई काहू ते नाहीं हारी ।।
जड़ चेतन दोउ रूप संवारे एक कनक दूजी नारी ।
पांच पचीस लिये संग अबला हंसि हंसि मिल गावत गारी ।।
चतुरा फगुवा दै है छूटै मूरख को लागी प्यारी ।
चरनदास शुकदेव बतावैं निर्गुन ज्ञान लगी न्यारी ।।

इस संसार में मन समस्त संकल्प-विकल्पों का उत्तरदारी है । आशा, तृष्णा आदि उसी की सन्तान हैं । मन दिन भर भाँति-भाँति की कल्पनाएँ करता रहता है । भाँति-भाँति के संसार की सृष्टि करता रहता है । प्रस्तुत पद में कवि ने मन के माली होने की कल्पना की है । इस कल्पना के आधार पर देखिये कितना बड़ा रूपक खड़ा किया गया है और हमारा कवि अपने प्रयास में कितना सफल हुआ है :—

करि ले प्रभु सूं नेहरा मन माली यार ।
कहा गर्व मन में धरै जीवन दिन चार ।।

ज्ञान बेलि गहु टेक की दया क्यारी संवार।
जतसत दृढ़ के बीज ही बोवो तासु मंझार॥
सील छिमा के कूप को जल प्रेम अपार।
नेम डोल भरि खैंचि कै सीचों बाग विचार॥
छल कीकर कूं काटि कै बांधो धीरज बार।
सुमति सुबुद्धि किसान कूं राखौ रखवार॥
धर्म गुलेल जु प्रीति की हित धनुष सुधार।
झूंठ कपट पच्छनि कूं ता सूं मार बिडार॥
भक्ति भाव पौधा लगै फूलै रंग फुलवार।
हरि रस माता होय के देखै लाल बहार॥
सत संगति फल पाइये मिटै कुबुधि विकार।
जब सतगुरु पूरा मिलै चाखै अमृत सार॥

निम्नलिखित पंक्तियों में मन को राम नाम का व्यापारी माना गया है:—

मनुवां राम से व्यौपारी।
अब की खेप भक्ति की लादी वनिज कियो तैं भारी॥
पांचो चोर सदा मग रोकत इनसूं कर छुटकारी।
सतगुरु नायक के संग मिलि चल लूट सकै नहि धारी॥
दो ठग मारग माहिं मिलैंगे एक कनक इक नारी।
सावधान हो पेंच न खैयो रहियो आप संभारी॥
हरि के नगर में जा पहुँचोगे पैहौ लाभ अपारी।
चरनदास तो कूं समझावै हे मन बारम्बारी॥

संसार विनाशशील एवं क्षणिक है। राम और नाम के अतिरिक्त इसमें सभी कुछ शून्य है। यह प्रासाद, यह भवन, यह झिलमिलाता हुआ सुन्दर यौवन और रूप, सभी कुछ तो मिट्टी में मिल कर पंचतत्व को प्राप्त हो जाता है। यह शरीर जिस पर इतना गर्व और अहंकार है, ओले की भाँति गल कर विकृत हो जायगा। ओले की भाँति शरीर का गल जाना कवि की मौलिक और निजी कल्पना है:—

या तन को कह गर्व करत है, ओला ज्यों गलि जावै रे।
जैसे बरतन बनो कांच को, ठपक लगै विनसावै रे॥
झूठ कपट अरु छलबल करि कै, खोटे कर्म कमावै रे।
बाजीगर के बांदर साज्यों, नाचत नाहि लवावै रे।
जब लौ तेरी देह पराक्रम, तव लौ सवन सो हावै रे॥

निम्नलिखित पंक्तियों में तन के पिंजड़ा होने की कल्पना की गई है। यह कल्पना परम्परागत होते हुए भी प्रिय लगती है :—

दम का नहीं भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिंजरे सूं निकल जायगो बल में पंछी प्रान ॥

मानव जीवन को कवि ने अवधि माना है। इस संसार में ठहरने की अवधि धीरे-धीरे क्षीण होती जा रही है और फिर-फिर वही प्रस्थान का दिवस आजायगा। प्रस्तुत पद में इसी कल्पना का प्रसार देखिए :—

अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात।
स्वांस पूँजी गांठि तेरे, सो घटत दिन रात ॥
साधु संगत पैंठ लागी, ले लगै सोइ साथ।
बड़ो सौदो हरि संभारौ, सुमिरि लीजै प्रात।
काम क्रोध दलाल है, मत बनिज कर इन साथ ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे है तेरी घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदय, तौ दगा नहि खात ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि की कल्पनाओं का उत्कर्ष सुन्दर और सफल है। इन कल्पनाओं में कतिपय परम्परानुगत है और शेष मौलिक तथा सर्वथा अभिनव।

अलंकार योजना—विगत पृष्ठों में सन्तों के काव्यादर्श पर विचार किया जा चुका है। दरिया साहब के अनुसार संतों का काव्यादर्श निम्नलिखित है :—

सकल कवित का अर्थ है, सकल बात की बात।
दरिया सुमिरन राम का, कर लीजै दिन रात ॥

स्पष्ट है कि सन्तों ने कला प्रदर्शन के लिए काव्य नहीं लिखा। इन संतों को काव्य-रचना के आधारभूत सिद्धान्तों, छन्द, पिंगल, रस और अलंकार का ज्ञान नहीं था। जिन सन्तों ने काव्य और कवि को सम्मान्य नहीं माना है उन्हें पिंगल से क्या प्रयोजन ? जिन्हें प्रदर्शन और बाह्याडम्बर से घृणा है उन्हें अलंकरण से क्या सम्बन्ध ? फिर भी सन्तों ने काव्य की रचना की और उनके काव्य में अलंकारों के दर्शन होते ही हैं। सच तो यह है कि भावों के वेग के साथ ही सन्तों के काव्य में अलंकारों का सहज सौन्दर्य सर्वत्र दृष्टिगत होता है। अलंकारों का प्रयोग करके काव्य का सौन्दर्य बढ़ाना हमारे कवि का लक्ष्य नहीं था। जीवन, साधना और काव्य—तीनों में ही हमारे कवि को सहज और सरलता प्रिय थी। इसीलिए स्वाभाविक रूप से आए हुए अलंकार उनके काव्य के वहिरंग को सुशोभित कर रहे हैं।

चरनदास के काव्य में शब्दालंकारों में अनुप्रास तथा अर्थालंकारों में उपमा, रूपक तथा अतिशयोक्ति अलंकारों का प्रयोग बारम्बार हुआ है। इनके अतिरिक्त अन्य अलंकारों का प्रयोग नहीं हुआ है।

चरित्र चित्रण—सन्तों के काव्यादर्श का उल्लेख अन्यत्र हो चुका है। उससे स्पष्ट है कि इन्होंने काव्य को केवल हेतु माना है। चरनदास ने अन्य सन्तों के स्वर से स्वर मिलते हुए कहा है :—

पढ़न लिखन सब नाम है री, अरी हेली नाम ग्रह सब देव।
जो कुछ है सो नाम ही, नाम हमारा भेव॥

इन सन्तों ने काव्य को केवल ब्रह्म-गुणगान और उपदेश देने का माध्यम माना था। प्राकृत विषयों से सम्बद्ध चरित्रों के गुणगान को ये वाणी या सरस्वती का अपमान समझते थे। उनका लक्ष्य आध्यात्मिक जीवन को उच्च करना था। इसीलिए न उन्होंने किसी महाकाव्य की रचना की न उनके काव्य में अनेक प्रकार और भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले पात्रों का चरित्र-चित्रण ही हुआ है। चरनदास के चारित्रिक ग्रन्थों में 'नासकेत-लीला,' 'चीरहरण-लीला,' 'दान-लीला' 'ब्रजचरित' 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला' आदि ग्रन्थों का उल्लेख होता है। इन ग्रंथों के नामों से ही स्पष्ट है कि इनमें अलौकिक वा पुण्यात्मा व्यक्तियों के चरित्र वर्णित हैं। 'नासकेत-लीला' में ऋषि उद्दालक एवं चन्द्रावती के पुत्र नासकेत का उज्ज्वल चरित्र वर्णित हुआ है। इसके साथ ही उद्दालक, चन्द्रावती, इन्द्र एवं प्रजापति के चरित्रों का वर्णन किया गया है। 'चीरहरण-लीला,' 'दान-लीला' एवं 'ब्रजचरित' ग्रन्थों में कवि ने श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया है। इन महान् व्यक्तित्व के साथ श्री राधा, गोप कुमारियों और ब्रज की अनेक दिव्यांगनाओं का चरित्र स्वयं प्रकाश में आ गया है। इन तीनों ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के चरित्र से ही अन्य पात्रों के चरित्र प्रकाशित होते हैं। अंतिम ग्रन्थ में श्रीधर ब्राह्मण के कपट चरित्र का चित्रण किया गया है। इस ग्रन्थ में बालक श्रीकृष्ण के चरित्र का क्षीण प्रकाश भी व्यक्त हो गया है। इन समस्त पात्रों का चरित्र-चित्रण प्राचीन पौराणिक ग्रन्थों के आधार पर किया गया है।

कवि ने उपर्युक्त ग्रन्थों में चरित्र-चित्रण के प्रति कम ध्यान दिया है। उसके ध्यान और वर्णन का केन्द्र-विन्दु है चरित्रों और कथाओं से निकला हुआ निष्कर्ष और असत्य पर सत्य की विजय, अधर्म पर धर्म की स्थापना। कवि ने चरित्र-चित्रण को प्रायः उपेक्षित ही रखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का लक्ष्य कथा-वर्णन की ओर अधिक है। कथा कहने की जल्दी में वह चरित्र-चित्रण को भी भूल जाता है। सत्य तो यह है कि कवि चरित्र की ओर ध्यान न देकर कथा

के निष्कर्ष के प्रति अधिक ध्यान देता है। व्रजचरित्र, दानलीला, चीरहरणलीला आदि बड़े ही मनोरम और चित्ताकर्षक प्रसंग हैं। इनमें श्रीकृष्ण के चरित्र की सरसता, मनमोहकता, रमणीयता आदि के प्रति लेशमात्र भी कवि का मन नहीं गया है। कथा का प्रवाह चरित्र-चित्रण की विशेषताओं को अपने साथ बहा ले जाती है। इन ग्रन्थों में श्रीकृष्ण के लोकरंजक मधुर चरित्र की अभिव्यक्ति भी नहीं हुई है। केवल कृष्ण के चरित्र की अलौकिकता के प्रति कवि का ध्यान सर्वत्र गया है।

'नासकेत-लीला' में भी नासकेत के चरित्र का बहुत ही क्षीण प्रकाश हमें प्राप्त होता है। लेखक का मन विविध नरकों की यातनाओं, पापियों के पाप-भोग तथा दुष्कृत्यों के कुफल और कर्मयोग के प्रति जितना गया है उतना अन्य किसी बात में नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि नासकेत का चरित्र इन आदर्शों और फलों के वर्णन करने के लिए व्यक्त किया गया है।

संक्षेप में कवि, चरित्र-चित्रण में अधिक सफल नहीं हुआ है। सम्भवतः यह उसका लक्ष्य भी नहीं था।

रचना-शैली—प्रत्येक लेखक की निजी शैली होती है। इसी शैली के आधार पर वह अपने भाव अथवा विचारों की अभिव्यंजना करता है। शैली के लिए बहु-पठित होने की उतनी आवश्यकता नहीं जितना लिखित साहित्य होना अनिवार्य है। साहित्यकार विद्वान् हो या अल्पज्ञ, यदि उसका साहित्य लिखित है तो उसकी शैली स्पष्ट हो जायगी। संत कवि न बहु-पठित थे न विद्वान्, फिर भी उनकी अपनी शैली है। बात कहने का ढंग ही शैली है। शैली के विभिन्न अंग होते हैं। किसी भी कवि की शैलीगत विशेषताओं पर ध्यान देने या उनका मूल्यांकन करने के लिए हमें शैली के समस्त अंगों पर विचार कर लेना अपेक्षित है। चरनदास की शैली का अध्ययन हम निम्नलिखित शीर्षकों में करेंगे :—

१. अभिव्यंजना शक्ति, २. छन्दों का प्रयोग, ३. भाव, शब्द और मुहावरों का प्रयोग ४. विभिन्न प्रकार के साहित्य रचना की शक्ति तथा ५. शैलीगत विशेषताएं। शैली की दृष्टि से चरनदास का साहित्य निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

१. सर्वप्रथम वह साहित्य है, जिसकी रचना कवि ने जनहित से प्रेरित होकर की। इसमें उनकी साधना की अनुभूति व्यंजित है। इसी कोटि में कवि-विरचित अन्य सहस्रों पद एवं साखियां भी आ जाती हैं जिनकी रचना जनता के उपदेशार्थ हुई है। कवि की 'अष्टांग योग,' 'पंचोपनिषद्-सार,' 'ब्रह्मज्ञान-सागर,' 'भक्तिपदार्थ,' 'भक्तिसागर,' 'योगसन्देह-सागर, 'मनविरक्तकरण-सार' आदि रचनाएं इसी कोटि में

आ जाती हैं। यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये ग्रन्थ कवि की प्रतिनिधि-रचनाएं हैं। इनमें कवि की प्रतिनिधि विचार-धारा के दर्शन होते हैं। योग, ज्ञान, वैराग्य, भक्ति और स्वरोदय-साधना सभी का परिचय इनसे प्राप्त हो जाता है।

२. वह साहित्य है, जिसकी रचना कवि ने केवल भगवत भजन और ब्रह्म के गुणगान के लिए की है। इस कोटि के ग्रन्थों में श्रीकृष्ण चरित्र विषयक ग्रन्थ अमर लोक, भक्तिसागर आदि ग्रन्थ आते हैं।

३. स्फुट-साहित्य, जिसकी रचना कवि ने स्वान्तः सुखाय की थी। इस कोटि में अनेक पद एवं साखियाँ आती हैं जिनमें न तो उपदेश की भावना है और न अनुभूति की व्यंजना ही हुई है। इन पदों की संख्या प्रचुर है।

इन तीनों प्रकार के साहित्य का महत्व अपने-अपने स्थान पर सुरक्षित है। साधना, अनुभूति और उपदेश की यह त्रिवेणी किसी भी पाठक को आनन्द-विभोर कर देने की सामर्थ्य रखती है।

अभिव्यंजना शक्ति—'भक्ति सागर' के अन्त में कवि ने लिखा है :—

ऐसे ही पांच हजार बनाई। नाम गुरू के गंग बहाई ॥
फिर भइ बानी पांच हजारा। हरि के नाम अगिनि में जारा ॥
तीजै गुरु आज्ञा सो कीन्ही। सो अपने साधुन को दीन्ही ॥
अद्‌भुत ग्रन्थ महासुख दाई। ताकी शोभा कही न जाई ॥
तामे ज्ञान योग वैरागा। प्रेम भक्ति जाये अनुरागा ॥
निर्गुण सर्गुण सबही कहिया। फिर गुरु चरण कमल में रहिया ॥
जो कोई पढ़ि पढ़ि अर्थ विचारै। आप तरै औरन को तारै ॥
ना मैं किया न करने हारा। गुरु हिरदे में आप उचारा ॥

इन आत्मकथात्मक पंक्तियों से ज्ञात होता है कि भक्ति-सागर के रचना-काल तक (अन्तस्साक्ष्य के अनुसार इस ग्रन्थ का रचना-काल संवत् १७८१ है) कवि ने इसकी रचना इक्कीस वर्ष की अवस्था में की थी। कवि ने १५००० पदों की रचना की थी। इनमें से ५,००० पदों को गुरु के नाम पर उसने गंगा में समर्पित कर दिया, ५००० पदों को उसने हरि के नाम पर अग्नि में समर्पित कर दिया, शेष पांच हजार गुरु की आज्ञा से कवि ने सन्तों की सेवा में समर्पित किया। इस प्रकार १५००० पदों की रचना के विषय में हमें कवि का अन्तस्साक्ष्य उपलब्ध होता है। 'भक्ति-सागर' ग्रन्थ के अनन्तर कवि ने अन्य ग्रन्थों की भी रचना की जिनमें 'अष्टांग योग', 'योग सन्देहसागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'सर्वोपनिषद् सार', 'मनविरक्तकरण-सार', आदि उल्लेखनीय हैं। अतएव निश्चय ही कवि ने इन

१५,००० छन्दों के बाद ५,००० अन्य महत्वपूर्ण सारगर्भित छन्दों की रचना की होगी। चरनदास का बहुत-सा साहित्य सम्प्रदाय के महन्तों की कृपा से कीटाणुओं की खाद्य सामग्री बन गई है। पता नहीं है कि कितनी हस्तलिखित प्रतियाँ महन्तों की कृपा और अज्ञान के कारण विनष्ट होकर मानव की पहुँच के बाहर हो गई है।

चरनदास का उपलब्ध साहित्य मार्मिक और विस्तृत है। वह अभिव्यंजना की दृष्टि से महत्वपूर्ण और सराहनीय है। हमारा कवि अभिव्यंजना की सराहनीय शक्ति लेकर अवतरित हुआ था।

जैसा कि कवि के आत्मकथात्मक अन्तस्साक्ष्य पद्य से प्रकट होता है, कवि की प्रतिभा सम्पन्न-लेखनी से सगुण तथा निर्गुण, ज्ञान योग तथा भक्ति वैराग्य तथा सरोदय, अनुराग तथा विराग, प्रेम तथा घृणा, सत्संग तथा दुर्जन, मूर्ति उपासना तथा वाह्याडम्बरों का खंडन, सामाजिक दोष तथा धार्मिक आडम्बर जैसे विविध विषयों की अभिव्यक्ति हुई है। कवि की लेखनी से नीतिविषयक छन्दों की भी रचना हुई है, जिसमें वही स्वाभाविक प्रवाह तथा भाषा परिष्कार उपलब्ध होता है, जो उनके सम्पूर्ण साहित्य में दृष्टिगत होता है। उदाहरणार्थ, नीतिविषयक कतिपय साखियां यहां उद्धृत की जाती हैं :—

जग माहीं ऐसे रहो, ज्यों अम्बज सर मांहि।
रहै नीर के आसरे, पै जल डूबै नांहि ॥

× × ×

जग माहीं न्यारे रहो, लगे रहो हरि ध्यान।
पृथ्वी पर देही रहै, परमेसुर में प्रान ॥

× × ×

अबकै चूकै चूक है, फिर पछतावा होय।
जो तुम जक्त न छोड़िहौ, जन्म जायगो खोय ॥

× × ×

जनम चलो ही जात है, ज्यों कूवै सैलाव।
दौरत मृग की छांह को, नेक नहीं ठहराव ॥

कवि ने निर्गुण और सगुण ब्रह्म का गुणगान एक ही समान कौशल से किया है। उसने जिस माधुर्य और कलापूर्ण ढंग से दानलीला, मटकी लीला आदि प्रसंगों की रचना की, उसी प्रकार सांसारिकता से विराग एवं माया से दूर रहने का उपदेश दिया है। जिस सुचारु रूप से उसने अपने हृदय के सरलतम भावों को परब्रह्म के चरण-कमलों में अर्पित किया है, उसी प्रकार उन्होंने विविध कथाओं

का भी वर्णन किया है। उनकी लेखनी से गहन तथा सरल, गूढ़ एवं स्पष्ट, महत्वपूर्ण एवं साधारण, उत्तम तथा मध्यम, सभी प्रकार के भावों की रचना हुई है।

कवि की लेखनी अथवा शैली की एक और विशेषता है। उसने एक ही भाव, एक ही विचार को अनेक बार छन्द-बद्ध किया है परन्तु उस प्रसंग को पढ़ जाने के अनन्तर, कहीं उसमें पुनरुक्ति दोष नहीं उपलब्ध होता है। प्रत्येक छन्द उसी अभिनवता के साथ हमारे समक्ष व्यक्त हुआ है जैसा कि पहले का छन्द हमें अभिनव प्रतीत हुआ था। उदाहरणार्थ, आप संसार की नश्वरता से सम्बन्धित भाव को ही ले लीजिए। इस भाव पर लेखक ने सैकड़ों छन्दों की रचना की है परन्तु पाठक का मन कहीं पर उनको पढ़कर ऊबता नहीं है। यहाँ इस आशय की कतिपय पंक्तियाँ उद्धृत की जाती हैं :—

घरी दो में मेल विछुरै साधो देखित मासा चलना।
जो ह्यां आकर हुए इकट्ठे तिनसूं बहुरि न मिलना॥

× × ×

दो दिन का जग जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥

× × ×

दम का नही भरोसा रे करिले चलने का सामान।
तन पिंजरे सूं निकस जायगो पल में पंछी प्रान॥

× × ×

तन का तनिके भरोसा नाही, काहे करत गुमाना रे।
ठोकर लगे नेकहूँ चलतै करिहै प्रान पयाना रे॥

× × ×

यह तन का कह गर्व करत है ओला ज्यों गलि जावै रे।
जैसे बरतन बनो कांच को ठयक लगे विनसावै रे॥

इन पाँचों उद्धरणों में एक ही भाव बारम्बार दोहराया गया है। परन्तु प्रत्येक उद्धरण में हमें नवीनता उपलब्ध होती है। कबीर, दादू आदि संतों की भाँति हमारे कवि ने भी अपने कथनों को दृष्टांत देकर उन्हें रोचकता और लोक-प्रियता प्रदान करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त उद्धरणों में कवि ने जिन-जिन दृष्टांतों का प्रयोग किया है वे हमारे दैनिक जीवन से सम्बन्धित हैं। इसी कारण इनमें स्वाभाविकता और प्रभावित करने की शक्ति है।

कवि का मन योग एवं स्फुट-काव्य में अधिक रमा है। उसका सम्पूर्ण

साहित्य पढ़ जाने पर स्पष्ट हो जाता है कि उसकी शैली की सुष्ठुता इन दो प्रसंगों में विशेष रूप से दृष्टिगत होती है।

सिद्धान्तों का प्रतिपादन—चरनदास के ग्रन्थों में सिद्धान्तों का प्रतिपादन प्रायः प्राचीन ढंग से हुआ है। प्रायः अधिकतर ग्रन्थों की रचना शिष्य एवं गुरु के प्रश्नोत्तर में हुई है। शिष्य के मस्तिष्क में प्रश्न अथवा शंका जाग्रत होती है और वह जिज्ञासा भाव से अपने गुरु से प्रश्न करता है। गुरु, शिष्य की जिज्ञासा को शान्त अथवा निवारण करने के लिए सविस्तार उदाहरण सहित उत्तर देता है। इन्हीं प्रश्नोत्तरों में दर्शनशास्त्र के दुरूह और नीरस विषयों—माया, जीव, जगत्, ब्रह्म, सृष्टि, प्रवृत्ति, निवृत्ति, योग, अष्टांगयोग, आवागमन, मुक्ति-भुक्ति, सत्य, शील, धर्म, त्याग, परोपकार आदि विषयों का प्रतिपादन हुआ है। इन विषयों के प्रतिपादन के साथ ही साथ कवि ने सिद्धान्तों के निर्धारण और प्रतिपादन के लिए भी प्रयत्न किया है। इस प्रकार के ग्रन्थों में यदि पुस्तक को गुरु मान लिया जाय और पाठक को शिष्य, तो पाठक के यथासम्भव प्रत्येक प्रश्न का उत्तर मिल जाता है और उसे जिज्ञासा शान्ति के लिए इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता है। प्रश्नोत्तर के रूप में प्रतिपादित सिद्धान्तों का प्रभाव पाठकों पर भली प्रकार पड़ता है। यह मनोवैज्ञानिक शैली प्रायः प्रत्येक संत कवि के साहित्य में उपलब्ध होती है।

इस प्रकार के ग्रन्थों में शिष्य धीरे-धीरे एक-एक प्रश्न पूछता है। प्रश्नों की शृंखला के साथ ही उत्तरों की शृंखला भी बनी रहती है और इस प्रकार अभीष्ट विषय का प्रतिपादन किया जाता है। दुरूह विषयों को खंड-खंड करके पूछने में उसकी दुरूहता विनष्ट हो जाती है और विषय रोचक बन जाता है।

प्रश्नोत्तर के रूप में जिन ग्रन्थों में सिद्धान्तों का प्रतिपादन हुआ है, वे हैं—'अष्टांग-योग', 'योगसन्देह-सागर', 'ब्रह्मज्ञान-सागर', 'पंचोपनिषद्सार' एवं 'मनविरक्तकरण सार'। शेष ग्रन्थों में साधारण ढंग से कवि विषय का वर्णन कर जाता है और इस प्रकार वह सिद्धांतों की विवेचना भी बीच-बीच में करता चलता है।

संवाद—'भक्तिसागर', 'भक्तिपदार्थ' और 'योग-सन्देहसागर' के अतिरिक्त कवि की प्रायः सभी रचनाओं में सम्वादों का समावेश किया गया है। 'अष्टांग योग', 'पंचोपनिषद् सार', 'ब्रह्मज्ञान-सागर' आदि कवि के महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना गुरु और शिष्य के सम्बन्ध के रूप में ही हुई है। इनके अतिरिक्त 'मटकी-लीला', 'ब्रजचरित', 'नासकेत-लीला', 'श्रीधर ब्राह्मणलीला', 'दान-लीला' 'चीर-हरण-लीला', 'मनविरक्तकरणसार' आदि ग्रन्थों के बीच-बीच में संवादों की रचना की गई है। इन समस्त ग्रन्थों में सुन्दर संवादों की दृष्टि से 'नासकेत-लीला' और

'मनविरक्तकरणसार' ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेखनीय है। 'नासकेत-लीला' में नासकेत और प्रजापति, इन्द्र और प्रजापति, नासकेत और उद्दालक, उद्दालक और चन्द्रावती के पिता राजा, चन्द्रावती और ऋषि के संवाद सुन्दर हैं। इनमें भाषा-प्रवाह के साथ रोचकता भी उपलब्ध होती है। शेष ग्रन्थों में संवाद-विषयक कोई आकर्षण और रोचकता नहीं उपलब्ध होती है।

'दान-लीला', 'चीरहरण-लीला', 'ब्रजचरित', 'मटकी-लीला', 'श्रीधर-ब्राह्मणलीला', 'जागरण-माहात्म्य' आदि ग्रन्थों के संवाद संक्षिप्त एवं अपर्याप्त हैं। इन संवादों में सुलभ आकर्षण एवं रोचकता नहीं है। इन ग्रन्थों के संवाद नीरस और वाग्वैदग्ध-विहीन हैं। 'दान-लीला', 'चीरहरणलीला', 'मटकी-लीला' आदि प्रसंगों की रोचकता और माधुर्य को पहचानने में कवि सफल नहीं हुआ है।

'अष्टांग योग' ग्रन्थ में से गुरु और शिष्य संवाद के कतिपय उदाहरण नीचे उद्धृत किये जाते हैं :—

शिष्य-वचन

सतगुरु तुम आज्ञा दई, कहूँ आपनी बात।
योग अष्टांग बुझाइये, जाते हियो सिरात॥
मोहि योग बतलाइये, जोहै वह अष्टांग।
रहनी गहनी विधि सहित, जाके आठो आंग॥
मत मारग देखे घने, ह्यासियरे भये प्रान।
जो कुछ चाहौ तुम करौ, मै हौं निपट अयान॥

गुरु-वचन

योग अष्टांग बुझाइहौ, भिन्न-भिन्न सब अंग।
पहिले संयम सीखिये, जाते होय न भंग॥

शिष्य-वचन

संयम काको कहत है, कहौ गुरु शुकदेव।
सो सबही समुझाइये, ताको पावै भेव॥

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि कवि का ध्यान संवादों को संवारने के प्रति कम है। उसका लक्ष्य विषय का प्रतिपादन करना है न कि कलात्मक संवाद की रचना करना। इन संवादों की भाषा सीधी और सरल है।

छन्द—सन्तों का छन्द-ज्ञान बहुत सीमित है। तथ्य यह है कि इन्हें न पिंगल का ज्ञान था और न छन्दों की शिक्षा। उन्होंने अपने हृदय के सीधे-सादे भावों को

सरलतम ढंग से अत्यन्त लोकप्रिय छन्दों में व्यक्त कर दिया है। ऊपर कहा जा चुका है कि काव्य और काव्य-शास्त्र उनके लिए हेतु था, अन्तिम लक्ष्य नहीं। इसीलिए समस्त संत-साहित्य केवल कतिपय गिने-चुने छन्दों तक ही सीमित है। चरनदास इस उपर्युक्त कथन के अपवाद नहीं हैं। उनके समस्त ग्रन्थ पद्यात्मक और छन्द-बद्ध हैं।

चरनदास की कविता में अन्त्यानुप्रास सर्वत्र शुद्ध है। अन्त्यानुप्रास की अशुद्धि का एक भी उदाहरण कवि की रचना में नहीं मिलता है। जहाँ कहीं अन्त्यानुप्रास नहीं मिलता है, वहाँ कवि ने ध्वनि की दृष्टि से अन्त्यानुप्रास स्थापित करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित उद्धरण पठनीय है :—

लोभ गये ते आवई, महाबली सन्तोष।
त्याग सत्य कूं संग ले, कलह निवारन सोक॥

× × ×

जो राखै मन मांहि बिबेक विचार कूं।
पावै पद निर्बान बचै जग भार सूं॥

× × ×

अर्ज सुनो जगदीश गोसाईं।
ग्रह नछत्र अरु देव विसार्‌यो चरन कंवल की आयो छाहीं॥

कला की दृष्टि से इस प्रकार के ध्वन्यात्मक अन्त्यानुप्रास अशुद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार कवि ने दो-एक स्थानों पर ड का अन्त्यानुप्रास ढ से मिला दिया है। यहाँ पर ड एवं ढ के उच्चारण में भिन्नता बहुत ही अल्प है। इस कारण खटकने वाली बात नहीं है। इसी प्रकार निम्नलिखित साखी में कवि ने द और ध का अन्त्यानुप्रास मिलाया है। ध्वन्यात्मक-साम्य होने के कारण उनमें कोई दोष नहीं दृष्टिगत होता है :—

भोये भटरे के पग लागै, साधु संत की निंदा।
चेतन को तजि पाहन पूंजै, ऐसा यह जग अंधा॥

चरनदास के ग्रन्थों में प्रयुक्त छन्दों की तालिका निम्नलिखित है :—

१. ब्रजचरित—दोहा, चौपाई, कवित्त
२. अमरलोक—दोहा, चौपाई
३. धर्मजहाज—दोहा, चौपाई
४. अष्टांग-योग—दोहा, चौपाई, अष्टपदी
५. योगसन्देह-सागर—दोहा, चौपाई

६. पंचोपनिषद्सार—दोहा, चौपाई, अष्टपदी
७. भक्तिपदार्थ—दोहा, चौपाई, अष्टपदी, कुंडलिया, कवित्त, छप्पय, सवैया, अरिल्ल
८. मनविरक्तकरण सार—दोहा, अष्टपदी, कुंडलियां
९. ब्रह्मज्ञान-सागर—दोहा, छप्पय, कुंडलिया, सवैया, कवित्त
१०. भक्तिसागर—दोहा, चौपाई, छप्पय, सवैया, कवित्त, कुंडलियां
११. जागरण-माहात्म्य—दोहा, चौपाई, छप्पय
१२. दान-लीला—दोहा
१३. माखनचोरी-लीला—दोहा
१४. कालीनथन-लीला—दोहा
१५. मटकी-लीला—छप्पय
१६. श्रीधर ब्राह्मणलीला—पद
१७. कुरुक्षेत्र-लीला—दोहा, अष्टपदी
१८. नासकेत-लीला—दोहा, चौपाई
१९. ज्ञान-स्वरोदय—दोहा, चौपाई, कुंडलियां
२०. चीरहरण-लीला—दोहा
२१. स्फुट रचनाएँ—साखी, दोहा, पद, कवित्त

छन्दों की दृष्टि से कवि के ग्रन्थों का विभाजन निम्नलिखित है :—

१. दोहा, चौपाई—नासकेत लीला, ज्ञान स्वरोदय, चीरहरण-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, व्रजचरित, अमरलोक, धर्मजहाज, अष्टांग योग, योगसंदेह-सागर, पंचोपनिषद्सार, भक्तिपदार्थ, भक्तिसागर, ब्रह्मज्ञान-सागर, मनविरक्तकरण-सार, जागरण-माहात्म्य, दानलीला, माखनचोरी-लीला, कालीनथन-लीला।
२. कवित्त—व्रजचरित, भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञान-सागर, भक्तिसागर।
३. कुंडलियाँ—ज्ञान-स्वरोदय, भक्तिपदार्थ, मनविरक्तकरण-सार, ब्रह्मज्ञान-सागर, भक्तिसागर।
४. छप्पय—मटकी-लीला, भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर, जागरण-माहात्म्य।
५. अष्टपदी—कुरुक्षेत्र-लीला, मनविरक्तकरण-सार, भक्तिपदार्थ, पंचोपनिषद्सार, अष्टांग-योग।
६. सवैय्या—भक्तिपदार्थ, ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर।
७. अरिल्ल—भक्तिपदार्थ।

इस विवेचनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि चरनदास को दोहा, चौपाई, अष्टपदी, और कुंडलिया विशेष प्रिय थे। इसके अतिरिक्त स्फुट-साहित्य में 'साखी और पद का प्रयोग कवि ने अधिक किया है। चरनदास ने इस प्रकार जनता के प्रिय छन्दों में अपने साहित्य की रचना की। संवत् १६०० से १८०० तक दोहा और चौपाइयों में अधिकांश हिन्दी साहित्य की रचना हुई थी। अतएव समय की आवश्यकता और साहित्य की धारा के अनुसार हमारे कवि ने भी इन्हीं छन्दों के माध्यम से अपने ग्रन्थों की रचना की। कवि के ग्रन्थों में निम्नलिखित रागों की रचना हुई है :—

१. भक्ति पदार्थ—राग सारंग, भैरव, विल्लावल, सोरठा, गौरी, आसावरी, केदारा
२. कालीनथन-लीला—राग झांझ
३. भक्तिसागर—अरिल्ल
४. श्रीधर ब्राह्मण-लीला—काफी, धनासरी, मांझ, कल्याण, झझौटी, हेला
५. स्फुट-काव्य—कल्याण, भैरव, धनाश्री, सोरठ, काफी, करखा, परज, विभास, रामकली, विल्लावल, केदारा, कान्हरा, देवगंधार, नट, सारंग, गौरी, मंगल, जैजैवन्ती, आसावरी, मलार, हिंडोलना, हेली, अलहिया, रासविहागरा, पंचम, झझौटी, विलास, ईमन, भालश्री, बरवा, ललित, जयकारी, सीठना, ललित, बसन्त, धमार।

वर्णन शक्ति—चरनदास की वर्णन-प्रतिभा सराहनीय है। यद्यपि भक्त-कवियों और विशेषकर सन्त कवियों ने अपने वर्ण्य-विषय में आध्यात्मिक पक्ष पर ही प्रकाश डाला है, तथापि जहाँ पर कवि को थोड़ा बहुत अवसर मिल गया वहाँ हमारे कवि की लेखनी उस वस्तु-विशेष का वर्णन करने लगती है। कवि की निम्नलिखित सात रचनाओं से उसकी वर्णन-शक्ति तथा प्रतिभा के दर्शन होते हैं :—

१. अष्टांग योग २. नासकेत-लीला ३. अमरलोक ४. पंचोपनिषद् सार ५. मनविरक्तकरण-सार ६. कुरुक्षेत्र-लीला ७. भक्तिपदार्थ।

'अष्टांग योग' में कवि ने योग के आठ अंगों का बड़े व्यापक रूप से सविस्तार वर्णन किया है। कवि ने योग के विभिन्न आठ अंगों के सूक्ष्म से सूक्ष्म भेद में प्रविष्ट होकर उसका उल्लेख किया है। यम और नियमों के भेदों तथा आसनों के भेदों का सूक्ष्म रूप से उल्लेख किया है। कवि ने प्राणायाम की प्रक्रिया, विधि, बाधाएँ, लाभ, उपादेयता, चक्रों का निरूपण, कुंडलिनी का जागरण, नाड़ियों की महत्ता, अष्टकुमारों की व्याख्या सविस्तार की है। इन सभी प्रसंगों को अधिक

बोधगम्य और स्पष्ट बनाने के लिए कवि ने सुन्दर उदाहरणों और दृष्टांतों की भी रचना की है। इसी प्रकार इस प्रसंग में कवि ने षट्कर्मों, विविध मुद्राओं, बन्धों, आदि का वर्णन भी बड़े विस्तार से किया है। योग-विषयक इस वर्णन की विशेषता है रोचकता को सुरक्षित रखते हुए उसे वैज्ञानिक शैली में स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करना। अपनी प्रतिभा के आधार पर कवि ने विषय-वर्णन को सुन्दर और सुगम बना दिया है।

कवि की वर्णन-प्रतिभा का सबसे ज्वलन्त उदाहरण है उसका ग्रन्थ 'नासकेत-लीला'। इस ग्रन्थ में कवि ने नासकेत के मुख से विविध दुष्कर्मों के फलों, तज्जनित दंड, नरक आदि का बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है। कवि ने मनसा, वाचा, कर्मणा कृत पृथक्-पृथक् पापों के प्रतिफलों का वर्णन बड़ी सावधानी और मनोयोग के साथ किया है। इसी प्रकार कवि ने स्वर्ग का बड़ा सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन किया है। इनमें कवि की वर्णन शक्ति और धैर्य, दोनों की ही सराहना करना पड़ता है। नरक और स्वर्ग का यह वर्णन प्रायः ६३ पृष्ठों में सम्पन्न हुआ है। इस वर्णन में से कतिपय पंक्तियाँ यहाँ उदाहरणार्थ उद्धृत करना असंगत न होगा :—

दसवां कुल संकुल जो देखा। तामें दुख है अधिक विशेखा ॥
ब्राह्मण छत्री शूदर वैशा। भारी पाप किया जिन ऐसा ॥
मांस खाय मदिरा जिन पीया। सोवा नरक मांहिं गहदीया ॥
मारा जीव मांस ले खाया। जाका पातक बहुत बताया ॥
मोल मगाय मांस जो खावै। सो भी पापी बहु दुख पावै ॥
उसी ठौर मैं यही निहारा। भ्यानक अधिकी दुख ह्वां भारा ॥
अगनरूप जलते द्रुम देखे। दस जोजन लाम्बे जु बसेखे ॥
जोजन पाँच घेर विस्तारा। एक एक का न्यारा न्यारा ॥
संकल सूं ह्वां बाधै पापी। हाहा शब्द कहै संतापी ॥
जम लोहे की लाठी मारै। मुगदर सों सिर फोर ही डारै ॥
उनका चिमटा चाम उपारै। सीसा तावै मुख में डारै ॥

प्रस्तुत उद्धरण में दसवें नरक संकुल का वर्णन हुआ है। इसमें सभी प्रकार से मांस प्राप्त करके खाने वालों का वर्णन किया गया है। अब कुम्भीपाक नरक के विस्तृत वर्णन से कतिपय पंक्तियां पढ़िये :—

पहिले कुंभी पाक कहत हूँ। ता डर सूं हरि ध्यान धरत हूँ ॥
जा जा पापी जहाँ परत है। जम तिनकूं बहु मार धरत है ॥
उन पापी जो पाप कमाये। सो तुमसूं अब कहूं सुनाये ॥
गऊ ब्राह्मण पशु बहु मारै। पक्षी आदि जीव हन डारै ॥

दान करत भांजी जो मारै । अरु ब्रह्मचारी का तप टारै ॥
और गरीबन को हन डारै । और मित्र का घात विचारै ॥
सोवै कुंभी नरक मंझारी । जाय परत है नरकै नारी ॥
कुंभीपाक कहूं परवाना । जाका मुख है घड़े समाना ॥
बड़े बड़े कीड़े लग जाही । महादुर्गन्ध बुरी तिह माही ॥
तामे बहुत बरस दुख पावै । पाप भुगत कर बाहर आवै ॥

अमरलोक ग्रन्थ में कवि की वर्णन-शक्ति का अच्छा आभास मिलता है । इस ग्रन्थ में रास प्रसंग के अन्तर्गत कवि ने रासलीला भूमि का सौंदर्य और वैभव बड़े विस्तार के साथ वर्णन किया है । कवि ने सैकड़ों पुष्पों, विविध सुगन्धों और अमरलोक के अमर प्राणी, दिव्यांगनाओं गोपिकाओं का बड़ा विशद वर्णन किया है । इसी गन्थ में श्रीकृष्ण और श्रीराधा के वस्त्राभूषणों का वर्णन भी बड़े विस्तार और सुंदरता के साथ सम्पन्न हुआ है ।

'पंचोपनिषद् सार' में कवि की वर्णन-शक्ति का केन्द्र पूर्ण रूप से ब्रह्म की विवेचना, उसकी सर्वव्यापकता, सर्व सम्पन्नता, सर्वसामर्थ्य और महत्ता है । ब्रह्म के इस वर्णन में बहुत कुछ कहे जाने के अनन्तर भी जैसे उसे सब कुछ कहने के लिए रह ही जाता है । उसे विवश होकर ब्रह्म की महत्ता का वर्णन फिर करना पड़ता है ।

'मनविरक्तकरणसार', 'कुरुक्षेत्र-लीला', 'भक्तिपदार्थ' कवि की वर्णन शक्ति के सुन्दर प्रमाण हैं । इनके अन्तर्गत कवि ने अनेक आध्यात्मिक, दार्शनिक-तत्वों और सिद्धान्तों के निरूपण के साथ-साथ विविध वस्तुओं का वर्णन सुन्दर ढंग से किया है ।

भाषा—चरनदास का आविर्भाव संवत् १७६० विक्रमी में हुआ था । इस समय से प्राय: १२५ वर्ष पूर्व हिन्दी के महाकवि गोस्वामी तुलसीदास अवधी भाषा में अपने गौरव ग्रन्थ की रचना कर चुके थे । मानस की लोकप्रियता के साथ ही अवधी भाषा की लोकप्रियता और उसका प्रचार व्यापक हो रहा है । अवधी की स्मृद्धि तथा व्यापकता में रामचरित मानस का प्रमुख भाग रहा । मानस के अतिरिक्त गोस्वामी तुलसीदास की अवधी में रचित अन्य रचनाएँ भी इस समय तक जनता में पहुँच चुकी थीं । गोस्वामी जी के समकालीन अकबर के दरबारी कवियों में बीरबल, रहीम, गंगा, नरहरि महापात्र आदि अवधी में काव्य-साहित्य को रचना कर रहे थे । गोस्वामी जी से कुछ पूर्व जायस (रायबरेली) के सुप्रसिद्ध कवि मलिक मुहम्मद जायसी (सं० १५६७) अपने प्रसिद्ध प्रबन्ध काव्यों, पदमावत और अखरावट की रचना कर चुके थे ।

इन कवियों द्वारा संस्थापित परम्परा को पल्लवित और पुष्पित रखने का श्रेय हिन्दी के सन्त कवियों को है। अवधी को भावाभिव्यंजना का माध्यम बनाने का कारण उसकी जनप्रियता अथवा लोकप्रियता थी। संत कवि जनता के कलाकार थे। क्या छन्द, क्या भाव, क्या भाषा, क्या रस, क्या अलंकार, सभी दृष्टियों से उनका साहित्य जनता का साहित्य था। तत्कालीन युग में अवधी जनता की भाषा थी। इसीलिए सन्तों ने अवधी के माध्यम से अपने भावों की अभिव्यंजना की। चरनदास से पूर्व दादू, सुन्दरदास, हरिदास, गरीब दास, तुरसीदास निरंजनी, बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, सूफी शाह, गुलाल साहब, भीखा साहब, पलटू साहब, बूला साहब, मलूकदास, जगजीवन साहब, दूलनदास, धरणीदास, दरिया साहब, शिवनारायण साहब आदि सन्तों ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की। इनमें से गरीबदास, जगजीवन साहब, भीखा साहब, शिवनारायण साहब और मलूक दास के काव्य में अवधी भाषा का बड़ा सुष्ठु और परिमार्जित रूप उपलब्ध होता है। इन कवियों ने अपने अधिकतर ग्रन्थों की रचना अवधी भाषा में ही की थी। इन समस्त कवियों की भाषा ग्रामीण अवधी है जिसका प्रचार मलिक मुहम्मद जायसी ने किया था और साहित्यिक अथवा परिमार्जित अवधी (जिसके रचयिता गोस्वामी तुलसीदास थे) का एक विचित्र एवं सुन्दर सम्मिश्रित रूप उपलब्ध होता है। इन कवियों की भाषा अवधी होते हुए भी प्रगतिशील खड़ी बोली से अत्यधिक निकट है। इनकी भाषा में खड़ी बोली के न केवल शब्दों और वाक्यों के प्रयोग उपलब्ध होते हैं वरन् क्रिया-पदों का भी सुन्दर प्रयोग मिलता है। इनकी भाषा खड़ी बोली के इतिहास और विकास को अंकित करने लिए एक बहुमूल्य साधन प्रतीत होती है। खड़ी बोली के विकास यात्रा की दृष्टि से प्रत्येक कवि एक सीमा-स्तम्भ (Mile stone) प्रतीत होता है। सन्त कवि चरनदास का आविर्भाव इसी परम्परा में शिवनारायण साहब के अनन्तर हुआ है।

सन्त चरनदास ने अपने काव्य की रचना अवधी भाषा में की थी। हमारे कवि की अवधी भाषा में साहित्यिक अवधी और ग्रामीण अवधी के रूपों का सुन्दर समन्वय है। इनके रचना काल के पूर्व के लिखित मटकी-लीला, दान-लीला, चीरहरण-लीला आदि की भाषा अव्यस्थित और ग्रामीण अवधी है। इन कृष्णचरित्र विषयक ग्रन्थों की भाषा कहीं-कहीं व्रजभाषा के शब्दों और क्रियापदों से भी प्रभावित है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषाओं और बोलियों का भी सम्मिश्रण कवि की भाषा में उपलब्ध होता है। इन बोलियों और भाषाओं में अरबी, फारसी, संस्कृत, वैसवारी, भोजपुरी एवं बुन्देलखंडी के शब्द पर्याप्त मात्रा में व्यवहृत हुए हैं। कवि की भाषा अत्यन्त सरल एवं स्वाभाविक है। यह जनसमाज की बोली के अनुरूप है और

समाज को प्रभावित करने की शक्ति से सम्पन्न है। कवि की यह भाषा संस्कृत की कठिन शब्दावली और समासों से उन्मुक्त है। प्रांतीय भाषाओं और बोलियों का प्रयोग आवश्यकता और प्रसंग के अनुरूप किया गया है। इनके प्रयोग से भाषा की व्यावहारिकता और परिमार्जन में अभिवृद्धि हुई है। यातायात की कठिनाइयों के उन दिनों में भी चरनदास ने कुरुक्षेत्र, जयपुर आदि अन्य सुदूर स्थानों का भ्रमण किया था। यात्राओं में विभिन्न देशों के वातावरण तथा भाषाओं का भी हमारे कवि पर प्रभाव पड़ा तो आश्चर्य नहीं है। कवि के साहित्य में उपलब्ध प्रांतीय बोलियों के शब्द इतने अधिक नहीं हैं कि उनकी भाषा उससे दबी हुई प्रतीत हो।

'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' में चरनदास की भाषा के विषय में विचार प्रकट करते हुए हरिऔध जी ने लिखा था "कबीर-पंथ की छाया भी उनके पंथ पर पड़ी है। वे भी एक प्रकार से अपठित हैं। उनकी भाषा भी संतबानियों की-सी है। उसमें किसी भाषा का विशेष रंग नहीं। परन्तु व्रज भाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं और कहीं-कहीं राजस्थानी की झलक भी दृष्टिगत होती है। स्वरोदय की रचना जटिल है। उसमें संस्कृत के तत्सम शब्द भी पाये जाते हैं भाषा का माधुर्य बहुत कुछ नष्ट हो जाता है।[1]" प्रस्तुत उद्धरण में ध्यान देने योग्य तीन बातें हैं। प्रथम आरोप यह है कि उसमें किसी भाषा का विशेष रंग नहीं है। इस आरोप का निराकरण कवि की रचनाओं को देखने से ही हो जाता है। प्रत्यक्ष है कि कवि की भाषा खड़ीबोली से प्रभावित अवधी है। द्वितीय यह कि ब्रजभाषा के शब्द उसमें अधिक मिलते हैं। आलोचक का प्रस्तुत कथन केवल कतिपय ग्रन्थों के लिए ही उपयुक्त प्रतीत होता है। इस कोटि में कृष्णचरित्र काव्यों की परिगणना हो सकती है। तृतीय आरोप यह है कि संस्कृत के तत्सम शब्दों के अत्यधिक प्रयोग से भाषा-सौंदर्य विनष्ट हो गया है। इसके उत्तर में केवल इतना ही उल्लेखनीय है कि ऐसे शब्दों का प्रयोग अल्प संख्या में है। दो-एक उदाहरणों के आधार पर सामान्य नियमों का निर्माण नहीं कर सकते हैं।

कवि के साहित्य में प्रांतीय बोलियों के अतिरिक्त अरबी एवं फारसी के शब्दों का भी प्रयोग कौशल के साथ हुआ है। प्रथम परिच्छेद में कवि के आविर्भाव काल पर प्रकाश डाला जा चुका है। इस समय तक मुसलमानों की सत्ता देश पर पूर्ण रूप से स्थापित हो चुकी थी। मुगल राज्य अपने चरम सीमा पर पहुँच चुका था। देश पर उनकी संस्कृति और भाषा का बोलवाला था। फारसी एवं अरबी, राज्य-भाषा होने के कारण जनता में अधिक प्रिय थी। राज्य के कार्यालयों में भी इन्हीं भाषाओं के जानने वालों की ही खपत थी। फलतः उस समय अरबी और फारसी की

१. हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृष्ठ ४६४

वही स्थिति थी जो आजकल अंग्रेजी भाषा की है। ऐसे वातावरण से प्रभावित होना कवि के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। इसके अतिरिक्त दिल्ली बहुत काल तक मुसलमान-शासकों की राजनीति का लीला-क्षेत्र रहा है। दिल्ली चिरकाल तक मुसलमानों की राजधानी रही थी। फलतः उनकी संस्कृति की जड़ें दिल्ली में जम गई थी। अपनी रचनाओं को जनता में प्रिय बनाने के लिए हमारे कवि ने अपने ग्रन्थों में अरबी-फारसी की शब्दावली का प्रयोग किया है। अरबी-फारसी जानने वाली जनता में उस समय ऐसी ही भाषा की मांग थी और विशेषतया उस दशा में जब उसकी रचना त्रस्त-जनता के परित्राण एवं उपदेश के लिए हुई थी।

कवि की रचनाओं में फारसी के शब्दों का प्रयोग सामान्यतया तीन प्रकार से उपलब्ध होता है। सर्वप्रथम वे रचनाएं जिनमें फारसी के शब्दों की प्रचुरता है। ये रचनायें सवैया एवं पदों में हैं। इस प्रकार की स्फुट-रचनाओं में प्रायः फारसी के शब्द ६० प्रतिशत प्रयुक्त हुए हैं। स्फुट-साहित्य के अतिरिक्त कवि के किसी अन्य ग्रन्थ में फारसी-अरबी शब्दों का प्रयोग इस अनुपात में नहीं उपलब्ध होता है। इन रचनाओं से कवि का अरबी-फारसी ज्ञान भी ज्ञात होता है। निम्नलिखित उद्धरणों से प्रकट हो जाता है कि कवि की इस प्रकार की रचनाओं में अरबी-फारसी के शब्दों का कितना प्रयोग हुआ है :—

मुझे कृष्ण के मिलने की आरजू है। शबों रोज़ दिल में यही जुस्तजू है ॥
नहीं भाती है मुझको बातें किसी की। सुनी जब से उस यार की गुफ़्तगू है ॥
नहीं मुझको मतलब जहाँ में किसी से। चुभा जब से दिल में सनम खूबरू है ॥
जो आशक है उसका नहीं उस्से गाफिल। तड़पता अज़ल से खड़ा रूबरू है ॥
शराबे मुहब्बत पिई जिसने यारो। हुआ दो जहाँ में वो ही सुर्खरू है ॥
सभी आशकों पे किया कर्म तूने। मुआसी पे तेरा नहा दिल रजू है ॥
जहाँ देखे रनजीत वहीं हैं वे हाज़िर। हर एक गुल में उसकी मिली मुश्क बू है ॥

इसी सम्बन्ध में एक उद्धरण और पठनीय होगा :—

मुरशद मेरा दिल दरियाइ दिलगह अन्दर खोज़ा।
जिसके अन्दर सत्तर काबा मक्का तीसों रोज़ा॥
चौदह तबक़ औलिया तिसमें भेद न होय जुदाई।
सहस्र कमल नमाज़ में ठाढ़े दरशन जहाँ खुदाई॥
हवा न हिर्स खुदी नहि खूबी अनलहक्क जहाँ बानी।
बिन चिराग खाने सब रौशन जिसमें तख्त सुभानी॥
बिना अंबर जहाँ बहु गुल फूले बिन अम्बर जहाँ बरसें।
बिन सरोद तम्बूर बजे जहाँ चशमे होम न दरसे॥

तिस दरगाह मुसल्ला डारे बैठे कादर काज़ी ।
न्याव करे सीने की पूछे रखें सबको राजी ।।
जिसके फल दीदार किये से नादिर होय फ़क़ीर ।
मारे काल कलन्दर जबलों मनवा धरे न धीर ।।

इन उद्धरणों में फ़ारसी-अरबी के शब्दों का अनुपात क्या है, यह पाठक स्वयं समझ जायगा । इन दोनों उद्धरणों में हिन्दी के कतिपय शब्दों—फल, सहस्र, न्याय, कमल एवं दर्शन का ही प्रयोग हुआ है । आज का शिक्षित व्यक्ति भी इन उद्धरणों की भाषा को समझने में किसी प्रकार समर्थ न होगा । इन दोनों उद्धरणों से चरनदास का अरबी-फ़ारसी ज्ञान प्रकट हो जाता है ।

द्वितीय कोटि की वे रचनाएं हैं जिनमें कवि ने अरबी-फ़ारसी के लगभग ७० प्रतिशत शब्दों का प्रयोग किया है । इनमें से भी लगभग २५ प्रतिशत शब्द ऐसे हैं जो सामान्य जनता के ज्ञान से ऊपर हैं । शेष ५० प्रतिशत शब्द फारसी-अरबी के होते हुए भी सामान्य जनता द्वारा व्यवहृत हुआ करते हैं । इनके अन्तर्गत कवि की अनेक स्फुट-रचनाएं आ जाती हैं । उदाहरणार्थ यहाँ एक उद्धरण दिया जाता है :—

ऐसा हो दरवेश ही जग को बिसरावै ।
ईमान सबूरी सांच सो सोई बकसा जावै ।।
ज़न जर और ज़मीन को दिल में नहि लावै ।
फ़िक्र फकीरी को बुरा वह जिक्र छुटावै ।।
फेफा केका गुण यही राज़क करै याद ।
काफि कनाअत सुख घना आनन्द अगाधा ।।
रे रीयाज़त बलवान है हरि को अपनावै ।
आखिर को दीदार ही निश्चय करि पावै ।।
एज़द को धारै रहै रहै सब सो नीचा ।
शुकदेव कही चरणदास सो पावै पद ऊँचा ।।

इस छन्द में जग, बिसरावै, साँच, सोई, गुण, याद, अगाध, आनंद, सुख घना, निश्चय, धारे, नीचा, ऊँचा, बलवान आदि हिन्दी के शब्द हैं । इनके अतिरिक्त दैनिक जीवन में व्यवहृत होने वाले फारसी-अरबी के शब्दों में दरवेश, ईमान, दिल, ज़र, ज़मीन, फिक्र, फकीरी, ज़िक्र, आखिर, दीदार, उल्लेखनीय हैं । शेष फारसी-अरबी शब्दावली सामान्य पाठक के ज्ञान से परे वस्तु है । प्रथम कोटि की रचना की तुलना में यह छन्द अधिक सरल और बोधगम्य प्रतीत होता है ।

जिस समय कवि ने इन छन्दों की रचना की होगी उस समय की जनता के लिए यह शब्दावली लेशमात्र भी कठिन नहीं रही होगी।

तृतीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग बहुत ही अल्प मात्रा में हुआ है। इस प्रकार की रचना में कवि का ध्यान सरल और सुबोध शब्दों के प्रयोग के प्रति रहा है। इस कोटि में कवि की समस्त स्फुट-रचना आ जाती है और साथ ही प्रायः सभी ग्रन्थ भी। उदाहरणार्थ, कतिपय उद्धरण नीचे दिए जाते हैं :—

दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़-अकड़ के जवानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥
दौलत का ज्ञौक ऐसे ज्यों आब का हुबाब।
जाता रहेगा छिन में पछतायगा निदान॥
दिन भर खोवता है दुनिया के कार बार।
इक पलभी याद सांइ की करता नहीं अजान॥

× × ×

तज के जगत की रीति को कर आपनी तदबीर।
इस जग भरोसे ख्वार होगये सार और अमीर॥
सुन यार मन यार मन॥
इक दम करारी है नहीं छिन-छिन में फेरै रङ्ग।
कबहुं तो हैरां सुख घना चल विचल बेढङ्ग॥
सुन यार मन यार मन॥

हशमत व शौकत थिर नहीं मत देख हो मगरूर।
ठहराव ता कूं है नही भगाल बड़ाई धूर॥
सुन यार मन यार मन॥

इन उपर्युक्त उद्धरणों में व्यवहृत अरबी-फारसी के शब्दों के रूप बड़े सरल हैं। गुमान, बेसहूर, दावा, खुदी, मुरशिद, हुसियार, ग़फ़लत, दौलत, जौक, ख्वार, तदबीर, शौकत, हशमत, दमकरारी आदि सुगम शब्द हैं और इनसे कौन नहीं परिचित है। आज की अशिक्षित जनता में भी इस प्रकार के शब्दों का बराबर व्यवहार

होता चला आ रहा है । ये विदेशी शब्द हमारे जीवन में इतने अधिक पैठ गए हैं कि इनका विदेशीपन हमें बिलकुल नहीं खटकता है ।

कवि ने अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग अपनी रचनाओं में बड़ी कुशलता से किया है । जहाँ कहीं फारसी के शब्द काव्य में नहीं बैठ सके हैं, वहाँ कवि ने उनका परिष्कार कर दिया है और इस प्रकार उसने विदेशी शब्दों को पूर्णतया अपना लिया है । उनका विदेशीपन पूर्णतया विलुप्त-सा हो गया है । निम्नलिखित उद्धरणों में ये विदेशी शब्द कुशलतापूर्वक अपना लिए गए हैं :—

१. बिना अम्बर जहं गुल बहु फूलै	—	गुल
२. दिल में यही जुस्तजू है	—	जुस्तजू
३. जो आशक है उसका	—	आशिक
४. मुरशद मेरा दिल दरियाई	—	मुर्शिद
५. फिकर फकीरी को बुरा	—	फिक्र फकीरी
६. हुसियार हो सिताब	—	होशियार
७. शौकत थिर नहीं	—	शौकत
८. गफलत को छोड़ सुहबत	—	ग़फलत

कवि के ग्रन्थों की अपेक्षा स्फुटकाव्य-पदों एवं सवैयों में अरबी-फारसी के शब्दों का विशेष प्रयोग हुआ है । कारण यह है कि कवि ने अपने काव्य की रचना सामान्य जनता के लिए की थी जिसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ही सम्मिलित थे । अतः ऐसी जनता के लिए इस कोटि की रचना उपयुक्त प्रतीत होती है ।

चरनदास की भाषा में संस्कृत के शब्दों का सुन्दर प्रयोग उपलब्ध होता है । योगसन्देह-सागर, पंचोपनिषद्-सार, ज्ञानस्वरोदय, ब्रजचरित, अमरलोक आदि ग्रन्थों में कवि ने बड़ी स्वाभाविक शैली में संस्कृत के शब्दों का प्रयोग किया है । इन ग्रन्थों के अतिरिक्त मनविरक्तकरणसार, ब्रह्मज्ञानसागर, नासकेत-लीला, कुरुक्षेत्र-लीला, तथा भक्तिसागर इस दृष्टि से उल्लेखनीय हैं । उदाहरणार्थ, यहाँ कतिपय पंक्तियाँ उपर्युक्त ग्रन्थों से उद्धृत की जाती हैं :—

तारा मंडल कैसे दरशैं । त्रिकुटी संयम कैसे परशै ।
कहां इकीस काया में लोक । इन्द्र करै कहां नित्त भोग ।।
षोडश चन्द्र कहां त्रिदेवा । का विधि उनको पावै भेवा ।
ब्रह्म रन्ध्र का भेद लखाव । कामधेनु का वरण बताव ।।
चार अवस्था चार शरीरा । वाणी चारि नाम कहां वीरा ।
षट चक्कर को जो तुम जानौ । नाम सहित सब भेद बखानौ ।। —योगसन्देहसागर

नवल किशोरी गोरी सारी। सुघर सयानी चातुर नारी।
दिव्य वस्त्र अरु मधुर शरीरा। अधिक रूप छवि गहर गंभीरा॥
मन्द मन्द विहँसत मुसकाई। रणजीत मीत छवि कही न जाई।
भूषण अंग संग लाजत ऐसे। चन्द्र निकट लघु तारे जैसे॥ —ब्रजचरित

जो जीवातम सो भया, परमातम अरु ब्रह्म।
वाकी सरवर को करै, पाई परै ना गम्य॥
पहुँचै नावा तेज को, कोटि कोटि ही भान।
चरणदास कोइ जानही, ताको निर्मल ज्ञान॥

× × ×

अनहद शब्द अपार दूर सों दूर है।
चेतन निर्मल शुद्ध देह भरपूर है॥
ताहि निःअच्छर जानि और निष्कर्म है।
परमातम तेहि मानि वही परब्रह्म है॥

सूक्ष्म शरीररु आतमा, भिन्न लखै नहि कोय।
यही जु मन की गाँठ है, खुले मुक्ति ही होय॥ —पंचोपनिषद्सार

सूरज मंडल चीरिकै, योगी त्यागै प्रान।
सायुज मुक्ति सोई लहै, पावै पद निर्वान॥
काल अवधि बीतै तभी, जबै बीति सब जाय।
जोगी प्राण उतारिये, लोहि समाधि लगाय॥
काल जीति हरि सो मिलै, शून्य महल अस्थान।
आगे जिन साधन करी, तरुण अवस्था जान॥ —ज्ञानस्वरोदय

इन उद्धरणों में संस्कृत के शब्दों का शुद्ध और उपयुक्त प्रयोग भाषा के सौन्दर्य को बढ़ा देता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार के प्रयोग बड़े स्वाभाविक प्रतीत होते हैं।

कवि की रचनाओं में संस्कृत के शब्द तत्सम और तद्भव दोनों ही रूपों में मिलते हैं। कुछ शब्द तो प्राकृत से होकर स्वयं ही तद्भव बन गए हैं और कुछ को कवि ने अक्षरों के उच्चारण की सुविधा के लिए तद्भव बना लिया है। इस प्रकार के शब्दों में ग्यानी (ज्ञानी), प्रापत (प्राप्त), बिसेष (विशेष), शबद (शब्द), औगुन (अवगुण), बिनास (विनाश), परमेसर (परमेश्वर), परग्यान (परज्ञान), दोश (दोष), उल्लेखनीय हैं। सम्भवतः कवि ने इन शब्दों को बोधगम्य और सुगम बनाने के लिए यह तद्भव रूप प्रदान किया है।

कवि की रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों की भी प्रचुरता है। उदाहरणार्थ ऐसे शब्दों की संक्षिप्त सूची निम्नलिखित है :—

दिव्य, वाणी, संयम, रन्ध्र, भूषण, जीवात्मा, ऋषीश्वर, परमेश्वर, द्वन्द्व, सर्वत्र, अजपा, हृदय, साक्षी, ज्ञानप्रकाश, अविनाशी, परमार्थ, निर्गुण, सगुण, परब्रह्म, अच्युत, तथा निराश्रय ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कवि ने संस्कृत के बड़े सुन्दर शब्दों का उचित रूप से प्रयोग किया है । इससे भाषा-सौंदर्य और शैली का परिमार्जन बढ़ जाता है ।

खड़ीबोली के विकाशशील रूप के दर्शन हमें कबीर, दादू, नानक सुन्दरदास आदि कवियों के काव्य में होते हैं । संत कवि मलूकदास के काव्य में खड़ीबोली का विकसित एवं परिमार्जित स्वरूप दृष्टिगत होता है । मलूकदास की भाषा एवं भावों पर उस समय का जो प्रभाव पड़ा सो तो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से पड़ा ही, परन्तु यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि उनकी खड़ीबोली में जो परिमार्जन उपलब्ध होता है वह बहुत कुछ मुसलमानों के सम्पर्क और अरबी-फारसी के प्रभाव के कारण हुआ है । मलूकदास से लगभग १२५ वर्ष के अनन्तर चरनदास का आविर्भाव देश की राजधानी दिल्ली जैसे महत्वपूर्ण स्थान पर हुआ । राजनीतिक, ऐतिहासिक, सांस्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से दिल्ली का अपना विशेष महत्व है । दिल्ली निरन्तर कई वर्षों तक यवनों की राजनीति का केन्द्र रहा है । वहाँ उस समय की प्रचलित अरबी और फारसीमय भाषा का ही प्रभाव है कि हमारे कवि की रचनाओं में अन्य संत कवियों की अपेक्षा खड़ीबोली के शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ है । अरबी और फारसी के जन-प्रचलित शब्दों के प्रयोग से कवि की बोली में परिमार्जन और प्रवाह का समावेश हो गया है । कवि की भाषा में खड़ी-बोली का प्रमुख-स्थान निर्धारित हो गया है । मलूकदास की भाषा की तुलना में चरनदास की भाषा अधिक विकसित, सुष्ठु एवं परिमार्जित प्रतीत होती है । ऊपर कहा जा चुका है कि चरनदास का आविर्भाव मलूकदास से प्रायः १२५ वर्ष बाद में हुआ । इन सवा-सौ वर्षों में खड़ीबोली की क्या उन्नति और क्या विकास हुआ, यह कवि की भाषा देखने पर ही ज्ञात होता है ।

कवि की रचनाओं में खड़ी बोली का बड़ा ही सुष्ठ और सुन्दर रूप ब्रह्मज्ञानसागर, योगसन्देहसागर, पंचोपनिषद्सार, नासकेत-लीला, अष्टांग-योग, भक्तिसागर, भक्तिपदार्थ और ज्ञानस्वरोदय में उपलब्ध होता है । इन रचनाओं के अतिरिक्त कवि की स्फुट रचनाओ, पदों एवं साखियों में खड़ीबोली का बड़ा सुव्यवस्थित रूप उपलब्ध होता है । इन उपर्युक्त रचनाओं में से कहीं पर से कोई उद्धरण ले लीजिए, उसकी भाषा के परिमार्जित स्वरूप के दर्शन हो जायँगे । कथन के समर्थन के हेतु कतिपय ग्रन्थों से कुछ उद्धरण उद्धृत किये जाते हैं :—

१. तुम साहब करतार हो हम बन्दे तेरे।
रोम रोम गुनहगार है बकसो हरि मेरे॥
दसौ दुवारे मैल है सब गन्दम गन्दा।
उत्तम तेरा नाम है विसरे सो अंधा॥
गुन तजिके औगुन कियो तुम सब पहिचानो।
तुम सूं कहा छिपाइये हरि घट की जानो॥
रहम करो रहमान सूं यह दास तिहारो।
भक्ति पदारथ दीजिए आवागमन निवारो॥

२. दो दिन का जग में जीवना करता है क्यों गुमान।
ए बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान॥
दावा खुदी का दूर अपने तु दिल सेती।
चलता है अकड़ अकड़ के जवानी का जोस आन॥
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान॥

३. भक्ति गरीबी लीजिए तजिए अभिमान।
दो दिन जग में जीवना आखिर मरि जाना॥
पाप पुन्न लेखा लिखैं जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना॥
साहब की कर बन्दगी दे भूखे दाना।

४. भाई रे अवधि बीती जात।
अंजुली जल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात॥
स्वास पूंजी गांठि तेरे, सो घटत दिन रात।
साधु संगत पैंठ लागी, ले लगै सोइ हाथ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे हैं तेरी घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदया, तौ दगा नहि खात॥

स्थानाभाव के कारण स्फुट-काव्य से चार ही पद उद्धृत किये गये हैं। इन पदों में खड़ीबोली का परिमार्जित और विकसित रूप ध्यान देने योग्य है। इन चारों में से तीसरे उद्धृत उद्धरण में खड़ीबोली का पूर्ण विकसित रूप दृष्टिगत होताहै। अब कवि की अन्य रचनाओं से खड़ीबोली के उदाहरण देना अपेक्षित है :—

१. कौन कमल पर गुरु विराजै। कै प्रकार अनहद धुनि बाजै॥
कै वाणी है अनहद तूरा। जानैगा कोइ साधू पूरा॥

तीन शून्य कहाँ चौथा शून्य। जित ही भूलै पढ़ि अरु गून्य ॥
कै कहिये काया के द्वारे। भिन्न भिन्न कहु मेरे प्यारे ॥
जल का कोठा कीधर होय। कहाँ अग्नि का कहिये सोय ॥
ब्रह्म ज्वाल कहु कैसे जागै। किस आसन से निद्रा भागै ॥
बहत्तरि हजार आठ सौ चौसठि नारी। इनका भेद बहुत है भारी ॥—योगसन्देहसागर

२. इड़ा पिंगला सुषमना, नाड़ी कहिये तीन।
सूरज चन्द विचारि कै, रहै श्वास लवलीन ॥
नवों द्वार को बन्ध करि, उत्तम नाड़ी तीन ॥
इड़ा पिंगला सुषमना, केलि करै परबीन ॥—ज्ञानस्वरोदय

३. योग तपस्या कीजिये, सकल कामना त्याग।
ताको फल मत चाहिये, तजौ दोष अरु राग ॥
चाह मिटी सब सुख भये, रहा न दुख का मूल ॥
चाहूँ तौ चाहूँ यही, तुम चरणन की धूल ॥—अष्टांगयोग

४. स्वारथ में चिन्ता घनी, जो ह्वांकर हो गेह।
बिना आग की चिता में, जीवत जरिहै देह ॥
आशा न दिया में चलै, सदा मनोरथ नीर।
परमारथ उपजै वहै, मन नहि पकड़े धीर ॥—भक्तिपदार्थ

योगसन्देहसागर, ज्ञानस्वरोदय, अष्टांगयोग और भक्तिपदार्थ से उद्धृत उपर्युक्त उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं। इन अंशों से कवि की भाषा में खड़ीबोली का क्या स्थान है, यह स्पष्ट हो जाता है। लगभग इसी प्रकार की भाषा, कवि के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होती है।

ब्रजचरित, मटकीलीला, चीरहरण-लीला, दानलीला आदि श्रीकृष्णचरित काव्यों में खड़ीबोली के बहुत ही साधारण और निम्न उदाहरण उपलब्ध होते हैं। अब कवि की साखियों से खड़ीबोली के कतिपय उदाहरण देना वाञ्छनीय है :—

अबके चूके चूक है, फिर पछितावा होय।
जो तुम जक्त न छोड़िहौ, जन्म जायगो खोय ॥
× × ×
छोड़ जगत की वासना, यही जु छुटन उपाव।
हे मन ऐसी धारिये, अब ही नीको दांव ॥
× × ×
खाते पीते ना भले, बैठे चलते सोय।
सदा पवित्तर नाम है, करै उजाला तोय ॥
× × ×

अजब-अजब अचरज किये, अद्भुत अधिक अपार।
जल थल पवन अकास में, देखो दृष्टि उघार॥
× × ×
बाजीगर बाजी रची, सब गति पूरन आज।
किये तमासा बहुत ही, तोहिं दिखावन काज॥

इन साखियों में खड़ीबोली का भला रूप दृष्टिगत होता है। इनमें अधिकतर खड़ीबोली के शब्दों का प्रयोग हुआ है।

कवि के काव्य में खड़ीबोली के क्रियापदों का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उपर्युक्त उद्धरणों से क्रियापदों की अच्छी सूची बनाई जा सकती है। इनके अतिरिक्त जाना है, कहता, सुनता, देखे, हुआ है, हँसी है, जात है, करते, कहते आदि अनेक क्रियापद उनके स्फुट-साहित्य में प्रयुक्त हुए हैं।

खड़ीबोली की दृष्टि से भी कवि की रचनाओं को हम तीन विभागों में विभाजित कर सकते हैं। प्रथम वे रचनाएँ हैं जिनमें खड़ीबोली का प्रयोग बिलकुल ही साधारण और हीन रूप में हुआ है। इस कोटि में कवि की कृष्ण-चरित विषयक रचनाएँ आजाती हैं। द्वितीय कोटि की रचनाएँ वे हैं जिनमें कवि ने खड़ीबोली के शब्दों तथा क्रियापदों का थोड़ा बहुत प्रयोग अवश्य किया है। इस कोटि में ब्रह्मज्ञानसागर, भक्तिसागर, आदि ग्रन्थ आ जाते हैं। तृतीय कोटि की रचनाओं में खड़ीबोली का परिष्कृत रूप उपलब्ध होता है। इस कोटि में गिनी जाने वाली रचनाओं में 'योगसन्देहसागर', 'अष्टांगयोग', तथा 'ज्ञानस्वरोदय' आदि आ जाती हैं। इसके अतिरिक्त कवि की स्फुट साखियां और पद भी इसी कोटि में आ जाती हैं। भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से कवि की रचनाओं का विभाजन हम तीन प्रकार से कर सकते हैं :—

सर्वप्रथम वे रचनाएँ, जिनका प्रणयन पूर्णतया अवधी में हुआ है। इसमें कवि की 'ब्रजचरित', 'माखनलीला', 'दानलीला', 'चीरहरणलीला' 'श्रीधर ब्राह्मण-लीला' आदि ग्रन्थों की गणना की जा सकती है। इसमें यत्र-तत्र ब्रज-भाषा के शब्दों की छटा भी दिखाई देती हैं। इसमें फारसी-अरबी और संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग बहुत कम हुआ है। इन ग्रन्थों में कवि की भाषा में प्रौढ़ता और स्थिरता दृष्टिगत नहीं होती है।

द्वितीय कोटि में वे रचनाएँ हैं जिनका प्रणयन खड़ीबोली से प्रभावित अवधी में हुआ है। इस कोटि की रचनाओं में खड़ीबोली का बहुत ही विकाशशील रूप दृष्टिगत होता है। कवि की इन रचनाओं में खड़ीबोली का सुष्ठु परिमार्जित

और विकसित स्वरूप उपलब्ध होता है। इस कोटि में कवि की 'मनविरक्तकरण सार', 'अष्टांगयोग', 'योगसन्देहसागर', 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'ज्ञानस्वरोदय' आदि रचनाओं की गणना की जाती है। इनकी भाषा खड़ीबोली के बहुत ही निकट है। इस कोटि में कवि की अनेक स्फुट-रचनाएँ आ जाती हैं।

तृतीय कोटि की वे रचनाएँ हैं जो फारसी तथा संस्कृत के तद्भव शब्दों से प्रभावित है। प्रथम हम उन रचनाओं को लेते हैं जिनमें संस्कृत के तद्भव शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस कोटि में 'ब्रह्मज्ञानसागर', 'ज्ञानस्वरोदय', 'योगसन्देहसागर', 'अष्टांग-योग' आदि उल्लेखनीय हैं। इन ग्रन्थों में कुछ ऐसे भी हैं जिनमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। भाषा की दृष्टि से इसी चौथी कोटि की रचनाओं में कवि का स्फुटपद-साहित्य-फारसी-अरबी के शब्दों से अत्यधिक प्रभावित है। यों तो फारसी-अरबी के शब्द अन्य ग्रन्थों में भी आए हैं पर उनका अनुपात बहुत कम या नहीं के समान है।

अपने लक्ष्य की पूर्ति के हेतु कवि ने अपने साहित्य की रचना तत्कालीन जनता की सरलतम भाषा में की है। इसी सरलता के दृष्टिकोण से संस्कृत के अनिवार्य तत्सम शब्दों को भी कवि ने तद्भव बना लिया है। अरबी और फारसी के शब्दों को कवि ने इस प्रकार अपनाया है कि उनके विदेशीपन का अस्तित्व ही नष्ट हो गया है। साथ ही साथ उनके खटकने वाले उच्चारण में भी महान् परिवर्तन दृष्टिगत होता है। अपनी भाषा को अधिक स्वाभाविकता तथा सरलता प्रदान करने के लिए कवि ने अपनी प्रत्येक रचना में यत्र-तत्र ग्रामीण शब्दों का भी प्रयोग किया है।

हमारे कवि का भाषा पर अच्छा अधिकार था। भाषा उसकी लेखनी एवं भावों की अनुगामिनी-सी प्रतीत होती है। टेढ़े-सीधे, उलझे, योग, वैराग्य, भक्ति-साधना या दार्शनिक विवेचन जैसे भावों को भी कवि ने व्यक्त करना चाहा है और उसमें उसकी भाषा एवं लेखनी का सहयोग रहा है। कृष्णचरित्र, निर्गुण व्याख्या, नीति, उपदेश, स्वरोदय-साधना जैसे सरल और दुरूह विषयों की साधना और अभिव्यंजना कवि ने अपनी भाषा के माध्यम से ही किया है। शांत, शृंगार, करुण, हास्य, वीभत्स आदि रसों की भी अभिव्यंजना में उसकी भाषा ने पूर्ण संयोग प्रदान किया है। कवि का भाषा पर अधिकार सिद्ध करने के लिए यहाँ पर कतिपय उद्धरणों की आवश्यकता है। प्रमाण निम्नलिखित उद्धरणों से मिल जाता है :—

खाते पीते नाम ले, बैठे चलते सोय।
सदा पवित्तर नाम है, करै उजाला तोय॥

× × ×

वैसा तौर रंगरेज ना, वैसा छीपी नाहिं ।
वैसा कारीगर नहीं, या दुनियां के माहिं ॥

× × ×

दुखी न काहू कूं करै, दुख सुख निकट न जाय ।
समदृष्टी धीरज सदा, गुण सात्विक को पाय ॥

× × ×

सब सूं रखु निरबैरता, गहो दीनता ध्यान ।
अंत मुक्ति पद पाइहौ, जग में होय न हानि ॥

उपर्युक्त इन चारों साखियों की रचना भिन्न-भिन्न विषयों पर हुई है । परन्तु विषय-भेद के साथ इनमें कहीं भाषा की शिथिलता नहीं उपलब्ध होती है । कवि ने अपने भावों को भाषा में व्यक्त कर देने, भाषा का स्वरूप प्रदान करने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है ।

कवि के साहित्य में भाषा-सौंदर्य पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है । भाषा में प्रभावित करने की शक्ति, भाषा-प्रवाह तथा भाषा की मधुरता आदि गुण कवि के साहित्य में उपलब्ध होते हैं । कवि के साहित्य में भाषा-सौंदर्य के निम्नलिखित कारण हैं :—

१. हमारे कवि ने अपने भावों की अभिव्यंजना का माध्यम दैनिक जीवन के व्यवहृत अवधी एवं खड़ीबोली को बनाया है । जिन-जिन विदेशी शब्दों का अथवा अन्य भाषाओं के शब्दों का प्रयोग कवि ने कहीं पर भी किया है, उन्हें आवश्यकतानुसार तोड़-मरोड़ कर अपना लिया गया है । यही कारण है कि उसकी भाषा में स्वाभाविकता सर्वत्र उपलब्ध होती है ।

२. व्यावहारिक शब्दों के प्रयोग और उच्चारण की सुगमता के कारण कवि की भाषा में सराहनीय प्रवाह उपलब्ध होता है । उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद उद्धृत किया जाता है :—

बिथा मोरी जानत हो अकि नाहि ।
नख सिख पावक विरह लगाई बिछुरन दुख मन माहीं ॥
दिन नहिं चैन नीद नहिं निसकूं निस्चल बुधि नहिं मोरी ।
कासूं कहूं कोउ हितु न हमारो लग्न लहरि हरि तेरी ॥
तन भयो छीन दीन भये नैना अजहूँ सुधि नहिं पाई ।
छतियां दरकत करक हिये में प्रीति महा दुखदाई ।
जल बिन मीन पिया बिन विरहिन इन धीरज कहु कैसी ।
पच्छी जरै दव लागी बन में मेरी गति भई ऐसी ॥

इस पद में शब्दों का चयन और भाषा का प्रवाह दर्शनीय है। कवि की भाषा, भावों से मिलजुल कर निर्भर के वेग से साहित्य-सागर में गिरती है। इस उद्धरण में 'दिन नहिं चैन नीद नहिं निसकूं', 'बिछुरन दुख मन माहीं', 'तन भयो छीन दीन भय नैना', 'छतियां दरकत करक हिये में', प्रीति महा दुखदाई', 'जल बिन मीन पिया बिन बिरहिन' आदि पंक्तियों में भाषा का प्रवाह दर्शनीय है।

३. कवि की भाषा में शब्द अपेक्षित भावों को प्रकट करने में समर्थ हैं। उनके शब्द जिस भाव को व्यक्त करने के लिए प्रयुक्त होते हैं, उसे भलीभांति प्रकट कर देते हैं। पाठकों के लिए कवि की भाषा में भ्रमपूर्ण वाक्य अथवा शब्दों का जाल कहीं नहीं है।

४. कवि की भाषा में सजीवता है। उसमें जनता को प्रभावित करने की शक्ति है। भाषा की सजीवता के उदाहरण विगत पृष्ठों में पर्याप्त मात्रा में दिए जा चुके हैं। उनमें पाठकों वा श्रोताओं को प्रभावित करने की प्रचुर शक्ति उपलब्ध होती है।

इसके अनन्तर वह दक्षिण दिशा की ओर शौच हेतु जाय। पृथ्वी को तृणादि से आच्छादित करके शौच क्रिया करे। सूर्य, अग्नि, चन्द्र, तथा वायु के सन्मुख बैठकर शौच न करना चाहिए। वृक्षादि की जड़, देवालय, कूप, तालाब एवं मठादि से दूर बैठकर शौच करे। इसके पश्चात् एक बार लिंग इन्द्रिय को मिट्टी एवं जल से धोकर तीन बार गुदा इन्द्रिय को और सप्त बार बांये हाथ तथा इक्कीस बार प्रक्षालन करे। तदनन्तर जलाशय, वापी, कूप, तालाब अथवा सरिता में स्नान करे। कूप, सरोवर एवं नदी में स्नान श्रेष्ठ स्नान है। गृह में स्नान करना अधमस्नान है। स्नान के समय गंगा-यमुनादि का आवाहन करे इसके अनन्तर पूजा, ध्यान और साधना में संलग्न हो जाय। सायंकाल फिर इसी क्रम से शौच, स्नानादि करके भजन-कीर्तन में दत्तचित हो। सूक्ष्माहार, सन्तोष, अल्पनिद्रा दुर्व्यसनों के परित्याग को कार्यान्वित करें।

———

अष्टम अध्याय

चरनदास का जीवन-दर्शन

श्वासों-प्रश्वासों का क्रमिक संचालन, आगमन एवं प्रत्यागमन ही जीवन है। इस जीवन के अनेक आधार माने गए हैं एवं अनेक दृष्टिकोणों से इसे देखने का प्रयत्न किया गया है। प्रत्येक मनुष्य ने स्वेच्छानुसार जीवन की अपनी परिभाषा निर्धारित करने का प्रयत्न किया है। इसी प्रकार जीवन के प्रति दृष्टिकोणों का भी बाहुल्य और उनके अन्तर्गत वैविध्य वर्तमान है। प्रत्येक युग में समय की राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार जीवन-दर्शन की धारा में क्रांति समुपस्थित होती रही है।

इस देश के जीवन-दर्शन को परिवर्तित करने में विशेष रूप से धार्मिक एवं आर्थिक तत्व सहायक रहे। वैज्ञानिक साधनों के आविष्कारों और आर्थिक विषमताओं तथा शोषणाधिक्य के कारण आज का जीवन और जीवनदर्शन आज से सौ-वर्ष पूर्व के जीवन और जीवनदर्शन से सर्वथा भिन्न हो गया है। ऊपर कहा जा चुका है कि प्रत्येक मनुष्य जीवन को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण से देखने का प्रयत्न करता है। किसी का जीवन जीने के लिए जीता है और किसी का दूसरे के शोषण के आधार पर सुख संचय के हेतु। एक व्यक्ति संसार में क्लेश, पीड़ा और मरीचिका देखता है, दूसरा पाप-पुण्य के विश्लेषण में ही जीवन-यापन करता रहता है। गौतमबुद्ध ने जीवन में दुःख को इतना महत्व प्रदान किया कि दुखवाद स्वतः एक दर्शन बन गया। इसके प्रतिकूल कुछ लोग सुख और भोगों में ही जीवन की सार्थकता मानते हैं। एक मनुष्य आजीवन भाग्यवाद का चेरा बना रहता है और दूसरा इस विचार के ही विरुद्ध विद्रोह करता है। इस प्रकार दृष्टिकोणों में वैभिन्य और वैचित्र्य साधारण-सी बात रही है।

साहित्य, कलाकार के व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब है। कलाकार के विचारों, मनोभावों और चिन्तन-शैली का अध्ययन करने का सबसे प्रामाणिक सूत्र एवं आधार उसका साहित्य है। साहित्य, लेखक के मनोभावों का क्रमिक इतिहास है। साहित्य के आधार पर हम कलाकार के विचारों का सम्यक् ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं और उसके जीवनदर्शन का भली-भाँति अध्ययन कर सकते हैं। चरनदास के पद्य-साहित्य से भी हम उनके जीवन के प्रति उनके दृष्टिकोण की अच्छी रूपारेखा प्रस्तुत कर सकते हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ के द्वितीय प्रकरण में चरनदास का जीवन-चरित और चरित्र में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि चरनदास का जन्म एक मध्यवर्गीय परिवार में हुआ था। मध्यवर्ग का नाम लेते ही हमारे मस्तिष्क में उस वर्ग की विशेषताओं, सीमाओं, आशाओं और आकांक्षाओं का सजीव चित्र अंकित हो जाता है। मध्यवर्ग का जीवन अति साधारण जीवन होता है। उसमें उत्थान-पतन तथा उन्नति-अवनति के लिए अवसर नहीं के सदृश्य होते हैं। एक निम्न मध्यवर्गीय व्यक्ति के जीवन में कौतूहल, विकास, उन्नति और उत्थान के लिए बहुत ही अल्प अवसर होते हैं। चरनदास का जीवन आध्यात्मिक क्षेत्र में फला-फूला अवश्य परन्तु भौतिक-जीवन में उसके समृद्धि के लिए कहीं कोई अवसर नहीं दिखलाई पड़ता है।

इसके अनन्तर चरनदास का जीवन एक अभिनव दिशा में बह चला। यह दिशा थी आध्यात्मिकता की। इस नये वातावरण और नये क्षेत्र में आकर उनका जीवन नई-नई विचार-धाराओं और नये-नये महान् व्यक्तित्वों से प्रभावित हुआ। इस वातावरण में उन्हें शान्ति, सन्तोष, संयम, सदाचार, सत्य और साम्य-भावना का सन्देश प्रतिश्रुत हुआ। निश्चय ही इन तत्वों ने हमारे कवि के जीवन-दर्शन को काफी अंश में प्रभावित किया था।

किसी साहित्यकार का जीवन-दर्शन अध्ययन करने के पूर्व, उसके जीवन की उन घटनाओं का अध्ययन आवश्यक है जिन्होंने उसके जीवन की धारा में परिवर्तन समुपस्थित कर दिया है। प्रत्येक मनुष्य के जीवन में ऐसी घटनाएँ अवश्यम्भावी हैं जो उसके हृदय तथा जीवन को प्रभावित कर देती हैं और इसके प्रतिक्रिया-स्वरूप वह जीवन को एक विशिष्ट दृष्टि से देखने का प्रयत्न करने लगता है। चरनदास के जीवन में भी इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं है। यहाँ पर उनका अध्ययन और विवेचन असंगत न होगा। 'गुरुभक्तिप्रकाश' के अनुसार चरनदास के जीवन को प्रभावित करने वाली सर्वप्रथम घटना थी, अवधूत का दर्शन होना। पाँच वर्ष की अवस्था में (संवत् १७६५ वि०) में चरनदास को एक अवधूत ने दर्शन दिए। रामरूप जी के शब्दों में इस अवधूत ने बालक चरनदास को बड़े प्रेम से भक्ति का सन्देश और उपदेश सुनाया। इसी अवधूत ने बालक से उसके भविष्य में महान् व्यक्ति होने की भविष्यवाणी की। उसने बालक से भविष्यवाणी के रूप में कहा कि, "संसार में तुम्हारी ख्याति अद्वितीय होगी, बड़े-बड़े शासक और नृप तुम्हारे चरणों में मस्तक झुकायेंगे। तुम्हारे महान् व्यक्तित्व के प्रकाश में सांसारिक कल्याण का मार्ग खोजने का प्रयास करेंगे।[१]" अवधूत की इस दीक्षा और भविष्यवाणी ने

---

१. हँस के कहा तोहि चेला कीया। कर धरि शीश भक्तिवर दीया॥
तारणतरण जगत में ह्वै हौ। बहुत उबार जीव लै जैहो॥

जहाँ बालक के हृदय में भक्ति की भावना को दृढ़तर कर दिया वहाँ दूसरी ओर जगत् का कल्याण करने तथा जनता को अपने व्यक्तित्व से लाभान्वित करने की भावना को बल दिया। बालक के कोमल हृदय में जन-जीवन के प्रति अनुराग जाग्रत हुआ जो आगे चलकर लोकरंजन और लोकमंगल की भावना में परिवर्तित हो गया। चरनदास के जीवन को प्रभावित करने वाली घटना थी उनके पिता मुरलीधर का जंगल में विलुप्त हो जाना। इसके अनन्तर मुरलीधर फिर न दिखाई दिए। इस घटना से बालक के हृदय पर बड़ा गम्भीर प्रभाव पड़ा। सात वर्ष की अल्प एवं कोमलावस्था में ही बालक ने जीवन की क्षणभंगुरता तथा संसार के सम्बन्धों की निःसारता का भाव हृदयंगम कर लिया और भविष्य में यही विचार उसके काव्य के प्रमुख अंग बन गए। आगे चलकर कवि ने अपने काव्य के वर्ण्य-विषय का केन्द्रविन्दु जीवन, और जगत् की क्षणभंगुरता निर्धारित किया। इसी भाव से प्रेरित होकर उसने अपनी माता और मातामह से, विवाह करके सांसारिक सम्बन्धों की स्थापना करने से से इनकार कर दिया। तृतीय घटना कवि के जीवन के उन्नीसवें वर्ष में घटित हुई। यह घटना थी श्री शुकदेव जी से भेंट और दीक्षित होने की। इस घटना ने आध्यात्मिक क्षेत्र में चरनदास के जीवन को और भी अधिक व्यवस्थित और शृंखलाबद्ध कर दिया। इसने सुचारु-रूप से नियमानुकूल तथा उपदिष्ट ढंग से नव-उत्साह एवं नवस्फूर्ति के साथ साधना के क्षेत्र में प्रवेश किया। अलख रहस्य को प्राप्त करने का मार्ग उसके लिए उन्मुक्त हो गया। चतुर्थ घटना नादिरशाह का अभियान था। नादिरशाह के आक्रमण से देश और दिल्ली में विशेष रूप से जो कत्ल-आम और लूटमार हुई, उसका कवि के हृदय पर व्यापक एवं गम्भीर प्रभाव पड़ा। गुरुभक्ति-प्रकाश में स्वयं चरनदास से नादिरशाह की भेंट होने का वर्णन सविस्तार उपलब्ध होता है। महत्वाकांक्षा, धन तथा राज्य के लिए मनुष्य का मनुष्य के द्वारा वध देखकर, कवि के हृदय में प्रतिक्रिया की भावना अवश्य जाग्रत हुई। इस दुर्घटना ने उसके हृदय में करुणा, दीनता, प्रेमसाम्य और विश्वबन्धुत्व की भावना का उद्रेक कर दिया। इसी प्रकार की घटनाओं से प्रेरित होकर उसने सन्तोष और दीनता ग्रहण करने का उपदेश दिया। जब एक ही सांई सब घट में रम रहा है तो फिर भाई के द्वारा भाई का वध कैसे सम्भावित है? उसके मन में शंकाएँ उत्पन्न हुई कि क्या धन इतना प्रिय और महत्वपूर्ण है कि उसके लिए सृष्टि की सर्वोत्तम कृति मानव को तलवार के घाट उतार दिया जाय? भावना ने करवट बदली उत्तर मिला नहीं, निश्चय ही

जो कोई तुम्हरा मंत्र सुनैहै। सो निहचे यमपुर नहि जैहै।।
छत्रपती अरु राजा राया। चहिहै तुम चर्णन की छाया।।
चहुँदिश फैले भक्ति तुम्हारी। नाम जपैंगे बहु नर नारी।।

नहीं और इसीलिए उसके कंठ से अहिंसा और विश्वबन्धुत्व के मधुर राग फूट पड़े। इन विशेष घटनाओं के अतिरिक्त अन्य छोटी-छोटी घटनाओं ने भी कवि के जीवन को प्रभावित किया। उदाहरणार्थ—अकाल, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, दुर्भिक्ष, आदि के कारण कीड़ों के समान मानवता का विनाश, तत्कालीन समाज की वाह्याडम्बर-प्रियता, चरित्र-हीनत्व, संस्कारविहीनता, अविश्वास, अंधविश्वास, प्रतिशोध और प्रतिकार की प्रचुरता तथा बाहुल्य आदि से कवि का जीवन-दर्शन प्रभावित अवश्य हुआ। इन सभी प्रवृत्तियों के साथ ही तत्कालीन जनता की रुढ़िप्रियता तथा जातिभेद-परता ने भी कवि के जीवन-दर्शन को प्रभावित किया और इसी प्रतिक्रिया के फलस्वरूप उसने समता तथा एकता का उपदेश दिया।

चरनदास के अनुसार इस संसार में मानव जीवन क्षणिक है। तूफान में दीपक एवं वर्षा में बालू की भित्ति पर मानव भरोसा कर सकता है और उनकी स्थिरता पर विश्वास कर सकता है, परन्तु मनुष्य का जीवन इनसे भी अधिक क्षणिक और निःसार है। इस निःसारता का ज्ञान होते हुए भी मनुष्य मृत्यु की ओर से बेखबर, भौतिकता में संलग्न है। चार दिनों के जीवन के लिए इतना प्रबंध, इतना आयोजन, इतनी छीना झपटी, इतना संघर्ष कि मनुष्य और सब कुछ भूल जाय! भयानक से भयानक कार्य करने में उसे लेश-मात्र संकोच नहीं है। यह सब किसके लिए? इस क्षणिक और निःसार जीवन के लिए यह महत्वाकांक्षा और यह अभिमान? सच तो यह है कि इनमें से कुछ भी थिर नहीं है। दारा सुत, माल, मुल्क सब अस्थिर है। यह घमंड और गर्व सभी अस्थायी हैं।[1] जब जीवन ही भागते हुए हिरन की परछाई के सदृश्य अस्थायी है तो इससे सम्बद्ध और वस्तुओं के विषय में क्या कहा जाय? एक दिन यह शरीर ओला के समान विनष्ट हो जायगा। यह कांच के बरतन के सदृश्य तनिक ठोकर लगते ही छिन्न-भिन्न हो जाता है। इसके लिए व्यर्थ ही मानव झूठ, कपट और छलबल करता हुआ बाजीगर के

---

[1] क्या दिखलावै सान यह कुछ थिर न रहैगा।
दारा सुत अरु माल मुलुक का कहा करै अभिमान॥
रावन कुम्भकरन हरनाकुस राजा कर्न समान।
अरजुन नकुल भीम से जोधा माटी हुए निदान॥
छिन छिन तेरो तन छीजत है सुन मूरख अज्ञान।
फिर पछताये कहा होयगा जब जम घेरै आन॥
विनसै जल थल रवि ससि तारे सकल सृष्टि की हानि।
अजहूं चेत हेत करु हरि सूं ताही को पहिचान॥

बन्दर के सदृश्य नाचा करता है ।[1] इस दम का क्या भरोसा ? जिस दिन प्राणपखेरू इस शरीर-पिंजड़े का परित्याग करके उड़ जायगा, उस दिन सब यहीं रखा रह जायगा । कवि के शब्दों :—

दो दिन का जग में जीवना है करता क्यों गुमान ।
ऐ बेसहूर गीदी टुक राम को पिछान ।।
दावा खुदी का दूर कर अपने तु दिल सेती ।
चलता है अकड़ अकड़ कै जवानी का जोस आन ।।
मुरसिद का ज्ञान समझ के हुसियार हो सिताब ।
गफलत को छोड़ सुहबत साधो की खूब जान ।।

इस क्षणिक जीवन का आदर्श बड़ा महान् और बृहद् है । परन्तु मनुष्य कब इस बात को सोचने लगा ? वह तो सदैव अखंड-तांडव में व्यस्त रहता है । वह विद्रोह, हत्या, संघर्ष, षड्यंत्रों में सर्वथा संलग्न रहता है । दुरभिलाषाएँ बिजली की भांति उसके हृदय में दिनभर कौंधा करती हैं । भयानक भावुकता और उद्वेग-जनक अंतःकरण लेकर वह संसार में नितांत व्यस्त रहता है । प्रकृति का सौंदर्य, पंछियों का कलरव, निशा की निस्तब्धता, ऊषा की भव्यता, कुछ भी उसमें सरसता का संचार तथा सरलता का समावेश करने में असमर्थ हैं । वह विचारहीन, आकार-विहीन और विवेक शून्य होकर संसार में विचरण करता फिरता है । दिन-रात वह निम्न-प्रवृत्ति का चेरा, हीन मनोवृत्ति का दास और विनाशकारी तत्वों का सहायक बना फिरता है । इस जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य भौतिकता का विसर्जन है, इसलिए मनुष्य को मानव-मात्र के प्रति सहानुभूति और स्नेह का भाव बरतना चाहिए ।[2] मानव जीवन का लक्ष्य स्वार्थ का परित्याग करके परोपकार की भावना से समाज

---

१. यह तन का कँह गर्व करत है ओला ज्यों गलि जावै रे ।
जैसे बरतन बनो कांच को ठपक लगे बिनसावै रे ।।
झूठ कपट अरु छल बल करि कै खोटे कर्म कमावै रे ।
बाजीगर कै बांदर सा ज्यों नाचत नाहि लजावै रे ।।

२. गुमराओ छोड़ दिवाने मूरख बावरे ।
अतिदुरलभ नर देह भया गुरुदेव सरन तू आव रे ।।
जग जीवन है निस को सुपनो अपनी ह्यां कौन बतावरे ।
तोहि पांच पचीस ने घेरि लियो लख चौरासी भरमाव रे ।।
बीति गई सो बीति गई अजहूँ मन कू समझाव रे ।
लोभ मोह सू भागि के त्याग विषय काम क्रोध को धोय बहाव रे ।।

की सेवा करना तथा दुःखार्त्त मानवता के लिए कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना, और संतप्त मानवता को अपनी मधुरवाणी एवं सद्व्यवहार से शैतल्य और सुख प्रदान करना है। इन आदर्शों से प्रेरित तथा लक्ष्य से प्रभावित मानव ने यदि संसार में एक सद्प्रवृत्तियों के ग्रहण करने के लिए जीवन में कभी भी समय है। आज भी इतना भी जीव को सुख पहुँचाया तो समझिये उसका जन्म सफल हो गया। सद्गुणों और समय व्यतीत हो जाने के अनन्तर सत्यपथ पर आने के लिए सद्गुणों को धारण करने के लिए और सद्व्यवहार को जीवन में व्यावहारिकता के साथ कार्यान्वित करने के लिए समय शेष है।

चरनदास जी ने जीवन को निःकपट और निम्नता से विहीन होना आवश्यक समझा था। इस चार दिन के जीवन में छल-कपट, राग-द्वेष का क्या स्थान है। यह संसार तो वास्तव में दो घड़ी का मेला है। जो व्यक्ति आज यहाँ साथ-साथ एकत्र दृष्टिगत हो रहे हैं वे कल एक साथ न रहें, यह बहुत संभव है। आज जिनसे हमारे भेद-भाव, वैमनस्य और शत्रुता है, सम्भव है कल हमसे ऐसे वियुक्त हों कि जीवन-पर्यन्त मिलन न हो। चरनदास जी ने इस संसार के मेले या सम्पर्क को नदी-नाव संजोग की उपमा दी है। जब संसार के सम्पर्क और सम्बन्ध इतने अस्थिर और क्षणिक हैं तो फिर पारस्परिक भेदभाव का मूल्य और महत्व क्या है। जीवन का आधार कच्चा और क्षण ही में विनाशशील है। इसके लिए अपने मन को निम्नगामी और निम्नप्रवृत्तियों से संयुक्त करना उपयुक्त नहीं है।[1]

मानव का यह जीवन जिस संसार में वृद्धि एवं क्षणिकत्व को प्राप्त होता है, वह कच्चे घड़े और स्वप्न के समान विनाशशील है। इस संसार के आदान-प्रदान, व्यवहार-रीति, सभी कुछ स्वप्न के प्रासाद के समान क्षणिक और अविलम्ब विनाशशील हैं। हमारी चक्षु-इन्द्रिय जिन व्यक्ति, वस्तु और स्थानादि को ग्रहण करती है, चाहे वे जड़ हो वा जंगम, सभी स्वप्न के समान निःसार हैं। सन्तों ने इस

---

1. घरी दो में मेला विछुरै साघो देखि तमासा चलना।
जो ह्यां आकर हुए इकट्ठा तिनसूं बहुरि न मिलना॥
जैसे नाव नदी के ऊपर बाट बटाऊ आवै।
मिलि मिलि जुदे होय पल माही आप आप को जावै॥
या बारी बिच फूल घनेरे रंग सुगन्ध सुहावै।
लागै खिलै फेरि कुम्हिलावै झरै टूटि बिनसावै॥
ह्यांई मिलै और ह्यां नासै ताको क्या पछितावै।
दै कुछ लै कुछ करिले करनी रहनी गहनी भारी॥

संसार को शून्य भी माना है। जब मानव जीवन का आधार ही इस प्रकार अविश्वसनीय है तो मानवजीवन की क्या स्थिति मानी जा सकती है ?[1]

चरनदास ने जीवन के प्रत्येक विभाग अथवा अंग को कृत्रिमता-विहीन माना है। कृत्रिमता और वाह्याडंबर हमारे जीवन के उज्ज्वल पक्ष अथवा सत् आधार को आच्छादित कर लेता है। वह हमारी सत्यता और तथ्य पर आवरण डाल कर वास्तविकता को एक काल्पनिक अथवा असत्य रूप प्रदान कर देता है। जहां सत्य है वहां कृत्रिमता और वाह्याडम्बरों की आवश्यकता नहीं है। जहां अंतर और वाह्य एक रूप हैं, वहां किसी प्रकार की बनावट की आवश्यकता नहीं अनुभव होती। जहां कृत्रिमता और वाह्याडम्बर की आश्यकता होती है, वहां मनुष्य की शक्ति इन्हीं दोनों तत्वों को बनाये रखने में बिलीन हो जाती है। असत्य की रक्षा करना बड़ा कठिन होता है और इसीलिए गोस्वामी जी ने कहा भी है 'उघरे अंत न होय निबाहू'। चरनदास जी ने जीवन के धार्मिक और सामाजिक क्षेत्र में कृत्रिमता और वाह्याचार की कटु-निन्दा की है। वाह्याचारों में संलग्न मानव को देखकर चरनदास ने कहा :—

माला तिलक बनाय पूर्व अरु पच्छिम दौरा।
नाभि कंवल कस्तूरि हिरन भो बौरा॥
चांद सूर्य्य थिर नहीं नहीं थिर पवन न पानी।
तिर देवा थिर नहीं नहीं माया रानी॥
चरनदास लख दृष्टि भर एक शब्द भरपूर है।
नरखि परखि ले निकट ही कहन सुनन कूं दूर है॥

× × ×

भूलो जगत बकत कछु औरै बेद पुरानन ठठक।
प्रीति रीति की सार न जानै डोलत भटकै भटक॥
किरिया कर्म भर्म उरझै रे ये माया के झटक।
ज्ञान ध्यान दोउ पहुँचत नाहीं राम रहीमा फटक॥

---

१. चेतौ रे नर करो विचार। छल रूपी है यह संसार॥
सुपना माता पिता सुत बन्धू। सुपना है सबही संबंधू॥
देखै कहै सुनै सो सुपना। या जग में नाहीं कोइ अपना॥
सुपना धरती और अकासा। सुपना चंद सूर परकासा॥
सुपना जल थल पावक पौन। सुपना जोग भोग अरु भौन॥
सुपना माया को व्यौहार। सुपना कुल नाता परिवार॥
सुपना देस नाम अरु भेस। सुपना उतपति परलय सेस॥
सुपनै लरै भरै अरु भागै। सुपनै सोवै सुपनै जागै॥

धार्मिक जीवन के समान ही सामाजिक जीवन का भी कृत्रिमता-विहीन होना स्वास्थ्यकर है। समाज के स्वस्थ निर्माण और मर्यादित संगठन के लिए सामाजिक जीवन में कृत्रिमता और दुराव अपेक्षित नहीं है। अपनी वास्तविक स्थिति को बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त करने में अनेक विपदाएँ हैं जिनका सफलतापूर्वक निर्वाह आद्योपांत सम्भव नहीं है। सामाजिक को इस प्रकार की दूषित मनोवृत्तियों का परित्याग सदैव ही वांछित रहता है।[1] सामाजिक जीवन में लोभ, काम, तृष्णा, मद, तथा मोह आदि प्रवृत्तियाँ समस्त कृत्रिमता की वाहिनी बनती है। इसीलिए कवि ने इनकी निन्दा करके समाज के लिए कल्याणकारी मनोवृत्तियों का सन्देश सुनाया है और व्यक्तिगत जीवन के लिये यही उपयोगी है कि मानव काग-कर्म का परित्याग करके हंस की गति धारण करे।

घट-घट में एक ही ब्रह्म सर्वत्र वर्तमान है। इसलिए समाज का प्रत्येक व्यक्ति समान रूप से पूज्य और महान् है। जब एक ही ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है तो कुलीनता और अस्पर्शता का प्रश्न ही नहीं उठता। सन्तों की यह साम्य-भावना या समदृष्टि धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में समान रूप से प्रस्फुटित हुई है। समदृष्टि के कारण ही समाज के अन्तर्गत व्याप्त भेदभाव की प्रवृति संतों को असह्य प्रतीत हुई। इन संतों ने समस्त कृत्रिमता से समुत्पन्न भेदभाव को चाहे वह धार्मिक हो, आर्थिक हो या सामाजिक, उसे व्यर्थ कहकर उन्होंने उसे पहचानने की चेतावनी दी। संतों ने बारम्बार कहा है कि, "समदृष्टि के बिना भ्रम का निवारण नहीं हो सकता है

१. परमसखी सोइ साध जो आपा ना थपै।
मन के दोष मिटाय नाम निर्गुन जपै॥
पर निन्दा पर नारि द्रव्य नाहीं हरै।
जिन चालन हरि दूर बीच अंतर परै॥
छिन नाहि बिसरै राम ताहि निकटै तकै।
हरि चरचा बिन और बाद नाही बकै॥
झूठ कपट छल भगल ये सकल निवारिये।
जत सत सील सन्तोष छिमा हिय धारिये॥
काम क्रोध मद लोभ विडारन कीजिये।
मोह ममता अभिमान अकस तजि दीजिए॥
सब जीवन निर्वैर त्याग वैराग लै।
तव निर्भय है संत भांति काहू न भै॥
काग करम सब छाँड़ि होय हंसा गती।
तृस्ना आस जलाय सोइ साधू मती॥

और यह भ्रम जितने अधिक समय तक मानव हृदय में वर्तमान रहता है उतना ही उसे कष्ट और उलझनों का सामना करना पड़ता है। समदृष्टि लोक जीवन, सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक जीवन के लिए समानरूपेण अपेक्षित है। संतों की इस आध्यात्मिक चेतना के अन्तर्गत हमें सामाजिक साम्य का भी यथार्थ रूप स्पष्टतया प्रकट होता है। धार्मिक दृष्टि से साम्य भावना की संस्थापना के लिए कबीर आदि संतों की भांति चरनदास ने भी कुलीन और अन्त्यज का भाव उन्मूलन करने का प्रयत्न किया। उन्होंने कहा, सच्चा ब्राह्मण वही है जो :—

ब्राह्मन सो जो ब्रह्म पिछानै। बाहर जाता भीतर आनै ॥
पांचौ बस करि झूंठ न भाखै। दया जनेऊ हिरदै राखै ॥
आतम विद्या पढ़ै पढ़ावै। परमातम का ध्यान लगावै ॥
काम क्रोध मद लोभ न होई। चरनदास कहै ब्राह्मन सोई ॥

यदि यह विशेषताएँ नहीं हैं तो जैसे ब्राह्मण वैसे शूद्र। सत्य तो यह है कि 'आतमज्ञान बिना नहि मुक्त। बेद भेद करि देखा जोय।' चरनदास ने कहा है कि :—

सब जातिन में हरिजन प्यारे।
रहनी तिनकी कोइ न पावै ॥
तनसूं जग में मन सूं न्यारे।
भक्तन बस भगवान सदा ही ॥
वेद पुरानन में जो भाखो ॥
ब्राह्मन छत्री बैस्य सूद्र घर।
कहीं होय क्यों न बासा ॥

धार्मिकता के आधार पर प्रतिपादित यह भेदभाव सामाजिक अभिशाप और गलित अंग बन गया है। सन्तों ने इस भेदभाव की कटु से कटु आलोचना की है। आज जब इतने महान् विश्व और बड़े-बड़े राष्ट्रों के एकीकरण का प्रश्न बड़े व्यापक रूप से हमारे समक्ष उपस्थित है, उस समय समाज में उच्च-नीच की समस्या खेदजनक है। सामाजिक ऐक्य और संगठन हमारी शक्ति का संवर्द्धक है। वह हमारे जीवन में रस का संचार करने वाला है। चरनदास की अन्तर्दृष्टि जहाँ एक ओर सामाजिक एवं धार्मिक ऐक्य और साम्य की ओर गई है, वहाँ आर्थिक वैषम्य के प्रति भी वह जाग्रत और चेतनशील है। निम्नलिखित पंक्तियों में तत्कालीन युग की आर्थिक विषमता को उन्मूलित करके साम्य की भावना स्थापित करने का प्रयास स्पष्ट परिलक्षित होता है :—

एकन पग पनहीं नहीं, एक चढ़ै सुख पाल।
यही जो मोहि बताइये, एक मुक्ति को जाहिं ॥

एक नरक को जाय करि, मार जमों की खाहिं ॥
एक दुखी इक अति सुखी, एक भूप इक रंक ।
एकन को विद्या बड़ी, एक पढ़े नहि अंक ॥
एकन को मेवा मिलै, एक चने भी नाहिं ।
कारन कौन दिखाइये, करि चरनन की छांहि ॥
यही मोहि समझाइये, मन का धोरपा जाय ।
ह्वै करि निस्सन्देह मैं, रहो चरन लिपटाय ॥

चरनदास, जीवन में सन्तुलन के समर्थक थे । आज सन्तुलन और समन्वय-हीनता के कारण ही सार्वभौमिक अधःपतन समुपस्थित है । असन्तुलित जीवन का प्रभाव सर्वहारा और अन्त्यज वर्ग पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है और अन्ततोगत्वा यही वर्ग अकारण पिसता रहा है । असन्तुलित जीवन के कारण समाज जहाँ उच्च वर्गों का प्रत्येक दशा में अभिनन्दन करता है, वहाँ दूसरी ओर उपेक्षित निम्न-वर्ग दुर्भाग्य के दिन जीवन-पर्यन्त व्यतीत करते हैं । इस प्रकार की भावनाएँ मनोवैज्ञानिक दृष्टि से राष्ट्र के लिए स्वस्थ्यकर कदापि नहीं हो सकती है । सन्तों ने असन्तुलन को समाज के लिए हेय समझा है । इसी भावना का प्रतिपादन चरनदास ने भी किया है । उन्होंने कहा है कि, "असन्तुलन चाहे सामाजिक क्षेत्र में हो या धार्मिक क्षेत्र में, वह मानवता का अपमान है । अखिल मानव समाज उसी एक परब्रह्म की कृति है, अतः यह असन्तुलन अप्रत्यक्ष रूप से ब्रह्म का अपमान है ।"

चरनदास को आत्मा की चेतना में अटल विश्वास था । उनकी दृष्टि में मानव-हृदय का विकसित रूप ही आत्मा है । सुसंस्कार और धार्मिक शिक्षा तथा चिन्तन के आधार पर आत्मा में चेतनता सजीव रखी जा सकती है । जब आत्मा ही चेतन है तो फिर अविवेक पर विवेक, असद् पर सत्य, अज्ञान पर ज्ञान सदैव विजयी होता है । मानव सद्बुद्धि से प्रेरित होकर कर्तव्य भावना के प्रति जागरूक रहता है । चरनदास को इसी आत्मा की चेतना का बड़ा भरोसा और विश्वास था । उनके साहित्य में ऐसे अनेक भाव व्यक्त हुए हैं जो आत्मचेतना और हृदय की विशालता को बढ़ाने तथा विपरीतगामी एवं दुर्बल प्रवृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के लिए साहस प्रदान करते हैं । संक्षेपतः चरनदास ने जीवन के लिए आत्मा की चेतना पर जोर दिया है ।

चरनदास ने मानव जीवन में आत्म-सन्तोष को बड़ा महत्व प्रदान किया है । चित्त की एकाग्रता एवं शांति के लिए तृष्णा का मूलोच्छेदन परम आवश्यक है । इस बात का समर्थन प्रायः सभी सन्तों ने किया है । जहां तृष्णा है, लालसा है, इच्छा है, वहां साधना के लिए कोई अवसर और अवकाश नहीं है । मनुष्य सदैव इन्हीं कामनाओं का दास या चेरा बना हुआ यत्र-तत्र सर्वत्र विचरण करता फिरता है । धन की इच्छा

करने वाला मानव, दीनता प्रदर्शित करता है, जो धन कमा लेता है वह अभिमान में चूर रहता है, जिसका धन नष्ट हो जाता है वह शोक करता है, अतएव जो निःस्पृह और सन्तोषी है, वही इस संसार में सुखी है।[1] जो अकिंचन है, जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका हृदय शांत है, चित स्थिर है, मन सदैव सन्तुष्ट है, उसके लिए सभी दिशाएं सुखमय हैं।[2] वास्तव में दरिद्र वही है जिसमें भारी तृष्णा है। जहां मन सन्तुष्ट है वहां कौन धनवान् है और कौन दरिद्र है?[3] कहा गया है कि 'सन्तोष एव पुरुषस्य परं निधानम्' अर्थात् सन्तोष ही मानव का परमधन है। मोह, माया, तृष्णादि लोभ के सहायक हैं। इसके विपरीत सत्य, शील आदि सन्तोष के सहायक अंग हैं। सन्तोष जितना धार्मिक जीवन में सुखप्रद है, उतना ही सामाजिक जीवन में। उभय पक्षों में वह एक गुण-विशेष है। समाज में जो भी अभियोग, अनाचार, दुराचार, भ्रष्टाचार आदि प्रश्रय और प्रसारित हो रहा है उसका मुख्य कारण सन्तोष-विहीनता है। यदि मनुष्य सन्तोष-वृत्ति ही धारण करले तो फिर अपहरण, अस्तेय, छीना-झपटी और चारित्रिक अधःपतन का प्रश्न ही क्यों उठ खड़ा हो? सन्तोष जीवन में निष्प्रयोजनता और निर्द्वन्द्वता का बीजारोपण कर देता है। चरनदास का साखी-साहित्य इस सन्तोष प्रवृत्ति की सराहना से परिपूर्ण है।[4] आत्मसन्तोष की भावना

---

१. अर्थी करोति दैन्यं लब्धार्थो गर्वपरितोषम्।
नष्टधनस्य स शोकं सुखभारते निस्पृहः पुरुषः ॥

२. अकिंचनस्य दान्तस्य शान्तस्य समचेतसः।
सदा सन्तुष्टमनसः सर्वाः सुखमयाः दिशाः ॥

३. स हि भवति दरिद्रो यस्य तृष्णा विशाला।
मनसि च परितुष्टे कोऽर्थवान्को दरिद्रः ॥

४. लोभ घटावै मान कूं, करै जगत आधीन।
बोझ घटा मिष्टल करै, करै बुद्धि को हीन ॥
लोभ गये ते आवई, महाबली सन्तोष।
त्याग सत्य कूं संगले, कलह निवारण शोक ॥
घट आवै सन्तोष ही, कहा चहै जग भोग।
स्वर्ग आदिलो सुखजिते, सबकूं जानै रोग।
सन्तोषी निश्चल दिशा, रहै राम लव लाय।
आसन ऊपर दृढ़ रहै, इत उत कूं नहि बाय।
काहू से नहि राखिये, काहू विधि की चाह ॥
परम संतोषी हूजिये, रहिये बेपरवाह ॥

जाग्रत होने पर अहं भावना शांत हो जाती है। आत्मसन्तोषी को वास्तव में हम बड़ा यथार्थवादी कह सकते हैं। उसे भविष्य में जोड़कर रखने की प्रवृत्ति नहीं रहती है। समाज में स्वार्थ, और अपहरण को समाप्त करने के लिए सन्तोष ही अमोघ अस्त्र है।

चरनदास ने सच्चे, सरल, स्वाभाविक और शांतिमय सामाजिक जीवन से लिए अहिंसा अनिवार्य माना है। अहिंसा को हम परोपकार की निषेधात्मक पृष्ठभूमि कह सकते हैं। परोपकार के द्वारा हम समाज की सेवा प्रत्यक्षरूपेण करते हैं और अहिंसा के द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से जीवों के प्रति अहित को रोकने का प्रयत्न किया जाता है। आध्मात्मिक चेतना के अभाव में अहिंसा का भाव चिरस्थायी और व्यापक नहीं बन सकता है। संतों ने ब्रह्म के घट-घट व्यापी होने का सन्देश देकर अहिंसापूर्ण व्यवहार की व्यापकता और प्रसाद के लिए उर्वर-क्षेत्र तैयार कर दिया। जब हमारे हृदय में यह भाव प्रवेश कर लेता है तो हम किसी की हानि करना अपनी हानि समझते हैं। अहिंसा की प्रवृत्ति का उद्रेक होने पर किसी के प्रति दुर्भाव या अपमान को हम परमात्मा का अपमान समझते हैं। मानव का मानव के हाथ व्यवहार हिंस, आतंक, भय और प्रतिस्पर्धा का नहीं वरन् अहिंसा, प्रेम, निर्भयता और निर्वैरता का होना चाहिए जिससे समाज में सद्भावना का प्रसार और प्रचार हो, मानवता सुखी बने और विश्वास का वातावरण फैले।

चरनदास की दृष्टि में केवल स्थूल वस्तु-मात्र का हनन ही हिंसा नहीं है, कुविचारों का उद्रेक भी हिंसा है। मिथ्या सम्भाषण भी हिंसा है। संसार का आवश्यक पदार्थों पर अनावश्यक रूप से अधिकार रखना भी हिंसा है। अहिंसा सत्यान्वेषण के अभाव में असंभव है। अहिंसा और सत्य दोनों ही अन्योन्याश्रित हैं। अहिंसा साधन है और सत्य साध्य। साधना के लिए यदि हम चिन्तित रहेंगे तो साध्य किसी न किसी स्तर पर उपलब्ध हो ही जायगा। इस प्रकार अहिंसा का महत्व आध्यात्मिक और सामाजिक जीवन में समान रूप से है। आध्यात्मिक जीवन में वह योग साधना के 'नियम' के अन्तर्गत आती है और सामाजिक जीवन में उसका महत्व सद्भावना, विवेक और विश्वबन्धुत्व की भावना का प्रचार करने के लिए उपयोगी है। आज यदि हमारा समाज चरनदास के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर अग्रसर हो जाय और 'अहिंसा परमोधर्मः' का सिद्धान्त हृदयंगम कर ले तो फिर समाज की व्यवस्था और प्रगति निष्कंटक हो जायगी। अहिंसा के इस दिव्य सन्देश का प्रचार करके चरनदास ने अपने युग की बलि-प्रथा और निरपराध पशुओं के हनन की प्रथा का विरोध किया। प्रस्तुत-ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि कवि के युग में देवी, देवताओं और भूत-प्रेतों को प्रसन्न करने के लिए बलिदान की प्रथा प्रचलित थी। इस बलिदान की सीमा केवल पशु-

जगत् तक ही सीमित नहीं थी, वरन् मानव जगत् भी इसके द्वारा विनष्ट हो रहा था। अखिल ब्रह्मांड के प्राणी सुख से सुखी और दुःख, जन्म, भय से पीड़ित होते हैं, इसीलिए ऐसा कार्य कभी नहीं करना चाहिए जिससे प्राणियों को भयजन्य दुख हो।[1] कहा गया है कि दुख से कातर प्राणियों की पीड़ा देखकर दया से जिसका हृदय द्रवीभूत हो जाता है उसको ज्ञान से, मोक्ष से, जटा बढ़ाने से तथा भस्म-लेपन आदि से क्या प्रयोजन है? वह तो स्वतः स्वयं-सिद्ध साधु है।[2] संसार में सब प्राणियों के रात-दिन जितने भी कार्य होते हैं वे सब प्राणों के रक्षार्थ सम्पादित होते हैं। संसार के प्राण ही सर्वाधिक प्रिय हैं। इस दशा में जिसके हृदय में पूर्ण दया का निवास है तथा जो सज्जन पुरुष सदैव अहिंसाव्रत धारण करते हुए दूसरे प्राणियों को, प्राणों का अभयदान दिया करते हैं, वे बड़े पुण्यात्मा हैं। ऐसे सत्पुरुषों के पुण्य की गणना नहीं की जा सकती है।[3]

चरनदास के अनुसार मानव जीवन में त्याग, परोपकार, दया और उदारता का बड़ा महत्व है। इनके अभाव में न तो हमें आध्यात्मिक जीवन में सफलता प्राप्त हो सकती है और न सामाजिक जीवन में सुख और शान्ति। त्याग एवं औदार्य की भावना ही मानव-हृदय में दया की पृष्ठभूमि का निर्माण करती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य परोपकार में प्रवृत्त हो जाता है। परोपकार के द्वारा सामाजिक जीवन में साम्य और ऐक्य का प्रसार होता है। संवेदनशील हृदय 'अयं निजः परो वेत्ति' की भावना का परित्याग करके 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना ग्रहण कर लेता है और तभी वह परोपकार में प्रवृत्त होता है। त्याग एवं सन्तोष जीवन में आर्थिक साम्य के साथ-साथ उपयोगी और आवश्यक है। परोपकार की प्रवृत्ति समाज में एक-दूसरे के कल्याण, स्वार्थ और सुविधा को ध्यान में रखने के भाव को और भी अधिक प्रोत्साहित करती है। परोपकार के समान और कोई धर्म नहीं माना गया है। परोपकारी ही वास्तविक विश्वबन्धु है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यदि वह एक-दूसरे के साथ उपकार न करे तो समाज का काम ही कैसे चल सकता है। सच्चा उपकार, निष्काम भाव से किया जाता है। दूसरों के प्रति

---

1. सर्वाणि भूतानि सुखे रमन्ते सर्वाणि दुःखस्य भृशं त्रसन्ते।
तेषां भयोत्पादनजातखेदः कुर्यान्न कर्माणि हि श्रद्धधानः॥

2. यस्य चित्तं द्रवीभूतं कृपया सर्वजन्तुषु।
तस्य ज्ञानेन मोक्षेण किं जटाभस्मलेपनैः॥—चाणक्य नीति

3. प्राणानां परिरक्षणाय सततं सर्वाः क्रिया प्राणिनाम्।
प्राणेभ्योऽप्यधिकं समस्तजगतां नास्त्येव किंचित्प्रियम्॥

इस प्रकार के व्यवहार से स्वतः अपनी आत्मा उन्नत और विकासशील बनती है। नम्रता तथा सेवा का भाव अभिवृद्ध होता है। परोपकारी सदैव अपने कार्य में संलग्न रहता है। उसे कभी अपने सुख-दुख का लेशमात्र ध्यान नहीं रहता है।[1] परोपकार की भावना का आधार दया है। हृदय के द्रवीभूत हुए बिना कोई भी परोपकार में प्रवृत्त नहीं हो सकता है। इसलिए दया, त्याग और परोपकार-भावना की जननी है।[2] त्याग, परोपकार, दया और उदारता का सामाजिक जीवन में बड़ा महत्व है। इनके आधार पर हमारे हृदय में जन-जन के लिए सहिष्णुता और ममत्व की अनुभूति होती है। चरनदास के युग में जब हिन्दू जाति भेद-भाव तथा वैमनस्य की आन्तरिक अग्नि तथा प्रतिकार व प्रतिहिंसा की ज्वाला में झुलसी जा रही थी, उस समय इसकी बड़ी आवश्यकता थी। हिन्दू और मुसलमानों में दिन-प्रतिदिन भेद-भाव की खाईं बढ़ती जा रही थी। दानवीय मनोवृत्तियों का चतुर्दिक् प्रसार हो रहा था। ऐसी अवस्था में तत्कालीन जनता में त्याग, परोपकार, दया एवं उदारता के सन्देश का जन-जन के हृदय में बीजारोपण कर देना परमावश्यक था। इनके आधार पर कवि ने तत्कालीन जनता का जीवन सुखमय बनाने का प्रयत्न किया।

चरनदास ने सन्तोष एवं परोपकार के समान ही जीवन में दीनता को भी आवश्यक माना है। प्रस्तुत-ग्रन्थ के 'चरनदास का युग' प्रकरण में आर्थिक परिस्थिति के अन्तर्गत यह दिखाया गया है कि निरन्तर होने वाले युद्धों, अकालों, दुर्भिक्षों, राज्य द्वारा जनता पर निर्धारित करों और शोषणों के कारण चरनदास के युग में जन जीवन अभिशाप-ग्रस्त बन गया था। जनता की आर्थिक परिस्थिति निरन्तर ह्रासमान् ही बनी रही। निम्नवर्ग तथा मध्यवर्ग के लिए जीवनयापन करना कठिन बनता गया। जनता के अधिकांश वर्ग के पास दो समय के भोजन के लिए पर्याप्त धन नहीं था। उसके श्रम का पूरा प्रतिदान नहीं हो पाता था। इस प्रकार के

पुण्यं तस्य न शक्यते गणयितुं पूर्णं सकारुण्यवान्।
प्राणानामभयं ददाति सुकृती येषामहिंसाव्रतः॥

1. क्वचिद्भूमौ शय्या क्वचिदपि च पर्यंकशयनम्।
क्वचिच्छाकाहारी क्वचिदपि च शाल्योदनरुचिः॥
क्वचित्कंथाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरो।
मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखम् न च सुखम्॥

2. दुखी न काहू कूं करै, दुख सुख निकट न जाय।
समदृष्टी धीरज सदा, गुन सात्विक कूं पाय॥
दया नम्रता दीनता, छिमा शील सन्तोष।
इनकूं लै सुमिरन करै, निस्चै पावै मोख॥

आर्थिक विनाश के युग में सन्तोष और दीनता की भावना जीवन के लिए अनिवार्य थी। चरनदास द्वारा प्रतिपादित यह दीनता कहीं बाहर से थोपी हुई दीनता नहीं थी वरन् अपने हृदय में ही समुत्पन्न दैन्य की भावना थी जिसका सन्तोष से अधिक निकट सम्बन्ध था। इस प्रकार की वृत्ति धारण कर लेने के अनन्तर हीनत्व, अभाव और कमी की भावना कभी मानसिक अशांति का कारण नहीं बन सकती है। इसलिए दैन्य-भावना को अंगीकार कर लेने के लिए कवि ने बारबार उपदेश दिया है :—

भक्ति गरीबी लीजिए तजिये अभिमाना।
दो दिन जग में जीवना आखिर मरि जाना॥
पाप पुन्न लेखा लिखै जम बैठे थाना।
कहा हिसाब तुम देहुगे जब जाहि दिवाना॥

× × ×

रहिये साधुन संग माहीं। ध्यान भजन जहां छूटे नाही॥
है परिपक्व जहां मन रहो। गुरुमत दया दीनता गहो॥

× × ×

मन में लाय विचारकूं, दीजै गर्व निकार।
नन्हापन जब आया है, छूटै सकल विकार॥

इन पंक्तियों में उसी दीनता अथवा नन्हापन की भावना का ही प्रतिपादन किया गया है। इस दीनता के व्रत को अंगीकार करने से अधर्म द्वारा अर्जित धन, चोरी, घूस, तथा अन्य मिथ्याचारों से द्रव्य उपार्जन की चाह समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह एक सामाजिक गुण है जिसके प्रसार से मानवता सदैव लाभान्वित होगी।

सत्य, सामाजिक जीवन और आध्यात्मिक साधना समान रूप से उपयोगी और महत्वपूर्ण है। संसार में सत्य से श्रेष्ठ अन्य कोई धर्म नहीं है। झूठ के बराबर कोई पातक नहीं। इसी प्रकार सत्य से श्रेष्ठ और कोई ज्ञान नहीं है। इसीलिए सत्य का आचरण सदैव महान् है। सत्य का व्यवहार करने से मानव को स्वार्थ और परमार्थ में सफलता प्राप्त होती है। मनसा, वाचा, कर्मणा, सत्य का व्यवहार करने से मानव क्रियासिद्ध और वाचासिद्ध हो जाता है। धर्मग्रन्थों में सत्य, ईश्वर का स्वरूप माना गया है। गीता में तीन प्रकार के सत्य का उल्लेख हुआ है :—

यत्तदग्रे विषमिव परिणामे मृतोपमम्।
तत्सुखं सात्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्॥

अर्थात् सत्य पहले तो विष के तुल्य कटु और दुःखमूलक प्रतीत होता है परन्तु अनन्तर अमृत के समान मधुर एवं हितकारक होता है, यही सात्विक सुख है। इस प्रकार का सुख आत्मा और बुद्धि की प्रसन्नता से उत्पन्न होता है। चाणक्य नीति में कहा गया है कि "सत्य से ही पृथ्वी स्थिर है, सत्य से ही सूर्य तप रहा है, सत्य से ही वायु बह रही है। सत्य में ही सब स्थिर है।[1]—धर्म, तप, योग परब्रह्म, यज्ञ आदि जितना कुछ कल्याण स्वरूप है वह सब सत्य है।[2]" समाज की सुव्यवस्था एवं समुन्नति के लिए सामूहिक रूप से सत्य ग्रहण करने की आवश्यकता है। समाज में असत्य संभाषणों का बड़ा दूषित प्रभाव जनता पर पड़ता है। इसीलिए सन्तों ने बारम्बार 'सांच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप' का उपदेश दिया है। चरनदास के अनुसार जीवन के लिए मन, वचन और कर्म की सत्यता सर्वथा वांछनीय है। वचन और कर्म की एकता को कथनी और करनी की एकता कहा गया है। सच्चा व्यक्ति वही है जो मन की बात स्पष्टतया वाणी के माध्यम से व्यक्त करके कर्म के द्वारा कार्यक्षेत्र में कार्यान्वित करे। यही कथनी-करनी की सत्यता है। सत्य ज्ञान का प्रतीक है। सत्य के शोध के पीछे तपश्चर्या होती है। मनुष्य के लिए आभ्यंतरिक शुद्धि और सत्यता दोनों ही परमावश्यक है। ये दोनों सामाजिकता के लिए विशेषरूपेण उपयोगी हैं। माया सत्य को अपने आवरण में ढक कर कुछ काल के लिए असत्यमय वातावरण का सृजन कर देती है परन्तु यह स्थायी नहीं है। कालान्तर में सत्य का पक्ष ही विजयी है। कवि के शब्दों में :—

मिटते सूं मत प्रीति करि, रहते सूं करि नेह।
झूठे कूं तजि दीजिए, साचे में करि गेह॥
सत सूं रखु निरवैरता, गहो दीनता ध्यान।
अन्त मुक्ति पद पाइहो, जग में होय न हानि॥

कवि ने व्यावहारिक जीवन में भी सत्य को महत्वपूर्ण माना है। साधना के क्षेत्र में वाह्याडंबरों की निःसारता पर प्रकाश डाल कर कवि ने सिद्ध किया है कि यह सब माया है और माया असत्य है, अतएव हमें साधना के सत्स्वरूप में विचरना चाहिए।

———

१. सत्येन धार्यते पृथ्वी सत्येन तपते रविः।
सत्येन वाति वायुश्च सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥

२. सत्यं धर्मस्तपोयोग सत्यं ब्रह्मसनातनम्।
सत्यं यज्ञः परः प्रोक्तः सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥—चाणक्य नीति

परिशिष्ट—१

नामानुक्रमणिका

———

परिशिष्ट—२

पुस्तक नामानुक्रमणिका

परिशिष्ट—३

(योग शब्दावली)

परिशिष्ट—४

सहायक-ग्रन्थसूची

आलोचनात्मक ग्रन्थ

उत्तरी भारत की संत परम्परा —परशुराम चतुर्वेदी
कबीर —हजारी प्रसाद द्विवेदी
कबीर
कबीर का रहस्यवाद —रामकुमार वर्मा
कबीर साहित्य की परख —परशुराम चतुर्वेदी
कबीर की विचारधारा —गोविन्द त्रिगुणायत
कबीर साहित्य का अध्ययन —पुरुषोत्तम लाल श्रीवास्तव
कबीर-साहित्य
गोस्वामी तुलसीदास —रामचन्द्र शुक्ल
जायसी ग्रन्थावली (भूमिका) —रामचन्द्र शुक्ल
तुलसी के राम —प्रेमनारायण टण्डन
तुलसीदास —पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
त्रिवेणी —रामचन्द्र शुक्ल
दर्शन दिग्दर्शन —राहुल
दर्शन और जीवन —सम्पूर्णानन्द
धर्म-शिक्षा —लक्ष्मीधर वाजपेई
नाथ सम्प्रदाय —हजारी प्रसाद द्विवेदी
भारतीय दर्शन परिचय —हरिमोहन
भारतीय धर्म और दर्शन —श्यामबिहारी मिश्र
मध्यकालीन धर्म साधना —हजारी प्रसाद द्विवेदी
मध्यकालीन प्रेम साधना —परशुराम चतुर्वेदी
भक्तमाल —नाभादास
भक्तमाल की टीका —प्रियादास
भारत की भाषाएँ —सुनीतिकुमार चटर्जी
भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी —सुनीति कुमार चटर्जी

भारतीय दर्शन —बलदेव उपाध्याय
नाभादास —प्रकाश नारायण दीक्षित
योग प्रवाह —पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल
योग रहस्य —नारायण स्वामी
संत-काव्य (भूमिका) —परशुराम चतुर्वेदी
संत दर्शन —त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सुन्दर दर्शन —त्रिलोकी नारायण दीक्षित
संत कबीर (भूमिका) —रामकुमार वर्मा
साहित्य का मर्म —हजारी प्रसाद द्विवेदी
साहित्य समीक्षा —त्रिलोकी नारायण दीक्षित
सामान्य भाषा विज्ञान —बाबूराम सक्सेना
सूरदास —रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी कविता की पृष्ठभूमि —रामरतन भटनागर
हिन्दी कवियों की काव्य-साधना —दुर्गाशंकर मिश्र
हिन्दी काव्य की अन्तश्चेतना —राजाराम रस्तोगी
हिन्दी के वैष्णव कवि —ब्रजेश्वर
हिन्दी भक्ति काव्य —रामरतन भटनागर
विचार विमर्श —चन्द्रबली पाण्डेय
परिचई साहित्य —त्रिलोकी नारायण दीक्षित
योग प्रवाह —पीतम्बरदत्त बड़थ्वाल
चिन्तामणि —रामचन्द्र शुक्ल

भारतीय संस्कृति

आर्य संस्कृति के मूलाधार —उपाध्याय
प्राचीन भारत की जनसत्ता तथा संस्कृति —बेनी प्रसाद
भारत की प्राचीन संस्कृति —रामजी उपाध्याय
भारतीय संस्कृति —मोहनलाल वर्मा
भारतीय संस्कृति —शिवदत्त ज्ञानी
भारतीय संस्कृति का विकास —बी० एल० शर्मा

काव्य-शास्त्र

कला और सौन्दर्य —रामचन्द्र शुक्ल
काव्य और कला निबन्ध —जयशंकर प्रसाद

काव्य के रूप —गुलाबराय
काव्य मीमांसा —राजशेखर
भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा —डा० नगेन्द्र
साहित्यालोचन —श्यामसुन्दर दास
सिद्धान्त और अध्ययन — गुलाबराय

हिन्दी साहित्य का इतिहास

हमारे साहित्य की रूपरेखा —कृष्णशंकर शुक्ल
हिन्दी साहित्य का इतिहास —रामचन्द्र शुक्ल
हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —रामकुमार वर्मा
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास —हरिऔध
हिन्दी साहित्य की भूमिका —हजारी प्रसाद द्विवेदी
हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास —चतुरसेन शास्त्री
हिन्दी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास —रामकुमार वर्मा तथा त्रिलोकी नारायण दीक्षित

संस्कृत साहित्य का इतिहास

संस्कृत साहित्य का इतिहास —बलदेव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य का इतिहास —वेनीप्रसाद मिश्र

इतिहास

प्राचीन भारत —राजवली पाण्डेय
भारतवर्ष का इतिहास —ईश्वरी प्रसाद
प्राचीन भारत की जन-सत्ता और संस्कृति —बेनी प्रसाद
प्राचीन भारत —एस० एन० आई० एस० अयंगर

शोध-ग्रन्थ

निर्गुण काव्य की सामाजिक एवं सामूहिक पृष्ठभूमि —डॉ० सावित्री शुक्ल
तुलसी साहब —डॉ० हरस्वरूप माथुर
शंकर अद्वैत-दर्शन तथा संत-काव्य पर उसका प्रभाव —डॉ० शान्ति स्वरूप त्रिपाठी
कबीर दर्शन —डॉ० रामजी लाल सहायक

रहस्यवादी भक्त कवि —डॉ० रामनारायण पाण्डेय
निर्गुण काव्य धारा —डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल

धर्म-ग्रन्थ

धर्म और दर्शन —बलदेव उपाध्याय
ज्ञान और कर्म —रूपनारायण पाण्डेय
दर्शन और जीवन —सम्पूर्णानन्द
धर्म-शिक्षा —लक्ष्मीधर वाजपेई
मानव धर्मशास्त्र —श्यामबिहारी मिश्र

विविध-ग्रन्थ

अनुराग सागर —युगुलानन्द
आदि श्रीगुरु ग्रन्थ साहब —अर्जुन देव
कबीर ग्रन्थावली — श्यामसुन्दर दास
कबीर वचनावली —हरिऔध
गोरखवानी —पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल
संत-वानी संग्रह भाग १, २
बेलवीडिअर प्रेस का प्रकाशन
बीजक —विचारदास

संस्कृत-ग्रन्थ

अग्नि पुराण —महर्षि व्यास
ऋग्वेद
कठोपनिषद्
काव्यालंकार —आचार्य भामह
काव्यादर्श —आचार्य दण्डी
काव्यालंकार सूत्र —आचार्य वामन
काव्य प्रकाश —आचार्य मम्मट
कुलार्णव तंत्रम्
गोपथ ब्राह्मण
गौड पद भाष्य —सांख्यकारिका
घेरण्ड संहिता
जाबाल दर्शन उपनिषद्

तैत्तरीयोपनिषद्
ध्वन्यालोक —श्री आनन्दवर्धन
नाट्य शास्त्र —भरत मुनि
नारद-भक्ति सूत्र
निरुक्ति निघन्टु —महर्षि यास्क
ब्रह्म सूत्र —शंकर भाष्य
बृहदारण्यक उपनिषद्
मण्डूकोपनिषद्
मनुस्मृति
महाभारत (वन पर्व)
मुंडकोपनिषद्
योगदर्शन —महर्षि पातंजलि
योगी याज्ञवल्क्य
यजुर्वेद
रस गंगाधर —पं० राव जगन्नाथ
वक्रोक्ति जीवितम् —आचार्य कुन्तल
विक्रमोवर्शीय —महाकवि कालिदास
वेदान्तसार
शारीरिक भाष्य
शांडिल्य भक्तिसूत्र —संपादक गोपीनाथ कविराज
शिवसंहिता
श्री मद्भागवत
श्री भाष्य
श्रीमद्भगवत गीता
श्वेताश्वरोपनिषद्
साहित्य-दर्पण —आचार्य विश्वनाथ
सौभाग्य लक्ष्युपनिषद्
हठयोग-प्रदीपिका
ज्ञान संङ्कलिनी तंत्र

ENGLISH BOOKS

A history of Muslim Rule in India : Ishwari Prasad
A history of South India : K. A. Nilkantha Sashtri

A history of India : Sitaram Kohley & H. L.'O. Garret

A history of Hindi Literature : F. E. Keay

Archeological Survey of India New Series, North Western Provinces, Part II

A concise history of Indian people : H. G. Rawlinson

A history of Maratha People, Part II : Kincaid & Parasnis

Administration and social life under Vijayanagar : T. V. Mahalingam

Brahminism and Hinduism : Sir Monier Williams

Encyclopaedia Religion and Ethics : Rufus H. James

Gheranda Samhita : Translated by Suschandra Vasu

Gautam the Buddha : Dr. Radhakrishnan

Gorakhnath and Kanpatha Yogies : Jhon Briggs

History of India : Hari Ram Gupta

History of the rise of Mohamdan Power in India : John Briggs

History of India, vol. I. : H. G. Keene

History of India's Medieval Period : Prof. L. Mukherjee

History of Sanskrit Poetries : Mahamahopadhya P. V. Kane

Hitory of Reddi Kingdoms : Mallampalli Soma Sekhara Sarma

Hindu Mysticism : Dr. S. N. Dasgupta

Indian Chronology : S. R. Pillai

Journal of the Royal Asiatic Society : Grierson

Kabir, his biography, Vol. I : Dr. Mohan Singh

Kabir and the Kabir Panth : H. G. Westcott.

Kabir and his followers : F. E. Keay

Medieval India under Mohamdan Rule : Dr. Stanley Lampool
Medieval Mysticism : Acharya Kshiti Mohan Sen
Mysticism : Evelyn Under Hill
New History of India : Dr. Ishwari Prasad
Nirguna School of Hindi Poetry : Dr. Pitamberdatt Badathwal
Outline of the Religious Literature of India : Dr. J. N. Farquhar
Oriental biographical Dictionary : J. William Beal
Oxford History of India : Smith
Sikh religion : Macaulay
Songs of Kabir : Ravindra Nath Tagore
Sociology : Lapiere
Mohamdan invaders : S. Krishnaswami Aiyangar
The Cambridge History of India : Sir Wolselay Haig
The Cambridge History of India : J. Allan.
The bijak of Kabir : Ahmad Shah
The Mysterious Kundalini : Dr. Vasant & G. Rele
The Idea of Personality in Sufism : Renold A. Mcolson
Vaishanavism, Shaivism and minor religions Systems : R. G. Bhandarkar